भारतीय देव-भावना और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य

भारतीय देव-भावना और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य

डॉ० श्रुतिकान्त

प्रथम सस्करण सितम्बर,
मूल्य
प्रकाशक वाणी
६१ एफ
मुद्रक रमेश
चौधरी

BHARATIYA DEO BHA

(Concept of Diety
Agra University Agra. Writ
Vani Prakashan 61 F, Kamla

समर्पण

शिक्षा शास्त्री, प्रबुद्ध राजनीतिज्ञ प्रेरणा प्रद एवं
आकर्षक व्यक्तित्व से विभूषित अपने अनन्य
मित्र श्री कुन्तारचन्द राणा, अध्यक्ष,
विधान-सभा हिमाचल प्रदेश,
के कर-कमलों में सादर
सप्रेम समर्पित

—श्रुतिकान्त

प्रथम संस्करण सितम्बर १६७३
मूल्य बयालीस रुपये (४२.००)
प्रकाशक वाणी प्रकाशन
६१ एफ, कमलानगर, दिल्ली ।
मुद्रक रमेश कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा
चौधरी प्रिंटस नवीन शाहदरा, दिल्ली ३२ मे मुद्रित

BHARATIYA DEO BHAVANA AUR MADHYA KALEEN HINDI SAHITYA

(Concept of Diety in Medieval Hindi Poetry), Thesis Agra University Agra Written by Dr Shruti Kant Published by Vani Prakashan, 61 F Kamla Nagar, Delhi 110007

Price Rs 42 00

समर्पण

शिक्षा शास्त्री, प्रबुद्ध राजनीतिज्ञ प्रेरणा प्रद एव
आकर्षक व्यक्तित्व से विभूषित अपने अनन्य
मित्र श्री कुलतारचन्द राणा अध्यक्ष,
विधान-सभा, हिमाचल प्रदेश,
के कर कमलो म सादर
सप्रेम समर्पित

—श्रुतिकान्त

द्यौष्पिता पृथिवी-माता

कथा का आरम्भ उस दिन हुआ था जिस दिन कि मानव ने धरती पर अपना विकसित रूप पाकर अपनी इन्द्रियो एव अन्त करण से काम लेना आरम्भ किया था। समय गुजरा, और यम यमी दो बन गये। दो का मिथुन फला फूला, कुनबा पनपा, और मानव ने डेरा डालकर एक जगह बसना आरम्भ कर दिया। एक जगह ठहर जाने पर कुनबा जल्दी फल फूल उठता है। निदान गाँव बस गये, और धीरे धीरे नगर आबाद होने लगे।

खेती का सूत्रपात हो चुका था, अब कपडा भी बुना जाने लगा। आदमी ने लोहे को साध अपना हल बनाया और अपनी तथा अपने भाई बन्दों की रक्षा के लिये हथियार घडे। गाँव की सीमा खिचते ही 'मैं मैं तू तू' पर उभरी सभ्यता अपना रग दिखाने लगी।

अब आदमी कृषक बन गया और फसलें काटकर अपना और अपने कुनबे का भरण पोषण करने लगा। प्रेयसी, जो कि अब तक उठाऊ चूल्हा रति-तस्कर की यामासगिनी थी, बँधकर बस जाने पर एक ग्रामीण की जीवन सगिनी बन गई। इस कण्ठलविनी के प्रणय प्रसर के साथ साथ प्रसाधन के तौर-तरीको ने जोर पकडा।

सावनी और साढी आते ही किसान खेतो म बीज ओरता, किंतु अनेक बार बाये बीज जमते नही थे, उगते थ तो गाभे नही आते थे, गाभे भी आ जाते तो खेत निसरते नहीं थे निसर कर लहलहाती फसलें भी अनेक बार, भोला निकल जाने पर मडक जाती थी, तब किसान का किया-कराया चौपट हो जाता था। समस्या गाढी थी— इससे त्रस्त हो किसान घिघिया उठा और माथे पर हाथ मारकर बोला, 'धरती माता नाराज है। फसल होवे तो कसे होवे ? इस खुश करना आवश्यक है।''

बाहरी खेती के साथ-साथ घरेलू फसल जोरो पर थी। कहावत चल पडी थी, 'पतिमेकादश कृधि'। एक जननी ने यदि ग्यारह न जने तो उसकी कोख क्या सुच्ची हुई ? किंतु अनेक बार किसान की जोरू जननी ही नही बन पाती थी। तब वह चौपाल पर पचा के बीच सिर नीचा करके फरियाद कर उठता था

'किंतु वध्या तवतस्यामदष्टसदशप्रजम।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी॥''

फसलें काटकर क्या करूँगा जब घर म खाने वाले ही न होगे ? तब पच ढाढस बँधाते बोलते, 'दूध और पूत तो ऊपर वाले के हाथ म है उसी से मिन्नत माँग।' बस, किसान का स तान का असली बाप- द्यौष्पिना — दीख गया और समझ लिया उसने कि सब कुछ कर लने पर भी यदि ऊपर वाले द्यौस् का वरद हाथ न हो तो काम बनता नहीं है।

अब धरती माता' के रूप म और द्यौस 'पिता' के रूप म मानव की पूजा के भाजन बन गये।

किंतु आदिम मानव तो जन्मना सूझ का पुतला था। उसने अपने पड़ाव महान नदी के दोआबा म डाल थे। सिन्ध, व्यास जमना और गगा एसे ही प्रभृत नद थे। फिर सिन्ध और गगा के बीच का क्षेत्र तो नदी और नदियों के जाल से चमन बना हुआ था। इडा और भारती के रूप म सरस्वती इसी क्षेत्र म अपनी लीला विशद बना रही थी। अब यो आखो-आगे धरती माता और सिर पर द्यौस' पिता, रह गये नदी और नद, इनकी ऊर्मियो म बाँसो उछलता तीसरा देवता वरुण भी आ पहुँचा जिसका नाम हमारे भाई ग्रीक किसानो ने 'आउरनोस रखा हुआ था। वरुण के उदय होते ही पुराने किसान की देवत्रयी सम्पन्न हो गयी, इस देवत्रयी से उसका सारा क्रियाकलाप चारु रूप से चलने लगा।

किंतु बढने की प्रवृत्ति जोर पकड रही थी। बाहर कबीला फल रहा था और घर म गृहिणी की चाह चसक जोरो पर थी। गाव के भाई-बन्द गोयरा पार करके छदिस् (छान) छाने लग थे। जब सभी कुछ आगे बढ रहा था तब देवता ही क्यो पीछे रह जाते, लगी इनकी सख्या म भी बढ़ती होने।

स्मरण रहे कि सख्या की वृद्धि के साथ-साथ उत्पात भी तूल पकडने लगता है। निदान आपसी सघर्ष विकराल बनकर सामने आय। गाँव आपस म टकराने लगे और अब आ पहुँचा ऋग्वेद का वह प्रस्थान दाशराज्ञ युद्ध जिसम आर्यो एव अनार्यो का विवेक खोकर दस राजा आपस म भिड गय थ। इन्होंने अपनी धारा से पूर्ववर्ती आय धारा म आकर बस आर्यो को मध्यक्षेत्र से बाहर फेंक दिया परिणाम इसका आगे चलकर भारत की बाह्य सीमाओ पर बोली जाने वाली आय भाषाओ म विकराल बनकर उभरा जो भाषाए कि कतिपय भाषाशास्त्रीय तत्त्वो म सबकी सब— काश्मीरी पहाडी आसामी बगाली उडिया मराठी और सिन्धी आदि—आपस मे मिलती हैं और उन्हीं तत्त्वो म आज की हिन्दी स भिन्न दिखायी पडती हैं। इस मौलिक तथ्य का १९०८ म हनल ने देखकर भारत के तटवर्ती कबीलो और मध्यवर्ती हिन्दी भाषा भाषियो के मौलिक भेद का स्रोत ढूढ निकाला था। हाय ! यह भेद आज भी इस भारत को घुन की नाई कुतर-कुतरकर खा रहा है !

हाँ, तो कह रहा था कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ गाव आपस म टकराने । इन सघर्षो म विजय-लाभ के लिय आवश्यक था कि एक देवता की शरण ली

जाय। सघर्षो मे विजय-लाभ का यही देवता 'इन्द्र' है, जिसकी स्तुति मे ऋग्वेद ने सख्या मे सबसे अधिक और तत्त्व मे सबसे भारी २५० सूक्त गाये हैं। समर का यही देवता इन्द्र देवता है जो आकाश मे बादलों को घेरकर पडे, वत्र, अहि अथवा शबर से लोहा लेना और सोम के मद मे मस्त होकर उनका काम तमाम कर देता है। नद और नदियों को जीवनदान देने वाले इन्द्र देवता का उदय होते ही, द्यौस् पिता, धरती माता और अधिष्ठाता वरुण' तीनो निस्तेज पड गये और अब आ गया एकमात्र इन्द्र का युग, जिसमें प्रधानतया उसी का विजय घोष सुनायी पडता है।

हाँ, तो कह रहा था कि 'द्यौस पिता, पृथ्वी माता, वरुण अधिष्ठाता, और विजयसनि इन्द्र'—ये चारो ही असली अर्थ मे देवता थे ये दीप्यमान थे ये भ्राजमान थे, लीलामय थे। इनका रूप एव क्रिया-कलाप ठीक ऐसा ही था जसा कि एक देवता का होना चाहिये। किंतु इन्द्र के बाद युग करवट लेता है। इसमे देवता भी इतने ही उभर आते हैं जितने कि चूल्हे। इस धरती की वही कदीमी बीमारी 'चूल्हे राटी' की। धीरे धीरे इन देवताओ की सख्या बीस से ऊपर जा पहुँची, यहाँ तक कि भावमय तत्त्व भी—जसे कि श्रद्धा—अब देवता बनकर सामन आये। किंतु, क्योंकि हरएक का अपना देवता सब गुणो से पूणतया सम्पन्न था, इसलिय सभी देवता तत्वत एक बन गये। यही बात वेद ने (ऋग्वेद १।१६४।४६) इन शब्दो मे स्थापित की है—

"इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥"

यही बात दूसरे शब्दो मे ऋग्वेद (३।५।४) ने या कही है —

मित्रो अग्निभवति यत समिद्धा मित्रो होता वरुणा जातवेदा ।
मित्रो अध्वयुरिषिरो दमूना मित्र सिन्धूनामुत पवतानाम ॥

फल इस धारणा का यह हुआ कि सब दवता मूलत तदात्म बन गये और सबके शारीरिक एव क्रियाकलाप-सम्बन्धी भेद छँटते छँटत सर्वात्मना लुप्त हा गय। और इसके साथ ही हम आ पहुँचते हैं 'मौलिक एकेश्वरवाद' पर जो हम उपनिषदों के 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' आदि सारगर्भित कथनो मे पूणरूपेण सतत हुआ मिलता है।

कहना न होगा कि उपनिषदो का ब्रह्मदेव नितरा नितर होने के कारण मानव के लिये अतीव निष्ठुर एव नीरस बनकर सामने आया। उसे लगा कि तमोमयी यामिनी म सामने एक भीषण प्रचण्ड महावताल मुँह बाए उसकी आर बढ रहा है। इसकी मिन्नत समाजत मे मानव ने अपने द्यौस पृथ्वी, वरुण और इन्द्र, चारो ही खो दिये और अब वह रह गया निपट अकिंचन, जिसका दिल खाली था, और जिसके हाथ रीते थे।

खुले-आम अकिंचन बन जाने पर भी मानव ने अपना साहस न छोडा, अपने आलम्बन की खोज मे वह हाथ पर मारता ही रहा। परिणाम इसका यह हुआ कि व्यापक विष्णु के दस अवतार सामने आय, वेद का प्राथनाथक 'ब्रह्मन' ब्रह्मा का रूप

धारण करके उभरा और वेद का रुद्र शिव, (तैत्तिरीय उपनिषद के माध्यम से) बाद के युग में महादेव रुद्र के रूप में पूजा का भाजन बना। भक्तों ने तीनों के काम भी बाँट दिये। ब्रह्मा को स्रष्टा, विष्णु को भर्ता और रुद्र को संहर्ता बताया गया। निदान, सभी प्रकार के भक्तों को अपना अपना आराध्यदेव मिल गया। किंतु ये तीनों ही भगवान द्यौस पिता, पृथ्वी माता वरुण-अधिष्ठाता, और इन्द्र विजयदाता से सुतरां भिन्न प्रकार के थे।

द्यौस वरुण, और इन्द्र मानव के अत्यन्त निकटवर्ती होने पर भी, मानव बन कर उसकी चौपाल पर कभी नहीं आये थे, भले ही बाद में वैदिक सप्ततन्तु वितान में वेद के सारे ही देवता यज्ञ-श्रेणी में अग्नि प्रदीप्त हो जाने पर उसके आसात बर्हि पर आसीन हो अग्नि में प्रक्षिप्त हवि का ग्रहण करने के लिये आने लगे थे। यह सब कुछ करते रहने पर भी वैदिक देवता मानवों के मध्य मानवी लीला का स्वाँग नहीं भरते थे। विष्णु के दस अवतारों में हम विष्णु मानवों के मध्य मानवी लीला का स्वाँग भरते दीख पड़ते हैं और यह संदेश देते सुनायी पड़ते हैं कि "मर्दो! तुम मर्द हो, मर्द होकर भी मेरी तरह यतिधर्मा बनकर काम करो। बस मैं तुम्हें गले लगा लूँगा।" पश्चोपनिषत्कालीन राम भक्त राम से गले लगकर धरती का नहीं रह जाता वह आकाश में बदल जाता—कुछ धूप छाँह के समन्वय-सा—सुतरां तरल एवं सूक्ष्म बनकर राम की परिधि में सरक जाता है। तब वह व्यक्तिक रूप को तज राम समष्टि में विलीन हो जाता है। विलय की यह भावना उपनिषदों से पहले युग के मानव को नहीं रुची थी वह मर्द पैदा हुआ था मर्द बन रहकर बाहर धरती से और घर में गृहिणी से इस संसरणशील संसार को चार चाँद लगाना अपना कर्तव्य समझता था। वैदिक और औपनिषदिक विचारधारा में यह एक भेद है और यह मौलिक भेद है।

पुराणों के मधुमय पुटपाक में ब्रह्मा विष्णु और महेश पकते पकते एकतार बन जाते हैं और सब पर शांकर अद्वैत का मुलम्मा पूर्णतया चढ़ जाता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश पुराणों के प्रोज्जृम्भमाण जलप्लावन में यहाँ-वहाँ अपना अपना सिर उठाते दीख पड़ते हैं—किंतु इस अपार जलौघ में इस असीम कल्लोल भांडार में उनका व्यक्तित्व डूब जाता है और ये तीनों उसी एक रूप में तदात्म बन जाते हैं जो रूप कि इस अपर्यन्त सागर का अपना रूप है इस अगाध भवसागर का अपना परम आलम्बन है।

रामायण और महाभारत दोनों ही आर्ष-काव्य विष्णु का गुण-कीर्तन करके अमरता-लाभ करते हैं दोनों एक दूसरे से बढ़कर— शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व दोनों में अपने-जैसे आप सचमुच न भूतो न भविष्यति। किंतु रामायण के राम और महा भारत के श्रीकृष्ण मानव कुल में जन्मे हैं मानव-कुल में पले हैं मानव कुल में उभरे हैं मानवों से जूझे हैं और मानवों के लिये जिये हैं। रामायण के राम और महाभारत के कृष्ण मानव के बहुत अधिक निकट हैं—वे हर घड़ी उसके पहलू में खड़े हैं। वे उसी की तरह रोते और हँसते हैं वे प्यार भी उसी की तरह करते और खीझ भी

उसी की तरह उठने हैं। वे उसके बहुत अधिक आसात अथवा निकट हैं, इसीलिये उनसे उसका भय कम हो जाता है, और भय न रह जाने पर भावनावाद (Mysticism) का उदय नही हो पाता। फल इसका यह है कि रामायण और महा भारत दोनों ही का मधुपक भावनावाद के मधु से वञ्चित रह जाता है, और दोनो रचनाएँ हर तरह पीयूपमयी होने पर भी नमक के लावण्य से रीती ही रह जाती हैं।

आपकाव्यो के बाद विष्णु महश को चार चाँद लगाने वाले कविसम्राट कालि दास हुए, जिनकी रचना सचमुच अनुपम है, और जिन्होंने 'रघुवश' म विष्णु की और 'कुमारसभव' मे महादव की कुछ ऐसी नीराजना की है जो विश्व के साहित्य म सचमुच अपने जसी आप है। रघुवश के राम सीता विश्व के दिनमणि एव दिनमुख उपस हैं, दोनों किंचित काल के लिये आमने-सामने होकर रसाप्लावित होत, और फिर, पता नही क्यों, और कहाँ उपा तिरोहित हा जाती है, और भुवनभास्कर को अपना अपार देवयान एकाकी तय करना पडता है। और जब मैं रघुवश की दूरेक्षिका लगाकर ध्यान स इस सूयदेव के, त्वष्टा द्वारा प्रदत्त लाहित मुख को देखता हूँ, तब मुझे आज भी इसकी आँखें अश्रुजल शोण दिखाई पडती हैं और इसकी मुखमुद्रा मे एक ऐसी वेदना दम तोडती दीख पडती है जोकि कभी-कभी मुझे हिमालय के प्रांतुङ्ग तुङ्गा पर खडा होकर उसकी घाटिया म दम ताडते वादलो म दीखा करती है। कालिदास का मनस्तोप परमपावन रामायण गाकर ही न हो पाया, वे एक कदम और आग बढे, और जब सारे ही पार्थिव घाट घाटियों को पार करके वे मेरु-पृष्ठ पर जा लगे, तब मानसरोवर के पाश्व म उन्होंने 'द्यौस' पिता और हैमवती माता के परम पावन सहचरी धम को वह अनुत्तर शाश्वत वाणी प्रदान की जा आज भी उनके 'कुमारसभव' म गूजती सुनायी पडती है। और जब मैं तपोनित्य द्यौष्पिता के ज्वलन्त मुख मण्डल के समुख स्नानशाटी मे विभक्त, पीयूपवदना—कुछ कहती और आँखो से कुछ माँगती—धरती माता को अशरीरी मन्मथ के शरो से व्याहत हाने पर महाकाल की ओर एकटक खडी पाता हूँ, तब मुझे कालिदास की याद सताने लगती है जिसने कि द्यौष्पिता पथिवी माता के इस दिव्य महानाटक को अपने कुमारसभव म शाश्वत वाणी प्रदान करने का परम श्रेयस उपलब्ध किया है। किंतु कालिदास की लोकातिवाही लेखनी न राम और महेश दोना ही को चमचमाती मट्टी मे बाँधकर भी उनके तरल-पारद रूप का ही उनका यथाथ रूप बताया है—उनके निर्गुण रूप को ही यथायत गुणवान रूप स्थापित किया है। अद्वत वदान्त का पीयूप कालिदास की पोरी-पोरी म उछला पडता है और उनकी अपनी परिनिष्ठा भी सब भोग भोग लेने क बाद भोगातीत बने परब्रह्म म ही मुखरित होती दीख पडती है।

भारत क देववाद की भी प्रौढ गाथा कालिदास पर मूक हो जाती है, किंतु धरती चलती है, और अम्बर का चक्र घूमा ही करता है। हमारे राम और श्याम भी चलते रहते हैं, या या कहिये कि वे इस अनाद्यनन्त चक्र को चलाते ही रहते हैं।

हिन्दी म राम का अयन तुलसी न बड़े ठाट बाट के साथ निकाला है उस दैवी अयन के सामने चक्रवर्तियो न अयन थाम पड़ जाते हैं अनोखी शान बेजोड़ ठाट अनन्य सौन्दर्य, अनुपम आत्मिक वैभव अद्वितीय शालीनता, अनुत्तम विनय सार ही अतिमानव गुणा के आकर राम भुवन भास्कर की न्याइ दशरथकुल म अवतार लेत और कुछ काल के लिए धरती पर सौदामनी की लक्षणिमा प्रवाहित करके, जानकी की रूपातीत सुरूपगुणराशि को प्रोद्भासित करके वकुण्ठ लौट जाते हैं। राम का यह अयन सचमुच अनोखा अयन है। इसके दोनो पार्श्व सिद्धदेवो के मधुवर्षी मुखाम्भोजा से समुद्भासित हैं पद-पद इस अयन पर सुर-वनिताओ का स्मित-पीयूष क्षारित होता दीख पड़ता है। यहाँ वाल्मीकि आदि अक्षयवचस सुरमुनियो के आगण देवकुमारो से आकीर्ण दीख पड़ते हैं—रामायण सचमुच एक पावन अयन है। किंतु इस अयन के राम भी हर समय तुलसी के पार्श्व म रहते हैं और पास रहनेवाले चन्दन को भी लोग इंधन बना लिया करते हैं।

तब मिला हिन्दी को एक 'बामन मन्त जिसे लोग कबीर जुलाहा' कहकर पुकारा करते थे। आकार प्रकार म छोटा नाटा सा किन्तु आन्तरिक ज्योति की सघन चिनगारी आत्मिक उल्लास की दूरदीपी टार्च लाइट। दस्तनाक-परावर का यह जुलाहा काशकार धूमि की न्याइ हर घनी मन ही मन उन तन्तुओ का कलन किया करता था, जिन तन्तुओ से हमारा सप्ततन्तु क्रतु बना है जिन तन्तुओ से विश्व का यह असीम तानाबाना पट बुना दीख पड़ता है। इस जुलाहे को साक्षात दीख पड़े 'द्यौष्पिता के अगणित-असीम, शवल-कर्बुर तन्तुजाल आसमान म उतरात जिन्हें इसने बुन दिया अपनी उस खड्डी पर जा पता नहीं क्यो सदा के लिए इस धरती से किनारा कर गयी। इस जुलाहे न फिर से देखा पृथिवी माता को माता के रूप म, और गाये उसकी वन्दना म व बेजोड़ कलाम जो, जब तक यह माता रहेगी, तब तक इस पर गूंजत रहेंगे और जब कहो मेरे कान म यह धुन पड़ जाती है—

> चलती चाकी देखि के दिया कबीरा रोय।
> दो पाटन के बीच म साबित बचा न कोय॥

तब मेरे सामने वह विशाल चक्की उभर आती है जिसे द्यौष्पिता और पृथिवी माता अनादि काल स चलाते आ रहे हैं।

कह कुछ कलाम कबीर न राम और श्याम के बारे मे भी, किन्तु कबीर के राम और श्याम तुलसी के राम और श्याम से सुतरां भिन्न कोटि के हैं। वे हैं सूक्ष्म तरल, घनत्र भावमय। जो हैं भी, और नहीं भी गुणो स बहुत दूर निर्लेप और अलग, वे कबीर के राम राम म थे पर फिर भी उनसे बहुत दूर रहते थे—बस इस सान्निध्य और सुदूरता म ही भावमयता उदय होती है—कबीर की कविता भावमय है मिस्टिक है और इस दृष्टि स भारतीय साहित्य म वह अपने जैसी आप है।

यह हुई भारतीय देवशास्त्र की धुंधली-सी, छितराई सी, छोटी सी रूपरेखा।

प्रिय प्रो० श्रुतिकान्त ने प्रस्तुत पुस्तक मे इसी देवशास्त्र की आराधना की है, इस आराधना से उनके जीवन को चार चाँद लग हैं।

श्रुतिकान्त का जीवन नितान्त ऋजु एव पोरी पोरी म नित्तर है, उनकी लेखनी म उनकी ऋजुता छलक आयी है। जीवन छोटा है, सकीण है, कण्टको से आकीण है, इस जीवन मे देवशास्त्र की तनिक सी भी चर्चा रामायण बन जाती है। लेखक को प्रशस्त पथा पर आग बढा देती है।

श्रुतिकान्त की रचना एक थीसिस के रूप म लिखी गयी है, फलत इसम से बहुत-कुछ निकाला जा सकता है और बहुत कुछ इसम डाला भी जा सकता है। किंतु आप ही बताइय, आज के प्रबन्धा म कौन-सा प्रबन्ध ऐसा है जा इन दोषो स दूर हो?

देवशास्त्र-सम्बन्धी यह रचना उच्च कोटि की रचना है। यह विदग्ध है, पर फिर भी चलने मे सशक्त है। यह श्रुतिकान्त को चार चाँद लगायेगी ऐसी धारणा पक्की है।

सरसावा, सहारनपुर, —सूर्यकान्त

(एफ ७५, ग्रीन पाक, नई दिल्ली)

३ ८ १९७३

हिन्दी में राम का अयन तुलसी ने बड़े ठाट-बाट के साथ निवाला है उस दवी अयन के सामने चक्रवर्तियों ने अयन थाम पड़ जाते हैं अनामी शान, बजाड ठाट अनन्य सौन्दर्य अनुपम आत्मिक वैभव अद्वितीय शालीनता, अनुत्तम विनय सार ही अतिमानव गुणों के आकर राम भुवन भास्कर की भाँति दशरथकुल में अवतार लेते और कुछ काल के लिए धरती पर सौन्दर्य की लवणिमा प्रवाहित करके जानकी की रूपातीत सुरूपगुणराशि को प्रादुर्भासित करके वैकुण्ठ लौट जाते हैं। राम का यह अयन सचमुच अनोखा अयन है। इसके दोनों पार्श्व सिद्धों के मधुवर्षी मुखाम्भोजों से समुद्भासित हैं पद-पद पे इस अयन पर सुर-वनिताओं का स्मित-पीयूष क्षारित होता दीख पड़ता है। यहाँ वाल्मीकि आदि अमयवचस सुरमुनियों के आगार देवकुमारों से आकीर्ण दीख पड़ते हैं—रामायण सचमुच एक पावन अयन है। किंतु इस अयन के राम भी हर समय तुलसी के पार्श्व में रहते हैं, और पास रहनेवाले चन्दन को भी लोग ईंधन बना लिया करते हैं।

तब मिला हिन्दी का एक 'वामन सन्त' जिसे लोग 'कबीर जुलाहा' कहकर पुकारा करते थे। आकार प्रकार में छोटा नाटा सा किन्तु आन्तरिक ज्योति की सघन चिनगारी आत्मिक उल्लास की दूरगामी टार्च लाइट। दृष्टाचार-परावर का यह जुलाहा काशकार कृमि की भाँति, हर घड़ी मन ही मन उन तन्तुओं का कातन किया करता था जिन तन्तुओं से हमारा 'सप्ततन्तु' क्रतु बना है जिन तन्तुओं से विश्व का यह असीम तान्तव पट बुना दीख पड़ता है। इस जुलाहे को साक्षात दीख पड़े द्यौष्पिता के अगणित-असीम, शबल-कर्बुर तन्तुजाल आसमान में उनरात जिन्हें इसने बुन दिया अपनी उस खड्डी पर जो पता नहीं क्या, सन्त के लिये इस धरती से किनारा कर गयी। इस जुलाहे ने फिर से देखा पृथिवी माता को माता के रूप में और गाये उसकी वन्दना में वे बजाड कलाम जो जब तक यह माता रहेगी तब तक इस पर गूंजते रहेंगे और जब कहीं मेरे कान में यह धुन पड़ जाती है—

चलती चाकी देखि कै दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में, साबित बचा न कोय॥

तब मेरे सामने वह विशाल चक्की उभर आती है जिसे द्यौष्पिता और पृथिवी माता अनादि काल से चलाते आ रहे हैं।

कहे कुछ कलाम कबीर ने राम और श्याम के बारे में भी, किन्तु कबीर के राम और श्याम तुलसी के राम और श्याम से सुतरां भिन्न कोटि के हैं। वे हैं सूक्ष्म, तरल, घनल भावमय। जो है भी और नहीं भी गुणों से बहुत दूर निर्लेप और अलग, वे कबीर के राम राम में थे पर फिर भी उससे बहुत दूर रहते थे—बस इस सान्निध्य और सुदूरता में ही भावमयता उदय होती है—कबीर की कविता भावमय है मिस्टिक है और इस दृष्टि से भारतीय साहित्य में वह अपने-जैसी आप है।

यह हुई भारतीय देवशासन की धुंधली-सी, छितराई-सी, छोटी-सी रूपरेखा।

प्रिय प्रो० श्रुतिकान्त ने प्रस्तुत पुस्तक म इसी देवशास्त्र की आराधना की है, इस आराधना से उनके जीवन को चार चाँद लग हैं।

श्रुतिकान्त का जीवन नितान्त ऋजु एव पोरी पारी म निस्तर है, उनकी लेखनी म उनकी ऋजुता छलक आयी है। जीवन छोटा है, सकीर्ण है, कण्टको से आकीर्ण है, इस जीवन म देवशास्त्र की तनिक-सी भी चर्चा रामायण बन जाती है। लेखक का प्रशस्त पथा पर आगे वढा दती है।

श्रुतिकान्त की रचना एक थीसिस क रूप मे लिखी गयी है, फलत इसम से बहुत-कुछ निकाला जा सकता है और बहुत कुछ इसम डाला भी जा सकता है। किंतु आप ही बताइये, आज के प्रबन्धा म कौन-सा प्रबन्ध एसा है जा इन दोषों से दूर हो ?

देवशास्त्र-सम्बन्धी यह रचना उच्च कोटि की रचना है। यह विदग्ध है, पर फिर भी चलने म सशक्त है। यह श्रुतिकान्त को चार चाँद लगायेगी, ऐसी धारणा पक्की है।

सरसावा, सहारनपुर, —सूर्यकान्त
(एफ ७५, ग्रीन पाक नई दिल्ली)
३ ८ १९७३

प्राक्कथन

मानवीय इतिहास के उप काल में जिन देशों की सांस्कृतिक चेतना का आभास मिलता है, उन सबमें देव भावना का इतिवृत्त भी विभिन्न रूप से प्राप्त होता है। देवों की सत्ता, उनकी अतिमानवीय क्षमता, उनकी प्रभविष्णुता व व्यापकता, विविध प्रकार की पूजा अर्चा द्वारा उनकी सन्तुष्टि और सम्यक श्रद्धा भावना व भोग आदि के अभाव में उनकी असन्तुष्टि व कोप का विवरण उन सब देशों में समान रूप से मिलता है। भारत इस क्षेत्र में विशिष्ट है। भारतीय संस्कृति की तरह भारतीय देव भावना भी अतिशय समृद्ध है। यहाँ तैंतीस करोड़ देवताओं व उनके साथ यक्ष किन्नरादि अर्द्ध देवताओं एवं पितरों, प्रेतात्माओं आदि अनेक देव कोटियों की कल्पना की गयी है। इतना विशद देव मण्डल किसी अन्य देश का नहीं है। इन समस्त तैंतीस करोड़ देवों की नामावलि, रूपाकृति व कार्य कुशलता, क्षमता आदि का निरूपण किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता और यह संख्या बहुलता की ही प्रतीक जान पड़ती है, तथापि बहुत कम अन्य देशीय देवता ऐसे हैं जिनके समरूप किसी देवता की कल्पना यहाँ न हो—और इस प्रकार भारतीय देव भावना विश्व-देव भावना का विश्वकोश मानी जा सकती है।

अध्यात्म चिन्तन व वैज्ञानिक विकास क्रम ने सर्वत्र देव भावना को उच्छिन्न किया है। आत्म-साक्षात्कार द्वारा जब मानव ने अपनी सत्ता को सच्चिदानन्द रूप परम सत्ता से एकाकार किया और वह अपनी अनन्त शक्तिमत्ता से परिचित हुआ, तो उसे किसी अन्य सत्ता की प्रतीति नहीं रह गयी जिससे भयभीत रहने अथवा उसके पूजन अर्चन या भोग समर्पण की अनिवार्यता हो। समस्त भौतिक सत्ता की असत्ता का ज्ञान उसे हो गया। सृष्टि के परम रहस्य से परिचित हो जाने पर सामान्य देव कल्पना उसे अज्ञान की विजल्पना मात्र मालूम दी। अतः व्यवहार के स्तर पर देवपरक आस्था भारत में निरन्तर बनी रहने पर भी यहाँ के विशिष्ट दर्शनों में उसके लिए कोई अवकाश नहीं रहा। उपनिषद् काल में देव भावना को पोषण नहीं मिला। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त प्रतिपादन में देव भावना का क्षय हुआ। बौद्ध जैन आदि दर्शनों में तो उसका प्रबल विरोध हुआ ही। बाद में कुछ दर्शनों व धर्मों में मूल चिति शक्ति के वैखरी वाणी में स्वरूप निदर्शनादि के लिए व उसे सामान्य जनग्राह्य बनाने के लिए प्रतीकतः उसे देवता रूप में स्थूल आकार दे

दिया गया। इस प्रकार की देव निष्ठा मे तो देव-भावना की मूल कल्पना मे ही अन्तर आ गया। इस प्रकार देव भावना के दर्शन सम्मत न होने पर भी भारतीय जन-मानस मे वह इतनी निष्ठा से बद्धमूल थी कि स्वय शकराचार्य ने तात्त्विक पक्ष से इतर व्यवहार मे अपने काव्यो मे बहुविध देव-वन्दना व स्तुतियाँ की हैं। मध्य-कालीन भारतीय काव्य को तो वे गहन रूप से प्रभावित करती ही रही हैं।

देव भावना पिछली कतिपय शताब्दियो से क्रमश क्षीण होती हुई भी अपने अस्तित्व को अपनी अन्त शक्ति से सँभाले रही है। उसे सबसे बडा झटका अब लगा है, जिससे उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व खतरे मे पड गया है। आज के उद्योगपरक वैज्ञानिक चिन्तन ने देव भावना को मानव के आदिम, अविकसित चिन्तन व जड-अन्ध आस्थाओ की उद्भूति कहकर उसके मूलोच्छेद की घोषणा की है। मध्यकालीन अध्यात्म-दर्शन व आज के विज्ञान के इस दम्भ घोष के कारण विपन्न होने पर भी उसके मोहक स्वरूप ने सामान्य भावनाशील मानव-समुदाय के अतिरिक्त चिन्तको के एक बडे वर्ग को भी आसक्त कर रखा है। इस प्रकार देव भावना-परक चिन्तन के इस सक्रान्ति-काल मे उसकी उपादेयता का मूल्याकन एकदम अपरिहार्य हो गया है और तदर्थ उसके उदभव से सम्बद्ध मनोविज्ञान व तत्परक आस्था-वृत्ति के मूल कारणो तथा देव भावना के स्वरूप व उसके विकास क्रम का अध्ययन अपेक्षित है। समस्त देव भावना क्या अल्प चिन्तन पर आधृत किसी अश्रेयस्कर मनोवैज्ञानिक भीति से उत्पन्न मनोदुर्बलता की प्रतीक—अत सर्वथा तिरस्करणीय—है, अथवा वह अपने सम्पूर्ण रूप मे या अशत, रक्षणीय है?—यही विचिकित्सा इस अध्ययन की मूल प्रेरणा है।

स्पष्टत भारतीय देव भावना के इस अध्ययन का कारण हमारा सस्कारगत मोह नही है। शोध के क्षेत्र मे इस प्रकार की दुर्बलता के लिए कोई स्थान भी नही है। भारतीय देव भावना का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है, वह अतीत व वर्तमान को मिलाने वाली कडी है। उसमे हमारे सास्कृतिक विकास क्रम का अकृत्रिम इतिवृत्त मिलता है। मिस्र, सुमेर, बेबीलोन, असीरिया, ईरान, मसोपोटामिया की सस्कृतियो से भिन्न भारत की प्राचीन सस्कृति अविच्छिन्न रूप से आज की सस्कृति से जुडी है। मोहनजोदडो की खुदाई मे जिन देव मूर्तियो की खोज हुई है, उनकी पूजा इस देश मे आज भी प्रचलित है। अपने उस इतने प्रभावी प्राचीन रिक्थ से परिचय उसका इतिहास-ज्ञान स्वय उपयोग सिद्ध है और किसी अन्य श्रेय के अभाव मे भी उसका अध्ययन अपेक्षित है।

मैं हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी हूँ। आधुनिक काल से पूर्व का हिन्दी साहित्य देव भावना से बहुत अधिक प्रभावित रहा है। हिन्दी का मध्यकाल, विशेषत भक्ति काल, तो प्राय उसकी छाया मे ही विकसित हुआ है। भक्ति-काल के काव्य में देव भावना की चरम परिणति मिलती है। तथ्य यह है कि इस काव्य का बहुदश

मूलतया उसी से प्रेरित है। कहीं-कहीं तो उसका साहित्यिक मूल्य उसमे व्यक्त देव भावना की तुलना म गौण रह गया है। इसी स देव भावना क चित्रण की दृष्टि से हिन्दी क भक्ति काल का जिसे विद्वानो न प्राय उसका स्वर्ण काल भी कहा है, अध्ययन विवेचन व मूल्यांकन अनिवार्य है।

भारत की समस्त अर्वाचीन भाषाओ का साहित्य देव भावना स अनुस्यूत है। प्राय सब भाषाओ, विशेषत बँगला मलयालम और कन्नड म देव भावनापरक साहित्य विपुल मात्रा म मिलता है। भारतीय साहित्य की यह आश्चयजनक समानता है कि तेरहवी स सत्रहवी शताब्दी तक लगभग सभी भाषाओ के साहित्य म भक्ति काल' पाया जाता है जिसम कुछ भिन्नता के साथ समानरूप स देव भावना मुख्य प्ररिका रही है। इस प्रकार यदि भारत की सब भाषाओ म चित्रित देव भावना क स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो वह अत्यन्त रोचक ज्ञान का विकास करनेवाला तथा भारतीय साहित्य की मलभूत एकता का दिग्दशक हो सकता है। परन्तु इस काय से पहले समस्त भाषा साहित्यो म चित्रित देव भावना के स्वरूप का पृथक्त परीक्षण अनिवाय है तभी उसके विशिष्ट सग्रहणीय तत्त्व हाथ आयेंगे।

प्रस्तुत प्रबन्ध म भारतीय सस्कृति म देव भावना की प्रतिष्ठा व मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य म व्यक्त उसके विशिष्ट रूप स अध्ययन प्रारम्भ किया गया है। द्वितीय अध्याय म देवो क सामान्य स्वरूप निदशन के साथ देव भावना क उदय के मूल मनोविज्ञान की चर्चा की गयी है। देव भावना का उदभव विश्व सस्कृति म सब जगह लगभग एक-सी प्रेरणाए होन के कारण समान रूप स हुआ परन्तु भिन्न सास्कृतिक व भौगोलिक स्थितियो के कारण विविध स्थानो म विकास की कथा भिन्न रही है—सब सस्कृतियो म दव भावना का विकसित व्यक्तित्व पूणत पथक है। अत प्रबन्ध म प्राचीन सस्कृति सम्पन्न प्रत्येक देश की देव भावना की उदभव प्रक्रिया दिखायी गयी है और भारतीय दव भावना पर प्रभाव डालनेवाल उनके विशिष्ट तत्त्वो का ही उल्लेख किया गया है—विशिष्ट विकास क्रम केवल भारतीय देव भावना का ही दिखाया गया है। ततीय अध्याय म भारतीय देव भावना का यही विकास क्रम दिखाया गया है। चतुथ अध्याय म भारतीय देव भावना को प्रभावित करने वाले आन्तर व बाह्य उपादानो का विवेचन हुआ है। पचम पष्ठ सप्तम तथा अष्टम अध्यायो म भक्तिकालीन क्रमश ज्ञानाश्रयी प्रेमाश्रयी राम भक्ति कृष्ण भक्ति शाखा म अभिव्यक्त देव भावना क स्वरूप का निदशन हुआ है। मुझे विनम्र विश्वास है कि मध्यकालीन हिन्दी साहित्य म चित्रित भारतीय दव भावना क स्वरूप का इतना विशद आख्यान अभी तक नही हुआ। हिन्दी साहित्य क विभिन्न इतिहासो विविधयुगीन विशिष्ट काव्यधाराओ व पथक्त कवियो पर लिखे जान वाल कतिपय समीक्षात्मक ग्रन्थों म तत्सम्बद्ध दव भावना का गौणत उल्लख मिलता है। इतिहास ग्रन्थो म तो यह उल्लेख स्वभावत सीमित हुआ है—कवियों क साहित्यिक व्यक्तित्व स सम्बद्ध

पथक ग्रन्थो मे भी इस भावना का दर्शन व विवेचन अप्रमुख रह जाता है। भक्ति काल की विभिन्न धाराओ व प्रवृत्तियों के इस दृष्टि से आलोचन के साथ ही हमने विभिन्न कालो म देव भावना म जो अन्तर आया है, उसका स्पष्ट निर्देश करने का प्रयत्न किया है। साथ ही विभिन्न देवो के स्वरूप व उनकी स्थिति मे जो परिवतन या उतार चढाव आया है उसका उल्लेख भी तत्तत स्थानो पर कर दिया है।

नवम अध्याय म रीति काल व रीतिकालोत्तर देव भावना के स्वरूप का परीक्षण हुआ है। रीतिकाल शृगार काल है, जिसम काव्य के प्रेरक तत्त्व के रूप म देव भावना बिल्कुल नहीं है। जहाँ वह प्रस्तुत हुई भी है यह केवल रूढिगत है, उन्मेष रहित है। उसके कवियो को देव भावना म विश्वास नही था इसी से दृष्टि से वह कहीं गहरी नही है। आधुनिक काल मे तो देव भावना अपने मूल मे मिलती हीं नही— कही परम चेतना के प्रतीक रूप म किसी देवता की चर्चा भले हो गयी हो।

इस शोध प्रबन्ध के विषय म कतिपय महत्त्वपूण स्पष्टीकरण अनिवाय हैं। पहला यह है कि इसमे बहुत से स्थलो पर विस्तार मे जाने का लोभ सवरण करना पडा है। उदाहरण के लिए, सिन्धु घाटी की सभ्यता आय है या आर्येतर, यह स्वय अपने मे शोध का विषय है। इस पर बहुत विस्तार के साथ लिखा जा सकता था पर हम अपने प्रबन्ध के सीमित आकार को ध्यान म रखते हुए रुककर चलना पडा है। अन्य देशो की देव भावना के प्रकरण म हमने जिन देशो की देव भावना का उल्लेख किया है उनमें से प्रत्येक पर, स्वतन्त्र रूप से शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा सकते हैं। यहाँ पर भी केवल तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूण कतिपय अति-विशिष्ट व ज्वलन्त तथ्यो की ओर इगित कर हम आगे बढ गये हैं। बौद्ध, जन, ईसाई और मुस्लिम धर्मों के प्रभाव के विषय म भी सब अनिवाय तथ्यो का आकलन व विवेचन करते हुए भी सक्षिप्त रूप म ही अपनी बात कहनी पडी है।

दूसरा यह है कि, प्रबन्ध म कतिपय देवताओ से सम्बद्ध बहुश्रुत व लोक मे जानी मानी विशेषताओ व कथाओ को स्थान नही दिया गया है। ये कथाएँ अपनी परम्परा व लोकप्रियता म कुछ प्राचीन व विशिष्ट होत हुए भी प्रमाण-पुष्ट नही थीं। किसी भी आकर ग्रन्थ मे इनका आज मिलने वाला या उससे कुछ भी मिलता जुलता रूप प्राप्त नही होता। लोक हृदय म इनके मूल्य की अवहेलना मैं नहीं करता परन्तु प्रबन्ध म इनकी प्रस्तुति मुझे उचित नही लगी। प्रबन्ध म विशिष्ट व्यवस्थित, तक निष्ठ व प्रमाण-पुष्ट सामग्री का ही चयन किया जा सकता है।

तीसरा यह है कि मध्यकालीन साहित्य के विवेचन क्रम म देव भावना के चित्रित स्वरूप की दृष्टि से जो कवि महत्त्वपूण रहे हैं उनको अधिक महत्त्व व स्थान दिया गया है। साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से यह निर्धारण भ्रमपूण लग सकता है परन्तु प्रबन्ध का दृष्टि से मेरा यह सानुपातिक विवेचन अनुचित न होगा।

इस विषय के अध्ययन के सम्बन्ध म अनेक विद्वानो के श्रेष्ठ ग्रन्थो का आश्रय

मूलतया उसी स प्रेरित है। कहीं-कहीं तो उसका साहित्यिक मूल्य उसम व्यक्त दव भावना की तुलना म गौण रह गया है। इसी स दव भावना क चित्रण की दष्टि स हिन्दी क भक्ति काल का जिस विद्वाना न प्राय उसका स्वण काल भी कहा है, अध्ययन विवेचन व मूल्याकन अनिवाय है।

भारत की समस्त अर्वाचीन भाषाओं का साहित्य दव भावना स अनुस्यूत है। प्राय सब भाषाओं, विशषत बँगला मलयालम और कन्नड म दव भावनापरक साहित्य विपुल मात्रा म मिलता है। भारतीय साहित्य की यह आश्चयजनक समानता है कि तेरहवी स सत्रहवीं शताब्दी तक लगभग सभी भाषाओं के साहित्य म भक्ति-काल पाया जाता है जिसम कुछ भिन्नता क साथ समानरूप स दव भावना मुख्य प्रेरिका रही है। इस प्रकार यदि भारत की सब भाषाओं म चित्रित देव भावना क स्वरूप का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो वह अत्यन्त रोचक ज्ञान का विकास करनवाला तथा भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का निदशक हो सकता है। परन्तु इस काय स पहले समस्त भाषा-साहित्यो म चित्रित दव भावना क स्वरूप का पृथक्त परीक्षण अनिवाय है तभी उसके विशिष्ट सप्रदायीय तत्त्व हाथ आयेंगे।

प्रस्तुत प्रबन्ध म भारतीय संस्कृति म देव भावना की प्रतिष्ठा व मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य म व्यक्त उसके विशिष्ट रूप स अध्ययन प्रारम्भ किया गया है। द्वितीय अध्याय म दवा क सामान्य स्वरूप निदशन के साथ दव भावना के उदय क मूल मनोविज्ञान की चर्चा की गयी है। दव भावना का उद्भव विश्व संस्कृति म सब जगह लगभग एक-सी प्रेरणाए होन के कारण समान रूप स हुआ परन्तु भिन्न सांस्कृतिक व भौगोलिक स्थितियो क कारण विविध स्थानो म विकास की कथा भिन्न रही है—सब संस्कृतियो म दव भावना का विकसित व्यक्तित्व पूणत पृथक है। अत प्रबन्ध म प्राचीन संस्कृति सम्पन्न प्रत्यक दश की देव भावना की उद्भव प्रक्रिया दिखायी गयी है और भारतीय देव भावना पर प्रभाव डालनवाले उनके विशिष्ट तत्त्वो का ही उल्लेख किया गया है—विशिष्ट विकास क्रम केवल भारतीय दव भावना का ही दिखाया गया है। ततीय अध्याय म भारतीय दव भावना का यही विकास क्रम दिखाया गया है। चतुर्थ अध्याय म भारतीय दव भावना का प्रभावित करन वाल आन्तर व बाह्य उपासनाओं का विवचन हुआ है। पचम षष्ठ सप्तम तथा अष्टम अध्यायो म भक्तिकालीन क्रमश ज्ञानाश्रयी प्रेमाश्रयी राम भक्ति कृष्ण भक्ति शाखा म अभिव्यक्त दव भावना क स्वरूप का निदशन हुआ है। मुझे विनम्र विश्वास है कि मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य म चित्रित भारतीय दव भावना क स्वरूप का इतना विशद आख्यान अभी तक नहीं हुआ। हिन्दी-साहित्य क विभिन्न इतिहासो विविधयुगीन विशिष्ट काव्यधाराओं व पथक कवियो पर लिख जान वाल कतिपय समीक्षात्मक ग्रथों म तत्सम्बद्ध दव भावना का गौणत उल्लेख मिलता है। इतिहास ग्रन्थो म तो यह उल्लेख स्वभावत सीमित हुआ है—कवियों क साहित्यिक व्यक्तित्व स सम्बद्ध

पथक ग्रन्थो मे भी इस भावना का दशन व विवेचन अप्रमुख रह जाता है। भक्ति-काल की विभिन्न धाराओ व प्रवत्तियो के इस दृष्टि से आलोचन के साथ ही हमने विभिन्न कालो मे देव भावना मे जो अन्तर आया है, उसका स्पष्ट निर्देश करने का प्रयत्न किया है। साथ ही विभिन्न देवो के स्वरूप व उनकी स्थिति म जो परिवतन या उतार चढाव आया है उसका उल्लेख भी तत्तत स्थानो पर कर दिया है।

नवम अध्याय मे रीति काल व रीतिकालोत्तर देव भावना के स्वरूप का परीक्षण हुआ है। रीतिकाल शृगार काल है, जिसम काव्य के प्रेरक तत्त्व के रूप मे देव भावना बिल्कुल नहीं है। जहाँ वह प्रस्तुत हुई भी है वह केवल रूढिगत है, उन्मेष रहित है। उसके कवियो को देव भावना मे विश्वास नही था, इसी से दष्टि से वह कहीं गहरी नही है। आधुनिक काल मे तो देव भावना अपने मूल मे मिलती ही नही— कही परम चेतना के प्रतीक रूप म किसी देवता की चर्चा भले हो गयी हो।

इस शोध प्रबन्ध के विषय म कतिपय महत्त्वपूण स्पष्टीकरण अनिवाय हैं। पहला यह है कि इसमे बहुत से स्थलो पर विस्तार मे जाने का लोभ सवरण करना पडा है। उदाहरण के लिए, सिन्धु घाटी की सभ्यता आय है या आर्येतर, यह स्वय अपने म शोध का विषय है। इस पर बहुत विस्तार के साथ लिखा जा सकता था, पर हम अपने प्रबन्ध के सीमित आकार को ध्यान मे रखते हुए रुककर चलना पडा है। अन्य देशो की देव-भावना के प्रकरण म हमने जिन देशो की देव भावना का उल्लेख किया है उनमें से प्रत्येक पर, स्वतत्र रूप से शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं और लिखे जा सकते हैं। यहाँ पर भी केवल तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूण कतिपय अति विशिष्ट व ज्वलन्त तथ्यो की ओर इगित कर हम आगे बढ गये हैं। बौद्ध, जन, ईसाई और मुस्लिम धर्मों के प्रभाव के विषय म भी सब अनिवाय तथ्यो का आकलन व विवेचन करते हुए भी सक्षिप्त रूप म ही अपनी बात कहनी पडी है।

दूसरा यह है कि, प्रबन्ध म कतिपय देवताओ से सम्बद्ध बहुश्रुत व लोक मे जानी मानी विशेषताओ व कथाओ को स्थान नहीं दिया गया है। ये कथाएँ अपनी परम्परा व लोकप्रियता म कुछ प्राचीन व विशिष्ट होते हुए भी प्रमाण-पुष्ट नही थीं। किसी भी आकर ग्रन्थ म इनका आज मिलने वाला या उससे कुछ भी मिलता जुलता रूप प्राप्त नही होता। लोक हृदय म इनके मूल्य की अवहेलना मैं नहीं करता परन्तु प्रबन्ध म इनकी प्रस्तुति मुझे उचित नही लगी। प्रबन्ध म विशिष्ट, यवस्थित, तक-निष्ठ व प्रमाण-पुष्ट सामग्री का ही चयन किया जा सकता है।

तीसरा यह है कि मध्यकालीन साहित्य के विवेचन क्रम मे देव भावना के चित्रित स्वरूप की दष्टि से जो कवि महत्त्वपूण रहे हैं उनको अधिक महत्त्व व स्थान दिया गया है। साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से यह निर्धारण भ्रमपूण लग सकता है, परन्तु प्रबन्ध की दष्टि से मेरा यह सानुपतिक विवचन अनुचित न होगा।

इस विषय के अध्ययन के सम्बन्ध म अनेक विद्वानो के श्रेष्ठ ग्रन्थो का आश्रय

लेना पड़ा है—उनका निर्देश प्रबन्ध में यथास्थान किया गया है। कतिपय विबुधों के सीधे सम्पर्क में आने का भी मुझे अवसर मिला, उनमें विशेष रूप से डॉ० सूर्यकान्त, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, आचार्य विश्वबन्धु अध्यक्ष वैदिक अनुसन्धान संस्थान होशियारपुर (पंजाब) और डा० मंगलदेव शास्त्री (वाराणसी) का उल्लेख करना आवश्यक है, जिन्होंने अपने अमूल्य परामर्शों से इस प्रबन्ध को इतना उपयोगी बनाया। अपने अधीक्षक प्रो० महेन्द्रप्रताप, अध्यक्ष हिन्दी विभाग के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश) के प्रति हार्दिक धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। उन्होंने न केवल मार्ग प्रदर्शन ही किया है अपितु प्रबन्ध को अक्षरशः पढ़ कर बीच-बीच में अनेक अमूल्य सुझाव भी दिए हैं। उन्होंने अधीक्षक और मित्र दोनों ही के कर्त्तव्य को बहुत सुन्दर ढंग से निभाया है। इसके अतिरिक्त डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री एम० ए० पी एच० डी०, (अध्यक्ष संस्कृत विभाग डी० ए० वी० कालेज, देहरादून,) श्रीपूरणचन्द्र शर्मा, असिस्टेन्ट डायरेक्टर पटना राणा कुन्तारचन्द, अध्यक्ष, विधानसभा हिमाचल प्रदेश (पंजाब) श्री ज्ञानचन्द्र शर्मा एम० ए० इण्टरटेनमेंट टैक्स अधिकारी, तथा प्रिय प्रदर्शन गुप्त (मुरादाबाद) ने भी विविध प्रसंगों में मेरी सहायता की। इन सबके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। कुमारी ऊषा मेहरा एवं बहिन आशा पंडित का भी धन्यवाद देना आवश्यक है जिनके विशिष्ट सहयोग के फलस्वरूप यह कार्य पूरा हुआ। इन सबके बाद अपने अग्रज श्री केशवचन्द्र, डिप्टी कलक्टर, अपनी पत्नी सीतादेवी और पुत्री कुमारी सरोज का स्मरण भी असामयिक न होगा। वे यद्यपि आत्मीय हैं और उन्हें धन्यवाद देना औपचारिकता ही होगी, फिर भी उनका सहयोग किसी प्रकार से कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा।

मेरे बाल साथी और सहाध्यायी श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने इसके प्रकाशन में जो सहयोग दिया उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना आवश्यक है।

अपने अध्ययन के सिलसिले में मुझे अनेक संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों की यात्रा करनी पड़ी है। इनमें विशेषतः राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर, हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, वैदिक अनुसन्धान संस्थान, होशियारपुर के० जी० के० कालिज, मुरादाबाद आदि के अधिकारियों ने बड़े ही सौजन्य एवं तत्परता से अपने पुस्तकालयों से लाभ उठाने की सुविधा देकर इस कार्य को इतना सरल बनाया। इन सबके प्रति मैं हार्दिक रूप से आभार नत हूँ।

राजकीय महाविद्यालय —श्रुतिकान्त

रोपड़ (पंजाब)

स्वतन्त्रता दिवस १९७२

विषय-सूची

लेना पड़ा है—उनका निर्देश प्रबन्ध में यथास्थान किया गया है। कतिपय विद्वानों के सीधे सम्पर्क में आने का भी मुझे अवसर मिला उनमें विशेष रूप से डॉ० सूर्यकान्त, अध्यक्ष संस्कृत विभाग अलीगढ़ विश्वविद्यालय, आचार्य विश्वबन्धु अध्यक्ष वैदिक अनुसन्धान संस्थान होशियारपुर (पंजाब) और डा० मंगलदेव शास्त्री (वाराणसी) का उल्लेख करना आवश्यक है, जिन्होंने अपने अमूल्य परामर्शों से इस प्रबन्ध को इतना उपयोगी बनाया। अपने अधीक्षक प्रो० महेन्द्रप्रताप अध्यक्ष हिन्दी विभाग के० जी० के० कालेज मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश) के प्रति हार्दिक धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। उन्होंने न केवल मार्ग प्रदर्शन ही किया है अपितु प्रबन्ध को अक्षरशः पढ़ कर बीच-बीच में अनेक अमूल्य सुझाव भी दिये हैं। उन्होंने अधीक्षक और मित्र दोनों ही के कर्तव्य को बहुत सुन्दर ढंग से निभाया है। इनके अतिरिक्त डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री एम० ए०, पी एच० डी० (अध्यक्ष संस्कृत विभाग डी० ए० वी० कालेज, देहरादून,) श्रीपूरणचन्द्र शर्मा असिस्टेंट डायरेक्टर पटना, राणा कुन्तारचन्द, अध्यक्ष विधानसभा, हिमाचल प्रदेश (पंजाब) श्री नानचन्द्र शर्मा एम० ए० इण्टरटेनमेंट टैक्स अधिकारी तथा प्रिय प्रद्युम्न गुप्त (मुरादाबाद) ने भी विविध प्रसंगों में मेरी सहायता की। इन सबके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। कुमारी ऊषा मेहरा एवं बहिन आशा पंडित का भी धन्यवाद देना आवश्यक है जिनके विशिष्ट सहयोग के फलस्वरूप यह कार्य पूरा हुआ। इन सबके बाद अपने अग्रज श्री केशवचन्द्र, डिप्टी कलक्टर, अपनी पत्नी सीतादेवी और पुत्री कुमारी सरोज का स्मरण भी असामयिक न होगा। वे यद्यपि आत्मीय हैं और उन्हें धन्यवाद देना औपचारिकता ही होगी, फिर भी उनका सहयोग किसी प्रकार से कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा।

मेरे बाल-साथी और सहाध्यायी श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने इसके प्रकाशन में जो सहयोग दिया उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना आवश्यक है।

अपने अध्ययन के सिलसिले में मुझे अनेक संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों की यात्रा करनी पड़ी है। इनमें विशेषतः राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी वैदिक अनुसन्धान संस्थान होशियारपुर के० जी० के० कालिज, मुरादाबाद आदि के अधिकारियों ने बड़े ही सौजन्य एवं तत्परता से अपने पुस्तकालयों से लाभ उठाने की सुविधा देकर इस कार्य को इतना सरल बनाया। इन सबके प्रति मैं हार्दिक रूप से आभारनत हूँ।

राजकीय महाविद्यालय, —मुनिकान्त

रोपड़ (पंजाब)

स्वतन्त्रता दिवस १९७२

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

भारतीय सस्कृति का स्वरूप उसकी धम-परायणता

प्रत्यक युग कुछ नवीन मा यताआ को लेकर आता है। जीवन के प्रचलित विश्वासो और मापदण्डा म वह क्राति पदा करता है और इस प्रकार प्रत्येक युग को किसी सीमा तक सक्रान्ति-युग कहा जा सकता है। पर तु जिस प्रकार के सक्रान्ति युग म स हम गुजर रह हैं वसा इससे पूर्व कभी देखन म नही आया। नवीन चमत्कार-पूण वज्ञानिक आविष्कारो के कारण आज अखिल विश्व की परिस्थितियो म एक-सा प्रकार की जा व्यापक हर फेर और उथल-पुथल हुई है, उसस समाज का चित्र बदल गया है। नवीन मान्यताआ की नीव सुदढ भले ही न हो पायी हो पर प्राचीन मान्यताओ की जिस भित्ति पर समाज खडा था उसम भारी दरारें अवश्य आ गई हैं। यह परिवतन अपनी गहराई और विस्तार म अपूव है। यूरोपीय जातियो के निकट-सम्पक के कारण य नवीन मा यताएँ अपनी सवेदना मे तीव्रतर हो उठी हैं। राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रो म पाश्चात्य विचारा का जिस तजी स अनुसरण हो रहा है वह अ धानुकरण की सीमा तक जा पहुचा है। भारतीय सस्कृति का सवम प्रमुख तत्त्व धम आज उपक्षित सा है। यदि मानवीय विकास की स्वस्थ आवश्यकता की प्रेरणा स एसा हो रहा है ता किसी सस्कारज य मोह के कारण इस परिवतन के क्रम म अवरोध उत्प न करना ठीक न होगा पर पहल इसका निणय जरूर कर लना होगा कि जो हो रहा है, ठीक हो रहा है। एसा निणय हम कर सकें, इसके लिए भारतीय सस्कृति के समग्र स्वरूप और उसकी विशिष्ट प्रवृत्तिया का आकलन करके विकास की नयी अपक्षा की पृष्ठभूमि म हम उसका मूल्याकन करना होगा। प्रस न्नता की बात है कि इस दिशा म प्रयत्न हुआ भी है। पर इस शायद इस युग का विशेष प्रभाव ही माना जायगा कि भारतीय सस्कृति, और उसक सवप्रमुख अवयव धम म देवभावना का जो अ यतम स्थान और महत्त्व है उसकी आर हमन इन दिना पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है। इस प्रतीति स प्रेरित होकर ही भारतीय देव भावना क स्वरूप का स्पष्ट करने का प्रयत्न इस प्रब ध म किया गया है।

सस्कृति और धम दोनों ही बहुप्रयुक्त शब्द हैं। कदाचित इसी कारण इनके

अभिप्राय के सम्बन्ध में एक तरह अनिश्चय की स्थिति पायी जाती है। अतएव कुछ और कहने के पहले इनके सम्बन्ध में अपना आशय स्पष्ट कर देना ठीक होगा।

भारत में संस्कृति शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत नवीन है। तथ्य तो यह है कि अंग्रेजी भाषा के कल्चर शब्द के भाव को व्यक्त करने के लिए ही इसे गढ़ा गया है। पहले जिस शब्द का प्रयोग होता था वह है संस्कार और उसका अर्थ है शुद्धि करना परिष्कार करना और माँजना। इन संस्कारों का विशेष सम्बन्ध मानसिक शुद्धि से था। उसमें क्रिया-पक्ष गौण था और मानसिक पक्ष प्रधान। वस्तुतः संस्कार और संस्कृति में केवल प्रत्यय का अन्तर है दोनों की व्युत्पत्ति एक ही है। कुछ विद्वानों ने संस्कृति की व्युत्पत्ति भूषणार्थक कृ धातु से सुट् का आगम करके क्तिन प्रत्यय लगाकर की है। उनके अनुसार इसका अर्थ हुआ—भूषणभूत सम्यक् कृति।[1] करणार्थक कृ धातु से भाव अर्थ में क्तिन प्रत्यय लगाकर भी संस्कृति की व्युत्पत्ति की जा सकती है। इसके अनुसार अर्थ हुआ—परम्परागत अनुस्यूत संस्कार। भाव इसका भी वही है। प्रचलित और मान्य अर्थ में संस्कृति का अर्थ है जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण। स्वभावतः इसमें परम्परा का प्राचीन विचारों का सहयोग पर्याप्त मात्रा में रहता है। किसी विचारधारा का निर्माण एक ही दिन में नहीं होता उसमें सहस्रों वर्षों तक की गई सहस्रों मनीषियों की साधना छिपी रहती है।

धर्म के भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न लक्षण किये हैं। वशेषिक दर्शनकार ऋषि कणाद ने धर्म उन नियम-समूहों के नाम को कहा है जिनके द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति होती है।[2] एक अन्य मनीषा के अनुसार जो प्रेरणा करने वाले नियम हैं वे ही धर्म हैं।[3] व्यास मुनि का कथन है कि संसार को धारण करने वाले नियमों का नाम ही धर्म है।[4] विधिशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य मनु ने वेद स्मृति सदाचार और अपने को (आत्मा को) प्रिय लगने वाले नियमों को धर्म की संज्ञा दी है।[5] संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान श्री ए० ए० मैकडानल ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है—धर्म के अन्दर उसके अत्यन्त व्यापक अर्थ में एक ओर तो मानव द्वारा सामान्य दिव्य अथवा अतिभौतिक शक्तियों के विषय में उसकी भावनाएँ आती हैं और दूसरी ओर मानव-कल्याण के उन शक्तियों पर निर्भर होने की अभिभावना जिसकी अभिव्यक्ति पूजा के विविध रूपों में होती है।[6]

---

१ कल्याण हिन्दू संस्कृति-अंक । वर्ष २४ सं० १
२ यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।
३ चोदनालक्षणो धर्मः ।
४ धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः ।
५ वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
६ ब० रि० इ० पृ० १

कहना न होगा कि इसमे धम के प्रचलित अर्थों को भी ग्रहण कर लिया गया ह। धम शब्द की व्युत्पत्ति धरणाथक धृञ धातु से मन प्रत्यय लगाने से होती ह। इस व्युत्पत्ति के भी तीन प्रकार हैं (१) ध्रियते लोक अनेन स धम , (२) धरति धारयति वा लोकान ,(३) ध्रियते य स धम । अथ तीनो का वही ह। ऊपर दिए गए लक्षणों से इसमे विशेष विभिनता नही। निरुक्तकार ने धम का अथ नियम किया ह। दूसरे श दो म हम कह सकते हैं कि धम उन शाश्वत एव चिरन्तन तथ्यो तथा नियम-समूहो का नाम है जिनके आधार पर मानव समाज परिचालित हो रहा है। पाणिनिकृत अष्टाध्यायी म धम के दो अथ हैं (१) परम्पराप्राप्त आचार, समयाचार या रिवाज जो धमसूत्रो म है। जसे ४।४।४७ सूत्र मे (तस्य धम्मम धम्य आचार-युक्त , काशिका) जा धम या आचार के अनुकूल होता था उसे धम्य कहते थे (धर्मा दनयेतम ४।४।९२)। ६।२।६५ मे धम्य शब्द का यही अथ है—(धम्यमित्याचारनियत देयमुच्यते काशिका)।

धम श ्द का दूसरा प्रयाग नीति धम के लिए है जो उसका प्रसिद्ध अथ है, जसे—धम चरति धार्मिक (धम चरति ४।४।४१)।[1]

यह तो हुआ धम का तात्त्विक रूप। पर यह अपने मे बहुत महत्त्वपूण होते हुए भी एकागी है। सामा यतया उपासना को ही धम का परिचायक माना जाता है। उपासना परायण व्यक्ति को ही साधारणतया धार्मिक कहने और मानने की प्रथा है। तत्त्वनान यदि आत्मा है ता उपासना उसका शरीर है। पहला अमूत है तो दूसरा मूत। मूत सब कुछ भले ही न हों, पर भाव का अभिव्यक्ति प्रदान करने से उसका महत्त्व बहुत अधिक बढ जाता है। वसे भी विभिन्न धर्मों म जो पृथक्ता दष्टिगोचर होती है वह उपासना पद्धति की विभि नता के कारण ही। जहाँ तक हमारे प्रस्तुत विषय का प्रश्न है उसम निश्चित रूप से धम क उपासना-पक्ष को ही प्रधानता मिलेगी। अत हमारे लिए यह अत्यधिक आवश्यक है कि इस पक्ष पर विचार करके ही हम अपने विषय को स्पष्ट करने का यत्न करें।

उपासना पद्धति मे आराध्य के साकार रूप की प्रधानता रहती है। बात यह है कि तत्त्व-पक्ष का चि तन सब साधारण की पहुच के बाहर है। यह गौरीशकर की वह चोटी है जिस पर पहुचना विरलो का ही काम है। साधारण व्यक्ति अपने लिए ऐसे आराध्य की सृष्टि करना चाहता है कि जो इ द्रियगम्य हो, उसकी तरह सासारिक काय करता हो और जो अपनी साधारणता म भी असाधारण हो। उसके हृदयपक्ष की सतुष्टि इससे कम म नही हाती। यही कारण है कि मानव न ज्ञानो मेष क प्रथम क्षण से ही अपन आराध्य को किसी न किसी मात्रा म आकार देने की उसे विग्रह-वान बनाने की चेष्टा की है। वदो म विभि न दवो की साकार रूप की पूजा का

---

१ पा० का० भा०, पृ० ३८०

विधान भले ही न मिलता हो पर वहाँ भी इन देवों को शरीरी बनाने का यत्न एकदम स्पष्ट है। भावाकुल हृदय ने वहाँ भी इन देवों को विविध वस्त्रों में सुसज्जित कर विभिन्न यानों पर सवार होकर आते दिखाया है।

भारतवर्ष में उपासना का आरम्भ ठीक-ठीक किस समय में हुआ इस विषय में कुछ निश्चित रूप से कह सकना हमारे लिए आसान नहीं पर इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आर्यों के भारत में आगमन से पूर्व यहाँ बसने वाली द्रविड़ जाति का जीवन धर्म प्रधान था। उनका लिखित साहित्य तो हमें उपलब्ध नहीं पर मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में शिव और देवी की जो मूर्तियाँ मिली हैं उनसे यह स्पष्ट है कि उस समय देवी-देवताओं की पूजा विधिवत प्रचलित थी। वेद में इसके बीज हम कहीं से भी उपलब्ध हो जाते हैं। अपने आराध्य से विविध सम्बन्ध स्थापित करने की स्वाभाविक आकांक्षा से प्रेरित होकर वैदिक ऋषियों ने अपने आराध्य को कहीं पिता कहा है कहीं माता कहीं सखा और कहीं पति। एक मंत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सुख का ज्ञान रखने वाली एक मार्ग से चलने वाली प्रभु प्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धियाँ आज प्रभु की सेवा में लगी हुई हैं। जैसे स्त्रियाँ अपने पति का आलिंगन करती हैं वैसे ही मेरी बुद्धि प्रभु की ओर धावित हो रही है—

अच्छाम इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परिष्वजन्त जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥ ऋक् १०।४३।१

बृहदारण्यक उपनिषद में आराध्य और आराधक के बीच के अन्तर को द्वैत को मिटाने की बात कही है। वहाँ कहा गया है कि जो देवता और अपने में अन्तर समझता है वह पशु ही है (अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्)।

मुण्डकोपनिषद में आराधक से कहा गया है कि उसे अपना नाम और रूप मिटा देना चाहिए ऐसा करने पर ही वह दिव्य परम पुरुष को प्राप्त कर सकता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

हृदय की इस तीव्र भावाकुलता ने परवर्ती काल में विभिन्न देवों की मूर्तियाँ स्थापित कीं उनके निवास-स्थान बनाये उनकी पूजा और अर्चना प्रारम्भ की।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब से भारत का इतिहास मिलता है तभी से यह देश धर्मप्राण रहा है। धर्म यहाँ के जीवन का अंग रहा है और भारतीय संस्कृति की सर्वप्रथम विशेषता उसका धर्मप्राण होना ही है।

भारतीय धर्म और परोक्ष सत्ता या देव भावना का अविच्छिन्न सम्बन्ध

भारतीय संस्कृति धर्मप्राण है इसकी चर्चा हमने अभी-अभी की है। धर्म जीवन के प्रत्येक पक्ष को आत्मसात करते हुए अवश्य चलता है पर किसी न किसी

रूप म उसम परोक्ष सत्ता की स्वीकृति अनिवाय है। सभी धर्मों की यही स्थिति है, फिर भारतीय धम तो विशेप रूप से परोक्षवादी है। सामा य भारतीय के लिए इस प्रत्यक्ष जगत का महत्त्व केवल इसलिए है कि उसम रहकर इस अपरोक्ष सत्ता के दशन और उपलब्धि का अवसर प्राप्त होता है। उसके लिए भौतिक जगत साधन है, साध्य तो वह अदृश्य सत्ता ही है। इस अंतिम लक्ष्य तक पहुँचा के लिए जगत पडाव भर है, इससे अधिक कुछ नही। अपने आप म तो यह धुआ के से धारहर" मात्र है, इसम नित्यत्व तो उसी की झलक के कारण दीख पडता है। इस देश का सवप्रथम लिखित साहित्य हम वेदो के रूप म उपलब्ध होता है उसम स्थान स्थान पर उस सवज्ञ, 'सर्वशक्तिमान, अनादि अनन्त और स्वय म परिपूर्ण सर्वोपरि देव की सत्ता की स्वीकृति है और उसकी प्रायना म सुदरतम ऋचाओ और मत्रो का निर्माण हुआ है। उपनिषत्कार उस परोक्ष सत्ता का वणन करत-करत थकत नही। वहा अनेक तर्कों एव उपाख्याना के द्वारा परोक्षसत्ता की स्वीकृति पर बल दिया गया है।

जो भावना अतिप्राचीन काल से चली आ रही थी वही हिंदी-साहित्य के मध्यकाल म भी परियाप्त दिखायी पडती है। यही कारण है कि मध्यकालीन हिंदी साहित्य प्रत्यक्ष जगत से ही सन्तुष्ट न होकर किसी अदृष्ट सत्ता का लक्ष्य मानकर चलना दिखायी देता है। कुछ कवियो ने इस सत्ता को इंद्रियातीत माना है और कुछ ने अवतार के रूप म उसे भौतिक इंद्रिया द्वारा प्राप्य। यह सत्ता चाहे साकार हो या निराकार, पर जीवन का लक्ष्य यही है। कबीर को असीम का रूप को सीमा म बाँधा जाना अच्छा नही लगा और उन्होंने—दशरथसुत तिहुँ लोक बखाना राम नाम का मरम है आना—कहकर साकार का खण्डन किया है। तुलसी ने शिव पावती सवाद म 'अवध-नृपति-सुत का ही शिव के मुख स श्रुतिया के गान का और मुनिया के ध्यान का विषय कहा है। इन दोना कथना म कोई विशेष विरोध नही। निराकार की सत्ता दोना ही को स्वीकार है, मतभेद केवल उसके आकार के विषय म है। तुलसी के राम का भी न जन्म होता है न मरण उनका तो केवल प्राकट्य होता है—' जग निवास प्रभु प्रकट अखिल लोक विश्राम।'

रसखान जिस कृष्ण की लकुटी और कामरिया पर तीना पुरा के राज्या, आठो सिद्धिया और नौ निधिया को वारन को तयार हैं, जिसके साहचय के लिए ग्वाल-बाल, गाय-बछ, पक्षी और पापाण तक होन को तयार हैं, सूरदास जिस बाल कृष्ण की विविध लीलाओ का वणन करत समय अघात नही, जो गोपिया और ब्रजवासिया के परमाराध्य हैं व कृष्ण जगन्नियता साक्षात परब्रह्म है जो भक्ता के प्रेम स विवश होकर नर-रूप म पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं। यही कारण है कि मीरा यदि एक सास म—'गगन मडल पर सज पिया की किस विध मिलना होय' —कह कर उस सवव्यापक सत्ता से मिलन के अपने असामथ्य का वणन करती हैं तो दूसरी ही साँस मे साँवरे-सलौने नराकार कृष्ण को पतिरूप म स्वीकार कर लेती हैं। यदि किसी कवि ने राधा और सीता की स्तुति की है तो वह भी जगदाराध्या देवी के रूप म। शिव, सूय,

गणेश, सरस्वती तथा पार्वती आदि की आराधना भी उन्हें देव और देवी के रूप में मानकर ही की गई है।

धर्म एवं संस्कृति से साहित्य का सम्बन्ध

साहित्य की चाहे जो परिभाषा की जाय और उसका उद्देश्य चाहे जो भी माना जाय, उसका समाज के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है यह सभी को समान रूप से मान्य है। धर्म और संस्कृति-सम्बन्धी धारणाएँ भी समाज में ही उत्पन्न और परिपुष्ट होती हैं। साहित्य का सृजन करने वाला व्यक्ति सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज से अनेक प्रभाव ग्रहण करता है और उन प्रभावों की गहरी छाप अनायास ही उसके साहित्य पर आ जाती है। समाज का दर्पण होने के नाते साहित्य धर्म एवं संस्कृति सम्बन्धी उन सभी मान्यताओं की अभिव्यक्ति प्रदान करता है जो तत्कालीन समाज में किसी न किसी रूप में मान्य रहती हैं।

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में निर्गुण और सगुण की जो धाराएँ मिलती हैं उनका कारण सामाजिक प्रभाव ही है। पौराणिक काल में ईश्वर के निराकार रूप की स्वीकृति तो थी पर व्यावहारिक रूप में ईश्वर के साकार रूप की ही पूजा और उपासना होती थी। पर मुसलमानों के आगमन से परिस्थिति में भारी परिवर्तन आ गया। महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के आक्रमण के बाद मूर्ति-पूजा पर से लोगों का विश्वास भले ही एकदम न हट गया हो पर उसे भारी धक्का अवश्य लग गया था। सोमनाथ मन्दिर में स्थित भगवान् को लुटेरों के हाथ से लुटता देखकर श्रद्धालु जनता की श्रद्धा अस्थिर होने लगी थी। गजेन्द्र की एक ही टेर सुन कर नंगे पाँव दौड़ आने वाले विष्णु, प्रह्लाद की रक्षा के लिए खम्भा चीरकर प्रगट होनेवाले नृसिंह और द्रौपदी की लाज बचाने के लिए चीर बढ़ाने वाले कृष्ण को संकट के समय चुपचाप बैठा देख कर जनता का मन शंकाकुल हो उठा था। मुसलमान विजेता था और जनता का थोड़ी बहुत मात्रा में उससे प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। कबीर ने दशरथसुत राम को भगवान न मानकर घट घट-व्यापी सत्ता को जो राम माना उसका कारण तत्कालीन सामाजिक प्रभाव ही है। यदि इन विषम परिस्थितियों में भी सूर और तुलसी सगुण की लीला का गान करते हैं तो उसका कारण भी यही है कि पौराणिक काल में व्याप्त सगुण रूप की उपासना किसी न किसी रूप में चल अवश्य रही थी। जिस प्रकार समाज में निराकार और साकार नाना प्रकार की विचारधारा प्रचलित थी साहित्य में भी उसी प्रकार दोनों धाराएँ समानान्तर रूप में प्रवाहित होती रहीं।

कबीर के साहित्य में जाति प्रथा के विरुद्ध यदि तीव्र आक्रोश मिलता है तो उसका कारण भी समाजगत प्रभाव ही है। भगवान बुद्ध ने अत्यन्त तीव्र शब्दों में जाति-पाँति की निन्दा की थी अपनी अधोगति के दिनों में भी बौद्ध धर्म ने कभी जाति प्रथा के साथ समझौता नहीं किया। इधर इस्लाम में भ्रातृ भाव का नवीन जोश था। इन सब बातों का प्रभाव साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था। स्वामी रामानन्द,

तुलसीदास और सूरदास जसे व्यक्तियो ने भक्ति के क्षेत्र म जिस उदारता का परिचय दिया है वह तत्कालीन सामाजिक माँग का ही परिणाम है। यो तो विश्व बन्धुत्व की भावना भारत के लिये नयी नही—"शुनि चव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन"—के मानने वाला के लिए मानव मात्र की एकता म कोई अनोखापन नही था पर कबीर ने राम और रहीम की एकता पर जो बल दिया है उसके मूल मे तत्कालीन समाज का प्रभाव ही काम कर रहा था, यह एकदम स्पष्ट है। यदि कबीर की वाणी म पडितो और मुल्लाओ क कृत्यो की निदा मिलती है ता उसका कारण यही है कि धर्म के नाम पर पाखण्ड का साम्राज्य फला हुआ था। स्पष्ट है कि उस समय का धम-काय कमकाण्ड तक ही सीमित हो गया था। इसी प्रकार यदि साखी, सबदी, दोहरा के द्वारा वेदो और पुराणा की निदा करने वालों का तुलसी ने आडे हाथो लिया है तो यह भी समाज मे कमकाण्ड के विरुद्ध जिहाद करने वालों के बढते हुए प्रभाव को देख कर ही। कहना न हागा कि साहित्य रूपी पौधा समाज से ही रस ग्रहण करता है। समाज मे प्रचलित धम और सस्कृति सम्बन्धी परिणामों का समावेश साहित्य मे अनिवाय रूप से होगा। इस तथ्य के समथन क लिए अपने मध्यकालीन साहित्य से ही शतश उदाहरण उपस्थित किये जा सकते है।

भारतीय सस्कृति में देव भावना की प्रतिष्ठा और उसका महत्त्व

इस अध्याय के एकदम आरम्भ म ही हम भारतीय सस्कृति के स्वरूप की विशेषता उसका धमप्राण होना कह चुके है। वही हम यह भी कह चुके हैं कि धम एव देवोपासना मूलत दो भिन्न तत्त्व नही हैं। भारतीय धम और परोक्ष सत्ता के अविच्छिन्न सम्बन्ध की चर्चा भी पीछे हो चुकी है। हम कह आये हैं कि किसी अलौकिक शक्ति मे विश्वास और उसकी उपासना स वदिक साहित्य भरा पडा है। इस अदृष्ट शक्ति को समझ पाना उसस तरह-तरह क सम्बन्धो की स्थापना, यही भारतीय मनीषी का लक्ष्य रहा है। भारतीय जीवन की आधार शिला ही देव भावना है। विविध देवताओ एव देवियो की पूजा के विविध प्रकारा से भारतीय साहित्य भरा पडा है। इन दवा और देवियो की उपासना तथा पूजा से किस तरह के लाभ हाते हैं, इन बाता का भी स्पष्ट उल्लेख भारतीय साहित्य म है। भारत म वदिक आर्यों के आगमन से पूव देवी और देवताओ की पूजा होती थी यह मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाइयों से सिद्ध हो चुका है। विक्रम सम्वत से ५०० वष पूव आचाय पाणिनि के समय म इन देवताओ की पूजा विधिवत प्रचलित हो चुकी थी। इन दिना वासुदेव, सकषण, महाराज (कुबेर) राम, विष्णु और शिव आदि की मूर्तिया बनती थी एव मदिरो का निर्माण भी होता था।

वस्तुत पाणिनि काल की एक धार्मिक विशेषता ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि कालवाची शब्दो से अभिहित नये दवताओ की मान्यता और पूजा का आरम्भ हो गया था। 'कालेभ्योऽभवत' (४।२।३४) म साम्य दवता प्रकरण के अन्तगत अनेक

गणेश, सरस्वती तथा पार्वती आदि की आराधना भी उन्हें देव और देवी के रूप में मानकर ही की गई है।

धर्म एवं संस्कृति से साहित्य का सम्बन्ध

साहित्य की चाहे जो परिभाषा की जाय और उसका उद्देश्य चाहे जो भी माना जाय, उसका समाज के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध है यह सभी को समान रूप से मान्य है। धर्म और संस्कृति सम्बन्धी धारणाएं भी समाज में ही उत्पन्न और परिपुष्ट होती हैं। साहित्य का सृजन करने वाला व्यक्ति सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज से अनेक प्रभाव ग्रहण करता है और उन प्रभावों की गहरी छाप अनायास ही उसके साहित्य पर आ जाती है। समाज का दर्पण होने के नाते साहित्य धर्म एवं संस्कृति सम्बन्धी उन सभी मान्यताओं को अभिव्यक्ति प्रदान करता है जो तत्कालीन समाज में किसी न किसी रूप में मान्य रहती हैं।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में निर्गुण और सगुण की जो धाराएं मिलती हैं उनका कारण सामाजिक प्रभाव ही है। पौराणिक काल में ईश्वर के निराकार रूप की स्वीकृति तो थी पर व्यावहारिक रूप में ईश्वर के साकार रूप की ही पूजा और उपासना होती थी। पर मुसलमानों के आगमन से परिस्थिति में भारी परिवर्तन आ गया। महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी के आक्रमण के बाद मूर्ति-पूजा पर से लोगों का विश्वास भले ही एकदम न हट गया हो पर उसे भारी धक्का अवश्य लग गया था। सोमनाथ मन्दिर में स्थित भगवान् को लुटेरों के हाथ से लुटता देखकर श्रद्धालु जनता की श्रद्धा अस्थिर होने लगी थी, गजेन्द्र की एक ही टेर सुन कर नंगे पांव दौड़े आने वाले विष्णु, प्रह्लाद की रक्षा के लिए खम्भा चीरकर प्रगट होनेवाले नृसिंह और द्रौपदी की लाज बचाने के लिए चीर बढ़ाने वाले कृष्ण को संकट के समय चुपचाप बैठा देख कर जनता का मन शंकाकुल हो उठा था। मुसलमान विजेता था और जनता का थोड़ी बहुत मात्रा में उससे प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। कबीर ने दशरथसुत राम को भगवान न मानकर घट घट-व्यापी सत्ता को जो राम माना उसका कारण तत्कालीन सामाजिक प्रभाव ही है। यदि इन विषम परिस्थितियों में भी सूर और तुलसी सगुण की लीला का गान करते हैं तो उसका कारण भी यही है कि पौराणिक काल में व्याप्त सगुण रूप की उपासना किसी न किसी रूप में चल अवश्य रही थी। जिस प्रकार समाज में निराकार और साकार दोनों प्रकार की विचारधारा प्रचलित थी साहित्य में भी उसी प्रकार दोनों धाराएं समानान्तर रूप में प्रवाहित होती रहीं।

कबीर के साहित्य में जाति प्रथा के विरुद्ध यदि तीव्र आक्रोश मिलता है तो उसका कारण भी समाजगत प्रभाव ही है। भगवान बुद्ध ने अत्यन्त तीव्र शब्दों में जाति-पांति की निन्दा की थी अपनी अधोगति के दिनों में भी बौद्ध धर्म ने कभी जाति प्रथा के साथ समझौता नहीं किया। इधर इस्लाम में भ्रातृ भाव का नवीन जोश था। इन सब बातों का प्रभाव साहित्य पर पड़ना अनिवार्य था। स्वामी रामानन्द,

तुलसीदास और सूरदास जसे व्यक्तियो ने भक्ति के क्षेत्र म जिस उदारता का परिचय दिया है वह तत्कालीन सामाजिक माँग का ही परिणाम है। यो ता विश्व बधुत्व की भावना भारत के लिये नयी नही—"शुनि चव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन '— के मानने वालो के लिए मानव मात्र की एकता म कोई अनोखापन नही था पर कबीर ने राम और रहीम की एकता पर जो बल दिया है उसके मूल मे तत्कालीन समाज का प्रभाव ही काम कर रहा था, यह एकदम स्पष्ट है। यदि कबीर की वाणी म पडिता और मुल्लाआ के कृत्यो की निदा मिलती है तो उसका कारण यही है कि धम के नाम पर पाखण्ड का साम्राज्य फला हुआ था। स्पष्ट है कि उस समय का धम-काय कमकाण्ड तक ही सीमित हो गया था। इसी प्रकार यदि साखी, सबदी, दोहरा के द्वारा वेदा और पुराणो की निदा करने वालो को तुलसी न आडे हाथो लिया है तो यह भी समाज मे कमकाण्ड के विरुद्ध जिहाद करने वाला के बढते हुए प्रभाव को देख कर ही। कहना न होगा कि साहित्य रूपी पौधा समाज से ही रस ग्रहण करता है। समाज म प्रचलित धम और सस्कृति सम्बधी परिणामा का समावेश साहित्य मे अनिवाय रूप से होगा। इस तथ्य के समथन के लिए अपने मध्यकालीन साहित्य से ही शतश उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।

भारतीय सस्कृति में देव भावना की प्रतिष्ठा और उसका महत्त्व

इस अध्याय के एकदम आरम्भ म ही हम भारतीय सस्कृति के स्वरूप की विशेषता उसका धमप्राण होना कह चुके है। वही हम यह भी कह चुके हैं कि धम एव देवोपासना मूलत दो भिन्न तत्त्व नही हैं। भारतीय धम और परोक्ष सत्ता के अविच्छिन्न सम्बध की चर्चा भी पीछे हो चुकी है। हम कह आये हैं कि किसी अलौकिक शक्ति मे विश्वास और उसकी उपासना से वदिक साहित्य भरा पडा है। इस अदष्ट शक्ति को समझ पाना, उससे तरह-तरह क सम्बधो की स्थापना, यही भारतीय मनीषी का लक्ष्य रहा है। भारतीय जीवन की आधार शिला ही देव भावना है। विविध देवताओ एव देवियो की पूजा के विविध प्रकारो से भारतीय साहित्य भरा पडा है। इन देवो और देवियो की उपासना तथा पूजा स किस तरह के लाभ होत हैं, इन बातो का भी स्पष्ट उल्लेख भारतीय साहित्य म है। भारत म वदिक आर्यों के आगमन से पूव देवी और देवताओ की पूजा होती थी यह मोहनजोदडो और हडप्पा की खुदाइयों से सिद्ध हो चुका है। विक्रम सम्वत से ५०० वर्ष पूव आचाय पाणिनि के समय मे इन देवताओ की पूजा विधिवत प्रचलित हो चुकी थी। इन दिनो वासुदेव सकषण, महाराज (कुबेर) राम, विष्णु और शिव आदि की मूर्तिया बनती थी एव मदिरो का निर्माण भी होता था।

वस्तुत पाणिनि काल की एक धार्मिक विशेपता ध्यान देने याग्य है। वह यह है कि कालवाची शब्दा से अभिहित नये दवताआ की मायता और पूजा का आरम्भ हो गया था। 'कालेभ्योऽभवत' (४।२।३४) मे सास्य देवता प्रकरण के अन्तगत अनेक

कालवाची शब्दों को देवता माना गया है मासिक आधमासिक सावत्सरिक। उस काल में ऋतुओं को भी देवता माना जाता था।[1]

कौटिलीय अर्थशास्त्र में विष्णु मन्दिर के निर्माण की आज्ञा का उल्लेख है। देवों की प्रसन्नता से पुत्रों की प्राप्ति होती थी और इन पुत्रों के नाम देवों के नाम पर ही रखे जाते थे, इसका प्रमाण भी आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी में उपलब्ध होता है जैसे इन्द्रदत्त वरुणदत्त देवदत्त'। नक्षत्रों के नाम पर भी नाम रखे जाते थे नक्षत्रों की पूजा होती थी—पुष्यदत्त स्वातिदत्त तिष्यरक्षित' आदि। विविध राजाओं के सिक्कों पर जो विविध देवों के चित्र मिलते हैं उनसे भी यह स्पष्ट है कि देवोपासना भारतीय जीवन का अंग बन चुकी थी। पौराणिक काल तक आते-आते तो उपासना का पक्ष अत्यधिक प्रबल हो उठा था इसमें सन्देह नहीं।

धर्म की यह अजस्र धारा भारतीय जीवन को सदैव आप्लावित करती रही है इस विषय में दो मत नहीं हैं। अद्यावधि कोटिश मानव इसमें स्नान कर पूतात्मा हुए हैं उनके जीवन का समस्त कालुष्य अपहृत हुआ है और उन्हें ऐसे आनन्द की उपलब्धि हुई है कि जिसकी अन्यथाप्राप्ति असम्भव थी। यही कारण है कि इस देश में धर्म जीवन का अनिवार्य एवं स्वाभाविक अंग मान लिया गया है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त प्रत्येक नर और नारी के जितने संस्कार होते हैं उन सब पर धर्म का रंग चढ़ा हुआ है। जीवन का कोई भी ऐसा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कि जिसके साथ धर्म का किसी न किसी रूप में सम्बन्ध न हो। आज भी प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं। कवि-सम्मेलनों और वादविवाद प्रतियोगिताओं का आरम्भ आज भी सरस्वती देवी की स्तुति के साथ किया जाता है। ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण के रूप में किसी देवता या देवी की स्तुति की जो प्राचीन प्रथा चली आ रही है वह आज भी लुप्त नहीं हुई है। देवी-देवताओं के मन्दिरों के निर्माण की प्रथा भी बन्द नहीं हो गयी है।

जैसा पहले कहा जा चुका है इस देश में धर्म व्यावहारिक जीवन का अंग रहा है प्रदर्शनी की वस्तु नहीं। उसने जीवन के आदर्शों को सजाया और सँवारा है तथा उसके आगे बढ़ने में सहायता दी है। बलिवैश्व देव यज्ञ में पक्षियों तक के लिए भाग निकालना शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः के सिद्धान्तों का प्रयोगात्मक रूप देने का सफल प्रयास है। पर्व और त्यौहार किसी देश की परम्परागत संस्कृति के प्रतीक होते हैं और जीवनादर्शों के सूचक भी। भारत में इन पर्वों और त्यौहारों को धार्मिक रूप दे देना उसकी धर्मप्रियता का सूचक है। सभी पर्वों का सम्बन्ध आरम्भ में ऋतुओं से था पर धीरे धीरे उनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप

१ पा० का० भा० पृ० ३५० १
२ वही पृ० १८५
३ वही पृ० ३५१

म धम के साथ जोड दिया गया है। दीपावली के दिन लक्ष्मी की पूजा होन लगी, विजयादशमी रावण पर राम की विजय की सूचक बनी मकर-सक्रांति के दिन गम कपडो के दान का महत्व बढा और वसन्त पचमी की प्रकृतिगत मादकता कामदेवता की पूजा के रूप मे परिणत हुई। होली का त्योहार शीत के अन्त और ग्रीष्म के आगमन का सूचक था पर धार्मिक भावना ने उसके साथ प्रह्लाद और हालिका (कस की बहिन) की कहानी को जोडे बिना सन्तोष का अनुभव नहीं किया।

यही कारण है कि वदिक काल से अद्यावधि जितन भी महान सुधारक हुए हैं सभी ने धम के प्रति महान आस्था प्रदर्शित की है। यहा जितनी भी क्रान्तिया हुइ, धम के द्वारा ही हुई है। यहाँ धम प्रगति मे बाधक कभी नही हुआ, वह सदव जीवन का प्रेरक ही रहा। भारतीय जीवन के लिए धम अमत ही रहा है विष नही बना। धम के नाम पर कभी कभी पाखण्ड भी फला, हिंसा का ताण्डव नत्य भी हुआ, स्वार्थी पुराहित वग ने अपना उल्लू भी सीधा किया, पर दूरदर्शी नेताओ ने धम के ही द्वारा उसे सुधार लेन म प्रशसनीय सफलता भी प्राप्त की। भगवान बुद्ध और महा वीर स्वामी न धम के नाम पर प्रचलित हिंसा का तीव्र विरोध किया उसम अन्य आवश्यक सुधार किय, पर धम क मूल रूप पर कभी कुठाराघात नही किया। शरीर के किसी अग के राग ग्रस्त या विकृत हो जान पर हम उसका उपचार करते है उस काट नही फेंकते। स्वच्छ जलाशय पर यदि काई आ जाय ता हम उसे दूर भर करते हैं जलाशय का ही परित्याग नही कर देते। शकर रामानुज, रामानन्द, कबीर और दयानन्द न जो कुछ भी किया वह धम के माध्यम स ही किया। आज का युग राजनीतिक और आर्थिक चतना का युग है। इनके प्रबल प्रभाव मे धार्मिक भावना कुछ धूमिल पड गई है। उसके विरोध म कुछ कहना और उसकी छोटी से छाटी कमी का बडा बनाकर दिखाना आज के युग का फशन बन गया है। पर खुदबीन से धम की कमियो का दखने की यह प्रवत्ति कल्याणकर तो है ही नही, अपने म दोषपूण भी है। प्रजा तन्त्र पद्धति शासन की सबसे अच्छी पद्धति समझी जाती है पर इसम भी शतश दाप हैं। पर इसस अधिक अच्छी शासन प्रणाली कोई नही, इसलिए हमन इसके दापा के रहते हुए भी इसे बनाय रखा हुआ है। यही बात धम की भी है। जब तक धम का स्थानापन्न तत्त्व हम नही मिल जाता—और वह कभी शायद मिलेगा भी नही—तब तक हम उसे बनाय रखना है। सामाजिक रोगा का एकमात्र उपचार धम ही रहा है और रहगा भी। आज की भौतिकता, भ्रष्टाचार अधिकार-लिप्सा और सामाजिक उच्छ खलता की रोकथाम के लिए किसी न किसी रूप म धार्मिक भावना और धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव सभी करने लग है। नियामक तत्त्व के रूप म उस पर सबकी आँखें फिर से जान लगी हैं। हवा बदल रही है और हम समझते हैं कि बदलती हुई हवा का रुख धम के अनुकूल ही है, प्रतिकूल नहीं।

हिन्दी साहित्य में देवभावना : परम्परा प्राप्त स्वरूप और उसका विकास

हिन्दी-साहित्य के आरम्भ काल विक्रम संवत् ७०० तक भारतीय जीवन की अधिकांश मान्यताएँ स्थिर हो चुकी थीं। शक, हूण और तुर्क आदि जातियों के आक्रमणों से उत्पन्न उथल पुथल शान्त हो गई थी। वे आक्रान्ता या तो स्वदेश लौट गये थे या यहीं के जीवन में आत्मसात् किये जा चुके थे। मुसलमानों का आतंक अब तक इस रूप में नहीं फैला था। धार्मिक क्षेत्र में वातावरण शान्तिमय था। पुराण-ग्रन्थों के अधिकांश का निर्माण हो चुका था। विभिन्न धर्मों के मिलन-स्वरूप जनधारा रूपी समुद्र में जो लहरें उठी थीं वे अब बैठ गई थीं। देवी-देवताओं के रूप स्थिर हो चुके थे। इस प्रकार हिन्दी साहित्य को पकी पकाई खिचड़ी मिली थी। इस काल के कवियों को सामान्यतया उनके स्वरूप का चित्रण भर करना था अपनी ओर से नवीन निर्माण के लिए प्रयास करने की आवश्यकता उन्हें नहीं थी।

इस काल तक प्रमुख देवी-देवताओं का स्वरूप स्थिर हो चुका था। विष्णु जो वेदकाल में सूर्य का वाचक था और साहित्य में उपेन्द्र (इन्द्र का छोटा भाई) के नाम से अभिहित होता था, इस समय तक सर्वाधिक शक्तिशाली देवता के रूप में अपनी सत्ता स्थापित कर चुका था। लक्ष्मी उसकी पत्नी के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी। वह देवों का सहायक और असुरों का संहारक समझा जाने लगा था। देवों का एक मात्र शरण्य और वरेण्य वही था। परात्पर ब्रह्म के रूप में उसकी मान्यता प्रचलित थी। विष्णु, श्रीकृष्ण और वासुदेव तीनों अलग अलग न रहकर एकत्व या अभिन्नत्व को प्राप्त कर चुके थे।[1] रुद्र जो किसी समय भयंकर समझा जाता था और शिव की एकता स्थापित हो चुकी थी। उसके भव रुद्र और मृड इत्यादि विविध नाम प्रचलित हो चुके थे।[2] भक्तों और राक्षसों के ऊपर कृपालु होते हुए भी वे आर्य देवता के रूप में स्वीकृत हो चुके थे। शिव के रूप में अनार्य प्राम्य तथा उनकी नग्नता का समावेश अब भी था पर वह दूषण न होकर उनका भूषण समझा जाने लगा था। जो भी हो अब वे आर्य-परिवार के महत्त्वपूर्ण सदस्य थे। ब्रह्मा की मान्यता इस समय तक कम हो चुकी थी। यों कहिए कि पितामह के हाथ से घर की प्रभुता निकल कर पुत्रों और पौत्रों के हाथों में जा चुकी थी। उनके प्रति पूज्य भाव अब भी था पर उनकी पूछताछ बहुत नहीं था।

इन्द्र जो किसी समय सूर्य का ही एक रूप था और दूसरों के अनुसार तूफान का देवता था, पौराणिक युग में देवों के सेनापति के रूप में प्रतिष्ठित पद प्राप्त कर चुका था। स्वर्ग के अधिपति के रूप में उसके अपने पार्षद थे, उसकी पत्नी शची थी और उर्वशी आदि अप्सराएँ उसके मनोविनोद के साधन के रूप में विद्यमान थीं पर

१ अमरकोष—प्रथम सर्ग, स्वर्गकाण्ड।

२ वही।

पौराणिक काल के अन्त म उसका महत्त्व धीरे धीरे कम होने लगा था और हिन्दी के उदभव-काल तक वह प्राय विलीन हो चुका था। अब वह सीता के चरणो मे चोच मारकर आये हुए अपने पुत्र का शरण दने म असमथ है। यही नही, वह घोर स्वार्थी है। दूसरो का हित उससे नही देखा जाता। उसकी स्वार्थाधता के कारण ही उसे तुलसी ने—कुचाली और कपटी की सीमा—कहा है। यम जो विवस्वान का पुत्र था और स्वग मे जाने वाला आदि मत्य था अब स्वग और नरक के अधिष्ठाता तथा नियन्ता के रूप म आसन ग्रहण कर चुका है साथ ही उसे धमराज की महत्त्वपूण उपाधि से भी विभूषित किया जा चुका है।[1]

वेदो म जो असुर शब्द प्राणवान अथ का द्योतक था और कभी महान् देवता वरण के विशेषण के रूप मे प्रयुक्त होता था अब देवो के विरोधी अथ म प्रयुक्त होने लगा था। दवो और असुरो के पाथक्य स्वरूप, दानो म निरन्तर सघष चलता रहता था। दत्य, दानव और राक्षस पर्यायवाची समझे जाने लगे थे। कुल मिलाकर वे अब एक ही परिवार के सदस्य बन गये थे कम से कम आय उन्हे ऐसा ही मानन लगे थे। आर्यों ने उन्हे घृणास्वरूप क्रव्याद जसे घृणा सूचक शब्दो से पुकारना आरम्भ कर दिया था। यास्क के समय जिन आश्विन देवा की व्याख्या दिन रात, पृथ्वी आकाश उपा सन्ध्या सूय चन्द्रमा आदि कितने ही रूपा म की जाती थी, वे इस समय तक देवो के वैद्य माने जाने लगे थ। कुबेरे यक्षो के राजा और धनाधिप के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

इस प्रकार हिन्दी साहित्य को एक समद्ध देव परम्परा मिली। हिन्दी साहित्य मे इस देव परम्परा को ज्यो का त्यो सम्मान मिलता रहा। पौराणिक काल म ही कृष्ण और राम का महत्त्व विष्णु की अपेक्षा अधिक बढ गया था, अब इनके महत्त्व का स्वर कुछ और अधिक स्पष्ट हो गया है। विष्णु लोक स पथक् यहा साकेत लाक और गो लोक की मान्यता कुछ और अधिक बढ गई है। सीता और राधा का समावश देवी रूप म हो गया है। मगलाचरण तथा अन्य स्थानो पर देवियो की स्तुति की गई है। रामभक्ति के रसिक-सम्प्रदाय मे ता सीता ही सब कुछ है। रामानन्द द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय म भी सीता का महत्त्व अत्यधिक है। इसी प्रकार राधावल्लभ सम्प्रदाय म राधा का महत्त्व सर्वोपरि है, वह कृष्ण से भी बढकर है। कविवर बिहारी भव-बाधा हरण की प्राथना राधा स करते हैं, कृष्ण से नही। हनुमान के पद की भी उन्नति हुई है। उनके देवरूप के सकेत या तो महाभारत म भी मिलते हैं, पर अब व खुलकर दवता के पद पर आसीन हा गये हैं। अब वे सहस्र सहस्र भक्त जना के आराध्य हैं। स्वामी रामानन्द के अनुसार, जो काई हनुमानजी की आरती गाता है वह सीधे वैकुण्ठ को जाता है।

देव त्रयी के स्थान पर अब पच देवो की उपासना होन लगी। इस देव त्रयी

---

१ अमरकोप—प्रथम सग, स्वग काण्ड।

जिस काल म देव भावना का इतना प्राबल्य हो सम्प्रदाय के प्रवतको द्वारा रचित ग्रथो तक की पूजा आरम्भ हो गई हो, उस काल म देव भावना का सवप्रमुख विशेषता के रूप म आना स्वाभाविक ही है।

अध्ययन की पद्धति

हमारे प्रस्तुत अध्ययन का विषय मध्यकालीन हिन्दी साहित्य म चित्रित भारतीय देव भावना के स्वरूप को स्पष्ट करना है। इसके स्वरूप और महत्व का भली भाँति हृदयगम करने के लिए भारतीय देव भावना के उदभव और विभिन्न कालो म उसके विकास का ठीक ठीक रूप से समझ लेना अनिवाय है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य म हम जिस देव भावना क दशन होते है वह अपने से पूववर्ती युगो की देन है अत हमने उसका उन्य काल स पौराणिक काल तक के उसके विकास की शृ खलाबद्ध रूप म प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

भारतीय शब्द का भी थोडा-सा स्पष्ट कर देना सभवत अनावश्यक न होगा। जन साधारण की दष्टि म प्राय भारतीय शब्द से भाव उस अथ स होता है जो कि वेदो म वर्णित है पर ऐसा समझना भ्रान्तिपूण है। भारतीय शब्द से भाव आय और आर्येतर, दोनो के मिश्रित रूप स है। आज की सस्कृति और देव भावना अपने विशुद्ध रूप म न वदिक है और न एकदम अवदिक। दीघ काल तक विभिन्न जातियो के मिश्रण से जो सम्मिलित रूप हम दीख पडता है उसी का नाम भारतीय है और हमने इस शब्द का प्रयोग इसी अथ म किया है। आदान प्रदान जन जीवन का आधार है। विचारो के जगत् म यह प्रक्रिया अतिप्राचीन काल स चली आ रही है। इस स्वाभाविक प्रक्रिया म भारतीय देव भावना भी प्रभावित हुई है। अत उचित स्थानो पर हमने इस पर पडने वाले प्रभावो की भी चर्चा की है।

या तो वदिक काल म दव भावना क विकास क सम्बन्ध म स्थान-स्थान पर वेद मत्रो का उद्धरण किया गया है या उनकी ओर सकेत किया गया है अत यहाँ उन मत्रो की व्याख्या क सम्बन्ध म भी दो शब्द कह दना उपयुक्त होगा। इन मत्रो के अर्थों के सम्बन्ध म विद्वानो के दृष्टिकोण म विभिन्नता है। आजकल वेद व्याख्या के चार प्रमुख प्रकार प्रचलित हैं—

(१) सायणाचाय की व्याख्या—आचाय सायण का काल १३ वी शती है। इनकी व्याख्या क प्रकार म निरुक्त का ही नही, समस्त वदिक वाङ मय का उपयोग किया गया है। इसके साथ ही इन्होने परम्पराप्राप्त अर्थों को भी मान्यता प्रदान की है। विदेशी विद्वानो को इनकी व्याख्या के विरुद्ध सबसे बड़ी शिकायत यह है कि उन्होने सभी स्थानो पर एक शब्द का एक ही अथ स्वीकृत नही किया है—उसी शब्द का क स्थान पर एक अथ है तो दूसरे स्थान पर दूसरा। इसका उत्तर यह है कि

वदिक वाड मय के पूण पडित होने के कारण आचाय सायण, प्रकरण और सगति का भी पूरा ध्यान रखत थे। अथ-विभिन्नता का कारण यही है।

(२) **स्वामी दयानन्द**—इन्होने निरुक्त को आधार माना है और शब्द के यौगिक अथ पर बल दिया है। इनका स्पष्ट मत है कि वेद अनादि हैं अपौरुषेय हैं और उनमे किसी प्रकार का इतिहास नही है। वेदो म रूढ और योगरूढ शब्दो का प्रयोग नही। अत इनके मत मे परम्परागत अथ का भी कोई महत्त्व नही। इन्होने इन्द्र, अग्नि और विष्णु आदि के अथ ईश्वरपरक किये हैं। स्वामी दयानन्द की व्याख्या को ही शुद्ध एव प्रामाणिक मानकर चलने वाले श्री रघुनन्दन शर्मा ने 'वदिक सम्पत्ति नामक अपनी पुस्तक के—"वेदा म इतिहास का भ्रम"—नामक प्रकरण म पृष्ठ ५५ स ५७ तक सविस्तार विचार किया है और कहा है कि इन्द्र वत्र त्रिशकु, विश्वामित्र, पुरूरवा ऊवशी, नहुष, ययाति, शुक्र दवयानी आदि आकाशीय पदाथ हैं। स्वामी दयानन्द ने स्वय अपनी पुस्तक 'ऋगवेदादिभाष्य भूमिका म इस विषय पर विस्तृत विवेचना की है।

(३) **योगी अरविन्द**—आध्यात्मिक दष्टि से ये वेदो म अध्यात्मवाद का सन्देश पाते हैं। इनकी दष्टि म वेद दाशनिक ग्रन्थ हैं न तो वे इतिहास हैं और न कम-काण्डपरक ग्रन्थ।

(४) **आधुनिक भाषा विज्ञान के आधार पर**—इसमे किसी भी शब्द के विभिन्न अर्थों की तुलना की जाती है और यदि सभव हुआ तो भारत यूरोपीय भाषा के अन्य वर्गों म उस शब्द की सत्ता किसी भी रूप मे खोजी जाती है। तदनन्तर सम्भाव्य अथ-परिवतन की पूण परीक्षा करके किसी शब्द का तात्कालिक अथ निकाला जाता है।

हमने इन चारो म से आचाय सायण की व्याख्या को ही आधार माना है। उसका कारण यह है कि भारतीय परम्परा मे अधिक व्यक्तियो द्वारा यही अथ स्वीकृत किया गया है और इसी प्रकार को लेकर विभिन्न दवताओ की उपासना शुरू हुई है। स्वामी दयानन्द और योगी अरविन्द की शब्दो की यौगिक व्याख्या मान लेने पर तो वेदो म देव भावना के विकास के लिए गुजाइश ही नही रह जाती। सभवत स्वामी दयानन्द की सब शब्दो को यौगिक मानने की पद्धति ठीक हो, कम से कम हम उसे अशुद्ध नही कहते, पर वह परम्परा प्राप्त अथ के विरुद्ध ह। वेदो की व्याख्या करने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थो और सूत्र-ग्रन्थो म इन्द्र और विष्णु आदि को ईश्वर का विशेषण ही न मानकर पृथक देवो के रूप म स्वीकृत किया गया ह और उसी रूप म उनकी स्तुति भी की गई ह। पुराणो म ब्रह्मा, विष्णु महेश आदि का जो भी वर्णन है उसका किसी न किसी रूप म आधार वेद ही है ऐसा साधारण जन का विश्वास है और इन मत विशेषो के मानने वालो की धारणा भी ऐसी ही है। उन मन्त्रों के अनेक अथ हो सकते हैं पर उन अनेक अर्थों म से एक अथ वह भी है जिसे मानकर इन देवो का

पयक पयक विकास हुआ है। प्रस्तुत विषय के शाध के लिए सायणाचाय की व्याख्या का मानकर चलन क सिवाय हमार सामन अन्य कोई माग नहीं। दूसर शब्दा म, हमारा दृष्टिकोण एकदम यथार्थवादी है वह क्या हाना चाहिए न हाकर क्या है यही रहा है।

परवर्ती अध्याया म हिन्दी साहित्य क आदिकाल की चर्चा अनेक बार हागी अत इसके सम्बन्ध म भी कुछ कह दना आवश्यक है। आचाय रामचन्द्र शुक्ल डा० रामकुमार वमा आदि न हिन्दी क आदिकाल का आरम्भ सवत १०५० वि० म माना है। पर खुमान रासा बीसलदेव रासा और आल्हा आदि जिन रचनाआ क आधार पर इस काल का प्रारम्भ माना गया था व सभी अब परवर्ती रचनाएँ सिद्ध हा चुकी हैं।[1] महापडित राहुल साकृत्यायन हिन्दी-साहित्य का आरम्भ वि० स० ७०० स मानत हैं। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी अपभ्र श का हिन्दी मानत हुए आदिकाल का आरम्भ लग भग यहीं स मानत हैं। आचाय शुक्ल भी अपभ्र श का हिन्दी म पयक नहा मानत हैं। अत हमन आदिकाल का आरम्भ राहुलजी क मतानुसार वि० स० ७०० स माना है और आदिकाल म दव भावना क विकास की चर्चा करत हुए अपभ्र श रचनाआ स उदाहरण भी प्रस्तुत किय हैं। पथ्वीराज रासा यद्यपि अपन वतमान रूप म सदिग्ध रचना है उसम बहुत सा अश प्रक्षिप्त है पर फिर भी कुल मिलाकर वह जाली ग्रथ नहीं है। हिन्दी-साहित्य क अधिकाश विद्वान इस आदिकाल की हा रचना मानत हैं।[2] यही कारण है कि समस्त रासा-ग्रथा म स हमन कवल इसी की देव भावना की चर्चा की है। वस यदि अन्य रासा ग्रथा का दव भावना की चर्चा की जाती ता भी दव भावना के स्वरूप म काइ अन्तर नहीं आता। उन रासा ग्र था का दव-भावना और पथ्वीराजरासा की दव भावना म काइ मौलिक अन्तर नहीं उसका रूप प्राय एक सा ही है।

देवो का चुनाव

दव भावना अपन आप म बहुत ही व्यापक एव विस्तत विषय है। सष्टि क उप काल म अब तक दवा और दविया की सख्या प्रचुर रही है। वदिक काल म कितन ही स्थना पर यह सख्या ३३३६ तक पहुच गई है। वस भी वहा तैंतीस दवताआ की सख्या ता अधिकाश विद्वाना द्वारा स्वाकृत है ही। ब्राह्मण काल म कुछ नय दवता आ गय हैं। पौराणिक काल म इस सख्या म और वद्धि हुई है। दवो की चर्चा आत ही स्वत शत दवा का ध्यान हम आता है पर इस प्रबन्ध क सीमित आकार म इन सभी दवा क स्वरूप का स्पष्ट करना हमार लिए सभव नहीं। वस भी इनक स्वरूप का चित्रित करत समय हमारी दष्टि सतत रूप म मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य

---

१ हि० सा० आ० का० प० ११०

२ वही प० ५०

की ओर रही है। अतएव हमने उन्हीं देवों को चुना है जो या तो वैदिक काल से हिन्दी के मध्यकाल तक किसी न किसी रूप में पूजित होते रहे हैं या जिन्होंने बीच में उदित होकर अपनी गरिमा और महिमा से जन मानस को आच्छादित कर लिया है। इन्द्र, अग्नि विष्णु रुद्र या शिव शक्ति सर्वाधिक प्रभावशाली देवता रहे हैं। इनमें इन्द्र, अग्नि, रुद्र और विष्णु वैदिक देवता हैं, शक्ति का आगमन बाद में हुआ है। मध्यकाल में अग्नि का महत्व धीरे धीरे कम हो गया। जिन देवों को लेकर विभिन्न मत मतान्तरों की स्थापना हुई उनमें विष्णु, शिव और शक्ति हैं। मध्यकाल में वैष्णव, शैव और शाक्त, ये ही तीन मत प्रमुख रहे हैं। राम, कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता सिद्धान्त रूप से प्रायः सभी कवियों और आचार्यों को मान्य रही है अतः राम और कृष्ण के उपासकों का अन्तर्भाव वैष्णव मत में आसानी से हो सकता है। सूर्योपासना यद्यपि वैष्णवों में प्रचलित रही है और उसे लेकर थोड़ी-बहुत कविताएँ भी लिखी गईं तथापि साहित्य पर उसका प्रभाव उतना व्यापक नहीं। प्रत्यारम्भ में गणेश की पूजा भी होती थी पर केवल विघ्न-नाश के लिए।

इस प्रकार कुल मिलाकर मध्यकाल में विष्णु (उनके राम और कृष्ण रूप) शिव और शक्ति, इन तीन देवों की ही प्रधानता है। इनमें भी राम भक्ति शाखा में सीता और कृष्ण भक्ति शाखा में राधा को आदि शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इससे शक्ति का स्वतन्त्र रूप से वर्णन एकदम बन्द तो नहीं हो गया पर उसकी रचना अत्यल्प मात्रा में हुई है। इसी कारण हिन्दी-साहित्य में हमने प्रमुख रूप से विष्णु, शिव, राधा और सीता को ही चुना है। इन्द्र, गणेश, गंगा, यमुना, सरस्वती आदि की भी थोड़ी-बहुत चर्चा कर दी है जिससे इस विस्तृत देव भावना का थोड़ा सा स्पष्ट रूप सामने आ जाय।

द्वितीय अध्याय

देव-भावना का सामान्य स्वरूप

'देव' शब्द की व्युत्पत्ति और विकास

मूल रूप म 'दिव या द्यौ शब्द भारोपीय है और इन सभी भापाओ म देव शब्द की उत्पत्ति चमकने वाले और कान्तिमान पदाथ स ही मानी गई है। सस्कृत म यह शब्द देव है, ग्रीक म द्यूस लिथुआनियन म डीवस जमनी म ज्यू आयरिश डिया और कल्टिक म देवोस। रोम म जो यह ज्यूपिटर कहलाता है वह ज्यू (Ju) और पिटर (Pater) मिलाकर बनता है ज्यू का अथ है द्यौ और पिटर का पितर (द्यौप्पितर—सस्कृत) इसम भी द्यो ही मूल है। इस प्रकार इस निर्भ्रान्त व्युत्पत्ति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यों न अपनी देवता-सम्बन्धी धारणा प्रकाशमान आकाश से प्राप्त की थी। द्यौ शब्द भी या तो दिव धातु से बना है या द्यु धातु स। दोनो म से किसी से भी उत्पत्ति क्यो न मानी जाय अथ चमकना ही रहगा। भारोपीय भापाओ मे प्रागतिहासिक काल म देव शब्द से उन्ही शक्तियो का बोध होता था जो प्रकाशमान थी। धीरे धीरे अन्य शक्तिमान पदार्थो के उपास्य बन जान पर देव शब्द से उनका भी ग्रहण होने लगा और उन सबम देवताओ के गुणो का आरोप किया जान लगा। अवेस्ता म देव शब्द भारतीय राक्षस या दुष्टात्मा के रूप म प्रयुक्त हुआ है। ऐसा होने के विद्वानो ने तीन कारण दिय हैं—

(१) ईरानी भापा म दिव धातु ही समाप्त हो गई और देव शब्द किसी भी अथ का द्योतक बन गया।

(२) राक्षस भाव को व्यक्त करन वाल किसी अन्य शब्द का अभाव।

(३) जरथुस्त्र की धार्मिक क्रान्ति। मुसलमानी साहित्य म इसी के अनुकरण पर देव का अथ दानव लिया गया।

आचाय पाणिनि के अनुसार द्यु धातु के क्रीडा विजगीषा, व्यवहार द्युति स्तुति माद मद स्वप्न कान्ति और गति आदि अनेक अथ हैं और इन सभी अर्थों म देव शब्द की व्युत्पत्ति की जा सकती है। पर न तो पाणिनि से पूव वेदो म और न पाणिनि के परवर्ती साहित्य म इन सभी अर्थों मे देव शब्द को स्वीकृत किया गया

है। निरुक्तकार आचार्य यास्क ने "देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा"—कहकर उसके सर्वाधिक प्रचलित अर्थों व प्रयोग की ओर संकेत किया है। कुछ मनीषियों ने "विद्वांसो व देवा"—कहकर सभी विद्वानों को—मानवों को भी—देवों की श्रेणी में रखने का प्रयास अवश्य किया पर यह अर्थ सबको ग्राह्य नहीं हो सका।

'देव' की एक विज्ञानपरक व्याख्या भी है। इसके अनुसार प्राणों का ही नाम देव है। महामहोपाध्याय श्रीगिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के शब्दों में मुख्य देव प्राण रूप हैं जिसमें शतपथ ब्राह्मण के १४वें काण्ड का प्रमाण है। वे प्राण जिन प्राणियों में प्रधान रूप से रहते हैं वे सूर्य मण्डल और उसके समीपवर्ती लोकों के प्राणी भी देव कहलाते हैं। देव प्राणों की जिनमें विशेषता है वे तारा-मण्डल भी देव और उनके विशेष वाचक इन्द्र, वरुण आदि शब्दों से कहे जाते हैं।[1]

इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी बताया है कि देव शब्द से इस पृथ्वी के निवासियों का भी ग्रहण होता था। स्वर्ग, भूमि और पाताल आदि की कल्पना भी इसी लोक पर हुई थी। इनके अतिरिक्त पूर्व युगों में, जब हमारी पृथ्वी में ही त्रिलोकी की कल्पना हुई थी, पृथ्वी पर ही स्वर्ग, भूमि और पाताल आदि के प्रदेश बनाये गए थे। शर्पण पर्वत के उत्तर के सुमेरु तक का प्रदेश 'स्वर्ग' माना जाता था और उस प्रदेश के निवासी प्राणी देव शब्द और उसके विशेष वाचक इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि आदि नामों से अभिहित होते थे। इनके विरोधी असुर राक्षसादि शब्दों से कहे जाते थे। इनके संग्रामों का विस्तृत वर्णन वेदों में है और भारतीय राजा दुष्यन्त, दशरथ, अर्जुन आदि स्वर्ग-लोक में जाकर जिन देवों के सहायक बने या जिनके पास अध्ययन किया और जिनसे सत्कार पाया, वे देव इसी उत्तराखण्ड के निवासी हैं।[2]

कारण चाहे जो भी रहे हों, यह निःशंक भाव से कहा जा सकता है कि ब्राह्मणों, गृह्यसूत्रों और उपनिषदों में देवों का उल्लेख पृथक् जाति के रूप में किया गया है। यद्यपि श्वेताश्वतर उपनिषद (३।१) में आये हुए इस मन्त्र में—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात।
स बाहुभ्यां धमति स पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

देव का अर्थ परब्रह्म ही माना है पर अधिकतर उपनिषदों में अधिकांश स्थलों पर देव का उल्लेख मनुष्य से भिन्न जाति के रूप में ही किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में देवताओं और मनुष्यों का अलग-अलग उल्लेख करते हुए कहा गया है कि देवताओं को आज्य प्रिय है और मानवों को घृत। इसी ब्राह्मण में एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि देवता यज्ञ द्वारा स्वर्ग लोक में पहुँच गए और उन्हें भय हुआ कि कहीं

---

१ साइलेन्ट पास्ट, पृ० १४१
२ व० वि० भा० स०, प० १६३
३ वही, प० १६३ १६४

मनुष्य और ऋषि भी इसी यज्ञ के द्वारा ऊपर न पहुच जायें।[1] एक अन्य स्थान पर, "तस्माच्च देवा बहुधा सप्रसूता साध्या मनुष्या पशवा वयासि" कहकर दव, साध्य, मनुष्य और पशु, इन चार कोटियो का एक-दूसरे से पृथक प्रदर्शित किया गया है। बृहदारण्यक मे "त्रया प्राजापत्या प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा" कहकर देव, मनुष्य और असुर तीनो की पृथक सत्ता स्वीकार की गई है।[2] उपनिषत्काल तक आते-आते देव शब्द का अर्थ बहुत कुछ वही हो गया है जसा कि हम आजकल समझते हैं।[3] महाभारत म स्वग की चर्चा के अवसर पर कहा गया है कि वहाँ देवता यानो के द्वारा विचरण करते हैं। यहाँ देवो के साथ गन्धर्वों और अप्सराओ का ही उल्लेख है मानव का नहीं।[4]

देव शब्द का यही अर्थ पुराणो म स्वीकृत हुआ है। वहाँ देव शब्द स उन व्यक्तियो का अभिप्राय है जिनम अतिमानवीय (Super human) और अतिप्राकृतिक (Supernatural) शक्तिया हैं जिनका स्थान द्युलोक है और जो स्वेच्छापूर्वक आकाश में यानो पर विचरण करते हैं तथा जिन्हें जरा और मरण की बाधा कष्ट नहीं पहुचाती। अमरकोश म उन्हें अजर'-अमर कहकर यही भाव व्यक्त किया गया है।

डा० सम्पूर्णानन्दजी का भी कथन यही है। उनके अनुसार यह स्पष्ट है कि वद म देव शब्द और चाहे जिन अर्थों म आया हो परन्तु उसम किन्ही विशेष प्रकार की अभिव्यक्तियो को ही अभिलक्षित किया गया है जो मनुष्यो स भिन्न हैं। इसी प्रकार इन्द्र आदि शब्दो का व्यवहार भले ही परमात्मा के लिए किया गया हो परन्तु वह केवल यौगिक नही है। उनके द्वारा किन्ही एस व्यक्ति विशेषो की ओर सकेत किया गया है जिनको देव कहा गया है।[5]

ये देव बाइबिल और कुरान के फरिश्ता या एंजिल नही हैं, उनसे भिन्न हैं। डा० सम्पूर्णानन्द के ही शब्दो म यह अन्तर इस प्रकार है—

'देव शब्द को बाइबिल या कुरान के फरिश्ता या एंजिल शब्द के समानार्थक नही माना जा सकता। इस्लाम या यहूदी धर्मों के अनुसार फरिश्ता की सृष्टि ईश्वर ने विशेष कार्यों के लिए की थी। परन्तु देवगण वस्तुत और जीवो स भिन्न नहा हैं। केवल अपने तप के द्वारा उन्होने अपने को ऊँचे पद पर पहुचाया है। वह पद नित्य नहीं है। देवत्व मोक्ष स नीचा है। देवत्व का अन्त होने पर कुछ देवगण, जिन्होंने अपने देवत्व काल म विशेष साधना की है, मुक्त हो जायेंगे। शेष को फिर

१ ऐतरेय—अध्याय ६ (खण्ड १)
२ बृहदारण्यक अध्याय ५ ब्रा० २
३ मुण्डकोपनिषत २।१।६
४ म० भा०, वनपर्व, अ० २६१, पृ० १६८०
५ हि० दे० वि० पृ० २७

ज म लेना होगा। ऐसी ही देवो को आजानदेव या साध्यदेव कहते हैं। कुछ काल के लिए सत्कम के बल पर दूसरे मनुष्य भी देवत्व प्राप्त कर लेते है, उनको कमदेव कहते हैं। उपासना साध्य देवो की ही की जाती है। वह अपने तप के बल से जिन शक्तिया का उपाजन कर चुके हैं उनसे इतर जीवों को लाभ पहुँचा सकते हैं। मुख्यतया यही लोग आर्यों के उपास्य थे और उ हीं की सूची मे काल पाकर परिवतन हुए।[१]

साधारण से शब्दो मे देव शब्द से अथ उन सत्ताओ का लिया जाता है जो अतिमानवीय हैं, मगलमयी हैं मानव द्वारा उपास्य हैं, और ज म मरण के ब धन से परे है। यही कारण है कि भूत प्रेत आदि प्राणी अतिमानवीय शक्ति से पूण और बहुत से व्यक्तियो द्वारा उपास्य होत हुए भी देव नही कहलाते। इनसे मानवो को लाभ नही होता, हानि ही होती है। इ हें दुरात्मा या अपदेव कहा जा सकता है। हमारे मध्यकालीन हि दी साहित्य मे इ हें कही उपास्य कोटि मे रखा भी नही गया। पितर भी देवताओ से भि न हैं। ये मगलमय तो होते हैं पर देवलोक मे स्थायी रूप से नही रहते। अपने कर्मों के अनुसार इनका पुनज म होता है अत इ ह हम अद्ध दव कह सकते हैं।

देव शब्द के साथ साथ देवी शब्द का भी प्रयोग होता है अत इसके अथ पर भी भली भाति विचार कर लेना आवश्यक है। देवी शब्द का प्रयोग भी उसी अथ मे होता है जिसमे देव शब्द का। भक्ति-साहित्य मे देवी स्वत त्र शक्ति के रूप मे गहीत हुई है। वह नित्य है और समस्त ससार उसी से प्रकट होता है—

नित्यैव सा जग मूर्तिस्तया सवमिद ततम।

वह ज म मरण से परे है। देवताओ के काय के लिए उसका आविर्भाव या प्राकट्य होता है और काय सिद्ध हा जाने पर तिरोभाव या अ तर्धान हो जाता है। कितने ही स्थलो पर उसे विश्वेश्वरी जगद्धात्री और स्थिति सहार कारिणी कहा गया है।

देवों की अमरता—आज हम देवो को अज मा और अमर मानते हैं। उत्तर-कालीन वेदो और समस्त परवर्ती सस्कृत साहित्य म उ हे अमर माना गया है तथापि आरम्भ म उनकी ऐसी ही स्थिति नही थी। कही कही उ हे मूलत मरणशील माना गया है।[२] ऋग्वेद म ऐसे भी मत्र हैं जिनमे कहा गया कि देवो न अमरत्व अर्जित किया था।[३] यह भी कहा गया है कि देवताओ ने ब्रह्मचय और तप के द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त की।

---

१ हि० दे० वि०, पृ० ३२

२ विद्वास य ा गुह्या निक्तन यन देवासा अमतत्वमान्यु। अथव० ११।५।१६ ४।११।६।

३ ऋक्, १०।५३।१०

श्री ए० सी० बोक्वेट ने ओलम्पिक देवो के प्रकरण मे स्थेनियस का एक गीत उद्धृत किया है जिसमे कहा है कि "देवता या तो बहुत बहुत दूर हैं, या सुनते नही, या वे हैं ही नही और या फिर उन्हें हमारी परवाह नही"—

Either they are far away or have no ears, or else do not exist or care not a bit about us[1]

या तो वे बहुत दूर हैं, या उनके कान नही हैं, या वे हैं ही नही, या वे हमारा थोडा सा भी ध्यान नही रखते।

उनका यह गीत उनके लिए सत्य हो तो हो पर प्राचीन वदिक देवो के विषय मे सत्य नही। वे सदव बुराई के नाश और भलाई की स्थापना मे सलग्न रहते है। विष्णु का चक्र तो दुष्टो के दमन और सज्जनो की रक्षा के लिए मानो सदा आतुर ही रहता है। अन्य पौराणिककालीन देवता भी सत-पक्ष के लिए सब कुछ करने को तयार रहते हैं। वे जगत के प्रति उदासीन नही, न वे अधे हैं, न बहरे और न स्वार्थी। जिस प्रकार मनुष्य परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हैं उसी प्रकार देवता भी। जिस प्रकार पति पत्नी, माता पिता पुत्र-पुत्री तथा भाई-बहिन के सम्बन्ध मे बँधा समाज एक दूसरे की सहायता करता है उसी तरह ये दवता भी एक दूसरे की सहायता करते है। वरुण सूय का माग तयार करता है सूय मानवो के पापो के सम्बन्ध म मित्र और वरुण को सूचना देता है, अग्नि इन्द्र की सहायता करता है और इन्द्र अग्नि की जिह्वा से सोम का पान करता है। वत्र के ऊपर विजय प्राप्त करके इन्द्र सभी देवो की सेवा करता है, अग्नि भी सन्देश वाहक के रूप मे सभी देवो की सेवा करता है। मरुत सनिक रूप म इन्द्र की सहायता करते हैं, त्वष्टा इन्द्र के वज्र का निर्माण करता है और बहस्पति के कुल्हाडे को तेज करता है, साम इन्द्र को उत्तेजना प्रदान करता है, विष्णु वृत्र से युद्ध करते हुए इन्द्र की सहायता करता है। ये देवता एक दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहते हैं।[2]

वास्तविकता तो यह है कि भारत के देव छोटे से छोटे कामो म मानवो का हाथ बँटाते हैं। श्री कीथ का कहना है कि यह सत्य है कि बहुत से दवताओ का आह्वान मामूली-से मामूली अवसरो पर भी किया गया है। डतूलपरिमेह म इन्द्र की सहायता इसलिए माँगी गई है कि कही नौकर न भाग जाय या उसके साथ स्वामित्व का सम्बन्ध न टूट जाये। स्पष्ट है कि दवता अपने भक्तो से इतने मिल जुल थे कि वे तुच्छातितुच्छ कामो म भी उनकी सहायता से हाथ नहीं सिकोडते थे।[3] यदि राम चरितमानस जसे ग्रन्थ म इन्हे (देवों को) स्वार्थी और काम के चेरे कहा गया है तो

---

१ मन एण्ड डीटि०, प० ३१२
२ रिलि० ऋग०, पृ० १०६
३ एपिक मायथोलोजी, पृ० ५७

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत ॥[1]

एक मंत्र में इस बात की चर्चा है कि इन्द्र ने तप द्वारा स्वर्ग लोक जीता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार भी देवों ने इसी विधि से अमरत्व प्राप्त किया था।[2] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि जिस समय देवता उत्पन्न हुए उनकी आयु १००० वर्ष की थी।[3] पुराणों में जो यह उल्लेख आता है कि जो राजा सौ अश्वमेध यज्ञ कर लेता था वही इन्द्र पद का अधिकारी हो जाता था, यह भी इसी बात का संकेत करता है कि देवत्व और देवाधिराजत्व श्रम से अर्जित पद था। नहुष ने यह पद प्राप्त भी कर लिया था अपनी गलती से उसे उससे खो दिया यह और बात है।

ऋग्वेद में यह भी कहा है कि मनुष्य भी अमर हो सकते हैं—'मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः।' आगे चलकर कहा है कि अमर होने वाले वे सज्जन ऋभु थे, सुधन्वा उनके पिता का नाम था और वे इस शरीर के रहते हुए ही अमर हो गये थे—साधन्वभिः मह मत्त्व नभि।[4] इसी तरह के एक और मानव हैं इनका नाम त्रसदस्यु है जो अर्द्ध देव हैं और इन्हें विधिवत बलि का अधिकारी माना गया है—

अस्माकमत्र पितरस्त्व आसन्त्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने ।
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम् ॥[5]

इन चर्चाओं से भी यही ध्वनित होता है कि देवत्व आरम्भ में अर्जित ही था।

देवों का स्वभाव

सभी देवता शक्तिशाली समर्थ दाता और उदार हैं। स्थान-स्थान पर यजमान उनकी शक्ति की स्तुति करते हैं उन्हें दाता और उदार समझ कर उनसे विविध द्रव्यों की मांग करते हैं। स्तोताओं की प्रार्थना पर वे उनके कष्टों को दूर करते हैं। ये सभी दयालु हैं और दूसरों के प्रति उपकारी हैं। केवल रुद्र इस नियम के अपवाद हैं। इनका कोप अवश्य भयंकर है और उससे बचने के लिए बहुत स्थलों पर प्रार्थना की गई है। वरुण धृतव्रत होने के कारण नियम विरुद्ध काम करने वालों को दण्डित करते हैं, कभी वे उन्हें जलोदर से पीड़ित करते हैं तो कभी पाशों से बांध देते हैं। पर यह सब कुछ नैतिक नियमों की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से किया जाता है किसी बुरे उद्देश्य से नहीं।

---

१ अथर्व ११।५।१९
२ तैत्तरीय ब्रा० ३।१२।३
३ शत० ब्रा० ११।१।२।१२ ११।२।३।६, ११।१।६।१४
४ ऋक्० १।११०।४
५ ऋक० ३।६०।५
६ ऋक्० ४।४२।८

श्री ए० सी० बोकेट ने ओलम्पिक देवों के प्रकरण में स्थेनियस का एक गीत उद्धृत किया है जिसमें कहा है कि ' देवता या तो बहुत बहुत दूर हैं, या सुनते नहीं, या वे हैं ही नहीं और या फिर उन्हें हमारी परवाह नहीं"—

Either they are far away or have no ears, or else do not exist or care not a bit about us '

या तो वे बहुत दूर हैं, या उनके कान नहीं हैं या वे हैं ही नहीं, या वे हमारा थोडा सा भी ध्यान नहीं रखते ।

उनका यह गीत उनके लिए सत्य हो तो हो पर प्राचीन वैदिक देवों के विषय में सत्य नहीं । वे सदैव बुराई के नाश और भलाई की स्थापना में संलग्न रहते हैं । विष्णु का चक्र तो दुष्टों के दमन और सज्जनों की रक्षा के लिए मानो सदा आतुर ही रहता है । अन्य पौराणिककालीन देवता भी सत-पक्ष के लिए सब कुछ करने को तैयार रहते हैं । वे जगत के प्रति उदासीन नहीं, न वे अंधे हैं, न बहरे और न स्वार्थी । जिस प्रकार मनुष्य परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हैं उसी प्रकार देवता भी । जिस प्रकार पति पत्नी, माता पिता, पुत्र-पुत्री तथा भाई-बहिन के सम्बन्ध में बँधा समाज एक दूसरे की सहायता करता है उसी तरह ये देवता भी एक दूसरे की सहायता करते हैं । वरुण सूर्य का मार्ग तैयार करता है सूर्य मानवों के पापों के सम्बन्ध में मित्र और वरुण को सूचना देता है, अग्नि इन्द्र की सहायता करता है और इन्द्र अग्नि की जिह्वा से सोम का पान करता है । वृत्र के ऊपर विजय प्राप्त करके इन्द्र सभी देवों की सेवा करता है, अग्नि भी सन्देश वाहक के रूप में सभी देवों की सेवा करता है । मरुत सैनिक रूप में इन्द्र की सहायता करते हैं, त्वष्टा इन्द्र के वज्र का निर्माण करता है और बृहस्पति के कुल्हाड़े को तेज करता है, सोम इन्द्र को उत्तेजना प्रदान करता है, विष्णु वृत्र से युद्ध करते हुए इन्द्र की सहायता करता है । ये देवता एक दूसरे के साथ मिल-जुलकर रहते हैं ।[2]

वास्तविकता तो यह है कि भारत के देव छोटे-से छोटे कामों में मानवों का हाथ बँटाते हैं । श्री कीथ का कहना है कि यह सत्य है कि बहुत से देवताओं का आह्वान मामूली-से मामूली अवसरों पर भी किया गया है । कुतूलपरिमह में इन्द्र की सहायता इसलिए माँगी गई है कि कहीं नौकर न भाग जाय या उसके साथ स्वामित्व का सम्बन्ध न टूट जाये । स्पष्ट है कि देवता अपने भक्तों से इतने मिले जुले थे कि वे तुच्छातितुच्छ कामों में भी उनकी सहायता से हाथ नहीं सिकोड़ते थे ।[3] यदि राम चरितमानस जैसे ग्रन्थ में इन्हें (देवों को) स्वार्थी और काम के चेरे कहा गया है तो

---

१ मन एण्ड डीटि०, पृ० ३१२

२ रिलि० ऋग०, पृ० १०६

३ एपिक मायथोलोजी, पृ० ५७

इसे इस व्यापक मात्रा में फले हुए बौद्ध धम का प्रच्छन्न प्रभाव ही कहा जा सकता है जो देवो की सत्ता स्वीकार नहीं करता।

इन देवताओ का प्रिय पेय सोम है और बलि रूप स दिय गय दूध और अन्न आदि का भी य ग्रहण करत हैं।

देवताओ के चिहन

(१) य अमत्य हैं मानव मत्य हैं (२) व परो स धरती का स्पश नही करत मानव करत हैं, (३) वे देवरूप हैं उनका सौन्य अलौकिक है (४) उन्ह पसीना नही आता, (५) उनके अगा पर धूल नही लगती (६) व पलकें नहीं झपकात, (७) उनकी परछाइ नही हाती।

य सामान्य नियम है। कभी कभी इनक अपवाद भी दीख जाते हैं। राम को देवो और राक्षसो की परछाइ दीख पडी थी—

छाया च विपुला दप्टा देवगन्धवरक्षसाम।

देव-यान और पितृ यान

देवताओ की चर्चा आत ही देव यान की भी चर्चा आ जाती है अत इस पर भी थोडा-बहुत विचार कर लेना अप्रासगिक न हागा। वदिक विचारधारा म इसका अथ देवताओ क उस माग या उन मार्गो स है जिनस देवता स्वग और पथ्वी के बीच आते-जात हैं। दवयान का एक अथ देव की सवारी भी है पर इस अथ म उसका प्रयोग बहुत थाडा हुआ ह। दवयान से मिलता-जुलता एक और शब्द है—पितयान, पितरा के आन-जान का माग। यह शब्द परवर्ती है और देवयान क वजन पर (अनुकरण पर) बनाया गया है। यह देवयान की अपक्षा छोटा है।[१] देवयान और पितृयान इन दोनो शब्दा का उल्लख इस मन्त्र म मिलता है—

द्वे सती अशणव पितणामह दवानामुत मर्त्यानाम।[२]

अर्थात—हमन मनुष्यो क दो माग नात किय हैं एक देवों का और दूसरा पितरो का। एक अन्य मत्र म भी दवयान और पितयान का एक दूसरे से पथक बताते हुए पितरो को उस माग से जाने के लिए कहा गया है कि जो दवयान से पथक है—

पर मत्यो अनुपरहि मन्या यस्ते स्व इतरो दवयानात।[३]

देव-लाक की स्थिति पर ता हम अन्यत्र विस्तार स विचार करेंगे यहाँ पित यान और पित-लाक के सम्बन्ध म कुछ थोडा सा कहना हमारा अभीप्ट है।

पितरा क दो भेद मान गय हैं—दिव्य पितर, और (२) प्रेत पितर। जो

---

१ इन० रि० एथि० भाग ४ य प० ६७७

२ ऋक् १०।८८।१५

३ वही १०।१८।१

चद्र मण्डल या उसके आसपास के लाको म सष्टि के आदिकाल से रहते हैं वे दिव्य पितर कह जाते हैं और जो पितर मनुष्यलोक से मरकर उन लोको मे पहुचते हैं उन्हें प्रेत पितर नाम से सबोधित किया जाता है। वे वहा स्थायी रूप से नही रहत, आवा गमन के चक्र मे फँसे रहते हैं। वेदो मे ऐसे बहुत से मत्र हैं जिनमे कहा गया ह कि—"हे पितरो ! जिस माग से पिना और पितामह (पूर्व पितर) गये हैं, उसी माग से तुम भी जाओ"—

प्रेहि प्रेहि पथिभि पूर्येभियत्रान पूर्वे पितर परेयु ।[1]

पितृलोक की स्थिति

पाँच ज्ञानेद्रिया, पाच कर्मेन्द्रियो, पच प्राणा मन और बुद्धि के सम्मिलन से ही यह जीवन-यात्रा चलती है। इस शरीर मे से चेतना शक्ति के निकल जान पर भौतिक शरीर शवरूप म या ता जला दिया जाता है या दफना दिया जाता है या कृमियो, कीटा और पक्षिया का भोजन बन जाता है। ऊपर गिनाये गये इन १७ तत्त्वो मे मन प्रधान है और वह चद्रमा का अश है अत सजातीय आकषण के वज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार यह मन सूक्ष्म शरीर के साथ चद्रनाक म चला जाता है। यह चद्रलोक ही पित-लोक है और चद्रमा म ही पितलाक की स्थिति है। महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा के शब्दो म—मुख्य पितृलोक चद्रलोक है किन्तु उसके आस पास के प्रदश भी पित लाक कह जात हैं। जसे शुक्ल माग म तारतम्य बताया गया है कि जिनके कम जितने प्रबल हो, उनको उतनी ही उच्च गति हाती है। इसी प्रकार इस माग में भी तारतम्य है कि जितने उच्च कम हो उतनी ही उच्च गति मिलती है। सामान्य कर्मों वाले पूण उच्चता नही पा सकते, चद्र मण्डल के इद गिद ही रह जात ह, इसलिए इद गिद के लोक भी पित-लोक कहलात हैं। जिनके पुण्य की अपेक्षा पापकम अधिक हैं वे ता पितलोका को भी प्राप्त नही कर पात, दक्षिणायन मार्गो से ही शनिग्रह के मण्डल की आर झुक जात हैं। शनिमडल के आस-पास के लोक नरक कहलाते हैं। उसी माग म वतरणी नदी भी है। वहा जाकर पापियो को अपने पापो का फल भागना पडता है।[2]

असुर, राक्षस आदि

समस्त वेदात्तर साहित्य और हिन्दी साहित्य म असुर, राक्षस आदि शब्दो का प्रयोग अन+ वार हुआ है। अत इन शब्दो पर साधारण दृष्टिपात कर लना आवश्यक है। असुर शब्द ऋग्वेद मे प्राणवान् के अथ मे प्रयुक्त हुआ है और वहाँ यह सर्वाधिक शक्तिशाली वरुण देवता का विशेषण है। निषेधात्मक अ-उपसग लगकर

---

१ अथर्व, १८।१

२ व० वि० भा० स०, पृ० १४६

सुरो के विरोध म असुर कालान्तर की देन है, इसके ऐसा होने की एक दीघ प्रक्रिया है। वसे इसके बीज हम ऋग्वेद म ही मिल जाते हैं। वहाँ यह शब्द (असुर) तीन बार एक असुर विशेष की उपाधि के रूप म प्रयुक्त हुआ है। भेडियों जसे असुर योद्धाओ का जलते हुए पत्थर स भेदन करने के लिए स्तवन किया गया ह। यह भी कहा गया ह कि इन्द्र ने मायावी असुर पिप्रु के दुर्गों को ध्वस किया और इन्द्र विष्णु ने वर्चिन के १ ००,००० योद्धाओ का वध किया। इन्द्र, अग्नि और सूय के लिए वहाँ असुरहन् उपाधि का व्यवहार किया गया ह।[1] ऐसा लगता है कि इन्द्र और वत्र की कथा ही बाद के साहित्य म दवो और असुरो की कथा बन गई। यह भी सम्भव है कि वरुण का माया द्वारा शासन करने का जो उल्लख है वह माया जब अभिचार क अथ म प्रयुक्त होन लगी तो वरुण का विशषण असुर भी बुरे अर्थों म गहीत होन लगा हो। बाद म जब आर्यों का आर्येतर जनता स सघष हुआ तब उन्हें अपन विरोधी क अर्थों म आर्यों ने दानव, राक्षस आदि सभी को समानार्थक मान लिया।

देवता इन्द्रिय सयम म विश्वास रखत हैं तथा असुर भोग म। उपनिषदो म कथा आती है कि प्रजापति ने मानवा असुरो और देवो को समान रूप से द अक्षर का उपदेश दिया। देवताओ ने उसका अथ इन्द्रिय दमन लगाया। वही यह भी कहा गया है कि जो दान नही दता, किसी म श्रद्धा नही रखता यज्ञ नही करता उस आज भी असुर कहते हैं। देह को आत्मा कहना असुरोपनिषत है। असुर लोग शरीर को सजाने से समझत हैं कि उन्होंने इहलोक और परलोक, दोनो को जीत लिया। दृष्टि कोण की इस विभिन्नता ने भी विरोध भावना को तीव्र किया हो तो आश्चय नही। इसी प्रकार की दृष्टिकोण की अय विभिन्नता की ओर श्री जम्स माउल्टन ने सकेत किया है। उनका कथन है कि प्राचीनतम वदिक (भारत ईरानी) काल म देव तथा असुर शब्द मूलत दो प्रकार के उपास्य तत्त्वो से सम्बद्ध थ। प्रकृति के विभिन्न तत्त्वो के मानवीकरण स उद्भूत विभिन्न उपास्यो की श्रेणी देव शब्द से अभिव्यक्त की जाती थी और असुर शब्द का मूल अथ वीर अथवा साहसी था। यह शब्द मतात्माओ अथवा पितरो की पूजा से सबद्ध था। असु शब्द प्राण का वाची है अत प्रतीत होता है कि इस शब्द से व्यक्त उपास्य शक्तियो की मूल धारणा प्रेतात्माओ स अवश्य ही किसी-न किसी रूप म सबद्ध थी। अमूत की पूजा कुछ कठिन थी और स्वभावत उच्च श्रेणी के लोग वीर-पूजा के कारण असुर की पूजा करने लग।[2]

कारण जो भी रहा हो ऋग्वेद के प्रारम्भिक भाग के बाद से असुर शब्द देव-विरोधी अथ म ही आया है। रही राक्षस शब्द की बात दव विरोधी के रूप म उसका प्रयोग वेदो म ५० स भी अधिक बार ही हुआ है। फिर उसके विषय म असुर जसी कोई उलझन भी नही है। यह भी असुर का समानार्थक ही है।

---

१ वदिक देवशास्त्र पृ० १४०

२ वही।

मानव के मन में देव-भावना का उदय देव भावना का मनोविज्ञान

हम याज्ञवल्क्य के इन शब्दो "अति प्रश्न मा प्राक्षी मूर्धा ते विपतिष्यति" को भले ही बार-बार दुहराते रहे पर आज का तार्किक मन हर प्रश्न की गहराई तक जाना ही चाहता है। धर्म का अनुभव इन्द्रियो से नही होता। उसमे किसी दैवी शक्ति का मानना अनिवार्य है और इस दैवी शक्ति की अनुभूति अतीन्द्रिय है। इस विषय पर धार्मिक व्यक्तियो मे भले ही मतैक्य हो पर साधारण जिज्ञासु व्यक्ति का मन इतने से ही सन्तुष्ट नही हो जाता। उसकी जिज्ञासा अमित है, वह प्रत्येक वस्तु और भाव के मूल कारणो तक पहुचना चाहता है। गहराई मे जाने और तल को हाथ लगाने की उसकी बलवती इच्छा उसे सोचने को विवश करती है। यही कारण है कि आज जो विविध देवी देवताओ की पूजा प्रचलित है उसे देखकर वह उसके मूल कारणो को जानने के लिए लालायित हो उठा है। अति प्राचीन काल से—आदि का ठीक-ठीक पता न होने से चाहे तो इसे अनादि भी कह सकते हैं—चली आती हुई यह देव भावना कैसे शुरू हुई, इसका प्रारम्भिक रूप क्या था आदि विषयो की जिज्ञासा से प्रेरित होकर इस पर विद्वान् पुरुषो ने अनुसन्धान किया है। पाश्चात्य देशो मे यह जिज्ञासा अधिक उद्दाम है और इन्होने ही इस विषय मे श्रम भी अधिक किया है। उनके द्वारा सस्थापित सिद्धान्त और मत अधिक समादृत है अत सक्षिप्त रूप से हम उन्ही को आधार बनाकर इस विषय पर चर्चा करेंगे।

प्रकृति पूजा (*Worship of Nature*)

इस मत के मानने वालो का कथन है कि प्राकृतिक शक्तियो को देखकर मानव के हृदय मे आश्चर्य, आदर और भय की भावना का सचार होता है। आदिकाल का मानव आज के मानव के समान विकसित नही था। उसकी बुद्धि भी आज के मानव की बुद्धि की तुलना मे एकदम अपरिपक्व थी। जैसा कि स्वाभाविक है उसने भी अपने चारो ओर की प्रकृति को कभी विस्मय से और कभी भयाकुल नेत्रो से देखा होगा। ग्रीक भाषा मे इसे ही एडोस (Aidos) कहा है अग्रेजी मे इसे ही Awe कहा है। भाव है भय। उसने किसी शक्ति को देखकर इन शक्तियो की पृथकता का अनुभव किया होगा। यह भावना और अनुभव ही देव भावना के मूल कारण हैं।

भय और रहस्य की भावना को बहुत प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि वर्षा के पीछे जो वैज्ञानिक कारण हैं उन्हे न समझने के कारण आदिकाल का मानव प्रकृति को रहस्यमयी समझ बैठा। इस रहस्य की भावना से उसने प्रकृति को पूजना आरम्भ कर दिया। उसने इन सबको अपने से अधिक शक्ति-सम्पन्न समझ कर अपने अनुकूल बनाने के लिए इनका पूजन आरम्भ कर दिया। उसने इसे रूप दिया, आकार दिया। अपने से अधिक शक्ति सम्पन्न समझ कर उसने इन्हे अपने से बड़ा समझा। इसमे जो शक्तियाँ उसके अनु-

कूल हुइ, इष्टकारी हुइ, उन्हें उसने देव समझा और अनिष्टकारी शक्तियों को उसने विपरीत नाम दिए।

आत्मवाद (Animism)

एनिमिज्म शब्द (Animus) एनिमस से बना है। एनिमस का अर्थ आत्मा है। इस प्रकार जो मत आत्मा की सत्ता म विश्वास रखता हो वह एनिमिज्म कहलायगा। इसकी परिभाषाएँ दो प्रकार से की गई हैं दार्शनिक और धार्मिक। दार्शनिक ढग से की गई परिभाषा का भाव यह है कि इसमें शरीर से पृथक आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

Animism is the doctrine which places the source of mental and even physical life in an energy independent of or at least distinct from the body[1]

अर्थात आत्मवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जो बौद्धिक और शारीरिक स्रोत को ऐसी शक्ति म निहित मानता है जो शरीर से या तो एकदम स्वतन्त्र है या कम स कम उससे पृथक है।

धार्मिक ढग स जो परिभाषा दी गई है उसम भी आत्मा की सत्ता की स्वीकृति है—

To denote the belief in the existence of Spiritual Beings, some attached to bodies of which they constitute the real personality (Souls) others without necessary connection with a determinate body (Spirits)[2]

श्री जाज गलावे न भी इसके दो अर्थ स्वीकार किये हैं (१) मानवेतर पदार्थों म भी उसी प्रकार जीव है कि जिस प्रकार मानव म (२) प्रकृति के सभी तत्त्वों मे आत्मा की सत्ता है। सवम आत्मा मानने का अर्थ है कि आत्मा उन सब पदार्थों का अपने लिए प्रयुक्त करती है।[3] फ्रायड ने भी एनिमिज्म का अर्थ उस वाद से लिया है जो आत्मा और आत्मवान प्राणियों की सत्ता को स्वीकार करता हो—

Animism is in its narrower sense the doctrine of Souls, and in its wider sense the doctrine of spiritual beings in general[4]

भाव यह है कि आत्मवाद अपने सकीर्ण अर्थ म आत्मा का सिद्धान्त है व्यापक अर्थ म यह वह सिद्धान्त है जो ब्रह्मवाद को स्वीकार करता है।

---

१ इन० रि० एथि० भाग १ पृ० ५३५
२ वही पृ० ५३५
३ फि० रिलि० पृ० ६०
४ टा० टे०, पृ० ७५

इन्ही के कथनानुसार यह एक विशेष प्रकार का दृष्टिकोण है। इसकी विशेषता यह है कि यह प्राकृतिक तत्त्वों की व्याख्या तो करता ही है साथ ही यह सारे ब्रह्माण्ड को एक इकाई मानकर चलता है और एक ही दृष्टिकोण से सबको देखता है—

Animism is a system of thought It does not merely give an explanation of a particular phenomenon, but allows us to grasp the whole Universe as a single unity from a single point of view[1]

अर्थात आत्मवाद एक विचार पद्धति है। यह केवल कुछ विशेष पदार्थों या तत्त्वों की ही व्याख्या नही करता अपितु समस्त जगत् मण्डल को एक ही दृष्टिकोण से एक ही इकाई के रूप मे देखने का आग्रह भी करता है।

यह मत एक प्रकार का ऐसा मत है जिसमे विश्व के सत्य को समझने का प्रयास किया गया है। जो भी असभ्य और पिछड़े व्यक्ति है उनम यह धर्म के रूप म प्रचलित है। लोक-गीता के रूप म इसका अस्तित्व अब भी प्रचलित है। सभावना यह है कि जब से अन्त और बाह्य तत्त्व Phenomenon के विषय म खोज शुरू हुई तब से मानव ने इसे इन क्रियाओ म ढूढना चाहा जिनसे कि वह प्रत्यक्ष रूप से सबद्ध था। ये क्रियाएँ इच्छा से सबद्ध थीं। जो पदार्थ चलते थ या चल सकते थे उनके विषय मे उसने सोचा कि वे या तो किसी अदृश्य शक्ति से चलते थे या उनमे उसके समान इच्छा और व्यक्तित्व था। भाषा द्वारा इस प्रकार के प्रमाण आसानी से मिल जाते हैं जिनसे पता चलता है कि मानव ने प्रकृति की शक्तियो को जीवन, व्यक्तित्व और लिंग दिया।[2]

आदिम काल के मानव ने विश्व के सम्बन्ध म जो कुछ उस समय सोचा था, उससे इस मत की पुष्टि हुई। उसका विश्वास था कि यह ब्रह्माण्ड तरह तरह की आत्माओं से भरा पडा है, उनम से कुछ शुभ हैं और कुछ अशुभ। पशुओ और जड समझे जाने वाले पदार्थों म भी इन आत्माओ का आवास है। उसका ऐसा सोचना अस्वाभाविक भी नही था। जीवन की यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। मानव सभी पदार्थों म उन गुणो का आरोप करना चाहता है जो उसम विद्यमान हैं। श्री ह्यूम के विचार उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार है—

There is an Universal tendency among mankind to conceive all beings like themselves, and to transfer to every object those qualities which they are familiarly acquainted and of which they are intimately conscious[3]

अर्थात, मानव मात्र मे एक सामान्य प्रवृत्ति यह है कि वह सभी प्राणियो

---

१ टो० टे०, पृ० ७७
२ इन० रि० ऐथि०, भाग १, पृ० ५३५
३ टो० टे०, पृ० ७७

को अपने जसा समझता है। साथ ही वह सभी बाह्य पदार्थों उनमे गुणो का भी आरोप करता है जिनसे उसका घनिष्ठ परिचय है और जिनसे वह भलीभांति अभिज्ञ है।

कुछ व्यक्तियो के अनुसार यह आत्मवाद देव-भावना के विकास म दूसरा चरण है। उसका सशोधित और परिवर्द्धित रूप है। प्रकृति क तत्त्वा की पूजा के सिद्धान्त को ये भी स्वीकार करते हैं परन्तु इनका कथन है कि केवल भय या विस्मय क कारण प्राकृतिक तत्त्वो की पूजा का सिद्धान्त ठीक नही। आदिकाल का मानव प्रकृति की पूजा उसके भीतर सम्भावित जीवतत्त्व (आत्मतत्त्व) के कारण करता था। अधिक स्पष्ट करने के लिए कह सकते हैं कि प्रकृति की पूजा इसलिए होती थी कि उसम जीवतत्त्व (आत्मा) था। कम से-कम पूजा करने वाना तो एसा ही समझता था। जड स्वय गति शून्य होता है। प्रकृति जड है इसके तत्त्व जड हैं किसी दूसरी शक्ति के बिना वे परिचालित नही हो सकत। इन तत्त्वो को विश्व का चलाने वाली शक्ति का आवास मान कर ही आदिमानव इन प्राकृतिक तत्त्वो की पूजा करता था इस मत के मुख्य प्रतिपादक श्री ई० बी० टलर न प्रतिपादित किया है कि देवो की उत्पत्ति प्राकृतिक आधार पर न हाकर उनके भीतर रहन वाल जीवतत्त्व के आधार पर हुई।[1] डा० सम्पूर्णानन्द के मतानुसार आरम्भ म तो प्राकृतिक दृग विषय देव थ पर बाद म उन तत्त्वा म निहित शक्ति को ही देव माना जान लगा। उनके ही शब्दों म उनका मत इस प्रकार है—

'परन्तु कुछ आग चलकर एक और महत्त्वपूण परिवतन हुआ। विचार म और सूक्ष्मता आ गयी। यह प्रतीत होने लगा कि जा भौतिक पिंड या दग विषय हमारे सामने आते हैं वे वास्तविक देव नही हैं दव उनके भीतर व्याप्त करके स्थित हैं। बिजली या आग स्वय उपासना की वस्तु नही हैं। काई शुद्ध अदश्य शक्ति है जो इन स्थूल वस्तुओ के द्वारा काम करती है। इस प्रकार देव शब्द के अथ म क्रमिक विकास हुआ है।'[2]

जातीय मूल आदश या प्रतिमा (Theory of Arch Type)

इस मत के प्रतिपादक जुग हैं और यह मत एक प्रकार से फ्रायड के मत का परिष्कार है। फ्रायड क अनुसार चेतन मन के नीचे एक अवचेतन मन भी है। उसके अनुसार मानव के ऐसे बहुत स विचार जो हम तकसगत नही लगते या समाज के विरोध के कारण जिन्ह प्रकट करने का साहस हमम नही होता वही जमा रहत हैं। उसने इन भावनाओ को दमित भावनाआ के नाम से पुकारा है। य दमित वासनाएँ या भावनाएं एकदम नष्ट नही हो जाती, दब भर जाती है और अवचतन मन मे पडी

१ प्रि० क०, प० ३३४
२ हि० दे० प० वि० प० ६३

रहती हैं। स्वप्न, धोखा पागलपन, धार्मिक उन्माद, दैवीकरण —सबका निवास स्थल यह अवचेतन मन ही है। उसके अनुसार दवीकरण भी दमित वासनाओं का ही ऐसा रूप है जिनपर परदा डाल दिया गया है या जिनका उदात्तीकरण कर लिया गया है। फ्रायड के इस मत को मानते हुए भी जुग सभी प्रकार के स्वप्नों को इस अवचेतन मन की श्रेणी मे रखने के पक्षपाती नही। उनके अनुसार कुछ ऐसे भी विचार या स्वप्न हैं जो जातिगत हैं और जिनका व्यक्ति से कोई सम्बन्ध नही। सहस्रा वर्षों से जो पौराणिक गाथाएँ सुनन मे आती हैं उनके कारण विचित्र प्रकार की मूर्तियाँ स्वप्न म आती हैं। जु ग ने प्रमाणित किया है कि चेतन और अवचेतन, इन दोनो के बीच एक और स्तर है जिसे पारदर्शी (Transpersonal) या अव्यक्तिगत (Impersonal) कहते हैं। देवी देवताओ की मूर्तियाँ, जो पौराणिक गाथाओ से सम्बन्धित हैं, अवचेतन मन के इसी स्तर से पदा होती ह।

मैकडूगल भी ईश्वर-निर्माण की प्रक्रिया मे वयक्तिक स अधिक सामाजिक मन का हाथ मानता ह। उसके मतानुसार या तो मनुष्य प्राय ऐन्द्रजालिक और दवी चमत्कार इन दो साधना का प्रयाग करता रहा है किन्तु दवी ईश्वर वयक्तिक मन की अपेक्षा समष्टिगत या सामाजिक मन की निर्मिति अधिक कहा जा सकता ह। उसका विकास भी समष्टिगत मन से ही होता रहा ह।[1] श्री जोसेफ कम्पबेल न भी इस प्रश्न पर विचार किया ह। उन्होने कुछ उदाहरण इस प्रकार क दिय हैं जिनसे इस मत की पुष्टि होती ह। उनके अनुसार समुद्र का एक प्रकार का कछुआ (Turtle) अपने अडे देने के लिए समुद्र से बाहर निकलकर समुद्र के किनारे गहरा गडढा खोदता ह, उसम अडे रखता ह और पूरे अठारह दिन बाद वे अडे जीव बनकर स्वत ही समुद्र की ओर भागते हैं। मुर्गा बाज को देखकर भयभीत होता ह पर किसी अन्य पक्षी को देखकर नही। कोयल कौए के घर पलकर भी कोयल के ही घर जाती ह कौए के घर नहीं। इनमे से किसी ने भी व्यक्तिगत रूप से कोई अनुभव नही किया। वे जो कुछ करते हैं स्वाभाविक प्रेरणावश ही करते हैं। यह प्रेरणा जातीय संस्कार है जो उन्हे उत्तराधिकार (Inherited Property) मे मिले है। पर इतन उदाहरण देने के बाद भी कम्पबेल इस मत को निर्भ्रान्त मानने को तयार नही। उनका कथन है कि स्वाभाविक व्यवहार और बाह्य दबाव से प्रभावित व्यवहार म अन्तर कर सकना कठिन है—

For the problem of relationship of innate to conditioned be haviour is far from resolved even for animal specis very much less complicated than our own[2]

---

१ म० सा० अव०, पृ० ६६६

२ मास्क आव गाड, भाग १, पृ० ३५

अर्थात् स्वाभाविक और परिस्थितियों से प्रभावित व्यवहार में क्या सम्बन्ध है इसका ठीक-ठीक निर्णय कठिन है। पशु जाति में भी जिसका जीवन काफी सादा माना है इसका निर्णय नहीं हो सका।

इसी विषय पर फिर विचार करते हुए आगे चलकर वह कहता है कि पशुओं के उदाहरण के आधार पर मानवों के विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का यत्न करना ठीक नहीं। पशु प्राकृतिक ज्ञान पर ही निर्भर रहता है। पर मानव जो कुछ सीखता है वह जन्म के बाद ही सीखता है। सीधा खड़ा होना वाणी और विचार—ये तीन तत्त्व जो मानव को पशु से श्रेष्ठतर बनाते हैं उसे जन्म के बाद ही मिलते हैं—

In fact as adolf poetman of Busel has so well and frequently pointed out precisely these three endowments of erect posture speech and thought which elevate man above the animal sphere, develop only after birth and consequently in the structure of every individual represent an indissoluble amalgam of innate biological and impressed traditional factors we can not think of one without other[1]

अर्थात् जैसा कि एडाल्फ ने कई बार बताया है कि सीधा खड़ा होना वाक् शक्ति और विचार ये तीन धन (विशेषताएं) ऐसे हैं जो मानव को पशु के धरातल से ऊपर उठाते हैं। इन विशेषताओं की उपलब्धि मानव को जन्म के बाद ही होती है। परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति के निर्माण में शारीरिक और प्रभावित परिस्थितियों का एक ऐसा स्वाभाविक एवं अगलनशील (अभेद्य) मिश्रण रहता है कि जिसमें एक के बिना दूसरे की स्थिति अकल्पनीय है।

आगे चलकर फिर कम्पबल इन उदाहरणों पर—कछुआ और बाज—विचार करता है। उसका कहना है कि अब तक जितने भी परीक्षण इस दिशा में हुए हैं उनके आधार पर न तो इस सिद्धान्त का समर्थन ही किया जा सकता है और न खण्डन ही।

No one knows how the hawk got into the nervous system of our burnyard fowl yet numerous tests have shown to be D facto, there However the human Psyche has not yet been to any great extent satisfactorily tested For such stereotyped and so, I am afraid pending further study we must simply admit that we do not know how far the principle of inherited image can be carried

१ मास्क आव गाड, भाग १ पृ० ३७

interpreting mythological universals It is no less premature to deny its possibility than to announce it as any thing more than a considered opinion[1]

यह कोई नही जानता कि मुर्गे के नाडी मण्डल पर यह प्रभाव किस प्रकार आया, पर अब तक जो बहुत से परीक्षण हुए हैं उनसे इतना पता चलता है कि इस प्रभाव का होना एक तथ्य है। यह तो मान ही लेना चाहिए कि मानव की आत्मा के विषय म अब तक सतोषजनक परीक्षण नही हुए है। जब तक और अधिक परीक्षण न हो जाएँ तो पूवग्रह (पूव निश्चित धारणा या अपरिवतनीय विचारधारा) के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुचकर यह मान लेना चाहिए कि सावजनीन पौराणिक आख्यानो की व्याख्या के लिए उत्तराधिकार सपत्ति (जातीय सस्कार) के विषय म हम निश्चित रूप से कुछ भी नही जानत। इसकी सभान्यता और असभान्यता दोना ही पर निणय देना कठिन है। कुछ और न मानकर हम इसे एक मत के रूप म ही ग्रहण करना चाहिए।

वृद्ध या मृत पुरुष की पूजा (Ancestor worship)

इस मत के अनुसार सब देवता मनुष्यो से ही बने हैं। इनके विचारानुसार, शरीर से पृथक् आत्मा का अस्तित्व किसी मत व्यक्ति के उदाहरण द्वारा ही समझा जा सकता है। मृत्यु के समय ही शरीर से भिन्न किसी तत्त्व या आत्मा की सत्ता का आभास होता है। इस मत के मुख्य प्रतिपादक श्री हबट स्पसर हैं। उनके अनुसार, उस समय के अविकसित मतिवाल मानव ने प्राकृतिक शक्तियो म उन्ही मत पुरुषो की आत्मा को समझा। उस विश्वास हुआ कि ये प्राकृतिक तत्त्व उन्ही की आत्मा से परिचालित होत हैं स्वय नही। वद्ध पुरुष से भाव यहा घर क मुखिया से है। इसम कोई सन्देह नही कि सयुक्त परिवार प्रणाली म घर के मुखिया का आदश सवमान्य था। उसकी आज्ञा ईश्वरीय वाक्य के समान तक से बाहर की वस्तु थी। उसकी इस सर्वोपरि सत्ता के कारण यदि घर के अन्य सदस्य उसम दवो गुणो का आरोप करने लगे हो तो आश्चय की बात नही।

टेलर के अनुसार मत पूजा ही धम का मूल कारण ह। इसके अनुसार, मृत व्यक्ति दूसरे लोक मे जाने पर भी अपने पूव परिवार की रक्षा करता रहता ह, शत्रुओ का नाश करता है और इन कार्यों के बदले म वह जीवित व्यक्तियो का श्रद्धा भाजन बनता ह। उसके ही शब्दो म उसका भाव इस प्रकार ह—

The worship of the manes or ancestors is one of the great branches of the religion of mankind Its principles are not difficult to understand, for they plainly keep up the social relations of the

---

१ मास्क आव गाड, पृ० ४४५

living world The dead ancestor now passed in to a deity simply goes on protecting his own family and receiving service from them as old the dead chief still watches over his tribe still holds his authority by helping his friends and harming enemies still rewards the right and sharply punishes the wrong [1]

मत आत्माओ अथवा पूवजा की पूजा मनुष्य के धम की एक बडी शाखा रही है। इस मत के सिद्धात साधारण हैं उन्हे समझना कठिन नही और वे जीवित ससार के साथ मत व्यक्तियो का सामाजिक सम्बन्ध बनाये रखते हैं। मत व्यक्ति जो अब देव श्रेणी म आ चुका है अपने परिवार की रक्षा करता रहता है और बन्ले मे उनसे सेवा प्राप्त करता है। यह मत प्रधान पुरुष अपनी जाति पर निगरानी रखता है अपने मित्रो की सहायता करके और अपने शत्रुओ को हानि पहुँचाकर वह अपना अधिकार बनाये रखता है। वह अच्छे आदमियो की रक्षा करता है और बुरो को दण्डित करता है।

हबट स्पेन्सर का कहना है कि आदिम मानव के सामने जब कोई भी असाधारण व्यक्ति आता था वह चाहे उस जाति का सस्थापक कोई पूवज हो या अपनी शक्ति या वीरता के लिए प्रसिद्ध राजा रहा हो चिकित्सक हो, या कोई विजेता हो — मरने के बाद और भी अधिक आदर का पात्र हो जाता था—

Using the phrase Ancestor worship in its broadest sense as comprehending all worship of the dead be they of the same blood or not we concude that ancestor worship is the root of every religion [2]

भाव यह है कि पूवज पूजा इस शब्द को इसके व्यापक अथ म—जिसमे सभी व्यक्तियो का समावेश है चाहे वे उसी रक्त के हो या न हो—प्रयुक्त करने के बाद हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि पूवज पूजा ही सब धर्मो का मूल कारण है।

इस सिद्धान्त के मानने वालो का कथन है कि यह पूजा किसी न किसी रूप मे सभी देशो म प्रचलित है। आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड अफ्रीका अमेरिका भारत और चीन म यह पर्याप्त मात्रा म पायी जाती है। एक अन्य विद्वान सर चार्ल्स इलियट का मत भी इसी से मिलता जुलता है। उनके अनुसार मत व्यक्ति या पूवज की पूजा भारत और पूर्वी एशिया म समान रूप से प्रचलित थी। ब्राह्मण धम और बौद्ध धम दोनो के काल म यह पूजा दब नही पायी थी।[3] आगे चलकर इसी बात को समझाते हुए उन्होने कहा

---

१ इन० रि० ए० भाग १ पृ० ४२५

२ वही, पृ० ४२७।

३ हि० बु० भाग २ पृ० १

है कि दक्षिण भारत और चीन म जो गहहीन बहुत से देवता हैं उनका मूल मत व्यक्ति म, किसी प्राकृतिक तत्त्व म या दोनो म सम्मिलित रूप से ढूढा जा सकता ह[१]—

For instance in China and Southern India most villages have a local deity who is often homeless The origin of such deities may be found either in a departed worthy or in some striking Phenomena or in the association of the two[२]

अर्थात्, उदाहरण के लिए चीन और दक्षिण भारत के बहुत से गाँवो म ऐसा स्थानीय देवता मिल जायेगा जो गह विहीन ह। ऐसे देवताओं का मूल या तो मतात्माओ म ढूढा जा सकता ह या किसी आश्चयजनक पदाथ म अथवा इन दोनो के सगम मे।

श्री विल डयूए का मत भी यही ह। उनका कहना ह कि अधिकाश देवता वे मानव हैं जिन्हें हमने आदश का रूप दे दिया ह। मत व्यक्तियो का स्वप्न म प्रकट होना उनकी पूजा के लिए पर्याप्त कारण था। पूजा भय का पुत्र भले ही न हो पर भाई अवश्य ह। जो व्यक्ति अपने जीवन काल मे बडे शक्तिशाली रहे, जिनसे सबको भय बना रहा मरने के बाद भी उनकी पूजा का होना स्वाभाविक ही ह। बहुत सी आरम्भिक जातियो म देवताओ के लिए मत व्यक्ति या (A Dead man) शब्द का प्रयोग होता ह। आज भी इग्लिश भाषा का स्प्रिट और जमन के ग्रिस्ट (Gaist) का अथ, भूत और आत्मा, दोनो ही हैं। मत व्यक्ति की अनवरत जीवन शक्ति म लोगो का ऐसा अटूट विश्वास था कि आदिम व्यक्ति मत व्यक्ति के लिए सचमुच ही सदेश भेजा करते थे। एक जाति म यह प्रथा थी कि सरदार सदेश भिजवाने के लिए पत्र का एक एक अक्षर पढता था और फिर उस दास का सिर काट देता था। अगर सरदार कोई बात भूल जाता था तो दूसरे दास के द्वारा इसी प्रकार सदश भेजा जाता था।[१]

ये शक्तिशाली व्यक्ति मरने पर और भी शक्तिशाली हो जाते थे और इन्ह प्रसन्न रखना अनिवाय था। वे कोई अनिष्ट न करें इसलिए इन्हे सतुष्ट रखना आवश्यक समझा जाता था। इस पूजा का आरम्भ तो भय से हुआ था पर अन्त या परिणति हुई प्रेम के रूप म—

It is the tendency of Gods to begin as Ogres and to end as loving fathers the idol passes in to an ideal as the growing security peacefulness and moral sense of the worshipers pucify and transform the features of their once ferocious deities The slow

---

१ हि० बु०, भाग २ पृ० १०
२ वही, भाग २ पृ० १०
३ स्टो० सि०, पृ० ६३

progress of civilization is reflected in the tardy amiability of the gods[1]

अर्थात—देवो का यह स्वभाव है कि उनका प्रारंभिक रूप नर भक्षी (क्रूर) का होता है और अंतिम रूप प्रेम से परिपूर्ण पिता का। उपासको की सुरक्षा, शान्त वातावरण और नैतिक बुद्धि किसी समय के भयावह रूपनाओ को आमूलचूल बदल कर प्रारम्भ रूप में परिवर्तित कर देती है। सभ्यता की गति बहुत मन्द होती है और इसीलिए देवताओं की इस सब प्रियता का रूप बहुत मन्द गति से आता है।

इतिहास किसी सीमा तक उनके इस मत की पुष्टि करता है। यूनान में मृत व्यक्ति की पूजा के विषय में बड़ी सावधानी बरती जाती थी। मृत व्यक्ति रोष्टकर न आय, इसलिए उसे संतुष्ट करने की भरपूर चेष्टा की जाती थी। उसके परवाल भोजन की थाली बहुत सामग्री उसके पास जमा कर दिया करते थे। प्रसाधन की सामग्री भी रखते थे मिट्टी की बनी औरतें भी साथ ही दबा दी जाती थी कि जिससे उसे किसी प्रकार के अभाव की अनुभूति न हो। यदि मृत व्यक्ति कोई राजा धनी या अन्य किसी प्रकार से बड़ा आदमी होता था तो उसके बहुमूल्य रत्नों में से कुछ रत्न उसके साथ दबा दिये जाते थे। यदि वह खिलाड़ी था तो शतरंज और किसी खिलाड़ी की मूर्ति यदि संगीतज्ञ था तो वाद्य सामग्री और यदि वह समुद्रप्रिय था तो एक नाव ये वस्तुएं उसके साथ दफना दी जाती थीं। एक निश्चित समय के बाद भोजन आदि देने के लिए भी कोई व्यक्ति कब्र पर आता रहे इस बात का भी प्रबन्ध रहता था।[2]

इन व्यक्तियों के अनुसार मृत व्यक्ति को संतुष्ट रखने की भावना प्राचीन भारतीय जीवन में भी ढूंढी जा सकती है। वेद के एक मन्त्र में मृत व्यक्ति को वस्त्र देने का वर्णन है और यह आशा प्रकट की गई है कि वस्त्र मिल जाने से वह संतुष्ट होगा—

एतत् त देव सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत् त्वं यमस्य राज्यं वसानस्ताप्यं चिर ।।[3]

श्री ए० बी० कीथ ने अथर्ववेद के एक मन्त्र (१३।१।२८) का उद्धरण देते हुए यह सम्भावना प्रकट की है कि इस मन्त्र में मृत व्यक्तियों को दी जाने वाली दावतों में घुस आने वाले जिन दस्युओं का उल्लेख है वे मृत व्यक्तियों की वे आत्माएं हैं जो ऐसे अवसरों पर अचानक ही आ जाती हैं।

---

१ स्टा० सि० पृ० ६३
२ ला० ग्री० पृ० १४
३ अथर्व १८।४।३१
४ ... ० फि० वेद० उप० पृ० ६६

इसी प्रकार गह्यसूत्रो म भी कुछ विधान हैं जो उन विधानो से मिलते-जुलते है जिनका उल्लेख हमने यूनान के प्रकरण मे किया है। मत व्यक्ति क साथ बहुत सा सामान जाता था, वहा इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। अनुस्तरणी के प्रसग म कहा गया है कि मत व्यक्तियो के साथ गाय या बकरी श्मशान तक भेजी जाती थी। यही शव के साथ पत्नी के लिटाये जाने और बाद म देवर द्वारा उसके उठाये जाने का विधान है। यदि मत व्यक्ति क्षत्रिय होता था तो उसका धनुष भी उसके साथ रख दिया जाता था जा बाद म वपल द्वारा उठा लिया जाता था।[1]

जसा हमने आरम्भ मे कहा है, किसी समय यह पूजा अत्यधिक प्रचलित थी। चीन और रोम का जीवन इससे व्याप्त था और वहाँ के धार्मिक जीवन पर इसकी गहरी छाप थी। इसी बात की चर्चा करते हुए श्री जाज गलोवे ने लिखा है—

In the religions of China and ancient Rome the cult of ancestors has left the marks on the whole religious life of the people [2]

अर्थात—चीन और प्राचीन रोम के धर्मों मे प्रचलित मृत पूजा का सिद्धान्त वहा के धार्मिक जीवन पर अपने स्पष्ट चिह्न छोड गया है।

इस मत की समीक्षा

इस मत के पक्ष म इतना कहन के बाद यह कह दना आवश्यक है कि उपयुक्त मत सभी को मान्य नही है। मत पूजा का आधार यह भावना है कि मत व्यक्ति मरने के बाद अपने घरवालो के प्रति वसा ही सदय रहता है—वह उनके हित और शत्रुओ के अहित म निरन्तर तत्पर रहता है। पर वस्टन माक का कथन है कि मत व्यक्ति सदव हितकारी ही नही रहत। उसन जो तथ्य इकटठे किय है वे इस मत के विरुद्ध जात हैं। उसने 'दि ओरिजिन एण्ड डेवलपमण्ट आव दि मारल आइडियाज' नामक अपनी पुस्तक म अपन मत का समथन इन शब्दा म किया है—

Generally speaking my collection of facts has led me to the conclusion that the dead are more commonly regarded as enemies than friends, and that Professor Tevons and Mr Granl Allen are mistaken in their assersion that according to early belief, the melevolence of the dead is for the most part directed against strangers only, whereas they exercise a fatherly care over the lives and fortunes of their descendents and fellow clansmen [3]

---

१ आ० गृ० सू० क० २, सू० ४-१६ (आश्वलायन)
२ फि० रिलि०, पृ० ६६
३ टो० टे०, पृ ५८

अर्थात्, मैंने अब तक जितने तथ्यों का संग्रह किया है उनसे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मृत आत्माओं का शत्रु रूप में अधिक ग्रहण किया जाता है मित्र रूप में कम। प्रोफेसर टेवर्स और एलन का यह कथन कि प्रायः मृत व्यक्तियों का रोष अपरिचित व्यक्तियों पर ही अधिक उतरता है और उनके उत्तराधिकारियों तथा सजातीयों को पितृसम वात्सल्य मिलता है भ्रमपूर्ण है।

बोर्नियो की असभ्य जातियों में मृत शत्रु को अभिभावक या मित्र बनाने की प्रथा है। जब वे किसी शत्रु का सिर ले आते हैं तो महीनों तक उसकी बड़ी खातिर करते हैं। उसे प्यार भरे शब्दों से सम्बोधित करते हैं। स्वादिष्ट से स्वादिष्ट भोजन उसके मुख में रखा जाता है उसे पीने के लिए सिगार भी दिया जाता है। उससे प्रार्थना की जाती है क्योंकि अब तुम हममें से ही एक हो गये हो अतः तुम्हें पहले परिवार को भूल जाना चाहिए वर्तमान परिवार को अपनाना चाहिए।[1]

अपनी इस पूजा की सार्थकता में उन्हें पूरा विश्वास है। वे ये क्रियाएँ पूरी श्रद्धा के साथ करते हैं। यदि मरने के बाद पूर्वज शत्रु का मित्र बन सकता है तो मित्र का शत्रु स्वतः हो ही जायेगा। फिर यह पूजा क्या ?

जहाँ तक भारतीय देव भावना का प्रश्न है यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उसकी उत्पत्ति मृत पुरुष की पूजा से नहीं हुई है। यहाँ मृत व्यक्ति की पूजा देवता के रूप में कभी नहीं हुई। पितरों के लिए श्रद्धा का विधान भी बाद में ही हुआ वैदिक काल में नहीं। उनके प्रति देव भावना बहुत परवर्ती काल में पैदा हुई। होपकिन्स का भी यही मत है—

It is not denied that the Hindus made gods of departed men They did this long after the Vedic period, But there is no proof that all the *Vedic Gods, as claims Spencer,* were the worshipped souls of the dead No arguments can show in a Vedic dawn hymn anything other than a hymn to personified Dawn or make it probable that this dawn was ever a mortal's name[2]

अर्थात्—हिन्दुओं ने मृत व्यक्तियों को देवता बनाया, इस बात को अस्वीकार नहीं किया जाता पर यह मृत पूजा वैदिक काल के बाद ही हुई शुरू। स्पेंसर का यह कथन कि वैदिक काल के सभी देवता मृत व्यक्तियों के रूप हैं, तर्क सगत सिद्ध नहीं होता। वैदिक उषा की स्तुति प्रातःकालीन स्तुति से भिन्न है। या यह उषा किसी मृत आत्मा का रूप है, इस पक्ष में कोई भी ठोस प्रमाण नहीं है।

---

१ टोटेम एण्ड टेबू० पृ० ५८
२ इन० रि० ए०, भाग १, पृ० ४५४

वेदो म पितरो और देवा के लोको का पथक पृथक उल्लेख है। स्पष्ट है कि मत व्यक्ति देवो से भिन्न हैं। दवा के जान के माग का नाम देवयान है और पितरो के जाने का पितृयान। पितर यद्यपि साधारण मानवो से ऊपर हैं, उह आदरपूवक याद भी किया गया है पर फिर भी उनम और देवताओ म अतर है। देवताओ को दी जाने वाली आहुति स्वाहा' कहलाती है और पितरो के लिए दी गई 'स्वधा। आश्वलायन ने इस अन्तर का इस प्रकार व्यक्त किया है—

"अग्निमुखा व दवा पाणिमुखा पितर।"[1]

श्री कीथ ने स्पष्ट शब्दो म कहा है कि पितर और देव स्पष्टत दो विभिन्न श्रेणियाँ हैं। वेदो म कहीं ऐसा वणन नही जिसस देव-भावना की उत्पत्ति मत पूजा से मानी जा सके—

The very clear difference between the form of the worship of the Gods and the reverence paid to the dead indicate beyond possibility of doubt that the attitude of the living to the dead differed in a marked degree from their attitude towards the gods, a fact, which as far as it goes is doubtless evidence against the view that the worship of the gods sprang from the worship of men who had died[2]

भाव यह है कि देवताओ की पूजा और मत व्यक्तियो के प्रति प्रदर्शित आदर की भावना, दोनो के रूपो म जो स्पष्ट अतर है वह असदिग्ध रूप स सिद्ध कर दता है। कि आराधक का दष्टिकोण देवताओ के प्रति और था तथा मत व्यक्तियो के प्रति कुछ और। उनका यह भिन्न दष्टिकोण एक ऐसा साक्ष्य है जो यह स्पष्ट कर दता है कि देव-पूजा का मत व्यक्तियो की पूजा से नि सत मानना अनुचित है।

मत पूजा का आधार है मत व्यक्ति स भय की आशका और इस प्रकार के भय का कोई भी प्रमाण वेदो म नही मिलता। वहा भय तो है पर वह मत्यु स है, मत की आत्मा स नही। इस विषय म भी श्री कीथ के विचार उन्ही के शब्दो म इस प्रकार हैं—

The danger from the dead is as we have seen, fear of death, not of the spirits of the fathers Moreover, as we have noted, the Atharwaveda finds for the evils which are practised on men the cause in demons not in souls of the dead, which again is a strong piece of evidence that the mischievous powers of the dead were not strongly felt in the Vedic period[3]

---

१ आ० गृ० सू०, ४।८।४

२ रि० फि० वे० उप०, पृ० ४३१

३ वही, पृ० ४२७

भाव यह है कि जसा हम दख चुके हैं मत व्यक्तिया स भय का अथ मत्यु का भय है, अपन पूवजों की आत्माओं का भय नहीं। फिर हम यह भी दख चुके हैं। कि अथववद के अनुसार मानव पर आन वाली क्षतियों या अनिष्टों का कारण दुष्ट आत्माएँ (राक्षस) हैं, मत व्यक्तियों की आत्माए नहीं। यह भी एक एसा प्रबल साक्ष्य है जो बताता है कि वदिक काल म मत व्यक्तियों की शक्तियों का विशेष प्रभाव नहीं था।

प्रतीकवाद (Fetish)

बहुत-से विद्वानों के अनुसार, देव भावना का आरम्भ फटिश की पूजा स हुआ है। इसका अथ किसी प्रयाजन विशेष स और किन्हीं निश्चित अवस्थाओं म कुछ वस्तुओं या पदार्थों का दिव्य शक्ति स आविष्ट मानना है। इस आविष्ट देव भावना म पहल निर्जीव प्रतीक आत हैं फिर पशु प्रतीक तदुपरान्त अधमानव—अधपशु और सबस पीछे मानव। किसी समय यह मत अत्यधिक प्रचलित था। प्रसिद्ध जमन अध्यापक मक्समूलर न हिबटं भाषणमाला म अंग्रेज जनता क सम्मुख दिए गए अपन द्वितीय भाषण म कहा था कि पिछल सौ वर्षों म जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं उन सब मे एक आश्चयजनक साम्य है और वह यह है कि किसी-न किसी रूप म फटिश का धम की उत्पत्ति का कारण माना है[1] अत किसी निष्कप पर पहुचन क लिए इस मत का भली भाति विवचन आवश्यक है।

आरम्भ और व्याख्या—इस मत के प्रवतक श्री दे ब्रासेस नामक सज्जन हैं। यह भावना ता प्राचीन है पर इस शब्द का प्रयाग सन १७६० ई० स पूव कहा नहीं हुआ। इस शब्द की व्युत्पत्ति पुतगाली शब्द Feitic स हुई है और उस भाषा म यह शब्द लटिन क Factitius का समानार्थक है। इनसाइक्लोपीडिया आव रिलीजन एण्ड एथिक्स' म पुतगीज फ्रेंच डिक्शनरी म दी गयी परिभाषा का उद्धृत करत हुए इस शब्द का इस प्रकार समझाया गया है—Sortilege (भविष्य-कथन विद्या) Malefic (हानिकर) Enchantment (वशीकरण) Charm[2] (जादू)। वहा यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इसका आरम्भ जादू-टान स हुआ है, वह जादू-टोना चाह धम स सम्बंधित रहा हो या न रहा हो। इस शब्द का आरम्भिक अथ था हाथ स बना हुआ फिर अथ हुआ कृत्रिम फिर अप्राकृतिक' और तदनन्तर जादू स भरा हुआ। पुतगाली म इसका अथ अशुभ स बचान वाली पवित्र वस्तु है। इसका मूल अथ ठास और निर्जीव वस्तुओं स था पर द ब्रासस न इस नदियों पवतों और पशुओं पर भी लागू कर दिया।[3] पुतगाल के नाविक जब गाल्डकास्ट की

---

१ ओ० ग्रा० रि० पृ० ५५
२ इन० रि० एथि० भाग ४, पृ० ८९५
३ ओ० ग्रा० रि०, पृ० ६२

ओर गये और उन्होंने वहाँ नीग्रो लोगो को जड पदार्थों की पूजा करते देखा तो उन्होंने ही उसकी पूजा के लिए प्रथम बार 'फटिश' शब्द का प्रयोग किया। अत हमने उन्ही के द्वारा प्रयुक्त अर्थ को ऊपर समझाने का यत्न किया है।

इस मत के सस्थापक और प्रचारक, श्री दे ब्रासेस के अनुसार, पूजा करने वाला व्यक्ति चाहे जिस वस्तु को पूजास्पद बना सकता है। यह वस्तु वक्ष पवत, समुद्र, लकडी का टुकडा, शेर की पूछ, पत्थर, नमक मछली, पौधा, फूल, पशु, गाय, बकरी, हाथी आदि म से कोई भी हो सकता है। इसम वास्तविक बात इस बात का विश्वास है कि उस पदाथ म कोई विशेष शक्ति है और उसका कारण उसम आत्मा का निवास है।[1]

श्री टेलर का विचार भी ऐसा ही है। उनका कथन है कि कोई वस्तु फेटिश उसी समय बनती है जब पूजक उसमे किसी आत्मा का अस्तित्व मान, अथवा, यह मान कि इसम किसी भाव या विचार को भेजने की शक्ति है, अथवा—कम स कम देखन म ऐसा प्रतीत हो कि वह उस जड पदाथ को चेतनता और शक्ति से सम्पन्न मानता है—

To class an object as a fetish, demands explicit statement that a spirit is embodied in it, or acting through it, or communicating by it, or at least that the people it belongs to do habitually think this of such objects, or it must be shown that the object is trated as having personal consciousness and power, is talked with, worshipped prayed to sacrificed to petted or ill treated with reference to its past or future behaviour to its votaries[2]

अर्थात—किसी पदाथ को फटिश मानने क लिए केवल इतना स्पष्ट वक्तव्य पर्याप्त है कि इसम शक्ति विद्यमान है, या शक्ति इसके द्वारा काम कर रही है, या इसके द्वारा कोई सन्देश जाता है, अथवा, इसके मानने वालो का ऐसा विश्वास है, या यह प्रदर्शित किया जाय कि इस पदाथ मे एसी निजी चेतना और शक्ति है जिससे सभाषण हो सकता है, जिसकी पूजा होती है, जिसके लिए बलि दी जाती है, या अपन समथको के साथ हुए विगत और अनागत व्यवहार के लिए जिसके साथ अच्छा और बुरा व्यवहार हो सकता है।

फटिश और उसकी आत्मा म कोई सम्बन्ध हो यह आवश्यक नही। उस फेटिश म आत्मा का सम्बन्ध आकस्मिक है और वह आत्मा उस पदाथ को छोडकर किसी भी समय बाहर जा सकती है। उस आत्मा के बाहर जाते ही उस पदाथ का समस्त

---

१ औ० ग्रो० रि०, प० ६३

२ इन० रि० ऐथि०, भाग ४, पृ० ५६६

महत्त्व समाप्त हो जाता है।[1] नीग्रो इनकी पूजा करते हैं, इनके सामने प्रार्थना करते हैं, बलि देते हैं, इनके जुलूस निकालते हैं, महत्त्वपूर्ण अवसरों पर इनसे परामर्श माँगते हैं, इनकी शपथ खाते हैं और उन शपथों को कभी नहीं तोड़ते।

ये देव जातीय भी होते हैं और व्यक्तिगत भी। जातीय देवता सभी की साँझी सम्पत्ति होते हैं और सार्वजनिक स्थान में रख जाते हैं। व्यक्ति-देवता व्यक्तियों के घरों में रखे जाते हैं। यदि नीग्रो वर्षा चाहते हैं तो पानी घड़ा उस देव के सामने रख देते हैं, जब वे युद्ध क्षेत्र में जाते हैं तो अपने अस्त्र शस्त्र उसे समर्पित कर देते हैं, अगर उन्हें मछली या गोश्त की आवश्यकता होती है तो देव के सामने खाली हड्डियाँ रख देते हैं अगर उन्हें ताड़ी चाहिए तो वृक्षों में छेद करने वाले औजार देव के सामने रख देते हैं। यदि उनकी प्रार्थना नहीं सुनी गयी तो वे समझते हैं कि देवता अप्रसन्न है और वे फिर उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं।[2]

किसी पाषाण या अन्य जड़ पदार्थ में देव भावना किस प्रकार आती है इस प्रश्न के समाधान में इस मत वालों का कथन है कि यह एकदम आकस्मिक है। इस बात को हृदयंगम करने के लिए हम उस काल की कल्पना करनी होगी जब मानव का ज्ञान पंच भौतिक ज्ञानेन्द्रियों तक ही सीमित था। उस समय अचानक ही कोई असाधारण रूप से चमकीला पत्थर मिलने पर वह इस आश्चर्य में पड़ गया होगा। यह पाषाण संभवतः उसे उस समय मिला होगा जब प्रातःकाल के समय वह युद्ध के लिए जा रहा होगा उस उस दिन विजय भी मिली होगी। इस प्रकार उसने इस पाषाण खण्ड को ही विजय का कारण मान लिया होगा। एक-दो अन्य अवसरों पर इसी प्रकार विजय मिल जाने पर उस पाषाण की असाधारणता रूपी शक्ति दिव्य में उसकी आस्था और अधिक बलवती हो गई होगी। इस मत को समझने के लिए वे चार सीढ़ियाँ या स्थितियाँ का वर्णन करते हैं। प्रथम है आश्चर्य की भावना। दूसरे उस पदार्थ की शारीरिक रचना और विचार तथा कारण। तीसरे इस पदार्थ और उसके प्रभाव के बीच किसी आकस्मिक सम्बन्ध की स्वीकृति—जैसे वर्षा स्वास्थ्य आदि। चौथे, उस पदार्थ में ऐसी किसी शक्ति का अस्तित्व मानना जिससे हम बलात उसकी पूजा के लिए प्रवृत्त हो, उसमें श्रद्धा रखें उसका सम्मान करें। उनका विश्वास है कि इस प्रक्रिया से इस मत को स्पष्ट रूप से हृदयंगम किया जा सकता है।

इस मत के कुछ चिह्न प्राचीन भारतीय जीवन में भी आसानी से ढूँढ़े जा सकते है। मोहनजोदड़ो की खुदाई से इस बात के प्रमाण मिले हैं जिनसे पता चलता है उस समय फटिश रूप में वृक्षों की पूजा होती थी। श्री आर० सी० मजूमदार ने लिखा है कि मूर्तियों पर वृक्षों के चित्र इसी ओर संकेत करते हैं—

---

१ फि० रिलि, पृ० ६४

२ ओ० ग्रो० रि० पृ० ६४५

The worship of tree, fire and water also seems to have been in vogue The existence of tree worship is evidenced by the representation on several seals and sealings[1]

वृक्ष, अग्नि, और जल की पूजा का भी प्रचलन था। बहुत से पमानो और मोहरों पर मिले चित्रों से वृक्ष पूजा का प्रमाण मिलता है।

श्री ओल्डेनबग का विचार है कि गह्यसूत्रो म यज्ञ भाग मे यूप का प्रसाधन (सजावट) वृक्षोपासना की स्मृति का परिचायक है। कुशासन तथा अन्य यज्ञीय उपादानो म दिव्यत्व की भावना भी फेटिश का ही उदाहरण है। विवाह के समय गृह्यसूत्रो के विधानानुसार वस्त्रावेष्टित एव सुगन्धित दण्ड को रखने का विधान भी फेटिश ही है।[2] यज्ञ म घोड़े और बकरे को भी अग्नि के प्रतीक रूप मे लिया गया है। वहाँ कहा गया है कि यदि अरणिया से अग्नि का उत्पादन न हो पाया हो तो पुरोहित बकरे के कान मे आहुति दे सकता है किन्तु ऐसा करने पर वह उसके मास को नही खा सकता। वह दभ पर आहुति दे सकता है पर ऐसा करने पर वह उस पर बैठ नही सकता।[3]

समीक्षा—पर यह मत विद्वानो को मान्य नहीं हुआ। जिन असभ्य या जगली जातियों को आधार बनाकर इस मत की स्थापना की गयी थी, उनकी बौद्धिक स्थिति की विवेचना करने पर यह मत नही टिक पाता। वे जातियाँ बौद्धिक विकास की दृष्टि से शशवावस्था म थी और उन्हें किन्ही वस्तुओ की पहचान ही न थी, यह कहना और मानना भी बुद्धिसगत नही। अध्यापक मक्समूलर के शब्दो मे ऐसा मानना अपने को धोखा देना है। कोई भी असभ्य आदमी इतना मूख नही कि वह सप और रस्सी म भेद न कर सके या फिर चेतन और अचेतन के अन्तर को न समझ सके। यह कहना कि—पत्थर पत्थर है भी और नही भी, पत्थर आदमी भी है और नही भी—शब्द जाल के अतिरिक्त अन्य कुछ नही।[4] इस मत के प्रतिपादन के लिए जो प्रमाण दिये गये हैं उन्हे कोई भी शोधकर्ता या इतिहासज्ञ मानने को तयार नही होगा। इन्ही सब बातो को ध्यान म रखते हुए श्री मक्समूलर ने कहा है कि, 'अब हम मान लेना चाहिए कि फेटिश ही धम की उत्पत्ति का मूल कारण नही है।'[5]

गणचिह्नवाद (Totemism)

देव भावना की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे इस मत की भी चर्चा आती है, अत

---

१ वदिक एज पृ० १८८
२ रि० फि० वेद० उप०, प० ६७
३ रि० फि० वेद० उप०, प० ६९
४ ओ० ग्रो० रि०, पृ० १२५
५ वही, पृ० १२७

संक्षिप्त रूप में इस पर भी विचार कर लेना उचित है। टोटेम शब्द Ote शब्द से बनता है। इसका अर्थ है एक ही माँ से उत्पन्न भाइयों और बहिनों में या कुछ व्यक्तियों के एक समाज में रक्त-सम्बन्ध का होना जिन्हें समाज जन्म या किसी अन्य माध्यम से एक हो मानता है और जिनमें परस्पर विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। अंग्रेजी में सर्वप्रथम इसका प्रयोग ज० लाग द्वारा किया गया। उन्होंने इस शब्द का अर्थ उस आत्मा से लिया था जो चिपवा (Chippewa) और आजिब्वा (Ojibwa) जातियों के अनुसार प्रत्येक जीव पर अपनी नजर रखती है। श्री लाग ने यह भी लिखा था कि इन जातियों के अनुसार आत्मा पशु की आकृति धारण कर लेता है और इसी कारणवश इन जातियों के लोग उन पशुओं को न तो मारते हैं और न उनका शिकार करते हैं जिनमें उन आत्माओं का निवास प्रतीत होता है। कभी-कभी किसी अवसर पर इनका मांस खाना विहित माना गया है

A significant counter Phinomenon not irreconciable with this is the fact on certain occassions the eating of the totemflesh constituted a par of cerrmoneyt[1]

अर्थात्—इससे उलटा पर महत्त्वपूर्ण एक तथ्य यह है—और यह पहले तथ्य का एकदम विरोधी भी नहीं है—कि कुछ विशेष अवसरों पर टोटेम के मांस का खाया जाना उत्सव के विधान का एक अंग माना जाता था।

टोटेम का साधारण अर्थ चिह्न (Emblem) है। इसका भाव यह हुआ कि कुछ व्यक्तियों के लिए कुछ पशु या पक्षी देवी शक्ति के चिह्न या प्रतीक बन जाते हैं। इस प्रकार कुछ पशु विशेष रूप से पवित्र माने जाते थे। कुछ ने तो उन्हें खाने का निषेध किया और कुछ ने उनके सिवाय अन्य पशुओं को खाना अपवित्र समझा। कुछ ने अपने टोटेम में ही विवाह के नियम बनाये और कुछ ने विवाह न करने के। मिश्र में श्येन (Hawk) लकड़ी या धातु के टुकड़े (Gibs) आदि को पवित्र माना गया। भारत में गौ का अवध्य माना जाना भी इसी भाव का सूचक है।

सामान्य रूप से यह टोटेम पशु होता है पर कभी-कभी असाधारण स्थिति में पौधा या प्राकृतिक रूप (तत्त्व) भी हो जाता है—

It is as a rule an animal (whether edible and harmless or dangerous and feared) and more rarely a plant or a natural Phenomenon (such as rain or water) which stands in a peculiar relation to the whole class[2]

सामान्य नियमानुसार यह टोटेम पशु होता था, जो कभी खाद्य और हानि-

---

१ इन० रि० एथि भाग ११ पृ० ३९४
२ टो० टे०, पृ० २

रहित होता था तो कभी खतरनाक और डरावना हाता था। विशेप परिस्थिति मे यह पौधा या प्राकृतिक तत्त्व होता था, जसे वर्षा या जल। इस टोटेम का सम्बन्ध सम्पूण जाति से होता था और वह विशिष्ट प्रकार का हाता था।

यहाँ पशु व्यक्ति न होकर जाति हाता है। यह पूजा उस पूरी जाति की होती है एक पशु की नही। इसीलिए एक पशु का वध हात ही दूसरा पशु उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।

यह टोटेम पदार्थों की एक ऐसी श्रेणी है जिसे आदिमकाल का असभ्य मानव सम्मान की दष्टि से दखता था। उसका विश्वास था कि इस पदाथ और उसमे कोई विशेष सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध स्वाभाविक रूप स दोनो के लिए लाभदायक है। टोटेम अनिष्ट से उसकी रक्षा करता है और बदले म सम्मान का अधिकारी बनता है। यह टोटेम साधारण रूप से उसके लिए अवध्य हो जाता है, वह इसे कभी नष्ट नही करता। टोटेम के इस धार्मिक पक्ष के अलावा इसका सामाजिक पक्ष भी है। सामाजिक पक्ष मे यह व्यक्तियो के परस्पर सम्बन्धो पर प्रकाश डालता है। आरम्भ मे टोटेम के ये दोनो पक्ष थे। बाद मे एक-दूसरे से पथक होते गए, दोना म अन्तर आ गया।[१] किसी समय इस टाटम का महत्त्व बहुत अधिक था। इस सम्बन्ध के सामने वश और रक्त का सम्बन्ध भी कम महत्त्वपूण हो जाता था। फ्रेजर का ऐसा मत है—

The Totem bond is stronger than the bond of blood or family in the modern sense[२]

आधुनिक परिभाषा के अनुसार जिसे हम परिवार समझते है उसकी अपेक्षा टाटेम का बन्धन अधिक दढ है।

प्रकार श्रेणिया—मोटे तौर मे य टाटेम तीन प्रकार के हैं १ जातिपरक (Class Totem), २ यौन सम्बन्धी (Sex Totem) ३ व्यक्तिपरक (Individual)। प्रथम उस जाति के सभी व्यक्तिया के लिए समान हैं। ये टोटेम वशानुक्रम स एक पीढी से दूसरी पीढी म जाते हैं। दूसरा एक विशेष लिंग के लिए है—या तो केवल स्त्रियो के लिए या केवल पुरुषो के लिए। दोनो एक ही चिह्न का प्रयोग समान रूप से नही करते। तीसरा एक व्यक्ति का होता है जो उसी तक सीमित रहता है और पीढी-दर पीढी नही चलता है।[३]

किसी समय इस मत का प्रचलन पर्याप्त मात्रा मे था, ऐसा बहुत-से विद्वानो का मत है। श्री जाज गलावे का कथन है कि किसी समय स्थानीय पदार्थों की पूजा प्रचलित थी इस बात के प्रमाण, सेमेटिक और आय, दोनो ही सभ्यताओ म मिलते

---

१ टो० टे०, प० १०३ ४
२ वही प० ३
३ वही, पृ० १०३

हैं। मन्य समझी जाने वाली जातियों के बहुत से अंध विश्वासों और मान्यताओं में इनके अवशेष आसानी से ढूंढे जा सकते हैं। उनका कहना है कि पशुओं की पूजा उतनी ही पुरानी है कि जितनी प्राकृतिक तत्त्वों की। इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों प्रकार की ये पूजाएँ साथ ही-साथ विद्यमान थीं। वे पशु जो या तो रहस्यात्मक प्रतीत हुए या हानि पहुँचा सकते थे विशेष रूप से पूजा के पात्र बने। उदाहरण के लिए इन रहस्यपूर्ण जीवों में सर्प को लिया जा सकता है। सर्प की पूजा विश्व के सभी भागों में प्रचलित थी। वनिन निवासी नागा लोगों में सर्प (Python) की पूजा अब भी प्रचलित है। मिस्र में मगरमच्छ की पूजा प्रचलित थी और मलाया में शेर की पूजा अब भी प्रचलित है। अब इनकी पूजा भले ही विचित्र लगती हो पर तत्कालीन व्यक्ति को इसमें कोई विचित्रता नहीं प्रतीत होती थी।[1]

अन्य बहुत-से विद्वान ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि आरम्भ काल में टोटम ही देव-भावना का मूल कारण था। ज्यों-ज्यों सभ्यता का विकास होता गया मानव की मनन शक्ति बढ़ती गई वह टोटम से दूर होता गया। आदिमकाल के मानव और देवताओं की पूजा करने वाले मानव के बीच के काल में टोटम की प्रमुखता थी ऐसा श्री वुन्टि का मत है—

In the light of all these facts the conclusion appears highly probable that at sometime totemic culture everywhere paved the way for a more advanced civilization and thus it represents a transitional state between the age of primitive man and the era of heroes and gods[2]

अर्थात इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष सम्भाव्य प्रतीत होता है कि किसी समय इस टोटम-सभ्यता ने ही अधिक प्रगतिशील सभ्यता के लिए मार्ग प्रशस्त किया। टोटम-सभ्यता उस संक्रान्ति-काल का प्रतिनिधित्व करती है जो आदिम मानव तथा वीर एवं देव-काल के बीच का है।

समीक्षा—यह मत भी देव भावना-सम्बन्धी समस्या को ठीक हल उपस्थित नहीं करता। फ्रायड-जैसे विद्वान का समर्थन पाकर यद्यपि यह मत कुछ दिन चर्चा का विषय रहा पर उन सभी विद्वानों ने मान्यता प्रदान नहीं की। श्री ई० ओ० जेम्स ने अपनी पुस्तक में इस मत की चर्चा करते हुए लिखा है कि किसी समय हर प्रकार की पूजा में टोटम को ही मूल कारण मानने की प्रथा चल पड़ी थी। आरम्भ में जे० एफ० मक्लिनन के लेखों के आधार पर समाजशास्त्र के विद्वानों के धारणा इस विषय में दृढ़ होने लगी थी। दुर्खेम और फ्रादर भी इसी मत का प्रतिपादन करने लगे थे।

१ फि० रिलि० पृ० ६१
२ टो० टे० पृ० १०१

पर यह धारणा निराधार है। ऐसी भी जातियाँ हैं जिनमे टोटेम का कोई महत्त्व नही। उनका मत उनके शब्दो म इस प्रकार है—

For this assumption there is no evidence A part from the fact that it does not occur at all among such backward tribes as the Andomanese, the Semang, the Punan of Bornio, the Pygmies of the Congo and the Bushman of South Africa or the clanless non totemic peoples of the North west Pacific Coast of North Ametica, isolated from the focus of civilization where it is established it seems to combine a number of very different features suggesting a relatively late and multiple origin [1]

ऐसा मानने के लिए कोई साक्षी नही है। अडमान की पिछडी हुई जातियो म, बोर्नियो की सेमग जाति मे, कागो के पिग्मियो म, दक्षिण अफ्रीका के जगली लोगा मे सभ्यता के प्रकाश से बहुत दूर, उत्तरी अमेरिका के उत्तर पश्चिम के किनारा पर रहने वाले व्यक्तियो मे जहा कही यह मत मिलता है, इसमे ऐसे विभिन्न रूप मिले दीख पडने हैं जिनसे यह पता चलता है कि यह मत अपेक्षाकृत नवीन है और इसका आरम्भ अनेक स्रोतो से हुआ है।

रही बात वदिक देव भावना की, उसमे इस टोटेम के चिह्न कही भी नही दीख पडते। वदिक धम मे एसे टोटेम समाज का कोई भी सकेत नही मिलता जो प्रतीकभूत पशु या वनस्पति का धार्मिक अनुष्ठान के रूप म भक्षण करता हो—

In the Vedic religion there is not a single case in which we can trace any totem clans which eats sacramentally the totem animal or plant and therefore the most essential feature of tolen ism on R es theory does not even begin to appear in the Veda [2]

वदिक धम म एक भी उदाहरण ऐसा नही है जिसम टोटेम पशु या पौधे का धार्मिक पूजा के अवसर पर खाने वाले लोगो के चिह्न मिलते हो। टोटेम के लिए जो चिह्न अनिवाय है, उन चिह्नो का आरम्भिक रूप भी वेदो म नही मिलता, यह स्पष्ट है।

प्रकृति-पूजा ही प्रमुख कारण

हो सकता है कि समय समय पर इन सभी विचारो ने देव भावना को परि-पुष्ट करने या उसके रूप को सुनिश्चित करने म सहयोग दिया हो, पर वदिक देव-

१ क० डोटि०, पृ० २१
२ रि० वे० उप०, पृ० १६६

भावना की उत्पत्ति प्रकृति पूजा से हुई है इसमें सन्देह नहीं। श्री मक्समूलर के शब्दों में "ऋग्वेदकालीन आर्य सान्त से अनन्त की ओर गया है। प्रकृति के सभी दृश्यमान तत्त्व सान्त हैं ससीम हैं और इनसे अनन्त भावना का उत्पत्ति स्तरन में विचित्र भले ही प्रतीत हो पर उस प्रक्रिया के सही होने में सन्देह का अवकाश नहीं। पत्थर अस्थियाँ पुष्प आदि प्रत्यक्ष अनुभव के पदार्थ हैं ये पूर्णतया ज्ञात थे और सान्त थे पर ऐसी भी वस्तुएँ थी जो उस समय के व्यक्ति में अनन्तता का भाव पैदा करती थी। वृक्ष देखने में सान्त हैं पर उनकी गहरी जड़ें और ऊँचापन उस समय के मानव में आश्चर्य पैदा करते होंगे। तेज हवा के एक झोंके से या कभी जीर्ण होकर स्वतः ही उस महान वृक्ष का गिर जाना उनके लिए आश्चर्य का विषय अवश्य रहा होगा। वृक्ष के बाद यह काम पर्वत ने किया होगा। वृक्ष कितना ही ऊँचा क्यों न हो उसके अंतिम छोर तक दृष्टि अवश्य पहुँचती है पर पर्वत ने अपनी लम्बाई और ऊँचाई दोनों ही से मानव के मन में उसकी लघुता और अपनी अनन्तता का भाव पैदा किया होगा। आकाश का स्पर्श करती प्रतीत होने वाली ऊँची भव्य पर्वत श्रेणियों के सामने तत्कालीन मानव ने अपने को यदि कौन से भी छोटा समझा हो तो आश्चर्य क्या? हिमाच्छादित पर्वत श्रेणियों पर प्रातःकालीन और सायंकालीन सूर्य की किरणों से उत्पन्न अद्भुत दृश्य उसके मन में अनन्तता की भावना न जगाते रहे हों यह कैसे सम्भव है? क्या सूर्य चन्द्रमा तथा तारे पर्वतों से उगते प्रतीत होते होंगे आकाश उस पर विश्राम करता प्रतीत होता होगा।

नदी पृथ्वी और अग्नि ने इस भावना को परिपुष्ट किया होगा। नदी का जल हमारे अनुभव की वस्तु है पर उसका सम्पूर्ण रूप इन्द्रियों के अनुभव से बाहर की वस्तु है। कल कल वेग से बहता हुआ उसका पानी आदिम मानव के हृदय में यह भावना पैदा करता होगा कि पृथ्वी के जिस भाग पर वह रह रहा है उससे अधिक विशाल वस्तु भी कोई अवश्य है। वह वस्तु अदृश्य है और दैवी शक्ति से भरपूर है। पृथ्वी हमारे लिए सान्त होते हुए भी उस समय के मानव के मन में अनन्तता की भावना पैदा करती रही होगी। यही भावना अग्नि के सान्निध्य से पैदा हुई होगी। बिजली सूर्य किन्हीं दो टुकड़ों की रगड़ से उत्पन्न स्फुलिंग ग्रीष्म ऋतु में जलते हुए जंगल सूर्य का कभी छिप जाना और कभी प्रकट हो जाना—इन सब बातों से उसके मन में न जाने कितने प्रश्नों की सृष्टि होती रही होगी। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए श्री मक्समूलर ने कहा है—"मैंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि सान्त से बाहर उसके नीचे और उसके अन्दर अनन्त सदैव निहित रहता है। यह हम पर दबाव डालता है और कराता है। जिसे हम सान्त कहते हैं, वह एक ऐसा पदार्थ है जो हमने अनन्त के ऊपर डाल दिया है। बिना अनन्त के सान्त की सत्ता नहीं और सान्त के बिना अनन्त की नहीं। तर्क स्थूल से सम्बन्धित है, जबकि विश्वास और श्रद्धा अनन्त से सम्बन्धित हैं।

ऊपर हमने जिस भय और विस्मय की भावना का उल्लेख किया है, उसके

कारण मानव ने प्रकृति के विभिन्न रूपों मे दवी शक्ति का आरोप कर लिया। निरतर प्रवहमान वायु प्रज्वलित सूय, शीतल चन्द्रमा, टिमटिमाते तारे सबका भस्मसात कर दने की शक्ति रखन वाला अग्नि, ऊपर से पानी की धारा गिराने वाले बादल—इन सभी को देखकर मानव ने अपने को असहाय पाया होगा। उसने इन तत्त्वा को शक्ति का प्रतीक समझकर इनकी स्तुति और पूजा आरम्भ की होगी। आरम्भ मे प्रकृति के विभिन्न तत्त्व वदिक सूक्तो म जसे स्वय ही स्तुति उपासना और प्राथना के विषय बन जाते है। श्री विंटरनिटस के शब्दो मे, "बहुत धीमे धीमे, शायद युगान्तर म, प्रकृति के आँगन म हा रही य लीलाएँ सूय, सोम, अग्नि, द्यौ, मरुत वायु आप उषा, पृथ्वी के रूप म दवी बन गइ। फिर भी उनका मूल रूप सवथा प्रच्छन्न नही हो सका। इस विषय पर वमत्य को किंचित भी अवकाश नही कि वदिक गाथाओ के प्रमुख दवी दवता इन प्राकृतिक शक्तिया के ही मूर्तीकरण हैं।"[1]

वदिक धम पर विचार करत हुए श्री ब्लूमफील्ड न भी कहा है—"प्रकृति की शक्तियाँ ही मानवाकार मे वदिक ऋषियो द्वारा पूजा का पात्र बनी यह मानन के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण है।"

In any case enough is known to justify the statement that the key note and engrossing theme of Rigvedic thought is worship of the personified power of nature[2]

अर्थात—इस तथ्य को न्यायोचित मानने के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण है कि ऋग्वेद की विचारधारा म सवप्रमुख और सवस अधिक ध्यान खीचन वाला तथ्य प्रकृति के मानवीकृत तत्त्वा की पूजा है।

आगे चलकर श्री ब्लूमफील्ड न कहा है कि ऋग्वेद के पुरोहित कवि प्रकृति के तथ्यो और कार्यो का बडे ध्यान से दखत थ और अपने काय म लगी हुई प्रकृति की शक्तिया की पूजा करत थे। उन्होन हम यह भी बताया है कि यहा का अत्यधिक चमकीला सूय भयकर किन्तु जीवन प्रदायिनी वर्षा, उत्तर के हिमाच्छादित पवत और हरीतिमा, इन सबन मिलकर मानव के मन म ऐसी भावना पदा की कि पहले से चली आती हुई प्राकृतिक तत्त्वो की दव भावना के साथ इन्हें भी दवी माना जाने लगा। यही नही इससे नय प्राकृतिक दवताओ की इतनी बडी मात्रा म सष्टि हुई कि उसके दशन अन्यत्र दुलभ हैं—

What is still important it could hardly fail to stimulate the creation of nature gods to a degree unknown elsewhere[3]

---

१ प्राचीन भारतीय साहित्य (History of Sanskrit Literature), भाग १, प्राकृतिक तत्त्वा का क्रमिक दवभाव (अस्पष्ट पाश्व)

२ रिलि० व०, पृ० ३०

३ वही पृ० ८२

अर्थात्— "जो बात बहुत महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि यह प्राकृतिक रचनाओं को इतनी बड़ी मात्रा में सृष्टि करने में सक्षम है कि जो अन्यत्र अज्ञात है।'[1]

श्री ए० ए० मैकडानल ने भी इस मत का प्रतिपादन इन शब्दों में किया है— 'यह इतना आदिकालीन अवश्य है कि इसमें हम मानवीकरण की वह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से काम करती हुई पाते हैं जिसके द्वारा प्राकृतिक दृश्य देवताओं के रूप में परिणत हुए थे।'[2] इसी प्रकरण में उन्होंने फिर कहा है कि वे बिना किसी अपवाद के प्रकृति की एजेंसियों के अथवा दृश्यों के स्थूलाकृत प्रतिरूप हैं।'[3] डा० मंगलदेव शास्त्री का मत भी ऐसा ही है। उनका कहना है कि प्राकृतिक शक्तियों का वैदिक देवताओं के रूप में यह वर्णन कितना सुन्दर और ऊँचा है। वैदिक देवतावाद प्राकृतिक शक्तियों के साथ मनुष्य जीवन के सामीप्य की ही नहीं तादात्म्य की भी आवश्यकता को बताता है।'[3]

श्री आर० सी० मजूमदार का भी कथन है कि ऋग्वेद के कवि प्रकृति के रहस्यों से और उनकी भयोत्पादिका शक्ति से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। उनकी रचना में उस आदिम दृष्टिकोण का स्पष्ट आभास है जो प्रकृति को चेतनता से भरपूर देखता था। आकाश के प्रकाशमय नक्षत्र स्वभावतः उनके लिए देवता बन गये —

The R V Poets were deeply affected by the apparently mys terious working of the awe inspiring forces of nature Their hymns reflect in places that primitive attitude of mind which looks upon all nature as a living presence or an aggregate of animated enti ties The luminaries who follow a fixed course across the sky are the devas or gods Naturally the sense of dependence of human welfare on the powers of nature the unexplained mysteries of whose working invests them with almost a Supernatural or divine character finds its expression in various forms of worship

ऋग्वेद के कवि प्रकृति की रहस्यात्मक कार्य विधि और भयोत्पादक शक्तियों से बहुत प्रभावित हुए। उनकी ऋचाएँ कितने ही स्थलों पर मस्तिष्क के आदिमकालीन उस दृष्टिकोण को व्यक्त करती हैं जो प्रकृति को या तो जीवित शक्ति के रूप में या फिर जीवित सत्त्वों के समूह के रूप में देखता है। वे चमकीले नक्षत्र जो आकाश में एक निश्चित क्रम से चक्कर काटते हैं, देवता हैं। मानव-कल्याण का प्रकृति पर निर्भर

१ वैदिक देवशास्त्र पृ० २

२ वही पृ० ३

३ कल्पना (पत्रिका) जनवरी १९५४

४ वैदिक एज, पृ ३६०

रहना और अन्याख्यात प्राकृतिक रहस्य, जो अति प्राकृतिक और दिव्य रूप वाले हैं, इन सबने पूजा के रूप मे अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त की।

यह तो रही वदिक देवा की सष्टि की बात, अन्य देशा म भी प्राकृतिक शक्तियो का दवीकरण पर्याप्त मात्रा म मिल जाता है। श्री ए० सी० बोवेक्ट ने मसोपोटामिया के दवताओ की चर्चा करते हुए कहा है कि "इनम स अधिकाश देवता प्रकृति की शक्तियो से ही उत्पन्न हुए हैं और उनके मानवीकरण म सामाजिक व्यवस्थाओ या सगठन का हाथ रहा है। इण्टिन नामक देवता का सम्बन्ध पथ्वी से है और ईस्टर देवी उत्पादक शक्ति और प्रेम की सरक्षिका है —

These gods are mostly nature deities combined with personifications of the Social organism Entil the God of the city of Nippur presided over the earth while the great goddess Istar, specially worshipped at Uruk was the patron of fertility and love [1]

अर्थात अधिकाश म वे दवता प्रकृति के दवता है, साथ ही उनम सामाजिक जीवन के मानवीकरण का भी समन्वय है। इण्टिल जो निपूर नगर का दवता है, पृथ्वी का प्रतिनिधि है। ईस्टर देवी, जिसकी पूजा विशष रूप से उरुक मे होती थी, उत्पादन शक्ति और प्रेम की सरक्षिका है।

मिस्र की नीलघाटी म यदि सूय की पूजा हाती थी तो वह भी स्वाभाविक ही थी। वहा की प्राकृतिक अवस्था की माँग यही थी—

Since the sun is the Pre-dominant natural feature in the Nile Velley, ripening the crops with the life giving rays, at a very early period it was worshipped as the Chief God in the pantheon rising, it was supposed as a falcon surmounted by Solar disk and cobra without spread wings playing across the heavens as Re [2]

क्योकि नील घाटी म सूय ही सर्वाधिक प्रमुख प्रकृति तत्त्व है, वह अपनी जीवन प्रदायिनी किरणो से फसलो को पकाता है इसलिए बहुत पहल ही देव परिवार म उसकी पूजा मुख्य देवता के रूप म होती थी। अपन उदय के समय यह उस *श्येन के समान प्रतीत होता था जिसके चारो ओर सूय चक्र है*, अथवा उस कोबरा सप के समान लगता था जिसन उडते समय अपने फन फनाये हुए नही हैं।

यहा एक बात और स्पष्ट कर दें तो सारा मामला एकदम स्पष्ट हो जायगा हमने प्राकृतिक तत्त्वो के दवता बन जाने की जो बात कही है उसका यह अथ कदापि न लगाया जाय कि समस्त दवताओ की उत्पत्ति प्राकृतिक तत्वो स ही हुई है। उस

---

१ म० डीटि०, पृ० ११२ ३

२ कन० डीटि०, पृ० ३२

एकमात्र कारण मानना बात को बहुत दूर तक घसीटने का प्रयास होगा। कुछ ऐसे भी देवता हैं जिनकी उत्पत्ति का समाधान इस ढंग से नहीं होता। जैसे अग्नि, पूषन अथवा बृहस्पति, प्रजापति। स्वयं ऋग्वेद में मन्यु, काम आदि अमूर्त देवता उपलब्ध होते हैं। हाँ अधिकांश देवताओं की उत्पत्ति प्रकृति-तत्त्वों से हुई है यह मानने में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

मानवीकरण

हम आरम्भ में ही संकेत कर चुके हैं कि देवों के निर्माण में परिस्थितियों का हाथ ही प्रमुख कार्य करता रहा है। जिस देश की जैसी परिस्थिति और आवश्यकता होगी उस देश के निवासियों के जैसे आदर्श होंगे उनके देवों का स्वरूप भी वैसा ही होगा। एक विद्वान का कथन है कि देवता अपने विचारों के अनुसार ढाले जाते हैं। उनके बनाने वाले हम लोग उन्हें जैसे कपड़े पहना देते हैं अर्थात् जिस साँचे में ढाल देते हैं वे वैसे ही बन जाते हैं। यदि बैल, घोड़े और शेर हमारे समान कुछ बनाने की शक्ति रखते होते तो उनके देवता ठीक उन्हीं के अनुरूप होते।[1] डा० मंगलदेव शास्त्री ने भी देवों के निर्माण में परिस्थितियों का हाथ स्वीकार किया है। उनका कहना है कि मूल में देववाद मनुष्य के आदर्शवाद का ही रूपान्तर है। देवताओं में जातीय भावों की छाया स्पष्ट रूप में रहती है। क्रूर कर्मों में निम्न जाति के देवताओं और सौम्य जाति के देवताओं में अन्तर का यही कारण है। 'यत्कामऋषिर्यस्यां देवतायाम् आर्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति' के अनुसार देवताओं की कल्पना में परिस्थिति का हाथ रहता है। शीत प्रधान देश में अग्नि को देवता समझा जाना स्वाभाविक ही है।[2] ग्रीक लोग आरम्भ में कृषक थे फिर नाविक बने उनके देवता भी इसी प्रकार के हैं।

मैक्डानल की यह निश्चित धारणा है कि सृष्टा ईश्वर की जो रूपरेखा निर्धारित की गयी है उसके मूल में मनुष्य की रूपरेखा का हाथ अवश्य है।[3] एक अन्य विद्वान् का भी यही कथन है कि देव-समाज का निर्माण पुरुष-समाज के अनुकरण पर ही होता है। मानव जैसा खान-पीने हैं वैसे ही रूप में देवों का भी चित्रित करते हैं। देवता आभूषण पहनते हैं घोड़े जुते हुए रथ में बैठते हैं उनके अपने भवन हैं जिस प्रकार आर्य असुरों से तन्त्र थे इसी प्रकार वे राक्षसों से लड़ते हैं। वे ऊंच प्रकार के क्षत्रिय से हैं। कुछ पुरुष-देवता हैं कुछ स्त्री देवता। वीर इन्द्र पुरुष देवता हैं ऊषा स्त्री-देवता है इन देवों के परस्पर विवाह भी होते थे।[4] श्री विल ड्यूरां का भी मत ऐसा

१ दि रिलीजन आव ग्रीस दि ह्यूमनाइजिंग आव दि गाड्स नामक प्रकरण

२ कल्पना (१९५५) में वैदिक धर्म की दार्शनिक भूमिका लेख।

३ म० सा० अद० पृ० ६६६

४ रिलि० ऋग० प० १०५

ही है। उनके अनुसार, देवो की वेशभूषा तथा भोजन उस देश के मानवों के स्वभावानुसार ही होता है। सुमेरियन देवों के रूप में वहाँ के जीवन की ही भाकी दीख पड़ती है—

The Tallest of Guedea list of objects which the gods preferrerred, oxen, goats, sheep, doves, chickens, ducks, fish, dates figs, cucumbers, butter, oil and cakes We may judge from the list that the well to-do sumerion enjoyed a plentiful cuisine

भाव यह है कि देवता जिन खाद्य पदार्थों को सबसे अधिक पसन्द करते थे उनमे बल, भेड, बकरी, कबूतर मुर्गा, बतख, मछली, खजूर का फल, अजीर खीरा, ककडी, मक्खन, तल और रोटी के नाम प्रमुख हैं। इस सूची से पता चलता है कि सुमेरिया निवासी सम्पन्न थे और वे पाक विद्या मे निपुण थ।

ग्रीस के देवता यद्यपि अमर थे और अपार शक्ति से सम्पन्न थ, पर फिर भी उनम सभी मानवीय दुबलताएँ थी। वे अनिश्चित मति थे और एक युद्ध म कभी किसी का साथ देते थे, तो कभी किसी का। इन सब बातो का कारण यही है कि उस समय का मानव चरित्र इसी प्रकार का था। श्री ई० ओ० जेम्स के विचार उन्ही के शब्दों मे इस प्रकार हैं—

Though immortal and possessed of unlimited power the Homeric Gods were subject to all the faults and frailities of human beings, They were capricious so that in battle between the Acheans and the Trojans, Zeus changed sides twice in one day They dis cwssed their plans thwarted and conqured one another They ate, drank, danced, married and gave in marriage—in short they were simply glorified and none too edifying mortals [१]

अर्थात होमरकालीन देवता यद्यपि अमर थे और अपार शक्ति से सम्पन्न थे तो भी उनम मानवो के सभी अवगुण और दुबलताएँ विद्यमान थी।

वे अनिश्चित मति वाले थे। इसलिए ज्यूस देवता ने ट्राजन-युद्ध म एक दिन मे दो बार अपना पक्ष बदला था। सामान्य सेनापतियो के समान वे युद्ध-योजनाओ पर विचार विनिमय करते थे, शत्रु-योजनाओ को विफल करते थे और एक-दूसरे पर विजय प्राप्त करते थ। वे खाते थे, पीते थे, नाचते थे और विवाह करते थे। सक्षिप्त रूप मे वे मानव का उदात्तीकृत रूप थे।

एक अन्य प्रकरण म आगे चलकर उन्होने कहा है कि मानव का यह स्वभाव

---

१ स्टो० सिवि० भाग १, पृ० १२८
२ बन० डीटि पृ० ४०

रहा है कि उसमें जो भी सर्वश्रेष्ठ गुण होते हैं वह उन्हें अपने देवों में दिखलाने या चित्रित करने का यत्न करता है। यद्यपि इन देवों का स्थान आकाश होता है पर उनमें इस धरती के पुत्र की ही विशेषताएँ रहती हैं—

In the west the tendency has been to adopt an anthropomor phic rather than the cosmic view making man the measure of all things from time immemorial the human mind has transferred to the objects of its veneration the qualities it recognizes in itself so that as we have seen the idea of a megnified non natured man having his abode in the sky and sharing the attributes and limitations of earthly chiefs and medicinemen[1]

अर्थात् पश्चिम में यह प्रवृत्ति रही है कि वहाँ प्रत्येक पदार्थ को जागतिक दृष्टिकोण से न देखकर मानवाकार रूप में देखा गया है। वहाँ सब पदार्थों का मापदण्ड मानव ही रहा है। अतिप्राचीन काल से मानव ने अपने पूजास्पद पदार्थों में वे सब गुण स्थानान्तरित कर दिये हैं जो उसमें विद्यमान थे। परिणाम यह हुआ है कि आकाश में हम एक ऐसे अप्राकृतिक बृहत्तर मानव के दर्शन होते हैं जिसमें धरती पुत्र के सभी गुण विद्यमान हैं।

देव-लोक की स्थिति पृथ्वी पर या कहीं अन्यत्र ?

देव शब्द की उत्पत्ति और उसके अर्थ नामक प्रकरण के आरम्भ में हम कह आये हैं कि देव शब्द का अर्थ कान्तिमान और चमकनेवाला है और द्युलोक इनका निवास स्थान था। इस देव शब्द के धातुगत अर्थ में ही पता चल जाता है कि इन देवों का निवास पृथ्वी नहीं आकाश लोक है। परवर्ती संस्कृत साहित्य में ब्राह्मणों को 'भू सुर' या 'भू देव' कहना भी यही सिद्ध करता है कि ये लोग भू निवासी हैं और वास्तविक देव किसी अन्य लोक में निवास करते हैं। देवयान भी आकाश में ही है। देव अपनी इच्छानुसार अपने यानों पर अपने लोक में विचरण करते हैं, यह भी इस बात का संकेत करता है कि वे इस पृथ्वी के निवासी नहीं। देवों का अधिपति इन्द्र है और वह स्वर्ग का राजा है। देव लोक और स्वर्ग, दोनों पर्यायवाची हैं। वेदों में जहाँ कहीं स्वर्ग की चर्चा है वहाँ वहाँ उसकी स्थिति आकाश में ही मानी गयी है। जिस पितृ लोक का उल्लेख वेदों में है वह भी देव-लोक के पास ही है। स्थान स्थान पर परमव्योम के उल्लेख इस विषय में किसी प्रकार के सन्देह या अवकाश नहीं छोड़ते। नीचे हम वेद और परवर्ती साहित्य के आधार पर अपने कथन को सिद्ध करने का यत्न करेंगे।

---

१ कन० डीटि० पृ० ७१

ऋग्वेद मे कहा गया है कि वे पितर जो अग्नि से जलाये जा चुके हैं और जो नही जलाये गये वे आकाश के बीच म स्वधा के द्वारा तृप्ति प्राप्त करते है [ये अग्नि दग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिव स्वधया मादयन्ते (१०।१५।१४)]। एक अन्य मन्त्र मे कहा गया है कि हे पितर ! तुम पितरो के पास आकाश मे जाओ—सगच्छस्व पितभि स यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन । एक दूसरे मन्त्र म ऐसे हितकारी स्वगलोक की बात कही गयी है जहा निरन्तर प्रकाश रहता है जो लोक अमर है।[1] यह सतत ज्योति आकाश म ही रहती है, वही अमर है। स्पष्ट है कि यहाँ स्वगलोक की स्थिति आकाश मे ही मानी गयी है। यह भी कहा गया है कि अश्व की दक्षिणा देने वाले पितर सूय के साथ द्युलाक म रहते है।[2] इसी प्रकरण म कुछ आगे चलकर पितरो द्वारा सूय की रक्षा की बात कही गयी है।[3] अथववेद म पितरो की स्थिति द्युलाक म स्थित स्वगलोक के ऊपर के भाग मे दिखायी गयी है।[4] यह भी कहा है कि हे यजमान, तू नाक के उस ऊँचे भाग पर जा जिसे स्वगलोक के नाम से अभिहित किया जाता है।[5] इस मन्त्र म प्रयुत 'अधिरोह' क्रिया स्पष्ट रूप से ऊपर चढने की ओर सकेत करती है। कुछ और आगे चलकर ओदन से कहा गया है कि वह यजमान को स्वग म चढा दे।[1] एक अन्य मन्त्र म कामना की गई है कि "जिस कम के अनुष्ठान से देवता लोग प्रकाशपूण भाग से द्युलोक मे स्थित स्वगलोक म गये हैं, हम भी वही जायें।"[2] अन्य स्थानो पर "अग्निष्वात्त पितरो को निमन्त्रित करते हुए उनके देवभाग से आने' की बात कही गई है।[3] यह भी कहा गया है कि 'हे यजमान ! वसु आदि तुझे आकाश म स्थित स्वग लोक मे पहुचावें।"

वेदो म स्थान स्थान पर देव माग द्वारा जिस स्वग या सुकृत लोक मे जाने की बात कही गयी है वह द्युलोक म ही है इसमे अणुमात्र भी सन्देह नही। पितरो के निवासस्थान जिस पितलोक की बात कही गयी है वह भी आकाश म ही स्थित है—यह वेदो मे आय उल्लख से एकदम स्पष्ट है। ब्राह्मण ग्रथो म भी इसी प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। यज्ञ का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि यज्ञ द्वारा देवता ऊपर स्थित स्वगलोक मे गये।[4] यह भी कहा गया है कि मरुत दवो के सेनापति हैं,

---

१ ऋक ६।११२।७
२ वही १०।१०७।२
३ वही, १०।१५४।५
४ अथव०, १२।८।४७
५ वही ११।१।७
१ वही, ११।१।३०
२ वही ११।१।३७
३ यजु १९ ५८
४ यज्ञेन वै देवा ऊर्ध्वा स्वग लोकमायन् ॥ ऐतरेय, ६।१

उनका स्थान अन्तरिक्ष है और उनसे निवेदन किये बिना जो स्वर्ग जाता है उसे वे रोक देते हैं।[1]

स्वर्ग का रूप

मानव-कल्पना की उड़ान जिन जिन सुखों तक पहुँच सकती थी उन सब सुखों की उपलब्धि इस स्वर्ग में ही होती है। इस स्वर्ग में सब-कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर है असुन्दर या कुरूप नहीं। यहाँ अक्षय यौवन है अम्लान कुसुम है इच्छानुसार सब-कुछ देने वाली कामधेनु है। यहाँ कहा गया है कि स्वर्ग में किसी तरह के रोग नहीं होते—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।[2]

वहाँ जाने पर शरीर की सभी व्याधियाँ जाती रहती हैं और शरीर के अवयवों की न्यूनताएँ भी दूर हो जाती हैं। वहाँ कोई लूला लँगड़ा भी नहीं होता।[3] यह भी कहा गया है कि वहाँ शरीर एकदम शुद्ध हो जाता है वहाँ सुन्दर स्त्रियों का समूह है तृप्ति सन्तुष्टि के सभी साधन वहाँ उपलब्ध हैं और विशेषता यह है कि सम्भोग-जन्य कष्टों का भी एकदम अभाव है—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यान्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहुस्त्रैणमेषाम्॥

वहाँ आनन्द ही आनन्द है, मोद है उल्लास है और सभी कामनाओं की तृप्ति आसानी से हो जाती है—

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।[5]

एक अन्य मन्त्र के अनुसार वहाँ दही घी और मधु आदि रसों की नदियाँ बहती हैं।[6] वहाँ विविध रंगों वाली और उज्ज्वल वर्ण वाली गौएँ भी हैं जो इच्छानुसार सब कुछ देती हैं। इस बात का भी उल्लेख है कि वहाँ न शोषण है और न कोई शोषक। स्वर्ग में कोई कमी न रह जाय इसलिए यह भी कहा गया है कि वहाँ पुरुष का अपनी पत्नी तथा सन्तान से मेल हो जाता है।[7] वहाँ अजस्र ज्योति चमकती

---

१ यज्ञेन वै देवा ऊर्ध्वाः स्वर्गं लोकमायन्॥ ऐतरेय २।१
२ अथर्व० ६।१२०।३
३ वही ।८।२५
४ वही ४।३४।२
५ ऋक० ९।११४।११
६ अथर्व० ४।३५।६
७ वही ४।३४।८
८ वही ३।२८।५
९ वही १२।३।१७

रहती है, सलिल अनवरत गति स प्रवाहित होता रहता है। सभी व्यक्ति स्वेच्छा से इधर उधर घूमत हैं और किसी प्रकार की अतृप्ति का अनुभव उ हे नही होता। यह भी कहा गया है— दवताओ म न काई बूढा है, न कोई शिशु है, सभी युवा हैं और युवा ही रहते हैं।[1] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, स्वग म पहुचन वाले भाग्यशालियो को जो सुख प्राप्त होता है वह पृथ्वी पर मिलने वाले सुख की अपेक्षा सौ गुना अधिक है।[2]

स्पष्ट है कि इस लोक की कल्पना पृथ्वी से भिन्न किसी और लोक को लक्ष्य म रखकर की गयी है।

परवर्ती साहित्य मे भी स्वग का रूप इसी से मिलता जुलता है। वहा कहा गया है कि स्वग म न किसी को भूख लगती है और न प्यास। गर्मी और सर्दी से भी वहाँ कोई कष्ट नही होता। वहाँ न शाक है न बुढापा, न थकावट है और न करुणाजनक विलाप। वहाँ के निवासियो की उत्पत्ति माता पिता के रजोवीय से नहीं होती। उनके शरीर से पसीना नही निकलता, दुग ध नही होती और वहा मल मूत्र का भी अभाव ही है। उनके पहनन की मालाएँ कभी नही कुम्हलाती और उनसे निरन्तर सुगन्ध फलती रहती है।[3]

वेदो के अनुकरण पर ही परवर्ती सस्कृत-साहित्य मे भी स्वग की स्थिति आकाशलोक मे ही मानी गयी है। वाल्मीकि-कृत रामायण म इस बात का उल्लेख है कि पृथ्वी के सब वीरा को पराजित करने के बाद भी जब रावण की रण-कण्डूया न मिटी ता उसे मिटाने के लिए वह पुष्पक विमान म बठकर यम के पास गया। स्वग के अधिपति यम जब उससे युद्ध करते हैं तो अन्य देवता भी साथ आ जुटते हैं—

> तता देवा सगन्धर्वा सिद्धाश्च परमषय ।
> प्रजापति पुरस्कृत्य समेतास्तद रणाजिरम ॥[3]

महाभारत मे कहा गया है कि स्वग नामक जो लोक है वह ऊपर है, वहा देवता यान द्वारा सवारी करते हैं—

> उपरिष्टादसौ लोकोऽय स्वरिति सन्ति ।
> ऊध्वग सत्पथ शाश्वद देवयानचरो मुने ॥[5]

यहाँ पर यह भी कहा गया है कि वहाँ के निवासी दव, साध्य, गन्धव तथा

---

१ ऋक० ८।५।३१
२ शत०, १४।७।१
३ महा० वनपव अध्याय ४४, पृ० १६८३
३ वा० रा०, उत्तरकाड, प० १४६७ (पडित पुस्तकालय, काशी)
५ महा०, वनपव, अध्याय २६१, पृ० १६८० (गीता प्रेस)

उनका स्थान अन्तरिक्ष है और उनसे निवृत्त किये बिना जो स्वर्ग जाता है उन्हें वे रोक देते हैं।[1]

स्वर्ग का रूप

मानव-कल्पना की उड़ान जिन जिन गुणों तक पहुंच सकती थी उन सब गुणों की उपलब्धि इस स्वर्ग में ही होती है। इस स्वर्ग में सब कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर है असुन्दर या कुरूप नहीं। वहां अक्षय यौवन है अम्लान कुसुम हैं इच्छानुसार सब-कुछ देने वाली कामधेनु है। वहां कहा गया है कि स्वर्ग में किसी तरह के रोग नहीं होते—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।[2]

वहां जाने पर शरीर की सभी व्याधियां जाती रहती हैं और शरीर के अवयवों की न्यूनताएं भी दूर हो जाती हैं। वहां कोई लूला लंगड़ा भी नहीं होता।[3] यह भी कहा गया है कि वहां शरीर एकदम शुद्ध हो जाता है वहां सुन्दर स्त्रियों का समूह है सैनिक सन्तुष्टि के सभी साधन वहां उपलब्ध हैं और विशेषता यह है कि सभोग जन्य कष्टों का भी एकदम अभाव है—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यान्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥

वहां आनन्द ही आनन्द है, मोद है उल्लास है और सभी कामनाओं की तृप्ति आसानी से हो जाती है—

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।[5]

एक अन्य मन्त्र के अनुसार वहां दही घी और मधु आदि रसों की नदियां बहती हैं।[6] वहां विविध रंगों वाली और उज्ज्वल वर्ण वाली गौएं भी हैं जो इच्छानुसार सब कुछ देती हैं।[7] इस बात का भी उल्लेख है कि वहां न शोषण है और न कोई शोषक।[8] स्वर्ग में कोई कमी न रह जाय इसलिए यह भी कहा गया है कि वहां पुरुष का अपनी पत्नी तथा सन्तान से मेल हो जाता है।[9] वहां अजस्र ज्योति चमकती

---

१ यज्ञेन वै देवा ऊर्ध्वा स्वर्गं लोकमायन॥ ऐतरेय २।८
२ अथर्व० ६।१२०।३
३ वही ३।८।२५
४ वही ४।३४।२
५ ऋक्० ९।११४।११
६ अथर्व० ४।३५।६
७ वही ४।३४।८
८ वही ३।२९।३
९ वही १२।३।१७

रहती है, सलिल अनवरत गति से प्रवाहित होता रहता है। सभी व्यक्ति स्वेच्छा से इधर उधर घूमते हैं और किसी प्रकार की अतृप्ति का अनुभव उन्हें नहीं होता। यह भी कहा गया है—'देवताओं में न कोई बूढ़ा है, न कोई शिशु है, सभी युवा हैं और युवा ही रहते हैं।'[1] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार, स्वर्ग में पहुँचने वाले भाग्यशालियों को जो सुख प्राप्त होता है वह पृथ्वी पर मिलने वाले सुख की अपेक्षा सौ गुना अधिक है।[2]

स्पष्ट है कि इस लोक की कल्पना पृथ्वी से भिन्न किसी और लोक को लक्ष्य में रखकर की गयी है।

परवर्ती साहित्य में भी स्वर्ग का रूप इसी से मिलता जुलता है। वहाँ कहा गया है कि स्वर्ग में न किसी को भूख लगती है और न प्यास। गर्मी और सर्दी से भी वहाँ कोई कष्ट नहीं होता। वहाँ न शोक है, न बुढ़ापा, न थकावट है और न करुणाजनक विलाप। वहाँ के निवासियों की उत्पत्ति माता पिता के रजोवीर्य से नहीं होती। उनके शरीर से पसीना नहीं निकलता, दुर्गन्ध नहीं होती और वहाँ मल मूत्र का भी अभाव ही है। उनके पहनने की मालाएँ कभी नहीं कुम्हलाती और उनसे निरन्तर सुगन्ध फैलती रहती है।[3]

वेदों के अनुकरण पर ही परवर्ती संस्कृत-साहित्य में भी स्वर्ग की स्थिति आकाशलोक में ही मानी गयी है। वाल्मीकि-कृत रामायण में इस बात का उल्लेख है कि पृथ्वी के सब वीरों को पराजित करने के बाद भी जब रावण की रण-कण्डूपा न मिटी तो उसे मिटाने के लिए वह पुष्पक विमान में बैठकर यम के पास गया। स्वर्ग के अधिपति यम जब उससे युद्ध करते हैं तो अन्य देवता भी साथ आ जुटते हैं—

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।
प्रजापतिं पुरस्कृत्य समेतास्तद् रणाजिरम् ।।[4]

महाभारत में कहा गया है कि स्वर्ग नामक जो लोक है वह ऊपर है, वहाँ देवता यान द्वारा सवारी करते हैं—

उपरिष्टादसौ लोकोऽयं स्वरिति संज्ञितः ।
ऊर्ध्वगः सत्पथः शश्वद् देवयानचरो मुने ।।[5]

यहाँ पर यह भी कहा गया है कि वहाँ के निवासी देव, साध्य, गन्धर्व तथा

---

१ ऋक्०, ८।५।३१
२ शत० १४।७।१
३ महा०, वनपर्व अध्याय ४४, पृ० १६८३
३ वा० रा० उत्तरकाण्ड, पृ० १४६७ (पण्डित पुस्तकालय काशी)
५ महा०, वनपर्व, अध्याय २६१, पृ० १६८० (गीता प्रेस)

अप्सराएं इन नामों से पुकारे जाते हैं। दूसरे स्थान पर वर्णन है कि अर्जुन की तपस्या से प्रसन्न होकर इन्द्र अर्जुन को लिवा लाने के लिए जिस रथ को भेजते हैं वह आकाश के अन्धकार और बादलों के समूह को चीरता हुआ नीचे आता है—

नभो वितिमिरं कुर्वन् जलदान् पाटयन्निव।[1]

भूमि-पुत्र नरकासुर द्वारा छीने गये देव माता अदिति के कुण्डलों को वापस लाने के लिए जब कृष्ण स्वर्ग जाते हैं तो वे मेरु पर्वत पर सवार होकर (मेरु शिखर मामाद) विभिन्न देव स्थानों के दर्शन करते हैं। यहां यह भी स्पष्ट कर लिया गया है कि मेरु पर्वत स्वर्ग में स्थित है। एक अन्य स्थान पर भगवान श्रीकृष्ण युधिष्ठिर को उपदेश देते हुए कहते हैं कि मनुष्य लोक और यमलोक का अन्तर ८६ हजार योजन है। इसी ग्रन्थ में पुण्यकर्मी व्यक्तियों के निवास-स्थान का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ तारे हैं, सूर्य है और चन्द्रमा है।[2] एक स्थान पर तो स्वर्ग का लक्षण ही स्पष्ट रूप से प्रकाशमान किया गया है—

स्वर्गं प्रकाशमित्याहुस्तमो नरक एव च।

पुराणों में भी स्वर्ग की स्थिति आकाश में मानी गयी है। भागवत में कहा गया है कि जब हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से वर प्राप्त कर स्वर्गलोक को जीत लिया तब वह वहां इन्द्र के भवन में रहने लगा। इन्द्र के महल का वर्णन करते हुए भागवतकार कहते हैं कि वहाँ की विद्रुम पर सीढ़ियाँ थीं, मरकतमणियों का फर्श था, वहाँ की शय्याएँ दुग्धफेन के समान श्वेत थीं।[3] एक अन्य स्थान पर स्वर्ग और पृथ्वी के बीच के अन्तर को २५ करोड़ योजन बताया है और कहा है कि स्वर्गलोक जाने के लिए सूर्यलोक होकर जाना पड़ता है।[4] विष्णुपुराण में भी स्वर्ग की अवस्थिति आकाश लोक में ही मानी गयी है। श्री मैत्रेय के प्रश्नों के उत्तर में सात ऊर्ध्वलोकों का वर्णन करते हुए श्री पराशर का कहना है कि पृथ्वी और सूर्य के बीच में जो सिद्धगण और मुनिगण-सेवित स्थान है वही दूसरा भुवर्लोक है। सूर्य और ध्रुव के बीच में जो चौदह लाख योजन का अन्तर है उसी को लोक स्थिति पर विचार करने वाले ने स्वर्लोक कहा है—

भूमिसूर्यान्तरं यच्च सिद्धादि मुनि-सेवितम्।
भुवर्लोकस्तु सोऽप्युक्तो द्वितीयो मुनिसत्तम॥
ध्रुवसूर्यान्तरं यच्च नियुतानि चतुर्दश।
स्वर्लोकः सोऽपि गदितो लोकसंस्थानचिन्तकैः॥[5]

---

१ महा० वनपर्व अध्याय ४२ पृ० १०७० (गीता प्रेस)
२ वही आश्वमेधिक पर्व पृ० ६१५६ (गीता प्रेस)
३ भागवत ७।४।८-११
४ वही ५।२०।४३
५ वि० पु० २।७।१७-१८

अन्य पुराणों में भी स्वर्ग की स्थिति आकाश में ही मानी गयी है। इनमें इन्द्र आदि देवों को आकाशगामी कहा गया है।[1] एक और दूसरे स्थान पर वर्णन करते हुए कहा गया है कि नदी के किनारे गन्धर्व किन्नर यक्ष आदि अपने विमानों में बैठकर अपनी पत्नियों सहित विहार करते हैं।[2] भगवान कृष्ण इस भूलोक को छोड़कर जब स्वधाम चले गये तो द्युलोक में दुन्दुभि बजने लगी, आकाश से पुष्प वृष्टि हुई—

दिवि दुन्दुभयो नेदु पेतु सुमनसस्त्व खात।[3]

यहाँ पर 'ख आकाश और द्यु स्वर्ग' को एक ही माना गया है।

मर्त्यलोक और स्वर्गलोक में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "वहाँ किसी को भूख प्यास नहीं लगती, गर्मी सर्दी से कष्ट नहीं होता। वहाँ न शोक है न बुढ़ापा वहाँ न थकावट है और न करुणाजनक विलाप है। वहाँ के निवासियों की उत्पत्ति माता पिता के रजोवीर्य से नहीं होती। उनके शरीर में पसीना नहीं होता, दुर्गन्ध नहीं होती और मलमूत्र का भी अभाव रहता है। उनके पहनने की मालाएँ अम्लान रहती हैं और उनसे निरन्तर दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है।'[4]

कविकुल चूडामणि कालिदास भी स्वर्ग की स्थिति आकाश में ही मानते हैं। दिलीप जब ९९ अश्वमेध यज्ञ पूरे करके १०० वें यज्ञ के लिए घोड़ा छोड़ते हैं, तो उनके पुत्र रघु और इन्द्र में युद्ध होता है। कवि ने कहा है कि स्वर्ग में चढ़ने की इच्छा रखने वाले (दिवमारुरुक्षु) दिलीप ने ९९ यज्ञों द्वारा मानो ९९ सोपानों की पंक्ति तैयार कर दी—

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव॥[5]

एक अन्य स्थान पर उन्होंने स्वर्ग और पृथ्वी को अलग-अलग मानकर यह स्पष्ट कर दिया है कि स्वर्ग इस पृथ्वी पर नहीं है। स्वयंवर के समय वेत्रवती द्वारपालिका इन्दुमती से कहती है कि अंगदेश का राजा पृथ्वी पर भी स्वर्ग के ही समान भोग भोग रहा है—

जगाद चैनामयमङ्गनाथः सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्री।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते॥[6]

राक्षसों का विनाश कर जब राजा दुष्यन्त स्वर्ग से लौटते हैं तो आकाश मार्ग

---

१ म० पु० म०, ३९
२ का० पु० अ०, १९१
३ भाग० ११।३०।७
४ महाभारत, वनपर्व, अ० १९१, पृ० १९८३
५ रघुवंश, ३।६९
६ वही, ६।२७

से लौटते है। राजा द्वारा माग के विषय म पूछे जाने पर इन्द्र के सारथि मातलि उन्हे सारी बातें सविस्तार समझाते है। यहा पहले परिवह नामक छठे वायुमाग का वणन है और फिर मेघमण्डल का।[1]

महाकवि भारवि के मत म भी स्वग आकाश म ही स्थित है। शिव को प्रसन्न करने के लिए अजुन हिमालय पवत पर घोर तप कर रहे हैं। उनकी परीक्षा के लिए इन्द्र स्वग से अप्सराओ को भेजते हैं। जब ये अप्सराए स्वग स चलती हैं तो उनके रथ उस माग से हाकर आते है जिसम सूय आदि ग्रह विचरते है, उनके रथ के पहिये बादलो का रगडते हुए चलते हैं—

> कान्ताना ग्रहचरितात्पथो रथानामक्षाग्रक्षतसुरवेश्मवेदिकानाम।
> निःसङ्गं प्रधिभिरुपाददे विवृत्तिः सपीडक्षुभितजलेषु तोयदेषु॥[2]

रथ के पहियो न तो रगड कर ही छोड दिया था, परन्तु देव हाथियो न अपने दातो के प्रहार स उन बादलो को क्षत विक्षत ही कर दिया—

> तप्तानामुपदधिरे विषाणभिन्ना प्रह्लादं सुरकरिणा घना क्षरन्त।
> युक्ताना खलु महता परोपकारे कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्ति॥[3]

कवि हष के वणनो म भी स्वग की स्थिति आकाश म ही मानी गयी है। दमयन्ती के स्वयवर के अवसर पर इन्द्र आदि चार देवता नल का रूप धारण करके आते है पर दमयन्ती असली नल को पहचान लेती है। पहचान हो जाने पर ये देवता अपने कृत्रिम रूप को छोडकर स्वग को जाते हैं तो आकाश माग से ही जाते हैं—

> इत्थं विनीय वत्मम्बरमाश्रयत्सु तेषु क्षणादुदलसद्विपुल प्रणाद।
> उत्तिष्ठता परिजनानयनेन पाणा स्वर्वासि वन्दहतदुन्दुभिनादसान्द्र॥[4]

प्रसगवश हम यह भी कह देना चाहते हैं कि अन्य धर्मों मे भी स्वग को स्थिति आकाश म ही मानी गयी है। जापान म भी स्वग की स्थिति आकाश म ही मानी गयी है। उनके विश्वास के अनुसार इजानागी जो एक साधारण प्राणी था, मृत्यु के बाद स्वग गया और वहा सूय के महल म निवास करने लगा। स्वग वह स्थान है जहाँ महान व्यक्ति —पीर मिकाडो जाते हैं और देवताओ के साथ रहते हैं।[5] मुसलमानो म भी बहिश्त का ऐसा रूप है जिसम आनन्द ही आनन्द है। इसम शान्ति का आवास है सुन्दर महल हैं प्रवाहशील नदिया है कोमल रेशमी शय्या हैं। वहाँ

---

१ अभिज्ञानशकुन्तलम सग ७
२ किरातार्जुनीयम ७।१२
३ वही ७।१३
४ नैषधचरितम १४।६२
५ इन० रि० ऐथि० भाग २ पृ० ७००

का भोजन, पेय पदार्थ, सभी अलौकिक हैं वहा सुन्दर नेत्रों वाली युवतिया है पवित्र पत्नियाँ है।[1] कहना न होगा कि यह बहिश्त आकाश मे है।

वैकुण्ठ

देवलोक या स्वग के साथ वकुण्ठ की चर्चा भी प्राय आती ही रहती है और इसकी स्थिति और स्वरूप के विषय म पाठको की जिज्ञासा का यत्किंचित समाधान प्रसगानुकूल ही रहगा। भगवान विष्णु का नाम वकुण्ठ है और उनके नाम पर उनके लोक का नाम वकुण्ठ पडा है ऐसा पुराणो म कहा गया है।[2] एक अन्य स्थान पर एक कथा द्वारा और अधिक स्पष्ट कर दिया गया है कि भगवान विष्णु के निवास-स्थान का नाम ही वकुण्ठ है। कथा इस प्रकार है कि एक बार सनकादि मुनि आकाश माग से विचरण करते हुए सवलोक नमस्कृत वकुण्ठलाक म गये। वहाँ आदि नारायण सदव विराजमान रहत हैं। वहाँ 'नश्रेयस नामक वन है उसमे कामदुघ वक्ष हैं, वहाँ हर समय छ ऋतुएँ बनी रहती हैं। लक्ष्मी भी वही रहती हैं। भगवद्दशन की लालसा से वकुण्ठधाम की छह डयोढिया को पार करके जब सनकादि सातवी डयोढी पर पहुँचे ता वहाँ हाथ म गदा लिये समान आयु वाल दो देव-श्रेष्ठ दिखलायी पडे जा बाजूबन्द, कुण्डल और किरीट आदि अनेको अमूल्य आभूषणा स अलकृत थे। रोक जाने पर सनकादि ने उन्हें वकुण्ठ से निकालकर उन पापमय योनियो म जाने का शाप दिया जहाँ काम क्रोध लोभ आदि निवास करत हैं।[3] यद्यपि इस लाक के सुख स्वग के सुख के समान हैं पर कुछ बातो म यह स्वग से श्रेष्ठतर है। कहा गया है कि स्वग मे रहने की अवधि एक कल्प की होती है। वहाँ भोगा की अधिकता है अत प्राणी भगवान का स्मरण नही करते, इस दष्टि स यह वकुण्ठ स्वग की अपक्षा अधिक श्रेष्ठ है।[4] एक अन्य पुराण मे भी वकुण्ठ को श्रीकृष्ण का निवास स्थान बताया गया है। विष्णु और कृष्ण अभिन्न है यह भी सब जानते हैं। भगवान कृष्ण कहते है कि मैं न वकुण्ठ म रहना पसन्द करता हूँ, न गोलोक म और न राधा के समीप ही, मैं तो वही रहना पसन्द करता हूं जहाँ मेरे भक्त रहत हैं—

न मे स्वास्थ्य च वकुण्ठ गालोके राधिकान्तिके।
यत्र तिष्ठन्ति भक्ता मे तत्र तिष्ठाम्यहर्निशम ॥[5]

वकुण्ठ की अवस्थिति भी स्वग के समान आकाशलाक म है, इसम सन्देह

---

१ मुह० हिस्टा० सर्वे० पृ० ५४
२ भागवत १५।१६।६
३ भागवत, ३।१५
४ वही, ३।१४।३
५ वही, ४।१२।३०-३२

नहीं। कहा गया है कि जब विष्णु के पार्षदों के साथ ध्रुव विष्णुलोक को गये तो मार्ग में उन्होंने सूर्य-अग्नि ग्रह देखे और देवता भी उन्हें मिले। यह सब तभी संभव है कि जब इस वैकुण्ठ की स्थिति आकाश में हो।

परमपद, परमधाम (नित्यधाम)

इन दोनों शब्दों से विष्णुलोक ही अभीष्ट है- यह वैदिक एवं वैदिकोत्तर साहित्य से एकदम स्पष्ट है। वेदों में कहा गया है कि विशेष रूप से स्तुति करने वाले और जागरूक व्यक्ति जिस पद को प्राप्त करते हैं वह विष्णु का परमपद ही है। विष्णु-लोक का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि विष्णु के उस परमपद में मधु का निष्यन्द है तथा वहाँ क्षुधा और तृषा का भय नहीं। यह भी कहा गया है कि विष्णु के इस परमपद में प्रिय लोक को प्राप्त करने की अभिलाषा सभी करते हैं। उपनिषदों में भी विष्णु के धाम को परमधाम कहा गया है। वहाँ कहा गया है कि जिस व्यक्ति का सारथि विज्ञान है और जिसने अपने मन पर निग्रह कर लिया है वह विष्णु के उस परमपद को प्राप्त करता है--

> विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
> सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ कठोपनिषद् ३।९

पुराणों में भी इस विषय में किसी प्रकार का संदेह नहीं। कहा गया है कि वहाँ मन को सब विषयों से हटा लेना चाहिए। वह अन्य किसी वस्तु का स्मरण न करे। जहाँ मन प्रसन्न होता है वह विष्णु का स्थान ही परम पद है।[1] इस लोक की प्राप्ति सभी को सुलभ नहीं। विरले भाग्यशाली व्यक्ति ही इसे प्राप्त कर पाते हैं। ब्रह्मा ने भी जब कठिन तपस्या की तभी उन्हें इस लोक के दर्शन हुए थे। भागवत में वर्णन है कि ब्रह्मा की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान ने उन्हें अपने लोक के दर्शन कराये। यह लोक सब लोकों से श्रेष्ठ है इससे परे कोई दूसरा लोक नहीं। इस लोक में किसी प्रकार का क्लेश मोह और भय नहीं। जिन्हें एक बार भी इसके दर्शन का सौभाग्य मिल जाता है देवता उसकी स्तुति करते हैं। वहाँ रज तम सत्त्व कुछ भी नहीं है, वहाँ न काल है और न माया है। वहाँ वे व्यक्ति रहते हैं जिनका पूजन सुर और असुर दोनों करते हैं वही विष्णुलोक है।[2] अन्य पुराणों में भी विष्णु के पद को ही परमपद कहा गया है। उसके स्वरूप को समझाते हुए कहा है कि जो न स्थूल है न सूक्ष्म है न किसी अन्य विशेषण का विषय है वही भगवान विष्णु का परमपद है।[3] *जो विशुद्ध बोधस्वरूप नित्य, अजन्मा अक्षय, अव्यय और अविकारी है* वही

---

१ भागवत १।१७।३८
२ वही २।९
३ विष्णुपुराण, ६।५२

विष्णु का परमपद है।[1] योगीगण अपने पुण्यपापादिका क्षय हो जाने पर ओंकार द्वारा चिन्तनीय जिस अविनाशी पद का साक्षात्कार करते हैं, वही भगवान विष्णु का परमपद है।[2]

जो परमधाम है वही नित्यधाम भी है।

एकदेववाद तथा अनेकदेववाद

देवों की चर्चा आते ही वैदिक साहित्य के प्रत्येक अध्येता के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि वेदों में और उससे सम्बन्धित परवर्ती साहित्य में एक ही देवता की स्वीकृति है या अनेक देवताओं की। इस विषय में मतैक्य भले ही न हो पर अधिकांश विद्वानों के मत में वेदों में अनेक देववाद को ही मान्यता प्राप्त है। हमारे अपने मत में वेदों में अनेक देवों की स्वतन्त्र सत्ता का उल्लेख स्थान स्थान पर है और यह निःसन्दिग्ध रूप में अनेकदेववाद की ही स्वीकृति है। जैसा कि हमने देव भावना का मनोविज्ञान' नामक प्रकरण में कहा है, वेदों में देव भावना की उत्पत्ति प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर हुई है। भय और विस्मय आदि अनेक भाव-तत्त्वों के कारण हमने प्रकृति के इन तत्त्वों को शक्ति का प्रतीक मानकर देवरूप में ग्रहण किया है। यही कारण है कि प्रकृति का प्रत्येक तत्त्व स्वतन्त्र रूप में देवता बन गया है। वास्तविक बात यह है कि कोई देवता अपनी सत्ता और शक्ति के लिए किसी दूसरे पर निर्भर नहीं करता। यही कारण है कि वैदिक ऋषि जब किसी देवता की स्तुति करता है तो उसे सर्वाधिक शक्तिशाली मानकर ही ऐसा करता है।

विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया भी यही है। अनेकत्व में एकत्व ढूंढना उसी समय सम्भव है कि जब मानव की बुद्धि का पर्याप्त विकास हो चुका हो। परिवारों के लिए व्यक्ति का ग्राम के लिए परिवार का और देश के लिए ग्राम का बलिदान या त्याग करने की बात का सोचना तभी सम्भव हुआ जब मानव की उदात्त भावनाएँ परिपुष्ट हो चुकी थीं तथा परहित और राष्ट्रहित की बात वह समझने लगा था। यदि कई सहस्र वर्षों के इतिहास के बाद आज के युग में ही किसी ऐसी विश्व-सरकार की सूझ हमारे मस्तिष्क में आयी है तो इसका कारण भी स्पष्ट है। बात यह है कि प्रारम्भिक अराजकता ने राजा को जन्म दिया, उसके बाद प्रजातन्त्र का विचार आया और अब विश्व की किसी ऐसी मिली जुली सरकार का स्वप्न हम ले रहे हैं कि जो सभी राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों का शान्तिपूर्वक निपटारा करने में समर्थ हो सके। भाषा के विकास की भी यही प्रक्रिया है। पहले अनेक स्थानीय भाषाएँ पैदा हुई होंगी और तदनन्तर ही किसी राष्ट्रीय भाषा का निर्माण सम्भव हुआ होगा। अध्यापक मैक्समूलर ने भी अनेकदेववाद के गर्भ से ही एकदेववाद के जन्म का इन

---

१ विष्णुपुराण, ६।५४

२ वही, ६।५४

शब्दों में स्वीकार किया है 'एकेश्वरवाद और बहुदेववाद का समाधान के लिए कहा जा सकता है कि जिस प्रकार व्यवस्थित राज्य प्रणाली से पूर्व किसी प्रकार की अराजकता रही होगी उसी प्रकार एकदेववाद से पूर्व बहुदेववाद का होना अनिवार्य है। भाषा के निर्माण में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। एक राष्ट्रीय भाषा से पूर्व अनेक स्थानीय भाषाएँ रहती हैं। धर्म की उत्पत्ति भी हर घर में होती है उसका हर घर का अपना रूप होता है। जब सब परिवार जाति में मिल जाते हैं तो वह एक स्थान ग्राम का पवित्र स्थान (बलिस्थान) बन जाता है। जब भिन्न जातियाँ राष्ट्र के रूप में संगठित होती हैं तो विभिन्न बलि स्थान मन्दिर बन जाते हैं यह प्रक्रिया स्वाभाविक है और विश्वजनीन है सब पर समान रूप से लागू होती है। वेदों में यह एकदम स्पष्ट है।'[1]

हमने अभी ऊपर विकासवाद की प्रक्रिया की चर्चा की है। अन्य देशों का धार्मिक इतिहास भी हमारे इस कथन की पुष्टि करता है। बेबीलोनिया का आरम्भिक इतिहास बहुदेववाद की भावना से परिपूर्ण है। जैसी उनकी अनन्त अभिलाषाएं थी वैसी ही अनन्त संख्या उनके देवों की भी थी। अनन्तर इच्छाओं की पूर्ति के लिए अनन्त देवताओं की स्वीकृति स्वाभाविक ही थी। ईसा-पूर्व नवम शताब्दी में वहाँ देवों की जो गिनती की गई थी उसमें उनकी संख्या ६५ ००० थी। मिस्र की स्थिति भी कुछ ऐसी ही थी। वहाँ भी अनेक देवों का साम्राज्य था। वहाँ वृषभ मकर सर्प बिल्ली कुत्ता आदि पशुओं की पूजा प्रचलित थी।

मिस्र में एक राजा ने अनेकदेववाद के स्थान पर एक देव सूर्य की पूजा का प्रचलन किया। उनका यह देव सभी देशों का था। वह सर्वव्यापक था वनस्पतियों और पुष्पों में उसका आवास था। पर यह मत मान्य न हो सका। लोग लुक छुप अनेक देवताओं की पूजा करते रहे और उसकी मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी ने पुनः अनेक देवताओं की स्थापना की।'[2] यूनान में ज्यूस पसिडान हैर्मिस अपोलो अरटमिस आदि अनेक देवों की पूजा का विधान था। वहाँ हर परिवार का पृथक् देवता होता था। ईरान और भारत के आर्यों का परिवार एक है अतः जो यहाँ का इतिहास है वही वहाँ का भी है।

एसे भी बहुत से विद्वान् हैं जो एकदेववाद और पुनर्जन्मवाद को व्रात्यों (द्रविड़ों) की देन मानते हैं। इनका कथन यह है कि आर्यों और द्रविड़ों के पर्याप्त साहचर्य के बाद आर्यों ने एकदेववाद की भावना द्रविड़ों से ग्रहण कर ली। यही कारण है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल में ही, जो निश्चित रूप से परवर्ती रचना है प्रथम बार एकेश्वरवाद की झाँकी देखने को मिलती है। इस प्रकार के बहुत-से नामों

१ आ० प्रो० रि० २८६
२ स्टो० सिवि० पृ० २१० १

का उल्लेख न कर हम यहा श्री ए० पी० करमरकर के नाम का ही उल्लेख कर देना पर्याप्त समझते हैं। उनका कथन है कि वास्तविकता यह है कि एकेश्वरवाद का आरम्भ, कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त, योग और भक्ति, तपश्चर्या और कर्मकाण्ड को व्रात्यो की देन माना जा सकता है।[1]

अन्त साक्ष्य के आधार पर भी वेदो म अनेकदेववाद ही उपलब्ध होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद म देवताओ की सख्या अधिकाश स्थलों पर तैंतीस मानी गयी है। 'देवताओ की सख्या' और 'देव कोटिया' नामक प्रकरणों म यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार वहाँ स्थान-स्थान पर कहा गया है कि ११ देवता द्युलोक म रहते हैं, ११ अन्तरिक्ष म और ११ पृथ्वी पर। एक म त्र म कहा गया है—

त्रयस्त्रिंशद् देवास्त्रीणि च वीर्याणी प्रियायमाण जुगुपुरप्स्वन्त ॥

यद्यपि देवता तैंतीस हैं पर उनम भी तीन अधिक वीयवान है, । शौनक के अनुसार देवता तीन हैं—अग्नि वायु सूय । इन्ही तीन का वणन विभिन्न नामो और प्रकारो से किया गया है। देवता इन्ही क आश्रित है—

अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च ।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवता ॥
एतेषामेव माहात्म्यात नामान्यत्व विधीयते ।
तत्तत्स्थानविभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते ॥
तासामिय विभूतिर्हि नामानि यदनेकश ।
आहुस्तासा तु मन्त्रेषु कवयोऽन्योन्ययानिताम ॥

एक स्थान पर तो यह सख्या ३३३९ तक पहुच गयी है। वैदिक सहिताओ म ३५०० मन्त्र इन्द्र के सम्बन्ध म है और २५०० के लगभग अग्नि के सम्बन्ध म है। इसी प्रकार अन्य देवो की स्तुति म भी बहुत स मन्त्र है। जैसा हम इस प्रकरण मे आरम्भ म ही कह आये हैं, उन सबम उनकी स्तुति उन्ह स्वतन्त्र देव मानकर ही की गयी है।

बहुत से विद्वान इन देवो के स्वरूप की व्याख्या करते समय इन शब्दो का अथ ऐश्वयशाली, परम प्रकाशमान अग्रणी राजा आदि करके उन्ह एक ही देवता सिद्ध करने का यत्न करते है, पर यह उनका पूर्वाग्रह ही है। इस विषय म हम अपनी ओर स कुछ न कहकर डा० मगलदेव शास्त्री के इन शब्दो का ही उद्धृत कर देना पर्याप्त समझते हैं, 'इस सम्बन्ध म एक और बात की ओर सकेत कर देना भी आवश्यक है। आजकल वेद व्याख्याता अग्नि इन्द्र आदि वैदिक देवताओ के स्वरूप की व्याख्या प्रकाशमान ईश्वर परमैश्वर्यशाली परमेश्वर इत्यादि प्रकार स कर देना ही पर्याप्त समझते हैं। पर क्या उनका प्रयोग वेद म विशेषण रूप म ही है? ऐसा तो प्रतीत नही

१ रि० आ० इ० (भूमिका भाग), पृ० ६

होता। तत्तद्‌वता के लिए निश्चित रूप स विभिन्न नाम स्थिर कर देने का अभिप्राय उनके लिए स्वरूप प्रदान करना हाना चाहिए।"[1]

हमारे उपर्युक्त कथन का यह भाव कदापि नही कि वेदा म एकदेववाद है ही नही। हम ता कवल यह कहना चाहत है कि वदा म एकदववाद की उत्पत्ति अनक देववाद के बाद ही हुई है। हम ता ऊपर कह आय है कि ऋग्वेद क दशम मण्डल तक आत-आत एकदेववाद की विचारधारा स्फुट हा चुकी है। इस मत्र म—

यस्य त्रयस्त्रिशद दवाजगं गात्रा विभेजिरे।
तान व त्रयस्त्रिशद देवान एके ब्रह्मविदा विदु ॥[2]

स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वास्तविक ब्रह्म को और ततीस दवताओ का एक ही समझना चाहिए। एक अय मत्र—

या भूत च भव्य च सव यश्चाधिनिष्ठति।
स्वयस्य च केवल तस्म ज्यष्ठाय ब्रह्मणे नम ॥[3]

म भूत और भविष्य तथा अय सब वस्तुआ का उसी एक शक्ति का रूप मानकर नमस्कार किया गया है। यजुर्वेद म ता यह भावना और भी स्पष्ट है। वहाँ कहा गया है कि वही शक्ति अग्नि है वही आदित्य है वही वायु है वही चन्द्रमा है वही शुक्र है, वही ब्रह्म है वही आप है और वही प्रजापति है—

तदवाग्निस्तदादित्यस्तद वायुस्तदु चन्द्रमा।
तदेव शुक्र तद ब्रह्म स आप स प्रजापति ॥[4]

एक अन्य मत्र म कहा गया है— सष्टि के आदि म केवल वह हिरण्यगभ ही विद्यमान था, वही समस्त भूता का अधिपति है वही द्युलोक और पथ्वीलोक का धारण करता है और उस हम नमस्कार करत हैं"—

हिरण्यगभ समवततात्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत।
सदाधार पथिवी द्यामुतमा कस्म दवाय हविषा विधेम॥

जहा तक उपनिषदो का प्रश्न है हम कह सकत हैं कि उनका स्पष्ट झुकाव एकदववाद की आर है। वहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि और वायु एक होत हुए भी नाना भूतो म समाविष्ट हान के कारण नानारूप म दिखायी दत हैं पर हैं वास्तव म वे एक ही इसी प्रकार वास्तव म एक ही दव है और वही विभिन्न प्राणियो म विभिन्न रूपो म दिखायी दता है। कुछ और आग चलकर परम सत्ता के स्वरूप को समझाते

१ कल्पना (जनवरी फरवरी १६५४)
२ ऋग्वद १०।७।२७
३ वही १०।६।१
४ यजु० ३२।१

हुए कहा है कि सूय, चन्द्र और अग्नि मे अपना काई प्रकाश नही, वे ता उसी की कान्ति से प्रकाशित हाते हैं। उपनिषदा म उसे स्थान स्थान पर एक' कहकर पुकारा गया है, एक उपनिषद म देवा की सख्या पूछी जाने पर याज्ञवल्क्य पहल ता ३३०६ बताते है फिर ३३, फिर ६, फिर ३ और अन्त म १ पर आ जाते हैं।[1] हमारा अनुमान है कि यह वह प्रक्रिया है कि जिसके द्वारा बहुदेववाद से एकदेववाद तक पहुँचा गया है। केनोपनिषद म कहा गया है कि "अग्नि और वायु उस परमशक्ति के बिना एक छाटे से तिनके को न जला सके और न उड़ा सके। उनम अपनी काई शक्ति नही। जमिनीय ब्राह्मण म भी याज्ञवल्क्य स जब यह पूछा गया कि कुल कितने देवता हैं ता आरम्भ म उन्होने ३३२६ बताये, फिर पूछे जाने पर ३ बताये, फिर २, अन्त म १ पर आ गए।[2] उद्धरण इस प्रकार है—

त ह पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति। स होवाच त्रयश्च, त्रिशच्च, त्रयश्च नी च शता, त्रयश्च श्री च सहस्रा, यावन्तो निविन्त्यदता इति। ओम इति होवाच कत्य एव देवा इति। त्रय इति। आमिति होवाच। कत्य एव देवा इति। द्वावेति कत्य एव देवा एक इति।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनकदेववाद और एकदेववाद की धाराए समानान्तर रूप मे प्रवाहित होती रही है। यहा प्रसगवशात यह कह देना आवश्यक है कि अध्यापक मक्समूलर अनकदेववाद के गभ से एकदेववाद की उत्पत्ति मानते हुए भी इसे हीनाथीज्म कहना पसन्द करते है। हीनोथीज्म का अथ है एक एक देवता को बारी-बारी से सर्वोच्च मानकर उनकी स्तुति करना। दूसरे शब्दों म, इसे या कहा जा सकता है कि वदिक ऋषि जब किसी देवता की स्तुति करता है ता उसके लिए सर्वोच्च विशेषणो का प्रयोग करता है। परिणाम यह होता है कि एक देवता के लिए प्रयुक्त बहुत-से विशेषण ठीक उसी रूप मे दूसरे देवता के लिए भी प्रयुक्त किये जाते हैं। यदि कहीं इन्द्र का सब देवताओ म श्रेष्ठ कहा गया है तो कहीं साम का मनुष्यो, देवो और स्वग का राजा कहा गया है। श्री मक्समूलर के शब्दों म कहा जा सकता है कि अगर वदिक धम को काई नाम देना ही है ता उसे 'हीनाथीज्म' ही कहना ठीक है। इसका अथ उपासको के उस विश्वास से है जिसम वे किसी एक वस्तु का जो देखने म सान्त है अनन्त मानकर उसकी पूजा करते हैं। इसम वह वस्तु धीरे धीरे असुर (प्राणवान), देव (चमकीली) और अमत्य बन जाती है। चाहे ता कह सकते हैं कि वह स्वय ईश्वर बन जाती है। उसकी स्तुति वहाँ इसी रूप म की गयी है।

देव कोटियाँ

हम मनुष्यो म किसी न किसी तरह का श्रेणी विभाजन चलता ही रहता

---

१ वृहदारण्यक ३।९।१
२ जमिनीय ब्राह्मण, ७७।१।८०

है। वदिक काल म चार वण थे। आरम्भ म कम और तन्नन्तर जन्म के आधार पर वर्णों का विभाजन हुआ था। वण-व्यवस्था क अपन उस रूप म लुप्त हो जाने क बाद भी आज के समाज का व्यवसायो क आधार पर विभाजित किया जा सकता है। साम्यवादी रूस म भी धनी और निधन या शोषक और शोषित का विभाजन स्वीकृत ही है। वगहीन समाज की कल्पना म भी वग का अस्तित्व है ही। वग या श्रेणी विभाजन की यह स्वाभाविक स्पृहा हम देवो म भी श्रेणी-विभाजन की जिज्ञासा क लिए बलात प्रवत्त करती रहती है।

विद्वान आलोचको न देवो का जिन भिन भिन कोटियो म विभाजित करने का यत्न किया है उनम से किसी एक को ही सवन समान रूप स स्वीकृत नही किया। किसी देवता क नाम का उल्लेख कितनी बार हुआ है इसके आधार पर भी इनका वर्गीकरण करन का प्रयास किया गया है अर्थात जिस देवता का नाम जितनी अधिक बार आया है वह देवता उतना ही अधिक महत्त्वपूण माना गया है। इस आधार पर इन सभी देवो को इन पांच श्रेणियो या कोटियो म विभाजित किया गया है—

(१) इन्द्र अग्नि सोम।
(२) अश्विनी, मरुत वरुण।
(३) उषस सविता, बृहस्पति, सूय, पूषा।
(४) वायु, द्यावापृथिवी, विष्णु रुद्र।
(५) यम, पजन्य।

पर सख्या के आधार पर किया गया यह विभाजन न तो न्यायसगत ही है और न वाछनीय ही। इन्द्र के लिए २५० सूक्त कहे गये हैं। सूक्तो की दृष्टि से वह द्वितीय कोटि म आता है। यदि किसी देवता का अनेक बार उल्लेख हुआ है तो ऐसा उसके अपन निजी महत्त्व के कारण ही हुआ हो यह आवश्यक नही। अनेक बार उल्लेख होने के अनेक कारण हो सकते हैं। उदाहरण के लिए मरुत का अनेक बार उल्लेख इन्द्र के साहचय क कारण ही हुआ है कोई अपनी महत्ता के कारण नही। सोम का सीधा सम्बन्ध याज्ञिक प्रक्रिया स है अत यज्ञ क प्रकरण म उसका उल्लेख अनिवाय है। इसी प्रकार के तर्कों क आधार पर श्री ए० ए० मैकडानल तथा अन्य विद्वानो न इस वर्गीकरण को अस्वीकृत कर दिया है।

इन देवताओ म बहुत से देवता भारोपीय है। ये देवता भारत के अलावा अन्य यूरोपीय देशो म भी पाये जाते है। कुछ एसे देवता हैं जिनका विकास पूरी तरह हुआ है और कुछ ऐसे भी हैं कि जिनका विकास आधा ही हुआ है। इन सबके आधार पर श्री मौरिस ब्लूमफील्ड न इन देवो का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—

(१) प्रागतिहासिक (प्री हिस्टॉरिकल)—जिन देवताओ का उल्लेख अवेस्ता' म भी प्राप्त होता है। इनम स कुछ का मूल स्पष्ट है और कुछ का नही। जसे द्यौ, वरुण, मित्र, अयमा।

(२) पारदर्शी अथवा स्पष्ट देवता (एंथ्रोपोफलिक Anthropofelic)—जिनका व्यक्तित्व पूर्णरूप से विकसित नहीं हुआ और जो देवता ह्रान के अतिरिक्त किसी विशेष प्राकृतिक तत्त्व को भी सूचित करते हैं।

(३) अल्प-पारदर्शी, अर्धस्पष्ट (ट्रांसलूसेण्ट Translucent)—जिनकी प्रकृति के मूल को ढूढ़ने का काय शोधक को करना पडे। उनका प्रकृति का रूप कुछ अवशिष्ट है यद्यपि वसे पूण विकास हो चुका है। जसे विष्णु।

(४) अपारदर्शी अस्पष्ट (आपक Opeque)—जिनका मूल रूप स्पष्ट नही और जो अपने मूल रूप में बहुत दूर जा चुके है। जसे इन्द्र, वरुण, अश्विनौ।

(५) अमूत्त (Abstract)—जो आकार रहित हैं और किसी काय, इच्छा या भय आदि की भावना को व्यक्त करते है। जसे प्रजापति, विश्वकर्मा।[1]

पर यह विभाजन भी दोषपूण है। जब तक प्रागतिहासिक और ऐतिहासिक काल का ठीक-ठीक निणय न हो जाय, तब तक किसी को प्रागतिहासिक कह सकना कठिन है। इन्द्र अवेस्ता म आता है, वह प्रागतिहासिक भी है और चूंकि उसके मूल रूप की ठीक-ठीक खोज नही की जा सकती, अत वह अपारदर्शी देवा की श्रेणी म भी आता है। यही बात वरुण पर भी लागू होती है। वह प्रागतिहासिक है क्योकि 'अवेस्ता म अहुरमज्द की चर्चा सहस्रश स्थानों पर है पर साथ ही वह अस्पष्ट देवताओ मे भी आता है क्योकि उसके उदभव का निणय ठीक ठीक ढग स नही हो सका। वात देवता का अन्तर्भाव भी प्रागतिहासिक और पारदर्शी दानो ही म हो सकता है।

कुछ व्यक्तियो ने इन्हे वार्यों के अनुसार बाटने का प्रयास किया है। जिस प्रकार भारतीय समाज म चार वण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य और शूद्र थे, इसी प्रकार इन कवियो न देवो को ब्राह्मण आदि चार वर्णों म विभाजित किया है। जिस प्रकार वदिक समाज म पुरोहित क्षत्रिय और साधारण आदमी थे, उसी तरह अग्नि और बृहस्पति पुरोहित-वग के थे। इन्द्र और मरुत क्षत्रिय थे। त्वष्टा और ऋभु शिल्पी थ। खेती करने वालो के चाहे वे वश्य थे या शूद्र, अपने अलग अलग देवता थे—क्षेत्रपति, ऊवरा, सीता पूषण आदि।[2]

स्पष्ट है कि यह विभाजन चल नहीं सकता।

इन तीनो प्रकार के वर्गीकरण के अलावा एक चतुर्थ वर्गीकरण और है, वह है स्थानगत। निरुक्तकार यास्क का यही वर्गीकरण स्वीकृत है। उनके अनुसार सभी देवताओ का आकाश अन्तरिक्ष और पृथ्वी इन तीनो म अन्तर्भाव हो जाता है।

द्यु स्थानीय—द्यौ, वरुण, मित्र सूय, सविता पूषन, विष्णु विवस्वत, आदित्यगण, उषा अश्विनौ। (११)।

---

१ ग्रिफि० ऋग० पृ० ६६७

२ वही, पृ० १०३

२ अन्तरिक्ष स्थानीय—इन्द्र त्रित आप, अपानपात मातरिश्वन अहि बुध्न्य अजएकपात रुद्र मरुत वायु पर्जन्य (११)।

३ पृथिवीस्थानीय—नदियाँ पृथिवी अग्नि बृहस्पति, सोम।

निरुक्तकार ने सम्भवत यह वर्गीकरण वेदों के आधार पर किया है। वेद में एक मंत्र में कहा गया है— द्युलोकवासी सूर्य अन्तरिक्षवासी वायु और पार्थिव लोकवासी अग्नि हमारी रक्षा करें —

सूर्यो नो दिवस्पातु वातो अन्तरिक्षात अग्निन पार्थिवेभ्य ।[1]

अथर्ववेद में तो बहुत से स्थलों पर उक्त-विभाजन इसी ढंग से किया गया है। यजमान से कहा गया है कि जो देवता द्युलोक में रहते हैं जो अन्तरिक्ष में रहते हैं और जो भूमि में रहते हैं उन्हें तू क्षीर सर्पि और मधु प्रदान कर —

ये देवा दिविसदो अन्तरिक्षसदो ये चेमे भूम्यामधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु॥[2]

एक अन्य मंत्र में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ग्यारह देवता द्युलोक में रहते हैं ग्यारह अन्तरिक्ष में और ग्यारह पृथिवी पर —

ये देवा दिव्येकादशस्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम।
ये देवा अन्तरिक्ष एकादशस्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम।
ये देवा पृथिव्यामेकादशस्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम॥

कहीं-कहीं वेदों में ही आयु के अनुसार भी देव-कोटियों की चर्चा की गई है। एक मंत्र में बच्चे बड़े युवा और वृद्ध—सभी प्रकार के देवताओं को नमस्कार किया गया है—

नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नम आशिनेभ्य ॥

व्यन्तर देवता

ऊपर हमने प्रमुख वैदिक देवताओं की कोटि की चर्चा की है इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के भी देवता हैं जिन्हें व्यन्तर देवता के नाम से पुकारा जाता है। आर्यों की राजनैतिक विजय के पश्चात अनार्य जातियों के बहुत-से देवता अपना महत्त्व खो बैठे व द्वितीय श्रेणी के रह गये। ये द्वितीय श्रेणी के देवता अपना महत्त्व खो जाने के बाद भय का कारण बन जाते हैं। इनकी पूजा तो होती है पर प्रेम के कारण नहीं उसके पीछे भय का हाथ रहता है। इसी भाव को वुण्ट ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

It is general law of Mythology that a stage which has been passed for the very reason that it has been over come and driven

१ ऋग० १०।१५८।१
२ अथर्व० १०।६।१२

under by a superior stage, permits in an inferior form alongside the later one, so that the objects of the veneration turn into object, of horror[1]

देवी-देवता सम्बन्धी परम्परा का एक सामान्य नियम है कि अपने से अधिक शक्तिशाली देवो से पराजित होकर जो देवता अतीतकाल म हो जाते हैं वे बने तो रहते हैं पर पूजा के स्थान पर भय का कारण बन जाते हैं।

इन्हें जन धमवालो ने न्यान्तर देवता के नाम से अभिहित किया है। कालान्तर म जो बहुत से मतमतान्तर पैदा हुए, उनके पीछे इन देवताओ का ही प्रमुख हाथ था। ये देवता या तो प्रमुख देवताओ के सहायक के रूप म आ गए थे या उनके विरोधियो के रूप म। जन ग्र थो म इन देवताओ के नाम इस प्रकार है पिशाच भूत यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष महोरग (नाग), गन्धव आदि। हिन्दू ग्रन्थो म इन नामो के अतिरिक्त जो अन्य नाम आते हैं वे इस प्रकार हैं कुम्भेनद कबन्ध दत्य, दानव अप्सराएँ सिद्ध, साध्य विद्याधर, प्रमथ गण आदि। बौद्ध ग्रन्थो म भी य नाम मिलते हैं—देव यक्ष, नाग राक्षस, गन्धव, असुर गरुड, किन्नर, महोरग। इनमे से यक्ष और गन्धव को अद्ध देव माना गया है। यक्षो के राजा कुबेर दिक्पाल हैं और ब्रह्मा द्वारा इन्ह देव कोटि मिली है। गन्धव अप्सराओ के साथी हैं। अत प्रथम हम यक्षो और गन्धर्वों का वणन करेंगे, तदनन्तर अपदेवो का।

यक्ष

जिन व्यान्तर देवताओ की चर्चा हमने पीछे की है उनम यक्ष प्रमुख हैं। इसका धात्वर्थ चाहे जो हो, पर वदिक साहित्य म इसका प्रयोग एक ऐसी विशिष्ट जाति के रूप म हुआ है जो मानवोत्तर शक्ति से परिपूर्ण है पर वदिक देवताओ से भिन्न श्रेणी की है। अथववेद म इन्ह इतर जना' कहा गया है। परवर्ती साहित्य म प्रयुक्त इतरे जना' और 'पुण्यजना' का अथ भी यक्ष ही है ऐसा विद्वानो का मत है।[2] यक्षो का अधिपति कुबेर है और उसे यक्षेश यक्षराज और यक्षेन्द्र नामो से पुकारा गया है। उत्तरादिक्पति' शब्द से भी यक्षराज का ही भाव लिया गया है। पतजलि के महाभाष्य म यक्षपति और गुह्यकपति वैश्रवण का उल्लेख है।[3] 'दवता द्वन्द्वे च (५।३।२६) इस वार्तिक की व्याख्या म उन्होन देवताओ के दो भेद किय हैं—वदिक और लौकिक। लौकिक देवताओ क उदाहरणो म शिववश्रवणौ तथा स्कन्द विशाखौ को गिनाया है। एक अन्य सूत्र वातातिसाराभ्या कुक च' (५।२।१२९) म

१ टो० टे०, प० २५
२ डेव० हि० इक०, प० ३३७
३ वही, पृ० ३३७

कहा है कि वैश्रवण के सहायक जिन पिशाचों का उल्लेख है उनसे भाव यक्षों का है।[1] अष्टाध्यायी में इस बात का उल्लेख है कि मजवान और राजगृह में यक्षिणी के ऐसे मन्दिर थे जिनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक थी और जिनमें उनकी नियमित पूजा होती थी।[2] किस देवता की मूर्ति किस दिशा में हो, इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि यक्ष और गुह्य (कार्तिकेय) की मूर्तियाँ नगर के उत्तर में हों।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी के एक सूत्र में (४। ।८४) का उल्लेख करते हुए शर्कर, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा इन पाँच यक्षों के नामों का उल्लेख किया है। इससे भी सिद्ध होता है कि कुछ यक्ष विशेष रूप से पूजा के अधिकारी माने जाते थे।

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है कि नगर में यक्ष-पूजा का बहुत अधिक प्रचार हुआ था। चारण-परिषद् में विराजमान आचार्य की तुलना यक्ष के प्रियदर्शन रूप से की गयी है— उपयाचायपरिषद प्रेमेन यक्षमिव। इन्द्र-वरुण आदि वैदिक देवताओं को भी यक्ष रूप में मानकर उनकी पूजा होने लगी थी। दीघ निकाय में वरुण, इन्द्र, सोम, प्रजापति को यक्षों में प्रधान कहा गया है।[3] इसी भाव को डा० नलिनाक्ष दत्त ने बुद्ध के पूर्व की धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति का विवेचन करते हुए दुहराया है। ये विशालकाय होते थे। महाभारत में यक्ष और युधिष्ठिर के संवाद में यक्ष को महाकाय, तालसमुच्छ्रित, ज्वलनार्कप्रतीकाश, अदृश्य और पर्वतोपम कहा गया है।

कुबेर

ये यक्षों के राजा हैं और इस रूप में साहित्य में इनकी चर्चा बहुत बार हुई है। विश्रवस का पुत्र होने से इनका एक नाम वैश्रवण भी है। धनद भी इन्हीं का नाम है। इनका एक नाम महाराज भी है। पाणिनि ने महाराज को देवता कहा है। महाराज को जो हवि दी जाती थी वह माहाराजिक कहलाती थी। पाणिनि की अष्टाध्यायी में ही एक और स्थान पर महाराज देवता की भक्ति का भी उल्लेख है। महाराज देवता के भक्त महाराजिक कहलाते हैं।[5] पर आरम्भ से ही कुबेर की यह स्थिति नहीं थी। शतपथब्राह्मण में ये राक्षसों, डाकुओं एवं दुष्कर्मियों के स्वामी हैं। सूत्रों में ईशान के साथ इनका आह्वान विवाह कर्म में वर के निमित्त किया गया है। यह भी कहा गया है कि कुबेर के गण शिशुओं को दबोचते हैं।[6]

---

१ देव० हि० ऋ० पृ० ३३८
२ वही पृ० ३८
३ पा० का० भा० पृ० ३५६
४ उत्त० बौ० ध० वि० १६ १७
५ पा० का० भा० पृ० ३५५
६ हि० फि० वेद० उप० पृ० ३०१

जो भी हो, धीरे-धीरे ये देवता बन गये या मान लिए गए। पुराणों मे उल्लेख है कि इनकी घोर तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने इन्हे उत्तर का दिक्पाल बनाया, कोष के अधिपति का पद दिया पुष्पक विमान दिया और देवताओ के समान पद दिया। उनकी पत्नी का नाम ऋद्धि है और उसके साथ इनका ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा प्रभा के साथ सूर्य का। ऋद्धि का अर्थ सम्पत्ति है और यह इनके धनपति होने की ओर संकेत करता है।

कैलास और गन्धमादन पर्वत पर इनका निवास है। यक्षो के अलावा राक्षस, गन्धर्व किन्नर और गुह्यक भी इनके अधीन हैं। इनके वन का नाम नन्दन है, कुञ्ज का चैत्ररथ। मन्दाकिनी नामक नदी मे स्वर्ण के कमल विकसित हैं। इनकी झील भी स्वर्ण कमलो और सुन्दर पक्षियो से भरपूर है तथा मणिभद्र की अध्यक्षता मे राक्षसो द्वारा सुरक्षित है। इनकी राजधानी अलकापुरी है, यह तोरणो वंदनवारो से सजी रहती है और वहा स्त्रियो का नृत्य चलता रहता है। उसके आस पास सर्पो से सुरक्षित शहद का एक कलश है। अगर कोई मर्त्य इसे चख ले तो वह अमर हो जायेगा, अंधे को नेत्र मिल जायेंगे और वृद्ध फिर से युवा हो जायगा।[1]

वेश भूषा—सामान्यतया दो हाथ कभी-कभी चार भी दायें हाथ मे गदा और माला बायें मे रत्न और कलश तोद निकली हुई, मूछें, गोद मे बाइ और बैठी हुई पत्नी—ऋद्धि हाथो मे निधि मदपान के कारण आकृति मे कुछ भयंकरता।

अस्त्र शस्त्र—अन्तर्धान नामक अस्त्र। यह वही अस्त्र है जिसके द्वारा पहले कभी शिव ने राक्षसो के पुरो को नष्ट किया था। गदा भी प्रमुख अस्त्र है।

गन्धर्व

इनकी आकृति अस्पष्ट है। आरम्भ मे विश्वावसु—सारी सम्पत्ति का स्वामी—इनका विशेषण था। परवर्ती काल मे यह शब्द संज्ञा बना और गन्धर्व विशेष के नाम के रूप मे प्रयुक्त हुआ। ऋग्वेद मे दूसरे से सातवें मण्डल तक इसकी चर्चा नही। बाद मे इस शब्द का प्रयोग तीन बार हुआ है। फिर भी गन्धर्व शब्द पुराना है और 'अवेस्ता' मे इसका प्रयोग राक्षस (Dragon like Monster) के रूप मे हुआ है। यह स्वर्गीय प्राणी है इसका आवास उच्च आकाश मे है। सूर्य के साथ इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक स्थान पर इन्हें इन्द्र धनुष के साथ तदाकार किया गया है। सोम के साथ भी इनका सम्बन्ध है और यह सोम स्थान तथा देवताओ की रक्षा करते हैं। इनके अस्त्र शस्त्र उत्तम हैं और वस्त्र सुगन्ध से भरपूर हैं।[2] वैसे यह गान विद्या के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी आवाज मीठी है, ये 'वल्गुवादिन' हैं और सूर्य के समान

[1] इडि० माइ० पृ० १५८
[2] वही भाग ६, पृ० ५८ ५९

तेजस्वी हैं (सूर्यवर्चस)। ब्राह्मण-काल में इन्हें अप्सराओं के प्रेमी के रूप में चित्रित किया गया है। अग्रायु नामक गन्धर्व अप्सराओं के मध्य बढ़ता है और उनका प्रेम पा लेता है।[1] अथर्ववेद (८।१०) में भी गन्धर्वों की चर्चा अप्सराओं के साथ है। वहाँ चित्ररथ वसुरुचि सूर्यवर्चस जैसे विशेषण भी आते हैं जो बाद में इनके नाम के रूप में प्रयुक्त हुए।[2] ऋग्वेद के बाद के काल में गन्धर्वों की स्थिति के बारे में विचार करते हुए श्री कीथ ने लिखा है कि परवर्ती संहिताओं में इनका वर्णन विशेष रूप में मिलता है। यहाँ इनका एक वर्ग बन गया है जो देवों पितरों और असुरों के साथ आता है। देवों और पितरों की तरह गन्धर्वों का भी अपना एक लोक है जिसे कोई मनुष्य भी प्राप्त कर सकता है। इनकी संख्या कहीं कुछ है और कहीं कुछ।[3]

इन गन्धर्वों को कहीं-कहीं लम्पट भी बताया गया है। ये सोम के रक्षक हैं और इनके द्वारा अभिरक्षित सोम का पान करने के लिए वाक् स्त्री का रूप धारण करती है और सोम का पान करने में समर्थ होती है।

जो भी हो इन्हें चाक्षुषी विद्या प्राप्त है और इस कारण ये मनुष्यों से श्रेष्ठ हैं। चित्ररथ नामक गन्धर्व अर्जुन से इस बात को स्वयं कहता है

विद्यया ह्यनया राजन्! वयं नृभ्यो विशेषिताः।
अविशिष्टाश्च देवानामनुभावप्रदर्शिनः ॥[5]

रात्रि के समय इनका बल और बढ़ जाता है और उस समय छेड़े जाने पर इनका क्रोध एकदम भड़क उठता है। चित्रसेन नामक गन्धर्व अर्जुन से इस बात को इन शब्दों में व्यक्त करता है—

नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाभिवर्द्धते।
यतस्ततो मां कौन्तेय सदारं मन्युराविशत् ॥[6]

देवों के साथ इनकी तुलना की चर्चा भी महाभारत में आती है। चित्रसेन इन्द्र के दरबार में जाता है। अर्जुन के विषय में विचार-विमर्श होता है और इन्द्र के कहने पर चित्रसेन उर्वशी नामक अप्सरा को अर्जुन के पास भेजता है।[7] गन्धर्व इन्द्र के सखा हैं। वे इनके कहने पर अर्जुन के तपोभंग के लिए अप्सराओं को भेजते हैं इसका उल्लेख भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' में भी किया है।[8]

---

१ रि० फि० वेद० उप० पृ० २२
२ हद्र० रि० ए० पृ० ३/१
३ रि० फि० वे० उप० पृ० २२२
४ वही पृ० २८७
५ म० भा० अ० २ पर्व १ अध्याय १६०, श्लोक ४३ पृ० ४६६
६ वही अ० १६८ पृ० ५०१
७ वही पर्व १ स० ६ वनपर्व ४६, पृ० १०७८
८ किरातार्जुनीयम ८।२०

एकाध स्थान पर इनके विषय में निम्न कोटि के विचार भी पाये जाते हैं। वहाँ इन्हें 'विषमलोम' और 'अर्द्ध पश्वाकृति' बताया गया है और बन्दर, कुत्ता, लोमश शिशु या मित्र के छद्म वेश में इन्हें स्त्रियों का घातक कहा गया है।[1] फिर भी कुल मिलाकर इनके शुभ रूप की चर्चा अधिक है। इनसे अपत्य के लिए प्रार्थना की गयी है।[2] उपयुक्त यही जान पड़ता है कि इन्हें देवों और मानवों के बीच की कड़ी, अर्द्धदेव, माना जाये।

अप्सराएँ (अप्सरस)

इनकी भी आकृति अस्पष्ट है। शाब्दिक अर्थ है जल में रहने वाली (अप्सु सरासि)। अथर्ववेद में जल के साथ अप्सराओं का आमतौर से सबद्ध किया गया है। वहाँ उनसे यह भी अनुरोध किया गया है कि वे मनुष्यों से दूर जाकर नदियों और नालों के किनारों पर रहें। इसमें अप्सराओं की घातक प्रवृत्ति की सूचना मिलती है।[3] स्थान स्थान पर इन्हें गन्धर्वों की प्रेयसी के रूप में चित्रित किया गया है। वैसे उन्हें मर्त्य मानव भी जीत सकते हैं। उर्वशी और पुरूरवा की कहानी इस बात का प्रमाण है। उर्वशी ने उससे इस शर्त पर विवाह किया था और प्रतिज्ञा भंग होने पर वह उसे छोड़कर चली जायगी। बाद में एक जलाशय में वह फिर पुरूरवा से मिलती है, वर्ष में एक बार उससे मिलने का वायदा करती है और अन्त में गन्धर्वों से उसे गन्धर्व विद्या सिखवाकर गन्धर्व ही बना लेती है।[4]

परवर्ती साहित्य में ये अपनी शारीरिक सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध हैं। जब कोई ऋषि या राजा उग्र तपस्या करता है तो उसमें विघ्न डालने के लिए स्वर्ग के राजा इन्द्र किसी अप्सरा को ही मर्त्यलोक में भेजते हैं। शकुन्तला मेनका नाम की अप्सरा की कन्या थी। इनमें मेनका, शकुन्तला और उर्वशी के नाम ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

राक्षस

'राक्षस' शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। क्षत्यर्थक रक्ष धातु से इसकी निष्पत्ति हो तो सकती है परन्तु यह अर्थ सामान्यतया विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है। इसकी व्युत्पत्ति रक्षार्थक रक्ष धातु से ही मानी जाती है। ऐसी अवस्था में यह उस सत्त्व का द्योतक है जिससे रक्षित होना है।[5] ऋग्वेद की लगभग १०० ऋचाओं में राक्षसों

---

१ रि० फि० वेद० उप० पृ० २२३
२ वही पृ० २२३
३ वही पृ० २२५
४ इंडि० माइ० पृ० ६५
५ रि० फि० वेद० उप० पृ० २६६

का उल्लेख है। इन्द्र और उनके अतिरिक्त उनके साथी अन्य देवों से प्रार्थना की गयी है कि वे राक्षसों का विनाश करें।[1] स्पष्ट है कि राक्षस अशुभ और अहितकारी सत्त्व का वाचक था। इसी लेख में आगे चलकर कहा गया है कि उस समय राक्षस का अर्थ निन्दाजनक हो गया था। राक्षस कहलाना एक प्रकार की गाली थी। इनके लिए तरह-तरह के विशेषणों का प्रयोग किया गया है। इनका रंग लाल (पिशंग) है ये मायावी हैं अदेव हैं। ईश्वर को न मानने वाले (तमोवृध) हैं। रात्रि के अन्धकार में शक्ति प्रकट करने वाले हैं पीड़ा पहुँचाने वाले हैं (यातुधान)।[2] श्री कीथ ने भी इनके विषय में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना है कि अन्धकार से सम्बद्ध पिशाचों के समान राक्षस भी रात्रि से अनुराग रखते हैं—मुख्यतः अँधेरी रात से क्योंकि पूर्व की ओर का सूर्य तो उन्हें तितर बितर कर देता है। रात्रि के साथ अपने इस सम्बन्ध से ही ये प्रेतात्माओं के सजातीय ठहरते हैं और हो सकता है कि इसी कारण टूटे हुए तारे को विग्रहवान राक्षस कहा गया है।[3] महाभारत में भी राक्षसों के रात्रि में सबल हो जाने का उल्लेख है। रात्रि-युद्ध में ये बड़े प्रबल हो उठते हैं।

किसी समय राक्षस और पिशाच समानार्थक हो गये थे। महाभारत में राक्षसों द्वारा कच्चा मांस खाने का उल्लेख है। भीम आदि पाँचों भाइयों और कुन्ती को देख कर हिडिम्ब के मन में उन्हें खा जाने की इच्छा पैदा होती है—

असौ दंष्ट्रा सुतीक्ष्णाग्राश्चिरस्यापात दुस्सहा।
दंष्ट्रा मज्जयिष्यामि स्निग्धेषु पिशितेषु च॥

भीम जब हिडिम्बि की इस भावना को जान लेता है तो वह उसे ललकारता है और नराशन शब्द से सबोधित करता है—

किं ते हिडिम्ब एतर्वा सुखसुप्तं प्रबोधितः।
मामासादय दुर्बुद्धे तरसा त्वं नराशन॥[4]

इनके लाल बाल हैं और लाल आँखें मुँह एक कान से दूसरे कान तक फैला हुआ। ये विशालकाय हैं और बलवान हैं। महाभारत में राक्षसों का वर्णन ऐसा ही है। उनके कान उठे हुए हैं दृढ़ अवयव हैं। ये अन्धकार में घूमते फिरते हैं और अर्द्ध रात्रि के समय अपराजेय हो जाते हैं। ये जादूगर होते हैं और इच्छानुसार आकृति बदल सकते हैं। ये स्वेच्छानुसार आकाश में विचरण कर सकते हैं। द्रौपदी के यक्ष

१ ए० भ० रि० इ० अंक २७ पृ० ०६
२ वही० पृ० ३१० ११
३ रि० फि० वेद० उप०, पृ० २६५
४ म० भा०, पर्व १ सं० ३ अ० १५१ श्लोक ६
५ वही, अ० १५२ श्लोक, २३

जाने पर भीम अपने पुत्र घटोत्कच का स्मरण करता है और वह द्रौपदी को आकाश-मार्ग से ले जाता है। अन्य राक्षस अन्य पाण्डवों का आकाश मार्ग से ले जाते हैं।[1] सामान्य रूप से ये जंगलों में रहते हैं। पर्वत भी इनका आवास स्थान माना जाता है। इन्हें मनुष्य का मांस बड़ा प्रिय है और उसकी गन्धमात्र से इन्हें अपार प्रसन्नता होती है। महाभारत में विरथ राक्षस प्रतिदिन नरमांस खाता था और गुफा में रहता था।

इन राक्षसों का एक विशेषण विरूपाक्ष भी है जिससे लगता है कि ये शारीरिक दृष्टि से असुन्दर होते थे। गन्धर्वों के साथ इनके वैवाहिक सम्बन्ध होते थे, इस बात का भी उल्लेख है। विभीषण की पत्नी सरमा शलूष गन्धर्व की पुत्री थी।

नाग

इनकी पूजा भी प्राचीन है। नाग और नागिनी, दोनों ही की पूजा पर्याप्त दिनों तक होती रही है। ऋग्वेद का अबुहिन्य अहि के लाभकारी पक्ष का द्योतक है। यजुर्वेद और अथर्ववेद में इसके सुन्दर और भयप्रद रूप तथा शक्ति की चर्चा हुई है। अथर्ववेद (२२६ २७) में इनके जिन अनेक नामों का उल्लेख है उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—तिरश्चिराजी, असिता, स्वाज, बभ्रु पदाकु, कक्पवन, कारात।[2] इनमें तिरश्चिराजी, पृदाकु, स्वाज, कल्माषग्रीव और नामक नाग दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, पूर्व और अन्तरिक्ष के रक्षक हैं।[3] परवर्ती साहित्य में इन नामों का उल्लेख नहीं है। महाभारत और पुराणों में वासुकि आदि नये नाम हैं। अथर्ववेद में ही उनका सम्बन्ध गन्धर्वों, अप्सराओं और पुण्यजनों (यक्षों) के साथ दिखाया गया है।[4]

इनकी पूजा काफी प्राचीन है। भगवान बुद्ध से पहले और उनके समय में भी ये पूजा के अधिकारी समझे जाते थे। इनकी यह पूजा इनके अपने रूप में भी होती थी और मानवाकार में भी। डा० नलिनाक्ष दत्त का मत उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

> वृक्षों के अतिरिक्त साधारण लोगों में नाग पूजा भी प्रचलित थी। ये नाग जल के निवासी और प्रभूत सम्पत्ति के स्वामी माने जाते थे। लोग उनसे भय खाते थे। इन नागों की सर्प विग्रह तथा मानव विग्रह इन दोनों रूपों में पूजा होती थी।[5]

गृह्यसूत्रों में सर्प बलि की चर्चा है। यह विधि वर्षा ऋतु में चार मास तक चलती थी। इसके दो उद्देश्य थे सर्पों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना और (२) उन्हें

---

१ म० भा० वनपर्व अ० १५५ पृ० १२४६ ५०
२ डेव० हि० इक० पृ० ३४५
३ वही पृ० ३४५
४ वही, पृ० ३४५
५ उत्तर० बौ० ध० वि०, पृ० १६

दूर रखना। बौद्धों और जैनों के पवित्र ग्रन्थों में भी इनकी पूजा का उल्लेख है। वहाँ उन नागराजों का उल्लेख है जो बुद्ध के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए आया करते थे।

हिन्दू पौराणिक कथाओं में ये नाग अनन्त के अवतार माने जाते हैं। बलराम भी अनन्त के अवतार के रूप में स्वीकार किए गए हैं। मानवों के साथ इनके मैत्री और शत्रुता दोनों प्रकार के सम्बन्ध थे। अर्जुन की पत्नी उलूपी नागजाति की ही थी। इससे बभ्रुवाहन नामक पुत्र भी पैदा हुआ था। जरत्कारु ऋषि की पत्नी भी नागिनी थी और उनसे आस्तीक नामक पुत्र की उत्पत्ति हुई थी, जिसने सर्पसत्र में तक्षक की रक्षा की थी। कुल मिलाकर इनकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

इनका एक नाम सर्प है। इनके रहने के स्थान बहुत हैं और बहुत प्रकार के हैं। ये पृथ्वी के नीचे नागलोक में रहते हैं। वहाँ इनके महल हैं, स्तूप हैं और आनन्दपूर्वक भ्रमण के लिए उद्यान हैं। इनके लोक का नाम पाताल और निरय भी है। इनका प्रधान नगर या राजधानी भोगवती है जहाँ सर्पों का राजा वासुकि निवास करता है। इनके अलावा ये गुफाओं में और अगम्य पर्वतों पर भी मिलते हैं। इक्षुमती नदी के किनारे, कुरुक्षेत्र में, नैमिषारण्य में, गंगा और यमुना के किनारों पर तथा निषध देश में भी ये पाए जाते हैं। इनकी शक्ति महान है। इनका आकार बहुत विशाल है। ये हिंसात्मक हैं और आक्रमण करने में तेज हैं। इनमें भयानक विष भरा होता है। इनका आकार सुन्दर भी होता है। आकृति भी अनेक प्रकार की होती है। कानों में कुण्डल पहनते हैं। इनके बहुत-से भेद हैं। वासुकि जाति के सर्पों में कुछ का रंग नीला होता है, कुछ का लाल और कुछ का श्वेत। कुछ के तीन सिर होते हैं, कुछ के सात और कुछ के दस।

भूत

यह देव-कोटि का न होकर दानवी कोटि का है। साधारण रूप में इसका अर्थ प्राणी है पर इसका प्रयोग दुरात्मा के लिए ही होता है। यह आकाशचारी प्राणी है और विचित्र गति में भ्रमण करता है। यह विकराल और मजबूत होता है। इसकी पहचान यह है कि इसकी छाया नहीं होती। जिन व्यक्तियों की अस्वाभाविक मृत्यु हो जाती है, हिंसात्मक रूप से होती है, जो चिड़चिड़े हैं, मूर्ख या पागल हैं, जिन्हें मूर्च्छा आती है, असाधारण रोग है, जो शराब में धुत रहते हैं, जीवन में दुष्ट कार्य करते हैं, कामुक हैं, वे मरने के बाद भूत बनते हैं।[1] दक्षिण भारत में यह विश्वास है कि ये वृक्षों, खाली मकानों, पुराने कुओं में रहते हैं। ये कभी बैल या बकरी के रूप में प्रकट होते हैं। यदि कोई व्यक्ति भूतवाले वृक्ष के नीचे सोता है, उस वृक्ष की टहनी

१ रि० फि० वेद० उप० पृ० ६०२

काटता है, भूतों के निवास की अवज्ञा करता है तो या तो वह बीमार हो जाता है या दुर्भाग्य का शिकार होता है।[1]

कहीं कहीं (विशेषत गुजरात मे) यह भी विश्वास है कि भूत शवो पर अधिकार कर लेते हैं और उनके मुख से अपनी बात करते हैं। कभी-कभी वे आग की लपटें पैदा करते हैं और उनमे विलीन हो जाते हैं। वे जो कुछ बोलते हैं, कानाफूसी के रूप मे होता है। ये गन्दगी का भक्षण करते हैं अशुद्ध पानी पी लेते हैं। ये पृथ्वी पर नहीं ठहरते अत इनके लिए ईंट या बाँस का खम्भा गाड दिया जाता है जिस पर वे आराम कर सकें। सामान्य रूप से ये दिन मे अशक्त रहते हैं। हाँ, भरी दोपहरी मे ये शक्तिशाली हो उठते हैं। इसीलिए दोपहरी मे स्त्रियों का अकेले जाना वर्जित है। इन्हें डराने या भगाने के लिए आग जलाने की प्रथा है। काली, दुर्गा और शिव के जाप या स्तुति से ये भाग जाते हैं। ये स्पष्ट नहीं बोल पाते, नाक से बोलते हैं।

प्रेत परेत

जो बच्चा शैशव मे ही मर जाता है, जो विकृतांग या अपूर्ण पैदा होता है वह प्रेत बनता है।[2] कुछ के अनुसार मृत्यु के बाद प्रत्येक मानव थोडी देर के लिए प्रेत रहता है और फिर पितर बन जाता है। पर साधारणतया इस शब्द के द्वारा गृहीत अर्थ कुछ और ही है। इसका प्रचलित अर्थ उस आत्मा से है जिसे अन्य कोई शरीर नहीं मिलता और इसीलिए जो इधर उधर भटकती रहती है। इसका सम्बन्ध भूतों और पितरों से है। ऐसा विश्वास है कि यह पुरुष के अंगुष्ठ मात्र शरीर धारण करके अपने घर के इर्द गिर्द चक्कर काटता रहता है।

पिशाच

पिशाच शब्द का अर्थ कच्चा मांस खाने वाला है। परवर्ती काल मे यह राक्षसों और असुरों का पर्यायवाची हो गया। ऋग्वेद मे इसका उल्लेख केवल एक बार हुआ है। परवर्ती संहिताओं मे ये बहुवचन मे आते हैं और पितरों के प्रतिद्वन्द्वी हैं जिस प्रकार असुर देवों के और राक्षस मनुष्यों के।[3] पागल शराबी धोखेबाज और हिंसात्मक रुचिवाला व्यक्ति मरने के बाद पिशाच बनता है। राक्षसों के समान ये भी मनुष्य का मांस खाते हैं और रक्त पीते हैं। इनकी आकृति घृणाजनक है।

चुडैल

यह भूत प्रेत से भी अधिक भयानक होती है। अपने आरम्भिक रूप मे यह

१ रि० फि० वेद० उप०, ६०२
२ वही पृ० ६०२
३ वही, पृ० २९६

निम्नजाति की ऐसी आत्मा का नाम था जो द्वेषपूर्ण रही है और जिसके शरीर को दबाते समय मुह इसलिए नीचे की ओर कर दिया जाता है कि जिससे उसकी दुष्टात्मा को बाहर जाने का अवसर न मिले । आजकल चुडैल उस औरत के भूत को कहते हैं जो गर्भावस्था या प्रसव के समय मर जाती है और जिसकी उचित क्रियाएँ नहीं हो पायी हैं । इसकी पहचान यह है कि इसके पैर के पंजे पीछे की ओर होते हैं और एडी आगे की ओर । कहा जाता है कि यह सुन्दर पुरुषों को फसाने की शक्ति में प्रवीण है । उन्हें अपने घर ले जाती है खाद्य पदार्थ देती है जिन्हें खाकर पुरुष वहां से तभी निकल पाता है जब उसके केश श्वेत हो जाय पहले नहीं । किसी की आत्मा चुडैल न बन जाय, इसके लिए बहुत सी क्रियाएं की जाती हैं ।

देवताओं की संख्या

इनकी संख्या के विषय में वेदों में और परवर्ती वैदिक साहित्य में एकमत्य का अभाव है । वैसे अधिकांश स्थानों पर ऋक और अथर्व दोनों संहिताओं में इनकी संख्या तैंतीस मानी गयी है । एक मंत्र में कहा गया है कि देवता तीस और तीन हैं अर्थात् कुल मिलाकर तैंतीस हैं और इनमें भी तीन अधिक वीर्यवान हैं—

नर्यास्त्रिंशद देवास्त्रीणि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्वन्त ।[1]

अथर्व के इसी सूक्त में आगे चलकर तीन मन्त्रों में कहा गया है कि देवता तैंतीस हैं इनमें से ११ द्युलोक में रहते हैं ११ अन्तरिक्ष में और ११ पृथ्वी पर ।[2] इन मन्त्रों में देवों के नाम नहीं गिनाये गये पर उनसे प्रार्थना की गयी है कि वे हवि को ग्रहण करें । अन्य कई स्थानों पर भी इन देवताओं को तैंतीस ही माना गया है । एक स्थान पर तो यह संख्या ३३३६ तक पहुंच गई है ।[3]

शतपथ और ऐतरेय ब्राह्मणों में भी देवों की संख्या ३३ ही बताई गई है—इनमें ८ वसु ११ रुद्र ११ आदित्य हैं । शतपथ के अनुसार शेष दो में द्यौ और पृथ्वी को या इन्द्र और प्रजापति को गिना जा सकता है जबकि ऐतरेय इन्हें वषट्कार और प्रजापति मानता है । निरुक्त के टीकाकार यास्क ने देवताओं की संख्या तीन ही मानी है । दैवतकाण्ड में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि देवता तीन ही हैं और अब हम उनके भाग साहचर्य की व्याख्या करेंगे—

अथ तिस्र एव देवतास्तासां भक्ति साहचर्य व्याख्यास्याम ।

उनकी इस संख्या का आधार स्थानीय वर्गीकरण है । उन्होंने इन देवताओं को द्यु स्थानीय अन्तरिक्ष-स्थानीय और पृथिवी स्थानीय वर्गों में विभक्त कर दिया है । सूर्य द्युस्थानीय है वायु या इन्द्र अन्तरिक्ष-स्थानीय है और अग्नि पृथिवी-स्थानीय है ।

---

१ अथर्व १९।२०।१०

२ वही, १९।२७।११ १२ १३

३ ऋग्० १३।३।९

निरुक्तकार के अनुकरण पर शौनक भी तीन ही देवताओं को मानते है—

> अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च।
> सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवता ॥
> एतासामेव माहात्म्यान नामान्यत्व विधीयते।
> तत्तत्स्थान - विभागेन तत्र तत्रेह दृश्यते ॥[1]

पुराणों म इस सख्या म पर्याप्त वृद्धि हो गयी है। एक स्थान पर वहाँ तीन करोड पाँच सौ देवो का उल्लेख है।[2] साधारणरूप स तैंतीस सख्या अधिक मान्य है।

इस प्रकार कुल मिलाकर मध्यकाल म विष्णु (उनके राम और कृष्ण रूप), शिव और शक्ति, इन तीन देवो की ही प्रधानता है। इनम भी राम भक्ति शाखा म सीता और कृष्ण भक्ति शाखा म राधा को आदिशक्ति के रूप म स्वीकार किया गया है। इससे शक्ति का स्वतन्त्र रूप से वणन एकदम बन्द तो नही हो गया पर उसकी रचना अत्यल्प मात्रा म हुई है। इसी कारण हिन्दी-साहित्य म हमने प्रमुख रूप से विष्णु शिव, राधा और सीता को ही चुना है। इन्द्र, गणेश, गगा यमुना, सरस्वती आदि की भी थोडी बहुत चर्चा कर दी है कि जिससे विस्तृत देव भावना का थोडा-सा स्पष्ट रूप सामने आ जाये।

---

१ बृहद्देवता १।६६ ६७

२ ब्रह्मपुराण प० १२०।१४६

तृतीय अध्याय

भारतीय देव-भावना का उद्‌भव और विकास

भारत में देव भावना का उदय और उसका मौलिक रूप

क्या वैदिक देव भावना के पूर्व भी हमारे देश में देव भावना विद्यमान थी ? मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई।

गत अध्याय म देव भावना के मनोविज्ञान पर हम विचार कर चुके हैं। इसके बाद हमारे मन म स्वत जो प्रश्न पैदा होता है वह यह है कि हमारे इस देश म देव भावना का उदय वैदिक आर्यों के समय म हुआ था या उससे पूर्व भी किसी प्रकार की देव भावना यहा विद्यमान थी ? इस प्रश्न का 'हाँ' या 'न' म उत्तर देने से पूर्व हम पहले उन प्रश्नो की चर्चा करेंगे जो इसके साथ जुड़े हुए हैं और जिनके सन्तोष जनक समाधान पर ही इस प्रश्न का समाधान निर्भर करता है। इनमे मुख्य प्रथम प्रश्न है—आर्यों के उत्पत्ति स्थान के सम्बन्ध म और दूसरा है द्रविड जाति की स्थिति के सम्बन्ध म।

साधारण भारतीय विश्वास के अनुसार पहला युग सत्ययुग था जिसम चारो ओर परिपूर्णता थी मानव सभ्य था और उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। पर इतिहास की साक्षी इसके विपरीत जाती है। उसके अनुसार आदिकालीन मानव एकदम असभ्य था। वह अग्नि से भी पूर्णतया परिचित नहीं था। वह या तो गुफाओं म रहता था या पेड़ो पर। कृषि-कला उसे अज्ञात थी। बतन बनाना उसे नहीं आता था जंगली फलो से वह निर्वाह करता था। ऐतिहासिक शब्दावली म आदि मानव प्रथम पाषाण-युग (Palaeolithic Age) और उत्तर पाषाण-युग (Neolithic Age) म से गुजरकर ही सभ्यता के युग म प्रवेश कर सका है। यह ऐतिहासिक प्रक्रिया ही वैज्ञानिक प्रक्रिया है और इसी को आधार मानकर चलने से सही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

अभी हमने आर्यों के उत्पत्ति-स्थान पर विचार करने और ऐतिहासिक प्रमाणो के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की बात कही है। आगे बढ़ने से पूर्व हम

यहीं इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि किन्हीं सुनिश्चित प्रमाणो के अभाव म इतिहासकार भी इस सम्बन्ध म किसी सवसम्मत निणय पर पहुँचने मे असमथ रह हैं। ऐसे भी विद्वान हैं जा आर्यों का उत्पत्ति स्थान इसी देश का मानते हैं और ऐसे विद्वान भी हैं—इनकी सख्या भी पर्याप्त है—जो आर्यों को इस देश का आदिम निवासी न मानकर कहीं बाहर से आया हुआ मानते है। यह प्रश्न विवादग्रस्त है ठास प्रमाणो के अभाव मे माग उलझा हुआ जान पडता है पर तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और उपलब्ध एतिहासिक सामग्री के आधार पर किसी न किसी निणय पर पहुँचा ही जा सकता है। इतना ता सभी स्वीकार करते हैं कि वेद और अवस्ता, दानो की भाषा म आश्चयजनक साम्य का कारण दोना के उदगम का स्रात एक ही हाना है। कोई एक स्थान ऐसा अवश्य रहा हागा कि जहाँ इन दाना भाषाआ के बोलने वाले साथ-साथ रहत थे। इसी स्थान स निकलकर किसी परवर्ती काल म एक जाति या शाखा ईरान गयी होगी दूसरी भारत आयी हागी और तीसरी पश्चिम की आर निकलकर यूराप पहुँची हागी। अवेस्ता और वद, दाना म ऐसे प्रसग हैं जिनसे पता चलता है कि यह सयुक्त जाति किसी शीत प्रधान स्थान पर रहती थी। यद्यपि वदो मे बाद म वष गणना शरद् के अनुसार होन लगी थी, आरम्भ मे हिम से ही गणना होती थी।[1] नावा की चर्चा स अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ पानी भी रहा होगा। घोडा और रथो की बात भी आती है। वक्षा म अश्वत्थ (पीपल) की चर्चा है।

हमन तुलनात्मक भाषा विज्ञान की जो बात कही है उसे हम और आगे बढायें ता स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों का आदिम देश भारत नहीं था। भाषा क दष्टिकोण स आज भी उत्तर भारत और दक्षिण भारत पथक पथक हैं। उत्तर म सस्कृत की प्रधानता है और दक्षिण म द्रविड भाषा परिवार की। यदि आर्यों का आदिस्थान यहीं था और वे यहाँ से विजय दुदुभि बजाते हुए बाहर गय थे ता प्रश्न उठता है कि बाहर जाने से पहल उन्हान दक्षिण भारत पर विजय प्राप्त क्या नहीं की? अपन ही दश म विजय-वजयन्ती फहरान का लाभ वे क्स सवरण कर सके? दक्षिण भारत और उत्तर भारत के विकास क्रम म जो अन्तर है वह भी आर्यों के बाहर से आन की ओर ही सकेत करता है। दक्षिण भारत म उत्तर पाषाण-युग के एकदम बाद लोह युग आया था, जबकि उत्तर भारत मे लोह-युग क पूव ताँबे का प्रयोग हुआ और बाद म लोह का।[2] फिर, यदि आय यहीं के निवासी थे तो मोहनजादडो म मिलने वाली भाषा सस्कृत ही होनी चाहिए थी, दूसरी नहीं। इन सब बातो की सगति उसी समय बठती है कि जब हम आर्यों को बाहर से आया हुआ मानें। भाषा-पाथक्य तथा विकास क्रम का अन्तर आदि सभी प्रश्न फिर स्वत स्पष्ट हो जात हैं। दा भिन्न जातिया का विकास तो भिन्न प्रकार से होगा ही।

---

१ ऋग्वद, ५।५४।१५

२ हिस्टरी आफ इण्डिया रमाशकर त्रिपाठी, पृ० १४

यदि आर्य यहाँ के आदिम निवासी नहीं तो फिर उनके आगमन से पूर्व यहाँ कौन-सी जाति बसती थी ?— इस विषय में भी सुनिश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। कुछ विद्वानों के अनुसार इस देश में सर्वप्रथम नीग्रो लोग आये थे, फिर आस्ट्रिक या आग्नेय और तदनन्तर द्रविड़। उनके अनुसार द्रविड़ भी परवर्ती हैं और आर्यों के समान बाहर से ही आये हुए हैं। अन्य लोगों के मतानुसार वे इस देश के उत्तराधिकारी हैं और आगे चलकर सभ्यता का उन्नत उत्थान भी किया। मोहन जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जिस प्रकार द्रविड़ संस्कृति के अवशेष मिले हैं, उस प्रकार इनसे पूर्ववर्ती जातियों की संस्कृति की जानकारी के लिए कोई साधन हमारे पास नहीं। जब तक कोई निश्चित प्रमाण हमारे सामने नहीं आते तब तक यही मानना ठीक है कि उपलब्ध संस्कृतियों में द्रविड़ संस्कृति ही प्राचीनतम है। द्रविड़ चाहे बाहर से आये हों या यहाँ के निवासी हों, इस झगड़े में पड़े बिना हमारे लिए इतना ही मान लेना पर्याप्त है कि आर्य जाति के आगमन से पूर्व द्रविड़ यहाँ विद्यमान थे और उनकी देव भावना आर्यों की देव भावना से प्राचीनतर है। रही बात भारतीय देव भावना की मौलिकता की, इस विषय में यही कहा जा सकता है कि आज तक जितना भी अन्वेषण हुआ है उसमें इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि भारतीय देव भावना कहीं से आयात हुआ है। उपलब्ध सामग्री के आधार पर उसे सर्वथा मौलिक मानना ही उपयुक्त होगा।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई

इस खुदाई में जिस सभ्यता के अवशेष मिले हैं वह आर्य है या आर्येतर इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है पर अधिकांश के अनुसार वह आर्येतर है। विभिन्न मतों का अध्ययन करने के पश्चात् हम स्वयं इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। इस निष्कर्ष के कारण निम्नलिखित हैं—

(१) आर्य जाति कृषि प्रधान थी। पशु-पालन उसका व्यवसाय था और इन्हीं दोनों कारणों से वे गाँवों या खुले मैदानों में रहते थे। दूसरे शब्दों में उनकी सभ्यता ग्राम प्रधान थी, नगर-प्रधान नहीं। ग्राम शब्द वहाँ वरन् संहिताओं में अनेक स्थानों पर आया है, वहाँ नगर शब्द का प्रयोग एक बार भी नहीं हुआ है। नगरों के निर्माण कर्ताओं का जहाँ कहीं उल्लेख है उन्हें असुर कहकर पुकारा गया है। वर्ण व्यवस्था में कला-कौशल और शिल्प शूद्रों को ही दिया गया है, ऊँचे समझे जाने वाले वर्णों को नहीं। मोहनजोदड़ो की सभ्यता विकसित नागरिक सभ्यता है।

इस नगर का निर्माण निश्चित योजना के अनुसार है, नियमित अन्तर के बाद गलियाँ और सड़कें हैं, भवनों का आकार अलग अलग है, ये भवन सादे होते हुए भी शानदार हैं और पक्की ईंटों के बने हैं। ऊपर की मंजिलों में जाने के लिए सीढ़ियाँ हैं, रोशनी के लिए दरवाजे और खिड़कियाँ हैं, बड़े-बड़े मकान हैं जो आधुनिक

टाउनहाल के रूप मे हैं, स्नानघर हैं नालियाँ हैं, पाँवदान हैं। वहा एक वडा भारी तालाव है जो ३९ फुट लम्बा और २३ फुट चाडा है आर उसकी दीवार ८ फुट ऊची है तथा उसम ऊपर चढन और उतरन के लिए सीढिया हैं। वहा जीवन की वे सब सुख सुविधाएँ हैं जो आधुनिक नागरिक जीवन म उपलब्ध हा सकती हैं। स्पष्टत यह सभ्यता ग्राम प्रधान आय-सभ्यता से भिन है।

(२) आय स्वर्ण पीतल, ताबा और लोह स परिचित थ, जवकि सिधु घाटी के इन अवशेषो म लाह का एकदम अभाव है। सिधुघाटी वाल चादी का प्रयाग अधिक करत थे। उनके बरतन पत्थरो क बने हुए हैं जा स्पष्टत पाषाण-युग के सूचक हैं।

(३) आर्यों क साहित्य म घाडे का उल्लख है, यह उनकी प्रिय सवारी है, परन्तु सिधुघाटी के अवशेषा म कही इसका नाम भी नही।

(४) आय कवच और शिरस्त्राण का प्रयाग करत थे सिधुघाटी वाले इनसे अपरिचित हैं।

(५) आर्यों के यहाँ गौ का महत्त्व अधिक था और सिधुघाटी म बल का।

(६) सिधु घाटी मे शिश्न-पूजा (लिंग की पूजा) प्रचलित थी। वदो म 'शिश्नदवा' कहकर विरोधियो का परिहास किया गया है। इन्द्र से प्रार्थना की गयी है कि वे इन शिश्नदेवा को ऋत अर्थात यज्ञ के समीप न फटकने दें।[1] साथ ही यह भी बताया गया है कि सौ फाटका वाले दुग को दलत समय इन्द्र ने शिश्नदेवा का भी वध किया था।[2] लिंग पूजा आयधम के एकदम विरुद्ध है।

(७) मातृ शक्ति की पूजा भी सिधु घाटी की सभ्यता को आय सभ्यता से अलग करती है। आर्यों के धम म पुरुष दवताओ की ही प्रधानता है। सिधुघाटी म मातृ शक्ति की पूजा के साथ योनि-पूजा भी प्रचलित थी।

(८) सिधु घाटी म शिव की मूर्ति मिली है। इस मूर्ति म वे योगी की मुद्रा म हैं सिहासन के ऊपर नासाग्र पर ध्यान लगाय सिद्धासन से बठे हैं गले म बहुत-सी मालाएँ हैं। मूर्ति के चारा आर हाथी व्याघ्र महिष और गडा हैं। मस्तक के ऊपर दो सीग हैं। सिहासन के नीचे हरिण है। इस मूर्ति के अतिरिक्त अन्य कई शिव-लिंग भी पाय गय हैं। इस सभ्यता म शिव की पूजा होती थी। आर्यों के यहाँ शिव को बहुत परवर्ती काल म पूजा का अधिकारी माना गया है। डा० मगलदेव शास्त्री भी शिव को परवर्ती दवता मानन हैं— पुराणा म शिव का जसा वणन है, वह ऋग्वेदीय रुद्र के वणन से बहुत कुछ भिन है। ऋग्वेद का रुद्र केवल एक अन्तरिक्ष-स्थानीय देवता है। उसका यक्षा राक्षसा आदि के साथ काई भी सम्बन्ध नहा।[3] इससे यही

---

१ ऋग्वद ७।२।५

२ वही १०।९९।३

३ भारतीय संस्कृति का विकास पृ० ९-१०

सिद्ध होता है कि शिव अपने मूल रूप में एक प्राग्वैदिक देवता था जिसका पीछे से शनैः शनैः वैदिक रुद्र के साथ एकीभाव हो गया। वेदों में मूर्ति-पूजा का विधान कहीं नहीं मिलता, जब कि सिन्धु घाटी में मूर्ति-पूजा का प्रचलन था।

(९) मोहनजोदड़ो में जो किला है उसकी बाहर की दीवार तीन बार बनी है। इसकी पहली दीवार और अन्तिम दीवार की बनावट में भारी अन्तर है। अन्तिम दीवार एकदम रक्षात्मक ढंग में बनी है आक्रमण की दृष्टि में नहीं। लगता है, उस समय उन पर आर्यों का आक्रमण हुआ होगा। सर मार्टीमर व्हीटर ने एक और सम्भावना का उल्लेख किया है कि ऋग्वेद (६/२७/५) में जिस 'हरियुपीय' नामक स्थान का उल्लेख है और वहां अभ्यावर्तिन द्वारा जिन वर्चिवत की पराजय की चर्चा है वे इन्द्र के शत्रु वर्णित हैं। उनके अनुसार हड़प्पा ही वह स्थान है जहाँ अनार्यों पर आर्यों की विजय हुई थी।

सिन्धु घाटी की सभ्यता द्रविड जाति की सभ्यता है। वे आर्यों से पहले इस देश में रहते थे। उन्हें खेती आती थी। नदियों पर बाँध बाँधने वाले पहले लोग वे ही थे। ज्योतिषशास्त्र से भी वे परिचित थे। उनका समाज मातृमूलक था। ऋग्वेद के दास और दस्यु वे ही थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक काल से पूर्व भी इस देश में देव भावना विद्यमान थी। आज जो शक्ति पूजा प्रचलित है उसका मूल स्थान सिन्धु घाटी की ही सभ्यता थी यह कहना अयुक्तिसंगत न होगा।

भारतीय देव भावना का विकास-क्रम : वेदपूर्व काल

शिव आरम्भ में आर्येतर देवता थे और बाद में रुद्र के साथ उनका एकीकरण हुआ इसमें सन्देह नहीं। पौराणिक शिव के जितने नाम हैं और उपाधियाँ हैं उनका स्पष्टीकरण भी रुद्र और शिव के एकीकरण द्वारा ही सम्भव है। शिव को जटाधारी दिखाया गया है उसका मूल रुद्र की उपाधि कपर्दिन है।[1] रुद्र घन बादलों में चमकती हुई विद्युत और उसके साथ होने वाले घनघोर गर्जन तथा वर्षा के देवता हैं। आकाश में उमड़कर आयी हुई अति काले रंग की मेघमाला जटाजूट जैसी लगती है। इसी के आधार पर शिव की जटाओं की कल्पना की गयी। शिव को वृषभ पर सवारी करते हुए दिखाया गया है इसका भी मूल रुद्र में ही ढूंढा जा सकता है। रुद्र वर्षा के देवता हैं और इस प्रकार उर्वरता से उनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऋग्वेद में रुद्र को वृषभ कहा गया है। ऋग्वेद में इसका अर्थ वर्षा करने वाला है। सायण ने इसका अर्थ यही किया है। वर्षा करने के साथ-साथ इसका अर्थ प्रजनन की शक्तिवाला भी होता है। संस्कृत में आज भी वृषभ का जो अर्थ सांड प्रसिद्ध है उसके पीछे वे ही अर्थ काम कर रहे हैं। वेद में रुद्र को वृषभ कहा गया है और कालान्तर में यही

---

१ ऋग्वेद १।११४।१ ५

वषभ शिव की सवारी हो गया । यजुर्वेद के 'शतरद्रिय स्तोत्र' मे रुद्र के धनुष का नाम 'पिनाक' है, यही पौराणिक काल मे शिव के धनुष का नाम है । पुराणा म शिव को जो 'त्र्यम्बक' कहा है, उसका मूल भी रुद्र म ही ढूढा जा सकता है । वेद म रुद्र को त्र्यम्बक कहा है और इसका अथ है ऐसा व्यक्ति जिसके तीन पिता हैं । वेद मे रुद्र का तादात्म्य अग्नि के साथ भी किया गया है । अग्नि ही एक ऐसा पदाथ है जिसके तीन पिता हैं क्योकि उसकी उत्पत्ति पथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश, तीना लोको म होती है । पौराणिक काल तक आते आते 'त्र्यम्बक का अथ 'त्रिनेत्र' ही रह गया और वह शिव का विशषण बन गया । शिव का एक विशेषण 'नील लोहित ह, रुद्र का रग भी 'बभ्रु' कहा गया है । इस प्रकार रुद्र शिव की अन्य विशेषताएँ भी रुद्र मे ढूढी जा सकती हैं ।

रुद्र और शिव के एकीकरण की इस प्रक्रिया का विवेचन डा० यदुवशी ने विस्तार से किया है । उनके अनुसार अथववेद म उस प्रक्रिया का प्रारम्भ भी दष्टिगोचर हो जाता है जिसकी आगे चलकर अनेक बार आवत्ति हुई और जिसके द्वारा ही अन्त म पौराणिक शिव के स्वरूप का विकास हुआ ।[1] त्र्यम्बक होम और शतरुद्रिय म रुद्र को शिव और शकर कहकर पुकारा गया है । यही उनकी कुछ अन्य नयी उपाधियाँ भी हैं—जसे गिरिशत, गिरित्र, गिरीश, गिरिचर, गिरिशय । ये सब विशेषण रुद्र का पवता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं । उन्ह यहाँ क्षेत्रपति और 'वणिक' भी कहा है जो उनकी लोकप्रियता का सूचक है । पर यही अचानक उन्हें 'स्तनाना पति' (चोरा का स्वामी), 'स्तायूना पति' (ठगो का स्वामी), विकृन्ताना पति' (गलकटो का सरदार) ऐसे विशेषणो से भी विभूषित किया गया है और वह भी बडे स्वाभाविक ढग स । आगे चलकर—२३वें मत्र से २७वें मन्त्र तक—रुद्र के नामो का वणन है और साथ ही व्रात, व्रातपति, तक्षक, रथकार, निषाद, मृगायु आदि का भी उल्लेख है । लगता है कि इस स्रोत के समय रुद्र की पूजा इन लागा मे प्रचलित थी । यहाँ रुद्र का एक ऐसे आर्येतर देवता के साथ तादात्म्य हो गया है जो यहाँ की आदिम जातिया म पूजा जाता था । इस प्रकार यजुर्वेद मे आर्यों के आर्येतर जातियो के साथ सम्मिश्रण का और उनको अपने अन्दर मिला लेने का पहला सकेत मिलता है ।[2]

यह एकीकरण हमेशा दोना ओर से होता है । इसम लेना भी है और देना भी । आदान प्रदान की इस स्वाभाविक प्रक्रिया म कुछ ऐसी भी बातें रुद्र म आ गइ जिन्हें सामान्य आयजन और विशेषत वदिक पुरोहित पसन्द नही करते थे । उनका चमडे के कपडे पहनना 'कृत्तिवासा' एक ऐसी ही विशेषता है । इसीलिए बीच-बीच मे

१ शवमत प० १०
२ वही, प० १७

उनके अशुभ होने और उनसे भय मानने के संकेत मिलते रहते हैं। ऊपर हमने 'त्र्यम्बक होम' का उल्लेख किया है उसमें भी रुद्र को यज्ञ भाग देने के बाद उनसे 'मूजवत पर्वत पर चले जाने का अनुरोध कुछ ऐसे ढंग से किया जाता है मानो मानो उनसे पीछा छुड़ाना चाहता हो। परवर्ती काल में भी शिव का यज्ञ से बहिष्कृत होना और संघर्ष के बाद अधिकारी बनना इसी ओर संकेत करता है।

शिव के साथ जो गण व गणपति का उल्लेख मिलता है उस पर डा० भण्डारकर ने अनुमान लगाया है कि गण निषाद जातियों के लिए प्रयुक्त हुआ है और गणपति निषादों के अधिपति रहे होंगे। उनके अनुसार उनका भाँग धतूरा खाना, श्मशान में वास करना, उनके साथ शव खप्पर और हाथी के चमड़े का सम्बन्ध जंगली जातियों के साथ आया है। दक्षिण में शिव की पूजा के साथ गणेश और कार्तिकेय की पूजा का होना इस बात का द्योतक है कि शिव आरम्भ में द्रविड़ जाति के देवता रहे होंगे।

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' भी शिव को आर्येतर देवता मानते हैं। उनके अनुसार, "शिव के प्रसाद का अग्राह्य माना जाना, आर्य ऋषियों द्वारा शिव का शापित होना, शिव की पूजा के साथ अनार्योचित रूप का आ मिलना, शिव के रूप में असभ्य ग्राम्य तथा जंगली तत्त्वों का आरोप एवं सिंधु नदी के किनारे की सभ्यता में शिव मूर्तियों का पाया जाना—ये सारी बातें एक ही संकेत देती हैं कि आर्यों के आगमन से पूर्व इस देश में शिव की पूजा प्रचलित थी।"[1]

अन्य विद्वानों के अनुसार भी शिव अवैदिक देवता हैं। डा० सांवलिया बिहारीलाल ने कहा है कि दक्ष के यज्ञ में भी शिव नहीं बुलाये गये और शिवहीन यज्ञ भूत प्रेत प्रमथादि द्वारा विध्वस्त हुआ। इसी से जाना जाता है कि शिव उस समय तक आर्येतर जातियों के ही देवता थे। किरातवेशी शिव शबरों द्वारा मूर्ति शिवजी शबर पूजित थे ये सब कथाएँ नाना पुराणों में नाना भाव से आती हैं। विभिन्न राक्षसों को वर देना राक्षसों के विनाश के लिए विष्णु की शरण में जाना भी इसी तथ्य के समर्थक हैं।[2] श्री आर० सी० मजूमदार शिव तथा उमा को द्रविड़ देवता मानते हैं। शिव के नील लोहित और शम्भु नाम उनके अनार्य होने के समर्थक हैं। तामिल में शिव Sivan Chivan का अर्थ है लाल। आरम्भ में शिव का नाम नील लोहित था। पुराणों में भी यह नाम है। दूसरा नाम शम्भु है। यह तामिल के चम्पर या सेम्पर (Chemper) का अनुवाद है। इस तामिल शब्द का पहला संस्कृत रूप हुआ —रुद्र लाल।[3]

---

१ संस्कृति के चार अध्याय पृ० ४५२ ३

२ विश्व धर्म-दर्शन, पृ० २०७

३ वैदिक एज पृ० १६२

वैदिक काल वदिक देव-भावना का सामान्य स्वरूप

वदिक भक्ति के तीन अग हैं स्तुति, प्राथना और उपासना। वहाँ प्राकृतिक शक्तियों को मानवोत्तर मानकर उनकी स्तुति की गयी है। वहाँ आत्म निवेदन, विनय और भगवान स विविध सम्बन्धो की स्थापना के यत्न एकदम स्पष्ट दिखायी देते हैं। इन विविध सम्बन्धो की स्थापना और देवो के सजीव वणन के कारण वहा उनके आकार का आभास तो होता है पर वहाँ प्रतिमा पूजन के कही सकेत भी नहीं मिलते। यजुर्वेद म तो "न तस्य प्रतिमा अस्ति" कहकर प्रतिमा का स्पष्ट रूप से निषेध किया है। प्रतिमा के अभाव म किसी तरह के बाह्य विधानो म उल्लख की वहा आवश्यकता ही नही हुई।

वदिक काल का भक्त देवो की स्तुति तो करता है पर वह अपनी शक्ति क प्रति भी जागरूक है। वहाँ साधक कही भी अपने को कामी कुटिल और कायर—नही समझता। वहाँ कम की प्रधानता बनी हुई है। कहा गया है कि मनुष्य को कम करते हुए ही १०० वष तक जीने की कामना करनी चाहिए। साथ ही कम के साथ ज्ञान का उचित समन्वय भी वहाँ बना हुआ है। यजुर्वेद के ४०वें अध्याय मे आध्यात्मिकता और भौतिकता, कम और ज्ञान आदि म बहुत ही सुन्दर ढग स सामजस्य स्थापित किया गया है। परवर्ती काल म देव भावना के स्रोत म निवत्ति की जिस मात्रा म मान्यता प्राप्त हुई है वह वैदिक भावना के प्रतिकूल है।

'देव भावना का उदय और विकास' नामक प्रकरण म हम कह आये हैं कि प्राकृतिक शक्तियो का विकसित रूप ही देव भावना के रूप म प्रकट हुआ है। भय और विस्मय आदि की भावना से अभिभूत मानव का मन अग्नि वायु और वरुण आदि प्राकृतिक तत्त्वो को अतिमानव रूप म मानने लगा। उसने उनकी स्तुति की, पूजा की और उन्हे प्रसन्न करने की चेष्टा की। वेद भारत का सवप्रथम लिखित और प्रामाणिक साहित्य है तथा भारतीय साहित्य पर इसकी छाप अमिट है। परवर्ती समस्त भारतीय साहित्य की देव भावना किसी न किसी सीमा तक इससे प्रभावित है अत वदिक काल के उन कुछ प्रमुख दवताओ का थोडा सा वणन कर देना आवश्यक है जिनसे परवर्ती हिन्दी साहित्य इतना अधिक प्रभावित है।

इन्द्र

इस शब्द की व्युत्पत्ति शौनक ने तीन प्रकार से की है। यह अपनी रश्मियो से जलो को लेकर वायु के साथ पृथ्वी पर वर्षा करता है अत इन्द्र कहलाता है—

रसान् रश्मिभिरादाय वायुनाय गत सह।
वपत्येष च यल्लोके तनेन्द्र इति स स्मत ॥[1]

---

१ बृहद्देवता, १।६८

चार प्रकार के प्राणियों के जीवन का प्राण बनकर शासन करने के कारण भी इसका नाम इन्द्र है—

चतुर्विधानां भूतानां प्राणो भूत्वा व्यवस्थितः ।
ईष्टे चैवास्य सर्वस्य तेनेन्द्र इति स स्मृतः ॥[1]

मरुतों के साथ सम्बद्ध होकर उपयुक्त समय पर वर्षा करता है इसलिए इन्द्र नाम पड़ा—

इरां दृणाति यत्काले मरुद्भिः सहितोऽम्बरे ।
रवेण महता युक्तस्तेनेन्द्रमथवाब्रुवन् ॥[2]

ये वस्तुतः भारतीय आर्यों के सर्वाधिक प्रिय राष्ट्रीय देवता हैं। प्रायः २५० सूक्त केवल इन्हीं की स्तुति में कहे गये हैं और यदि इनमें उन सूक्तों को भी सम्मिलित कर लिया जाय कि जिनमें इनकी स्तुति आंशिक रूप में की गयी है तो यह संख्या ३०० तक पहुँच जाती है। स्तोता जिस समय इनकी स्तुति करते हैं तो लगता है मानो उन्होंने हृदय की सम्पूर्ण भावुकता उड़ेल कर रख दी है। वेद में भी जितना स्पष्ट मूर्तीकरण इस देवता का हुआ है उतना अन्य किसी का नहीं। इनके वर्णन में दैहिक गुणों का उल्लेख है : एक सिर है और दो भुजाएँ हैं। इनकी भुजाएँ लम्बी, दूर तक फैलने वाली, विशाल, शक्तिशाली और सुदृढ़ हैं।[3] इनके कंधे और पेट भारी हैं[4] तुविग्रीवो वपोदरः—इन्हें कभी बुढ़ापा नहीं सताता और सदैव युवा ही रहते हैं।[5] यद्यपि कहीं-कहीं इनके हाथों में बाण और तरकस लेकर युद्ध करने का भी उल्लेख है।[6] तथापि इनका प्रिय एवं प्रधान अस्त्र वज्र है। यह वज्र त्वष्टा द्वारा निर्मित है, लोहे का बना हुआ है, वनगामी है और सदैव इनके हाथों में रहता है। इन्द्र सर्ववीर है, नेता है, क्षिप्रधन्वा है और शत्रु-सेनाओं पर सदैव विजय पाता है। वह युद्ध में सदैव अविजित है, किसी से उसका पराभव नहीं होता। बहुत-से स्थानों पर कहा गया है कि इन्द्र अकेला ही सारे शत्रुओं को समूल नष्ट करने में समर्थ है। एक मन्त्र में उसकी प्रशंसा करते हुए उसे रथियों में सर्वश्रेष्ठ और वाजिनियों का स्वामी कहा गया है—

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ।
रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिम् ॥[7]

---

१ बृहद्देवता २।३५
२ वही २।३६
३ ऋग्वेद ६।१९।३, ८।३२।१०
४ वही ८।१७।८
५ वही ६।१९।२
६ अथर्व० १९।१[illegible]।४
७ ऋग्वेद १।११।१

इसी से आगे उसे जेता और अपराजित "त्वमभिप्रणोनुमो जेतारमपराजितम्" कहा गया है। यह भी कहा गया है कि वह अप्रतिहत गति है तथा सिन्धु और पर्वत भी उसकी गति में रुकावट डालने में असमर्थ हैं।

उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य असुर विनाश है। स्थान स्थान पर इस बात का उल्लेख है कि किस प्रकार उसने वत्र, नमुचि, शुष्ण, शुम्बर, मृग, विप्र, मृगय आदि राक्षसों का नाश किया। न जाने कितने स्थानों पर उससे प्रार्थना की गई है कि वह आकर राक्षसों का विनाश करे। असंख्य स्थानों पर उसे 'वत्रहा' और 'वृत्रहन्ता' जैसे विशेषणों से याद किया गया है। असुरों का यह विनाश कभी कुत्स की सहायता के लिए है तो कभी राजा दिवोदास की। इस बात का भी उल्लेख है कि उन्होंने शम्बर के पुरों का नाश किया[1] और ६६ पुरों का भेदन कर वत्र का वध किया।[2]

यही कारण है कि महत्ता में वह अप्रतिम है। वह सब धर्मों का एकमात्र स्वामी है—

स हि विश्वानि पार्थिवा एको वसूनि पत्यते।[3]

और जिसके यज्ञ में इन्द्र सोम पीता है वह कभी दुःखी नहीं होता—नस राजा व्यथते यस्मिन्निन्द्रस्तीव्रं सोमं पिबति गोसखायम्।[4] यह भी कहा गया है कि यदि इन्द्र रक्षक हो तो फिर किसी प्रकार का भय नहीं। इन्द्र के भय से मेघ वर्षा करते हैं, आकाश, पृथ्वी और सारा विश्व उससे डरता है—

त्वद्भियेन्द्र पार्थिवानि विश्वाच्युताचिच्च्यावयन्ते रजांसि।[5]
द्यावाक्षामा पर्वतासो वनानि विश्वं दृढं भयते अज्मन्ना ते॥

यह स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्यों और देवों में इन्द्र से श्रेष्ठ कोई नहीं।

सोम इन्द्र का प्रिय पेय है और वत्र का वध करने के लिए जाते समय वह इसे अवश्य पीता है। जन्म के पहले दिन ही इन्द्र द्वारा सोम का पान किया जाना इस बात का सूचक है कि यह सोम उसे अत्यधिक प्रिय है। इन्द्र द्वारा पर्वतों के पंखों को काटकर उन्हें अचल रूप दिये जाने का उल्लेख भी ऋग्वेद में है। इनके शतक्रतु होने की भी चर्चा है। मरुत इसके प्रधान सहायक हैं और प्रायः सभी विजयों में वे इसके साथ रहते हैं। सोम पान के समय कभी-कभी स्तोता इसके साथ बृहस्पति का भी आह्वान करते हैं।

---

१ ऋग्वेद, ६।२२।४
२ वही, ८।१७।८
३ वही, ७।१६।२०
४ वही ५।३७।४
५, वही, ६।३१।२

कुछ मिलाकर ये वेद के सर्वाधिक शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण देवता हैं।

विष्णु

व्याप्त्यर्थक विश् धातु से विष्णु की व्युत्पत्ति हुई है। शौनक के अनुसार भी व्याप्ति को व्यक्त करने वाली विश अथवा वविष धातु से विष्णु की व्युत्पत्ति हुई है—

विष्णुर्विशतेर्वा स्याद् वेवेष्टेर्व्याप्तिकर्मणः।
विष्णुर्निरुच्यते सूर्यः सर्वं सर्वान्तरश्च यः।[1]

सम्भवतः इस धातुगत अर्थ ने भी विष्णु की महत्ता का विस्तार करने में कुछ सहायता की हो। विष्णु जो आगे चलकर ब्राह्मणकालीन पुराकथा शास्त्र में देवाधि-देव के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद पर आसीन हुए ऋग्वेद में इतने अधिक महत्त्वपूर्ण देवता नहीं। मन्त्रों की संख्या के आधार पर तो उनका स्थान चतुर्थ है। पर ध्यान पूर्वक देखने से विष्णु उससे अधिक महत्त्वपूर्ण लगते हैं जितना महत्त्व इन्हें संख्या के आधार पर दिया जाता है। आरम्भ में विष्णु सूर्य के बारह नामों में से एक है। इनके चरित्र की सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने तीन पगों से भुवनत्रय को व्याप्त कर लिया—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे॥[2]
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्॥[3]

इसका उल्लेख लगभग एक दर्जन बार हुआ है। ये तीन पग सूर्य के उदय, मध्याह्न और अस्त हैं। यास्क के पूर्ववर्ती और्णवाभ तथा यूरोप के अधिकांश आधुनिक विद्वानों को यही मत मान्य है। अन्ततोगत्वा ऋग्वेद के ये उल्लेख ही विष्णु की उस वामनावतार-कथा में परिवर्तित हुए जो परवर्ती ब्राह्मण ग्रन्थों और महाकाव्यों में इतनी अधिक प्रचलित और लोकप्रिय हुई। इन तीन पगों के विषय में वेदों में ही कहा गया है कि इनमें से दो पग अथवा स्थान तो मनुष्य को दिखायी पड़ते हैं किन्तु तीसरा तथा उच्चतम पग मनुष्य की पहुँच व पक्षियों की उड़ान के बाहर है।[4] इस बात का भी उल्लेख है कि विष्णु के इस पद को सभी स्तोता प्राप्त करना चाहते हैं—

तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम्॥[5]

---

१ बृहद्देवता २।६९
२ ऋग्वेद १।२२।१७
३ वही १।२२।१८
४ वही १।५५।५, ७।९९।२
५ वही १।२२।२१

इस बात की भी चर्चा ह कि वह विष्णु का प्रिय आवास ही ह जहाँ पुण्यात्मा लोग आनन्दपूवक जीवन व्यतीत करते है, जहा मधु का एक कूप ह ।[1]

यह ठीक ह कि वृत्र आदि राक्षसो के नाश का काय वेद म इन्द्र ही करते हैं पर वही इस बात के भी सकत है कि विष्णु वीयशाली हैं और इन्द्र की सहायता भी करते है। एक वेद मन्त्र म कहा ह कि विष्णु के वीय का वणन कौन कर सकता ह—

विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोच य पार्थिवानि विमम रजासि ।।[2]

एक अन्य मन्त्र म उन्हे इन्द्र का योग्य सखा कहा गया ह—

विष्णो कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे । इन्द्रस्य युज्य सखा ।।[3]

यह भी कहा गया है कि विष्णु और इन्द्र न मिलकर 'दासो' पर विजय प्राप्त की, शम्बर के ६६ दुर्गों को ध्वस्त किया और वर्चिन के दल को पराजित किया ।[4] विष्णु के सम्बन्ध म ऋग्वेद मे जो गरुत्मत और सुपण शब्द आय है—और बाद के काल मे जो गरुड के पर्यायवाची बन हैं वे आरम्भ म सूय पक्षी वाचक ही थे ।

रुद्र

इस शब्द की व्युत्पत्ति विद्वानो के अनेक प्रकार स की है । ग्रासमैन इसकी उत्पत्ति 'रुद्र' धातु से मानते हैं जिसका अनुमानात्मक अथ चमकना अथवा पिशल के अनुसार अरुणाभ होना है । इस व्युत्पत्ति के अनुसार रुद्र का अथ 'प्रदीप्त' अथवा 'लाल' होगा । पर भारतीय परम्परा म यह शब्द रोने के अथ म 'रुद' धातु से व्युत्पन्न माना जाता है । आचाय सायण ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है जो सबको अन्तकाल म रुलाता हो—रोदयति सवमन्तकाले इति रुद्र । (१) ससार नाम के दु ख को दूर करने या नाश करने म इसका नाम रुद्र है—रुत ससाराख्य दु खम, तत द्रावयति अपगमयति, नाशयतीति रुद्र । (३) वाणी या आत्मविद्या का उपदेष्टा होने के कारण उसका नाम रुद्र है—रुत शब्दात्मिका वाणी, तत प्रतिपाद्या आत्म विद्या वा, तामुपासकेभ्या राति ददातीति रुद्र । अन्धकार का दूर करने के कारण इसका नाम रुद्र है—रुणद्धि आवृणोति इति रुत् अन्धकारादि तत दणाति विदारयीति रुद्र । तैत्तिरीयक म भी रोने के सम्बन्ध म ही इसकी व्युत्पत्ति मानी गयी है—

सोऽरोदीत् यदरोदीत्तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम् ।

शौनक के अनुसार भी रुद्र नाम पडने का कारण यह है कि इन्होने गजन करते हुए मनुष्यो के लिए विद्युत सहित वृष्टि की—

---

१ ऋग्वेद, १।५४।५
२ वही, १।१५४।१
३ वही, १।२२।१६
४ वही, ७।८।४

अरात्नीन्त्वरिमे यन् विपुन वष्टि दन्तनणाम ।
चतुर्भिश्च पिनिम्तन रुद्र स्तयभिमन्तुन ॥[1]

वृद्ध भी हा वन्तिकालीन दवताओ म स एक दवता यह भी हैं। इनक अग स्थिर हैं और इनका रग वभ्रु है—स्थिरभिरङ्गै पुरुरूप उग्रा वभ्रु ।[2] य स्थिर धनवा हैं वाणा का तीव्र गति म फकत हैं और युद्ध म अनभिभूत रहत हैं।[3] इनका धनुष हिरण्मय भी है और हर रग का भी। उनक वाण बडे-बडे हैं। इनका काप भारी है और स्थान-स्थान पर प्राथना की गयी है कि य अपन आयुधों का दूर रखें। एक मत्र म कहा गया है कि हे रुद्र! हमार पुरुषा, गौआ और बकरा का मत मार।[4] उनम यह भी प्राथना की गयी है कि तुम जगली पशुआ का मारो ग्राम्य पशुआ का छाड दा।[5] यह भी प्रायना है कि व न बच्चा का मारें, न बूढा का और न अय किसी का। समवत इनक काप की उग्रता और शक्तिमत्ता क कारण ही इस आन-जान उठत और बठत समय नमस्त की गयी है—

नमस्त स्त्वायत नमाऽस्तु परायत ।
नमस्त रुद्र तिष्ठते आसीनाय ते नम ॥[6]

विशेषण क रूप म शिव शब्द का प्रयाग यजुर्वेद म आया है। कपर्दी (जटा धारी) और नीलग्रीव उनक य विशेषण भी यजुर्वेद म ही मिलते हैं। पशुपति भूति तथा भव और शव इनक इन विशषणा का भी प्रयाग अथववद म मिलता है—महत भवाशर्वो महतम।

अग्नि

किसी भी अय दवता की अपक्षा अग्नि का ही मानव जीवन क साथ घनिष्ठतम सम्बन्ध है। मनुष्यों क आवासों-गहा क साथ इस दवता का विशषरूप म सम्बन्ध है अत वद म इन्हें गृहपति की उपाधि म विभूषित किया गया है। वस भी यज्ञ प्रधान आर्यों म अग्नि का महत्त्व सबस अधिक है। यह यजमान की हवि का दवा तक पहुचाता है और दवा का पथ्वी पर लाता है। यही कारण है कि वदिक दवा म इन्द्र के पश्चात इन्हीं का सबस अधिक प्रमुख स्थान है। ऋग्वद क लगभग २०० सूक्ता म

१ बहद्दवता, २।३४
२ ऋग्वेद २।३३।६
३ वही, ७।४६।१
४ वही ७।४६।२
५ वही २।३३।१०
६ वही ११।२।२१
७ ऋग्वेद ७।४७।१२
८ अथव०, ११।२।२५

इसकी स्तुति है और कितने ही अन्य सूक्तो में अन्य देवो के साथ भी इसका स्तवन है। इसके पिता द्यौस हैं और इन्ही से अग्नि की उत्पत्ति हुई है।[१] कही-कही इसे द्यौस और पृथ्वी, दोनो ही की सन्तान कहा गया है।[२] दो अरणियो के घर्षण से इस देवता का जन्म होता है इस बात का उल्लेख भी है।[३] अरणी ही माता है और अरणि ही पिता हैं, इनमे भी ऊपर की लकडी पुरुष है तथा नीचे की स्त्री।[४] कही-कही इसी अग्नि को द्विजन्मा कहा गया है उसका कारण उसकी आकाश और पृथ्वी से उत्पत्ति है। ऊँचे और नीचे के क्षेत्रो मे इसके जिस आवास की चर्चा है उसका भी भाव आकाश और पृथ्वी, दो स्थानो की उत्पत्ति से ही है।[५] वेदो मे न जाने कितने स्थानो पर अग्नि को धन का देने वाला कहा गया है।[६] यह भी प्रार्थना की गयी है कि वह हमारे शत्रुओ का नाश करे—"अग्नि रक्षांसि सेधति।"[७] इस बात का भी उल्लेख है कि वरुण, अर्यमा और मित्र तीनो देवता अग्नि का उद्दीपन करते हैं और अग्नि की पूजा करने वाला विश्व भर को जीत लेता है।[८] कुछ स्थानो पर अग्नि को इन्द्र विष्णु वरुण और रुद्र कहा गया है।[९] यह अग्नि मरण धर्म से रहित है और सबमे निहित है।

वरुण

यद्यपि वैदिकोत्तर साहित्य मे वरुण का महत्त्व एकदम घट गया है पर वैदिक देवताओ मे इन्द्र के साथ साथ इन्हें भी महत्त्वपूर्ण देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। वास्तविक बात तो यह है कि अनेक कारणो से वरुण का महत्त्व इन्द्र के महत्त्व से कुछ अधिक ही है। यह देवता नैतिक व्यवस्था का प्रबन्धक या अधिष्ठाता है। यह देवताओ का राजा है और इसका निवास-स्थान स्वर्ग मे है जो सोने से भरा हुआ है। इसके घर मे हजारो दरवाजे हैं, इसके कपड़े चमकीले हैं, उसके पास ऐसे गुप्तचर हैं जिन्हें कोई धोखा नही दे सकता। वेदो मे वरुण को असुर(प्राणवान) कहकर पुकारा गया है। यह भी कहा गया है कि यह माया के द्वारा शासन करता है और उसकी यह माया देवताओ के लिए शुभ है और असुरो के लिए अशुभ। इस माया रूपी शक्ति

---

१ ऋग्वेद, १०।४५।८
२ वही, ३।२।२
३ वही, ३।२९
४ वही, ३।२९।३
५ वही, १।१२८।३
६ वही, १।१।१, १।२।१ अथर्व० १९।४।३
७ वही, ७।१५।१०
८ वही, १।३६।४
९ वही, २।१

द्वारा वह उषा और सूर्य को पृथ्वी नाक पर भेजता है। वरुण के साथ जिस अन्य देवता का स्तवन किया जाता है वह मित्र है। इसका नाम घृतव्रत भी है क्योंकि यह नक्षत्रों आदि का नियमन रखता है। नैतिकता का रक्षक होने से यह अशुभ व्यक्तियों को अपने पाशों से बाधकर रखता है।

अश्वि-द्वय या अश्विनौ

मन्त्र-संख्या के आधार पर इन्द्र अग्नि और सोम के बाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण देवता अश्विद्वय ही हैं। प्राय सभी मन्त्रों में इन दोनों के साथ साथ ही रहने का उल्लेख है। यद्यपि इनकी गणना द्यु स्थानीय देवताओं में होती है पर प्रकाश-सम्बन्धी किसी विशिष्ट घटना के साथ इनका स्पष्ट सम्बन्ध न होने से इनकी वास्तविक मूल प्रकृति की व्याख्या व्याख्याकारों के लिए एक समस्या ही बनी रही है। इनका माग स्वर्ण का बना हुआ है और इस बात का भी उल्लेख है कि इनका सुनहरी रथ ऋभु देवताओं द्वारा सजाया जाता है। इनके दो विशेषण हैं— दस्र और नासत्य। मधु के साथ इनका विशेष सबन्ध है। कितने ही स्थानों पर इन्हें मधुयु और मधुपा (मधु का पान करनेवाला) कहकर पुकारा गया है। इस बात का भी उल्लेख है कि मधु मक्खियों को मधु देने का काम इन्हीं देवताओं का है। अन्य देवों के समान ये भी सोम रस के प्रेमी हैं। ये वे दिव्य चिकित्सक हैं जो अपने उपचार द्वारा व्याधियों का उपशमन, दृष्टि-दान और अपंग तथा रुग्ण व्यक्तियों को स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। ये देवों के चिकित्सक हैं और रोगों को मृत्यु से दूर भगाते हैं। ऋग्वेद में इस बात का भी उल्लेख है कि जराक्रान्त और परित्यक्त च्यवन ऋषि को इन्होंने दीर्घ जीवन और नवयौवन प्रदान किया। इनके अतिरिक्त ऐसे अनेक व्यक्तियों का उल्लेख है कि जिन्होंने अश्वि-द्वय की कृपा से स्वास्थ्य-लाभ किया।

ऊपर जिन देवों का उल्लेख किया है उनके अतिरिक्त द्यौस मित्र सविता पूषा उषा मरुद्गण वायु पर्जन्य आप नदियाँ पृथ्वी आदि अनेक ऐसे देवता हैं जिनका वर्णन वेदों में मिलता है। इन देवों ने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की देव भावना पर जो प्रभाव डाला है वह नगण्य ही है, अतः यहाँ उनका सविस्तार वर्णन हम अपेक्षित नहीं।

ब्राह्मण-काल (वैदिक देव भावना से अन्तर)

ब्राह्मण-ग्रन्थों का क्षेत्र सीमित है। इन ग्रन्थों का मुख्य प्रयोजन पूजा और बलि में प्रयुक्त मन्त्रों की प्रयोग विधि बताना है।

इन ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन यज्ञों का विवरण दिया गया है वे भी मूलतः उस परमदेव की व्याख्या करते हैं जो सृष्टि का मूल है। यज्ञ का अर्थ है दिव्य शक्तियों की परिचर्या। इन यज्ञों में जो आहुतियाँ दी जाती हैं उनका अर्थ है दिव्य शक्तियों का

आह्वान करना। आहुतियो का नाम ही आहुति इसलिए पडा कि उनके द्वारा यजमान दिव्य शक्तियो का आह्वान करता है। क्योंकि इन दिव्य शक्तियों का चाक्षुप दर्शन सम्भव नही इसलिए मानस दर्शन की अभिलाषा से भाव लिया जाता है। इसके अतिरिक्त इनमे शब्दो की धातुगत व्याख्या, उनका अर्थ और कर्मकाण्ड के रहस्य को समझाने का यत्न है और इसके लिए बीच-बीच मे कथाओ का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार इन ग्रन्थो को वेदो की व्याख्या भी कहा जा सकता है। पर वास्तव मे य व्याख्या मात्र नही है। इनकी देव भावना और वेद-काल की देव भावना बहुत कुछ एक समान होते हुए भी एकदम एक जसी नही है उसमे अन्तर है। श्री के० एस० मैकडानल के अनुसार वेदो मे मानव देवो से भय खाता है पर ब्राह्मण ग्रन्थो मे देवता मानव मे दब गए हैं।

It has been said with a good deal of truth that in the Vedic hymns man fears the god in the Brahmans man subdues the god in the Upnishadas man ignores the gods, and identifies himself as the god[1]

अर्थात—इस कथन मे पर्याप्त सत्य है कि वदिक मन्त्रो मे मनुष्य देवो से भय खाता है, किंतु ब्राह्मण ग्रन्थो मे देव मनुष्य से दबे हुए हैं, उपनिषदो मे मनुष्य देवो की उपेक्षा करता है और अपने को और देवताओ को एकाकार समझता है।

यद्यपि इनके देवता वेदो के ही देवता है पर काल क्रम से एक-दो नये देवो का आगमन भी हो गया है—य देवता है प्रजापति और ब्रह्मा। इस काल मे प्रमुख माने जाने वाले देवो मे कुछ का वर्णन इस प्रकार है।

ब्राह्मण काल विष्णु

वदिक काल के अन्तर पदोन्नति।

इस काल तक आते आते देव भावना के रूप मे पर्याप्त परिवर्तन हो चुका था। इन्द्र और विष्णु की जिस प्रतियोगिता के सकेत हम वेदो मे मिलते है, उसका स्पष्ट परिणाम हमारे सामने आ चुका था। धीरे धीरे इन्द्र पर विष्णु की विजय होती गयी, बहुत मे ऐसे विशेषण जो पहले इन्द्र के लिए प्रयुक्त होते थे अब विष्णु के लिए प्रयुक्त होने लगे।' विष्णु के हरि, केशव वासुदेव वष्णीपति वृषण ऋषभ, वकुण्ठ आदि जसे नाम पहले इन्द्र के लिए ही प्रयुक्त होते थे अथवा इन्द्र सम्बन्धी किसी वस्तु को सूचित करते थे वे धीरे धीरे विष्णु के नामो और विष्णु की उपाधियो के आधार बन गए।"[2]

---

१ ब्राह्मण एण्ड वेदाज, पृ० १०५ १०६

२ वैष्णव धर्म, पृ० १४

'तत्तिरीय आरण्यक' म किया गया मिलता है। विष्णु के महत्त्व म यह वद्धि ब्राह्मण-काल की दन है इस भाव का श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इन शब्दा म व्यक्त किया है—'अवतारवाद का विषय इस प्रकार वदिक सहिताओ के समय प्राय अज्ञात-सा ही था और उनम किय गय वामन आदि विषयक उल्लेख नितान्त भिन्न प्रसगो म आये थे। किन्तु विष्णु का महत्त्व बढा क साथ ही उनके स्वरूप म महान परिवतन हो गया और उनकी सख्या भी बढ गयी। तत्तिरीय आरण्यक म 'नारायणाय विद्महे'','वासुदेवाय धीमहि , 'तन्नो विष्णु प्रचोदयात'' कहकर नारायण वासुदव और विष्णु का एकत्व प्रतिपादित किया गया। आरम्भ म विष्णु और नारायण दवता अलग-अलग थे इनके एकीकरण के बाद इनका महत्त्व बढ गया। इह दयालु भगवान मानन की धारणा सात्वत या भागवत धम क बाद दृढमूल हुई।'[1]

इन्द्र

देवा म प्रथम स्थान पाने की दौड म यद्यपि विष्णु को सफलता मिल गयी पर फिर भी इन्द्र के महत्त्व म विशेष अन्तर नही आया। कुछ स्थाना पर तो उस अब भी सवश्रेष्ठ कहा गया है—इन्द्र श्रेष्ठो दवतानामुपदेशनात। श्रुतिरेवमुपदिशति।'[2] राक्षसा क विनाश का जो काय उसे वद-युग म सवश्रेष्ठ स्थान दिलान म सफल हुआ था, उसका वह काय अब भी ज्या-का-त्यो बना हुआ है। उसकी स्तुति के समय उसे अब भी 'रक्षोहा', 'जिष्णु', ज्योतिष्मान्' आदि विशेषणो स सम्बोधित किया जाता है। वह राक्षसो का नाश करता है युद्ध म विजय दिलाता है और ज्योतिष्मान है।

रक्षोहण पृतनासु जिष्णुम्। ज्योतिष्मत दीधत पुरन्धिम्॥

यह भी कहा गया है कि वह बलशाली तो है ही, उसके बल का सबको पता भी है—

त्वामिन्द्राभिभूरसि। दवो विज्ञातवीय॥

उसके वत्रहन्ता रूप का भी बार बार उसी कृतज्ञ भाव से स्मरण किया जाता है। एक स्थान पर कहा गया है कि असुरो के साथ युद्ध म वत्रहन्ता इन्द्र अकेला ही डटा रहा—

इन्द्र एव वत्रहातिष्ठ।'[3]

अन्य स्थाना पर भी जहा उन्हें 'वज्रहस्त पुरन्दर' जस विशेषणो से याद किया गया है वही उनकी शक्ति का भी गान किया गया है। एक स्थान पर कहा गया है कि इन्द्र ने जितने पराक्रम किये हैं उनका वणन कौन कर सकता है?

---

१ वष्णव धम पृ० ५४
२ तत्तिरीय, २।३।१
३ वही, २।४।३

इन्द्रस्य नु वीयाणि प्रवाचम् । यानि चकार प्रथमानि वज्री ।
अहन्नहि मन्वपस्ततनाद ॥[1]

इन्द्र ने जिस प्रकार अपने कौशल से अपने शत्रु नमुचि का फेन से वध किया उसका भी उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में है। इस बात का वर्णन है कि वज्र का मार इन पर भी इन्द्र नमुचि को न प्राप्त कर सका, न मार सका। किसी प्रकार शच्या नामक विशेषण—उसे प्राप्त किया दानों में संघर्ष हुआ नमुचि का पराक्रम बढ़ा हुआ निकला। उसने शर्त के साथ इन्द्र से सन्धि करली। शर्त यह थी कि इन्द्र न तो मुझे शुष्क वस्तु से मारे और न आर्द्र से न दिन में, न रात में। इन्द्र ने फेन का आयुध बनाया। रात्रि के बीत जाने और सूर्य के उदित होने से पहले ही इन्द्र ने फेन द्वारा नमुचि को मार गिराया।[2]

इन्द्र देवों का राजा है। सब देवता मिलकर उसका महाभिषेक करते हैं। वहां कहा गया है कि यह इन्द्र देवों में सबसे अधिक ओजवाला साहसी सत्तम अर्थात् मनवाला और कार्यों को सबसे अधिक अच्छी तरह करने वाला है। इस बात का भी सविस्तर वर्णन किया गया है कि इस अवसर पर उस ऋचा के सिंहासन पर बैठा कर किस किस देवता ने सिंहासन के किस भाग का सहारा दिया। विधिवत उसकी घोषणा के पश्चात उसे साम्राज्य का सम्राट भोगों का भोक्ता स्वराज्य का स्वराट वैराज्य का विराट राजाओं का पिता परमेष्ठी बना दिया। यह घोषणा की आज क्षत्रिय पैदा हुआ विश्व का अधिपति पैदा हुआ विश और नगरों का भाग नागनवाला पैदा हुआ शत्रु का नाश करने वाला पैदा हुआ असुरों का घातक पैदा हुआ ब्राह्मणों का रक्षक पैदा हुआ धर्म का रक्षक पैदा हुआ।[3]

अग्नि

देवों में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है। कहा गया है कि देवताओं में इसका स्थान प्रमुख है और अश्व के रूप में यह युद्ध में देवताओं का नेतृत्व करता है। यही रुद्र है जो पशुओं के साथ जाने और ढूँढे जाने का कारण बनता है। यह भी कहा गया है कि अग्नि ही सब देवताओं का रूप है सब देवताओं को आहुति इसी के द्वारा पहुँचती है—

अग्निर्वै सर्वा देवता । अग्निंहि सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहृति तद्यथा सर्वा देवता उपयाजदेव तस्मादग्न एव ।[6]

---

१ तैत्तिरीय, २।५।४
२ वही १।७।१
३ ऐतरेय ८।४।२
४ ऐतरेय २।४।२
५. गौ० सं० ब्रे० पू० २
६ शतपथ, २।२।१

फिर कहा गया है कि अग्नि देवताओ का प्रतिनिधि है। यह सबसे अधिक कोमल हृदय है, यह देवा के निकटतम है—

> अग्निर्वै देवाना मृदुहृदयतम । य वै मदुहृदयतम म येत तमुपधावेत्तस्मादग्रय एव। अग्निर्वै देवाना नेदिष्ठम्। य वै नेदिष्ठमुपसतव्याना मन्येत तमुपधावेत्तस्मादग्रय एव।[1]

ऐतरेय का कथन है कि अग्नि ही सब दवा म श्रेष्ठ है क्याकि वह सबका मुख है—अग्निर्वै सर्वा देवता । सवदेवताना मुखत्वात।[2]

एक अ य स्थान पर अग्नि और विष्णु का देवा का दीक्षापाल कहा गया है—अग्निश्च ह्व विष्णुश्च वै देवाना दीक्षापालो। तौ दीक्षाया ईशाते।[3]

इस बात का भी उल्लेख है कि अग्नि देवा का राक्षसा स बचाता है। कहा गया है कि देवता यन कर रह थे। यन का राकन के लिए तभी असुरो ने आक्रमण कर दिया। उस समय अग्नि सम्बन्धी म त्र पढे जा चुके थे, पर अग्नि पशु के चारा ओर नही ले जायी गयी थी। देवता जाग पडे और उन्हान अपनी तथा यज्ञ की रक्षा के निमित्त अग्नि की सुदृढ दीवारें खडी कर दी। राक्षस देवो का पराभव न कर सके और लौट गये।[4] यह भी विश्वास किया जाता था कि अग्नि ही सुख और अन्न का प्रदाता है—

ईडे अग्नि विपश्चित श्रुष्टी वत्तम ।

वेदा म इसके रूप का जो वणन है उससे काई उल्लेखनीय अन्तर इस काल मे नही आया।

रुद्र

रुद्र शक्तिशाली ता हैं ही, आतकवाल भी हैं। साधारण मानवो की तो बात ही क्या देवता भी उनसे भयभीत रहते हैं। शतरुद्रिय प्रकरण म यह बात इन शब्दो म कही गयी है—

> अयात शतरुद्रिय जुहोति। अत्रप सर्वोऽग्नि सस्कृत स एषोऽत्र रुद्रो दवता। तस्मिन देवा एतममृत रूपमुत्तम दधु, एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठद् अन्नमिच्छमान तस्माद् देवा अभिययुद व ना अय हिंस्याद इति।[5]

एक अ य स्थान पर उन्हें पशुपति कहा गया है। इस बात का भी उल्लेख है कि पशु उनक सरक्षण म रहते हैं—

---

१ शतपथ २।२।१० ११
२ एतरेय, पृ० १०
३ वही, पृ० ३१
४ वही प० २।२।७
५ शतपथ ६।१।१।१

तस्य रुद्र एव पशुपति पशुभ्य शुवस्मय यद् गवधुका भवति याम्नया वा एष देवो याम्नया गवधुकास्तस्माद् गावधुका भवति ।[1]

एक अन्य स्थल पर स्तोता यह प्रार्थना करता है कि पशु उनके सम्पर्क में न आयें ।[2] यों यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थकर्ता उनके रुद्र रूप से या तो स्वतः भयभीत हैं या प्रभावित हैं कि उनका विचार हो गया है कि उनकी (रुद्र की) उत्पत्ति सब देवताओं के उग्र अंशों से मिल कर हुई है ।[3] उन्हें स्पष्ट रूप से घोर और क्रूर कहा गया है और उनसे बराबर प्रार्थना की गयी है कि उनके बाण स्तोता की ओर न चलें । तथ्य यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय रुद्र को गौरवपूर्ण पद प्राप्त हो गया था । रुद्र को अन्य देवताओं द्वारा [illegible] होने पर भी सब देवों [illegible] इसलिए उन्हें देवाधिपति कहा है । ईशान और महादेव अब उनके साधारण नाम हैं ।[4]

इनका रूप लगभग वही है जैसा वेदों में था ।

पुरुष-नारायण

ब्राह्मण-काल का नया देवता है । उसकी कामना है कि वह समस्त देवताओं में श्रेष्ठ हो । उसकी इच्छा है कि विश्व के रूप में वह अपना विस्तार करे । अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह पुरुषमेध यज्ञ करता है और इस अपने उद्देश्य में सफलता भी मिलती है ।[5]

ब्रह्म

यह ब्रह्म स्वयम्भू है और प्रजापति का उत्पन्न करने वाला है । यह ब्रह्म तप करता है बलि देता है यह अव्यय है पहले भी था और आगे भी रहेगा ।[6] तैत्तिरीय में भी ब्रह्म द्वारा देवों और निखिल विश्व को पैदा करने की बात कही गयी है ।[7]

प्रजापति

यह देवों में श्रेष्ठ है । इन्द्र को जो मान्यता मिलती है वह केवल इसलिए कि

---

१ वही ५।३।३।७
२ कौशीतकी ३।४
३ ऐतरेय, ३।८।६
४ तैत्तिरीय ३।२।५
५ शवमत, पृ० २०
६ शतपथ १६।१।१।१
७ वही १०।६।५।६
८ वही, १०।४।२६
९ वही २।८।६

वह प्रजापति का मान्य उत्तराधिकारी और ज्येष्ठतम पुत्र है ।[1] इस बात का भी उल्लेख है कि अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए प्रजापति ने जो माला धारण की थी, वही माला वह इन्द्र को देता है । उसकी इच्छा थी कि सभी प्राणी इन्द्र की श्रेष्ठता को स्वीकार करें, अब पिता की माला को उनके गले में देखकर सब उसकी श्रेष्ठता को स्वीकार कर लेते हैं ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ही इस बात के भी उल्लेख हैं कि देवता असुरों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् और चतुर हैं । वे निश्चय करते हैं कि जो विजयी हो, सारे पशु उसी के हों । जो बात शक्ति के द्वारा निर्णीत नहीं हो सकी थी, उसे अब वे बुद्धि चातुर्य से प्राप्त करना चाहते हैं । शब्दों का युद्ध शुरू होता है और अन्त में देवों की विजय होती है ।[2]

श्री लक्ष्मी

इस बात का उल्लेख है कि जब प्रजापति सृष्टि का निर्माण करते-करते थक गए तो अचानक श्री का जन्म हुआ । उसके जन्म लेते ही देव उससे ईर्ष्या करने लगे और मारने पर उतारू हो गये । प्रजापति के समझाने पर वे शान्त हुए पर उसके सारे गुणों का अपहरण उन्होंने कर लिया । अग्नि ने ओज ले लिया, सोम ने राज्य, वरुण ने सार्वदेशिक राज्य, मित्र ने उत्तम कुल, इन्द्र ने शक्ति, बृहस्पति ने दीप्ति, पूषा ने सम्पत्ति सरस्वती ने समृद्धि और त्वष्टा ने सौन्दर्य । बाद में प्रजापति द्वारा बलि दिये जाने पर उसे ये सब गुण मिल गये ।[3] इस कथा का सीधा-सा भाव यह है कि लक्ष्मी में उपयुक्त सभी गुण विद्यमान हैं । परवर्ती काल में यह भाग्य और समृद्धि की देवी मानी गयी है । इसकी उत्पत्ति और आकृति निर्माण में लोकतत्त्वों का बड़ा भारी हाथ था ।[4] इस काल (ब्राह्मण-काल) से उसमें जो विशेषताएँ दिखायी गयी हैं, उपनिषद्-काल में भी उन विशेषताओं का उल्लेख है ।[5]

यहां यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि यह देवी इसी काल की देवी है । ऋग्वेद में श्री शब्द का प्रयोग तो है, पर लक्ष्मी के रूप में नहीं ।[6]

सूत्रकाल (वैदिक काल से अन्तर)

अमूर्त के मूर्तीकरण या मानवीकरण का जो सिलसिला ऋग्वेद में आरम्भ हुआ

---

१ तैत्तिरीय, १।५।६।१
२ तैत्तिरीय १६।४।१।३
३ शतपथ ११।४।१
४ डेव० हि० इक०, पृ०, ३७०
५ तैत्तिरीय, १।४
६ डे० हि० इक०, पृ० ३७०

या वह सूत्र-काल मे पूरा हो गया है। इस मानवीकरण के साथ-साथ इन देवताओ की मूर्तिया भी प्रचलित हो गयी थी।

माख्यायन सूत्र म नक्षत्रो इन्द्र तथा अग्नि की शक्ल बनान की ओर सकेत है।[1] हम इसे आसानी से आधुनिक पूजा मे काम म आन वाली प्रतिमाओ का पूव रूप मान सकते हैं। इस बात का भी विधान है कि नवनिर्मित घरो म देवताओ के स्थान और मन्दिरो म पानी छिड़का जाय।[2] चतीय या चत्य वलि की भी चर्चा है। इस वलि का देवता दूरी पर भी *होता था*। ऐसी स्थिति म यह स्वाभाविक था कि यह वलि किसी के द्वारा उस देवता तक भिजवायी जाय। भोजन के भी दो भाग होत थे, एक देवता का दूसरा ले जाने वाले का। आत्म रक्षा तथा वलि की रक्षा के उद्देश्य से ले जाने वाले को हथियार भी दिये जाते थे। यदि बीच म तर कर जाने योग्य कोई *नदी पडती थी तो नौका का भी प्रबन्ध किया जाता था।*

आश्वलायन मे इस बात का भी विधान है कि यदि वलि किसी देवता विशेष को देनी है तो वह उस पशु की होनी चाहिए जो पशु उस देवता विशेष का हो। यदि वह वलि दूर ले जानी है तो उस पशु का एक भाग उस देवता के लिए निश्चित कर *और ले जान वाले से कहे कि इस बात का ध्यान रखना कि वह वलि वहाँ अवश्य* पहुँचे।[3] यह भी कहा गया है कि देवता की मूर्ति के पास जाते ही रथ से उतर जाना चाहिए। इन्ही प्रमाणो के आधार पर श्री वी० एम० आप्टे का कथन है कि उस समय तक मूर्तियो और मन्दिरो का निर्माण हो चुका था।

The image-worship existed before Buddha and is implied in Penini's Sutras' *Vasudevarjunabhyam Kun is the only certain* thing [4]

अर्थात मूर्ति-पूजा बुद्ध-पूर्व समय म भी विद्यमान थी इसका पता पाणिनि की अष्टाध्यायी म आये हुए वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन सूत्र से पता चलता है।

इस बात का भी उल्लेख है कि जगल म देव मन्दिर होता था जिसम रह कर महानाम्नीव्रत रखने वाला विद्यार्थी उपवास किया करता था। अग्न्यागार भी एक प्रकार का मन्दिर ही है जिसकी पवित्रता का ध्यान बराबर रखा जाता है। नवनिर्मित भवन म देव-स्थापना के लिए निश्चित स्थान का विधान भी गह्यसूत्रो म उपलब्ध होता है।[5]

---

१ *सा० ग० सू० ४।१६।२।३*
२ पारस्कर ३।४।६
३ वही ३।२।१०।११
४ वही ३।२।१०।११
५ सा० रि० ला० गृ० सू० पृ० २०६
६ पारस्कर, ३।४।६

इस विषय में श्री आप्टे का मत इस प्रकार है—

Of course the idea of temple in the sense of a sacred place set apart for the purposes of worship and devotion to a deity was there as is seen from the existence of the 'Agnyagar' of fire-temple inside or outside where the Bali oblation could be offered Similarly something very much like a temple seems to be indicated when a snataka is advised to go round "God's houses" keeping his right side turned to them, met with on the way"[1]

अर्थात देवता की पूजा और भक्ति के लिए एक पवित्र स्थान—मन्दिर—होता था। इस बात का पता उस 'अग्न्यागार' से मिलता है जो घर के अन्दर या बाहर बलि की आहुति के लिए बनता था। इसी प्रकार मन्दिर से मिलते-जुलते स्थान का पता उस समय चलता है कि जब स्नातक को यह परामर्श दिया जाता है कि मार्ग में देवता का मन्दिर मिलने पर वह दायीं ओर रहे।

उपनिषत्-काल (वैदिक देव भावना से अन्तर)

वैदिक युग में हमने देव भावना के ज्ञान, कर्म और उपासना, इन तीन अंगों का उल्लेख किया है। इस युग में उनमें से केवल एक अंग रह गया है—ज्ञान। वेदों में तीनों का समन्वय है, तीनों समान हैं, न कोई बड़ा है और न छोटा। केवल एक को अपनाने से इस काल की देव भावना को एकांगी कहा जायगा। यहाँ कर्मकाण्ड (यज्ञ) का स्पष्ट शब्दों में खंडन किया गया है। भवसागर को पार करने के लिए यज्ञ रूपी नाव को अदृढ़ और अविश्वसनीय नौका कहा गया है।

श्रद्धा देव भावना का अनिवार्य अंग है। केवल तर्क के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना संभव नहीं। श्रद्धा ही वह संबल है जिसका सहारा लेकर जिज्ञासु पथिक गन्तव्य तक पहुँच सकता है। उपनिषदों में स्थान-स्थान पर इसीलिए श्रद्धा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। कठोपनिषद में लिखा है—'वह देव न वाणी से जाना जाता है, न मन से और न चक्षुओं से। उसकी प्राप्ति तो अचल आस्था से ही संभव है।'[2] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि जो कुछ विद्या और श्रद्धा से उपलब्ध होता है वही श्रेष्ठतर है—

यदेव विद्यया करोति श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तर भवति।।[3]

एक स्थान पर तो स्पष्ट शब्दों में तर्क का खंडन करते हुए श्रद्धा के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है—

---

१ सा० रि० ला० ग० सू०, पृ० २३२

२ कठोपनिषत, २।३।१२

३ मुण्डकोप० १।१।१०

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।।[1]

देव भावना के इस क्रम का स्पष्ट विकास उपनिषद्-काल की अपनी देन है।

जाति-पाँति की उदारता को भी हम इस काल की देन मान सकते हैं। सत्यकाम जाबाल जारज सन्तान है पर वह इस सत्य को छिपाता नहीं है। कहा गया है कि उसकी इस सत्यवादिता के कारण गुरु ने उसे ब्राह्मण स्वीकार किया और शिष्य रूप में दीक्षित किया। भक्ति के क्षेत्र में आगे चलकर जिस उदारता का परिचय बुद्ध भक्तियों और आचार्यों ने दिया है उसके बीज भी यहाँ विद्यमान हैं। इस काल में देव भावना का स्वरूप उतना सामञ्जस्य नहीं रखता जो ब्राह्मणों और सूत्रों में मिलता है। पर फिर भी देव भावना का सर्वथा लोप हो गया हो ऐसी बात नहीं। किसी-न-किसी रूप में वह विद्यमान है। आकाश में सहसा प्रकट हुए यक्ष का पता लगाने के लिए अग्नि और वायु उसके पास जाते हैं।[2] सर्वभुक् अग्नि तिनके को नहीं जला सकता और वायु इस तिनके को इधर से उधर नहीं उड़ा सकता। तब इन्द्र जाकर उसका ठीक पता लगाता है। यहाँ इन्द्र के साथ उसके पर्यायवाची मघवा शब्द का प्रयोग किया गया है जो पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों ही साहित्यों में आर्यों के देवों के प्रधान सेनापति तथा राजा के लिए प्रयुक्त हुआ है।[3] एक दूसरे उपनिषद् में नचिकेता और यम (जन्म मरण का अधिष्ठाता) के संवाद का उल्लेख है। यम कहता है कि हे नचिकेता मृत्यु के मुख में छूटे हुए तुझे देखकर तेरा पिता प्रसन्न होगा और गुस्से का नाश जायगा।[4] एक अन्य स्थान पर प्राणों को इन्द्र और रुद्र कहा गया है। शिक्षा आरम्भ करने से पूर्व ब्रह्मचारी द्वारा मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु, ब्रह्मा और वायु को नमस्कार किये जाने और उनसे अपनी तथा अपने गुरु की रक्षा का उल्लेख है।[4] गर्भाधान का वर्णन करते समय ऋषि ने ब्रह्मा, इन्द्र और प्रजापति को देवता कह कर पुकारा है।[5] इस बात का भी वर्णन है कि जाबाल सत्यकाम को सूर्य, अग्नि और वायु ने ब्रह्म के एक एक चरण को समझाया था।[6] यह भी कहा गया है कि अग्नि, वायु और आदित्य ने तप किया और फिर क्रमशः ऋक्, यजु और साम का उत्पादन किया। तीन प्रकार की विद्या की उत्पत्ति हुई।[7] राजसूय यज्ञ के सम्बन्ध में बतलाते हुए इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र और यम के नाम गिनाये गये हैं।[8]

---

१ कठोप० १।२।९
२ केनोप० खण्ड २१
३ कठोप० वल्ली १
४ तैत्तिरीय वल्ली १
५ ऐतरेय प० ३
६ छान्दोग्य, प्रपाठक ४
७ वही प० ४
८ बृहदारण्यक म० अ० ४ ब्राह्मण

स्मृति-काल

स्मृतियों का विषय विधि (कानून) का निर्माण है। इनमें चारों आश्रमों, चारों वर्णों, विवाह के प्रकारों, स्नातक के धर्म और दाय विभाग आदि के विषय में लिखा गया है। सामान्यतया इन विषयों का देव-भावना के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं, इसलिए स्मृति में देवभावना के विशद वर्णन की आशा करना दुराशा ही है। फिर भी प्रसंग वश इधर उधर जो उल्लेख मिल जाते हैं हम उन्हीं के आधार पर प्रस्तुत विषय का विवेचन करेंगे।

याज्ञवल्क्य स्मृति में विवाह के प्रकरण में स्त्रियों के विषय में कहा गया है कि गन्धर्वों ने इन्हें मीठी बोली दी और सोम तथा अग्नि ने पवित्रता प्रदान की—

सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वाश्च शुभां गिरम्।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितः स्मृताः ॥[1]

आगे चलकर कहा गया है कि देवताओं को दी गयी आहुतियों से अवशिष्ट अंश में भूत बलि दी जानी चाहिए—

देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषाद् भूतबलिं हरेत्।[2]

श्राद्ध की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वसु, रुद्र और अदिति के पुत्र श्राद्ध के देवता हैं और श्राद्ध से तर्पित ये देवता पितरों को तृप्त करते हैं।[3] इस बात का भी उल्लेख है कि रुद्र और ब्रह्मा ने विनायक को कर्मों के विघ्न और शान्ति के लिए गणों के अधिपति के रूप में नियुक्त किया है।[4] एक अन्य स्थान पर राजा के वरुण, सूर्य इन्द्र और वायु द्वारा पवित्र किये जाने की बात कही गयी है। स्त्री देवताओं की भी चर्चा है कहा गया है कि विनायक की माता अम्बिका को नमस्कार कर तथा दूर्व सरसों और पुष्पों द्वारा सत्कार करे।[5] इसी प्रकरण में आगे चलकर आदित्य, स्वामी कार्तिकेय तथा महागणपति की पूजा करने का विधान है।[6] यह भी कहा गया है कि धन शान्ति, वृष्टि आयु पुष्टि तथा शत्रु पर विजय प्राप्ति के लिए ग्रहों की पूजा करनी चाहिए। ग्रहों के नामों में सूर्य, सोम मंगल, बुध बृहस्पति शुक्र शनि, राहु और केतु के नाम गिनाये हैं। यह भी बताया है कि उनकी मूर्ति किस किस धातु की बनानी चाहिए। वहीं गीत के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि गीतकार योग

१ याज्ञ०, वि० प्र०, श्लोक ७१
२ वही, श्राद्ध प्रकरण, श्लोक ३
३ वही, म० ह० प्र० श्लोक ६६
४ वही श्लोक ७१
५ याज्ञ०, ग० ह० प्र० श्लोक ८६
६ वही, श्लोक ६४
७ वही, श्लोक ६४

के द्वारा परमपद प्राप्त न कर सके तो वह रुद्र का अनुचर होकर उसी के साथ मोद उठाता है।[1]

मनुस्मृति मे गुरु की महत्ता का वणन करते हुए उसे ब्रह्मा की मूर्ति तथा पिता को प्रजापति की मूर्ति कहा है—

आचार्यो ब्रह्मणा मूर्ति पिता मूर्ति प्रजापत ।[2]

गृहस्थ के कत्तव्यों म कहा गया है कि देवताओं का भाग लगाकर ही उन्हें स्वय भोजन करना चाहिए—

देवानर्षीन्मनुष्यांश्च पितन गृह्याश्च देवता ।
पूजयित्वा तत पश्चाद गृहस्थ शषभुग भवत ॥[3]

यह भी कहा गया है कि देव-काय म दो को भोजन कराना चाहिए और पितृ-काय म तीन को। मास प्रकरण म खाद्य और अखाद्य की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति देवों और पितरो की अचना किय बिना मास खाता है उससे अधिक अपुण्यकर्ता कोई भी नही है। फिर यह भी कहा है कि अपन आप खान स पूव देवताओं के लिए हवि देनी चाहिए। राजा के विषय म कहा गया है कि इन्द्र वायु यम सूय अग्नि, वरुण चन्द्रमा और कुबेर इनके अश म राजा का निर्माण होता है और यही कारण है कि वह अपन तेज स सभी को अभिभूत कर लेता है।[4] उसस अगल दो श्लोको म कहा है कि जिस प्रकार कोई तपते हुए सूय की ओर आख उठाकर नही देख पाता उसी प्रकार देवताओं के स्वरूप म निर्मित राजा की ओर कोई भी आँख उठाकर नही देख पाता। राजा के कत्तव्यों पर विचार करते हुए कहा गया है कि यदि वह ऐन्द्र स्थान (इन्द्र का स्थान, सर्वोत्तम स्थान) चाहता है तो उस साहसिक पुरुष की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

अन्त म एक बार फिर यह स्पष्ट कर दें तो उचित ही होगा कि इन ग्रन्थों म देव भावना का उल्लेख भर है विकास नही है। इसस पूव जो रूप चला आ रहा है उसी का उल्लेख बीच बीच म किया है।

पौराणिक काल (देव भावना मे अन्तर)

वदिक काल म जिसकी उत्पत्ति हुई थी ब्राह्मण और सूत्र-काल म जो पल्लवित और पुष्पित हुई थी वह देव भावना पौराणिक काल तक आते आते फलवती हो चुकी थी। इस समय तक देव भावना का रूप एकदम स्पष्ट हो गया था। हड्डियों के ढाच म मासलता और स्थूलता आ गयी थी।

---

१ यान० म० प० हू० श्लोक १६
२ मनु०, अ० २ श्लोक २२६
३ मनु०, ३।११७
४ वही ७।४ ५

ऐसी स्थिति मे देव-भावना म विस्तार का आना स्वाभाविक ही था। यह भक्ति भावना अब स्तुति प्राथना और उपासना को लाँघकर नौ रूपो मे हमारे सामने आती है। भागवत मे इसका उल्लेख इस प्रकार है—

श्रवण कीतन विष्णो स्मरण पाद-सेवनम।
अचन व दन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम ॥

इसमे पादसेवन और अचन दा का विधान तो एकदम साकार के लिए ही सम्भव है। जो भी हो, इस काल म विधि विधान या पूजा मे बाह्य पक्ष की प्रधानता हो गयी है।

वेदो मे नान, कर्म और भक्ति तीनो की स्थिति है। वहाँ इनम किसी प्रकार का विरोध नही और ये एक दूसरे के पूरक रूप मे चित्रित किये गये हैं। गीता मे यद्यपि भक्ति का स्वर कुछ तीव्रतर है पर वहाँ भी नान और कम का पक्ष निबल नही। वहा ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए नान और वराग्य को भक्ति की स तान कहा गया है। भगवान कृष्ण के ही मुख से भक्ति की महत्ता इस प्रकार घोषित करायी गयी है—

न साधयति मा योगो न सांख्य धम उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिममोजिता ॥
भक्त्या ह्येक्या ग्राह्य श्रद्धयात्मा प्रिय सताम।
भक्ति पुनाति मनिष्ठा श्वापक्निपि सम्भवान ॥

माधुयभाव—इस भाव की भक्ति का प्रचार भी इस काल की अपनी विशेषता है। वेदो और उपनिषदो मे का ता भाव की भक्ति के म त्र हैं पर वहाँ उसे वह महत्त्व नही मिला। इस काल का तो सवस्व यही है। गोपियो के साथ कृष्ण का रास इसी भाव का द्योतक है।

प्रपत्ति—जिस प्रपत्ति की हि दी-साहित्य में इतनी महत्ता है और जिसे बहुत से विद्वान भ्रा तिवश इस्लाम या ईसाइयत की देन मानते हैं उसका विकास भी इसी काल की विशेषता है। गोपिया व्रज म रहती हैं मथुरा उनसे दूर नही, है फिर भी वे कृष्ण के वियोग मे व्याकुल रहती हैं अहर्निशि कलपती हैं पर फिर भी व्रज छोड़कर मथुरा नही जातीं। उनका विश्वास है कि जब भगवान कृपा करेंगे तभी मिलन होगा, उसके लिए यत्न व्यर्थ है।

समय के हर-फेर के साथ देवताओ के साम्राज्य म थोडा बहुत परिवर्तन आ गया था। कुछ देवता ऊपर चले गये थे और कुछ नीचे आ गय थे। गणेश और शक्ति दो नय शक्तिशाली देवता प्रकट हो गय थे। देवत्रयी म रहत हुए भी ब्रह्मा पूजा से बहिष्कृत हो गये थे। देवाधिपति इ द्र स्वग के राजा तो थे पर उनका चरित्र बहुत गिर गया था। इन देवताओ म सहयोग के स्थान पर विरोध की भावना बढ गयी थी। यद्यपि शिव और विष्णु को कुछ स्थानो पर अभिन्न दिखाने का भी प्रयास लक्षित है पर

अधिकांश रचना पर इनके विराग का बहुत बढ़ा चढ़ा कर चित्रित किया गया है। कामायनी में कोई भी देव नहीं बच सका है।

इन बातों के अतिरिक्त ऋग्वेद और इस काल के देवों में महान अन्तर है। सभ्यता समृद्धि और काल के व्यवधान के साथ अन्तर का आना स्वाभाविक ही था। डा० ज्ञानप्रकाश सिंह के शब्दों में इस अन्तर का प्रकार है— ऋग्वेद के देवताओं के पास विमान भी नहीं। न उनके पास ऐसे अस्त्र हैं जैसे ब्रह्मास्त्र पाशुपतास्त्र नारायणास्त्र सुदर्शन चक्र आदि। न वहाँ कोई गरुड़ है न शेष भगवान न दिशाओं के दिग्गज और न कूर्म न वराह और न मत्स्य भगवान। कश्यप की सन्तान दैत्यों और देवताओं की परस्पर लड़ाई का कोई उल्लेख नहीं है और न समुद्र-मंथन का। देवताओं में पाप भी होता था। स्वयं इन्द्र को पाप लगा था। देवता स्वार्थ-साधन भी करते थे और भय प्राप्त होने पर पलायन भी थे। ये सब बातें ऋग्वेदीय देवताओं में नहीं हैं।[1]

कुछ भी हो जहाँ तक मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की देव भावना का प्रश्न है इस पर पौराणिक काल का सारा प्रभाव है। स्पष्टतः उसका स्वरूप वही है जो पौराणिक काल का है। अतः इस काल की देव भावना का अध्ययन करना महत्त्वपूर्ण है।

इन्द्र

वैदिक काल में जो इन्द्र आर्यों के प्रधान सेनापति थे वे अब नाना लोकों के अधिपति हैं। देवलोक या स्वर्ग के स्वामी वे ही हैं। इनका ऐश्वर्य अपार है। वहाँ नन्दनवन है कामधेनु है कल्पवृक्ष है सुधा है सुन्दर अप्सराएँ हैं जो इन्द्र का मनोविनोद करती रही हैं तथा समय-समय उनके निर्देश पर किसी तपस्वी ऋषि या इन्द्र पदाभिलाषी राजा को मार्ग भ्रष्ट करने के लिए भूलोक को भी कृतार्थ करती रहती हैं। इनकी प्रिय सवारी हाथी और घोड़ा है। हाथी का नाम ऐरावत है और घोड़े का उच्चैःश्रवा। उनके पास सुन्दर रथ भी है जिसे मातलि नामक सारथि चलाता है। वे कवच धारण करते हैं। वज्र इनका प्रिय आयुध है जो अमोघ है। इसी का दूसरा नाम अशनि भी है। इनकी पत्नी का नाम शची है और वह असाधारण सुन्दरी है। इन्द्र स्वयं असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न हैं और अध्वर्यु इनका स्तवन करते हैं।[2] हाँ यह अवश्य है कि ऐश्वर्य के मद में प्रमत्त होने के कारण वे गलतियाँ कर बैठते हैं और पाप के भागी बनते हैं।[3] किसी की उन्नति करते देखकर उन्हें ईर्ष्या होती है। छल करना इनका स्वभाव है। अपने पद को बनाये रखने के लिए पाखण्डियों का वेश बनाने और राजा पृथु के यज्ञीय घोड़े को चुरा लेने में भी उन्हें संकोच नहीं। पृथु द्वारा

---

1. विश्व० इण्डा ज० मार्च १९५५
2. हरिवंशपुराण ३।१७
3. ब्रह्मवैवर्तपुराण, ३६।१२।३०

बाण-सन्धान किये जाने पर पुरोहित वर्ग इन्हें बचाता है।[1] सदैव विजयश्री का सेहरा इनके ही सिर पर बंधता हो यह भी निश्चित नहीं। सत्यभामा के अनुरोध पर कृष्ण जब पारिजात वृक्ष उखाड़कर भूनाव पर लाना चाहते हैं तब ये कृष्ण के साथ भिड़ जाते हैं। इनके अमोघ अस्त्र वज्र को कृष्ण जब हाथ में पकड़ लेते हैं तो ये युद्ध से भाग खड़े होते हैं। कृष्ण को अपने से बड़ा और संसार का नियामक मान लेने पर ही इन्हें छुटकारा मिलता है।[2] गरुड़ के साथ युद्ध में भी इनकी पराजय होती है और गरुड़ अपनी मां को दासी भाव से मुक्ति दिलाने के लिए अमृत ले जाने में समर्थ हो जाते हैं।[3] च्यवन ऋषि द्वारा अश्विनीकुमारों को सोम रस पीने का अधिकार दिये जाने पर ये बिगड़ खड़े होते हैं वज्र से ऋषि पर प्रहार करते हैं और बाहु स्तम्भित हो जाने पर ऋषि की शरण में जाते हैं। काम लिप्सा और इन्द्रिय लोलुपता भी इनमें बहुत है। देवशर्मा मुनि की पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण मायावी रूप बनाकर उससे काम निवेदन करने में इन्हें संकोच नहीं—सुकला के पातिव्रत्य को भंग करने के लिए वे सभी चेष्टाएँ करते हैं।[4]

कुल मिलाकर उनकी स्थिति न तो प्रशंसनीय है और न स्पृहणीय ही। वे अपने अनुज विष्णु के आदेश पर चलने वाले सेवक से बहुत अच्छे नहीं। श्री कृष्णावतार में कृष्ण उन्हें आदेश देते हुए कहते हैं—

गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेऽनुशासनम्।
स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः साम्यवर्जितैः॥[5]

बस कुल मिलाकर वे स्वर्गाधिपति हैं और देवों के नियामक हैं, इसमें सन्देह नहीं। उनके कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—देवराज सुरपति महेन्द्र शचीपति, मघवा पाकशासन, पुरन्दर, पुरहूत, जिष्णु, गोत्रभित वृत्रहा सहस्राक्ष, वज्रपाणि, पर्वतारि दिवस्पति, वासव।

इस काल तक आते-आते इन्द्र के रूप में महान परिवर्तन हो गया है। वेद में वे प्रकृति के देवता हैं। यद्यपि काल क्रम से उनका प्राकृतिक रूप कुछ धुंधला और दूरागत सा दीख पड़ता है पर उनके प्राकृतिक देवता होने में किसी को भी सन्देह नहीं। वेद में वे सर्वाधिक शक्तिशाली देवता हैं। राक्षसों के विनाश का गुरुतम कार्य वे ही करते हैं। विष्णु वहाँ उनके सहायक भर हैं। परवर्ती साहित्य में विष्णु को इसीलिए उपेन्द्र कहा गया है। इस काल तक आते-आते उन्हें एकदम मानवाकार दे दिया गया है। उनके लोक का नाम स्वर्ग है और वे उसके स्वामी हैं। उस स्वर्ग

१ भागवतपुराण स्क० ४ अ० १९
२ विष्णुपुराण, ५।३०
३ पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड
४ वही, भूमिखण्ड
५ भागवतपुराण, १०।२७।१५

का ऐश्वर्य अपार है। वहाँ कामधेनु है पारिजात वृक्ष है नन्दन वन है घृत और मधु की धाराएं बहती है। वहाँ का यौवन अक्षत है और वहाँ रम्भा मेनका और उर्वशी जैसी रूपवती अप्सराएँ है। इनकी पत्नी का नाम शची है। उनके पास विशाल वाहिनी है। वे अब भी राक्षसो से युद्ध करते हैं पर विजय सदैव उन्ही का वरण नही करती। वे पराजित भी होते है और उनकी सहायता के लिए नरनारी से राजाओ का निमन्त्रण मिलता है। उनका राज्य भी खतरा से परे नही। कोई भी मानव सौ यज्ञ पूरे करके उस पद के साथ शची को भी प्राप्त कर सकता है।

अब उनके गौरव का ह्रास हो गया है। अब वे उपेन्द्र (कृष्ण रूप) के सकेता पर चलने वाले सामन्त है। सत्यभामा उन्हे नीचा दिखाने के लिए ही कृष्ण से पारिजात वृक्ष को उखड़वाकर भूलोक ले जाती है। ब्रज को डुबो देने के यत्न मे भी उन्हे कृष्ण से पराजित होना पड़ता है। उनका चारित्रिक पतन भी हो गया है। वे गौतम का वेश धारण कर अहल्या से समागम करते है और गौतम के शापवश सहस्रभग हो जाते है।

विष्णु

इस काल तक आते आते जगन्नियन्ता के पद पर अधिष्ठित हो चुके है। पुराणो मे इन्हे स्थान स्थान पर 'सर्वदेव-नमस्कृत' कहा गया है।[1] देवत्रयी मे इनका स्थान सबसे ऊँचा है। इस बात को समझाने के लिए भृगु द्वारा ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनो देवो के पास जाने और अन्त मे उनके द्वारा विष्णु को सर्वोच्च घोषित किये जाने की कथा सविस्तार कही गयी है।[2] कठिन से कठिन काय को करने वाले वे ही हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के समय पृथ्वी को जल मे मग्न देखकर जब ब्रह्मा चिन्तित हो उठे, उस समय ये उनकी नाक से शूकर रूप मे प्रकट होते हैं। आरम्भ मे शूकर का परिमाण अंगुष्ठमात्र है तथा क्षणभर मे ही ये हाथी का आकार धारण कर पानी मे घुसते हैं और हिरण्याक्ष का वध कर पृथ्वी का उद्धार करते है।[3] समुद्र मन्थन के समय जब देवो और दानवो के सम्मिलित यत्न से भी अमृत नही निकलता तब विष्णु ही कच्छप बनकर मन्दराचल को अपने ऊपर धारण करते हैं और इस प्रकार अमृत निकालने मे सहायता करते हैं।[4] देवताओ के अन्तिम शरण्य यही है। जब कभी देवो पर कोई भारी विपत्ति आती है तो यह उनका उद्धार करते है। इनके विभिन्न अवतारो का कारण भी यही है। राक्षसो द्वारा अमृत छीन लिए जाने पर भयभीत देवो

---

१ भागवतपुराण ३।१५।१३
२ वही १०।८६।१ ।३
३ वही ३।१३
४ वही, ८।६।८ १०

की रक्षा के लिए मोहिनी का रूप धारण कर राक्षसो को छलने का काम भी इन्ही का है।[1] बलि राजा द्वारा इन्द्र के निष्कासित हो जाने और देवो के बेघरबार हो जाने पर वामनावतार मे तीन पदो से भुवनत्रय को नापने और उस पद पर इन्द्र को पुन प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी इन्ही को है।

वास्तविकता तो यह है कि समस्त ससार म विष्णु ही व्याप्त है। कहा गया है कि स्वय विश्वेश्वर भगवान विष्णु ही ब्रह्मा होकर रजोगुण का आश्रय लेकर इस ससार की रचना म प्रवृत्त होते हैं। रचना हो जाने पर सत्त्वगुण विशिष्ट अतुल पराक्रमी भगवान् विष्णु कल्पपर्यन्त उसका पालन करते हैं। फिर कल्प का अन्त होने पर अतिदारुण तम प्रधान रुद्र रूप धारण कर वे जनार्दन विष्णु ही उसका भक्षण करते हैं। वे भगवान सर्वोपरि हैं, स्वत वे भुवनत्रयक्वीर " भी हैं। वीरता म अन्य देवी-देवता इनका मुकाबला नही कर सकते। सम्मुख युद्ध म आने पर शिव को भी इनसे पराजित होना पडा है। मधु, कटभ हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु-जैसे असुरो का विनाश इन्होने ही किया है।

भक्तवत्सलता ये बडे ही भक्त-वत्सल हैं। भक्त इन्हें अपने प्राणो से भी प्यारे हैं। अपने प्रति किय गये अपराध को तो ये हस कर सह लेते हैं पर भक्त के प्रति किये गये अपराध का बडा कठोर दण्ड देते हैं। अन्य देवो की अपेक्षा ये दुराराध्य तो हैं आरम्भ मे कठोर परीक्षा भी लेते हैं, पर एक बार प्रसन्न और सन्तुष्ट हो जाने पर भक्त के लिए सब कुछ करने को तत्पर रहते हैं। विष्णु-भक्त राजा अम्बरीष द्वारा जल से व्रत का पारण कर लेने पर जब परम क्रोधी दुर्वासा उसके विनाश के लिए कृत्या को भेजते हैं तो विष्णु अपने सुदर्शन चक्र से उसका नाश कर देते हैं। चक्र द्वारा पीछा किये जाने पर ब्रह्मा और महादेव भी जब दुर्वासा की रक्षा नही कर पाते तब वह अन्त म वह विष्णु की ही शरण म आते हैं। गजेन्द्र के उद्धार के लिए भगवान विष्णु गरुड पर चढकर आते हैं और उसे बचाने के लिए एकदम सरोवर म कूद पडते हैं। गजेन्द्र का तो उद्धार होता ही है नक्र भी दिव्य रूप धारण कर स्वर्ग मे चला जाता है।

कभी-कभी देव कार्य के लिए ये ऐसा भी कार्य करते हैं जो देखने म उचित प्रतीत नही होता। पार्वती के अनुरोध पर जलन्धर नामक दैत्य की पत्नी का छल पूर्वक पातिव्रत्य भग करने म इन्हें सकोच नही होता। इस बात का भी उल्लेख है कि ये ब्राह्मण का वेश बनाकर शखचूड से कवच मांगते हैं और उसकी स्त्री तुलसी का सतीत्व नष्ट करते हैं। तुलसी इन्हें पाषाण होने का शाप देती है।

इनका वर्ण श्याम है, वस्त्र पीले हैं, कटि प्रदेश म किंकिणी है वक्ष स्थल पर वत्स की स्वर्णमयी रेखा है गले म कौस्तुभमणि है, चार भुजाएँ हैं, इन चारो भुजाओ

१ भागवत पुराण, ८।९।१५ २९

म ये शख, चक्र, पदम और गदा धारण किय रहत हैं। कहीं-कहीं इनकी आठ भुजाओं का भी उल्लेख है—

कृतपाद सुपर्णांसि प्रलम्बाष्टमहाभुज ।
चक्रशंखासिचर्मेषु धनुपाशगदाधर ॥

गदा भी इन्हें प्रिय है और उसका नाम कौमादकी है। शख का नाम पाचजन्य है और धनुष का शार्ङ्ग। इनका स्थायी आवास वकुण्ठ है। वहाँ का वभव अपार है। इनके सुनन्द नन्द प्रवन मुख्य पापदगण इनकी सवा म निरत हैं। इनका मुखकमल मधुर मुस्कान स युक्त रहता है।

आँखो म लाल-लाल डोरे तथा चितवन बहुत ही मधुर और मोहक है।[1] ऋद्धियाँ सिद्धियाँ इनकी दासी हैं। वर्षा ऋतु म य क्षीर-सागर म निवास करत हैं। लक्ष्मी इनकी पत्नी है जो इनक अवतारो म भी इनके साथ रहती है। और सागर म शयन करते समय शेषनाग इनकी शय्या का काम दता है।

वदिक और पौराणिक रूप में अन्तर

वेद के विष्णु देवताओ म प्रथम श्रेणी क दवता नहा हैं। वहाँ वे सौर शक्ति के रूप म मान गए हैं। सूय सम्पूण सष्टि म प्रकाश रूप स व्याप्त है इसलिए सूय का रूप ही विष्णु है। सम्पूण विश्व का उन्होन कवल तीन पगो द्वारा पार कर लिया है वहाँ इस बात का उल्लेख है पर य तीन पग आकाश की तीन स्थितियाँ हैं—उदय उत्कप और अस्त। वहाँ य इन्द्र क सहयोगी क रूप म चित्रित किय गय हैं। इनका स्थान द्वितीय है प्रथम नहा। पर पौराणिक काल म य प्रकृति क देवता न रहकर अखिल जगत के निर्माता परब्रह्म बन गए हैं। उनके इन तीन पगो को लेकर वामनावतार की भावना इस समय तक दृढ हो गयी है। उनक इन तीन पगो का सम्बन्ध छल द्वारा बलि के राज्यापहरण और उसक पाताल लोक भजन से हो गया है।

इस काल तक आते आते उनक वकुण्ठ लोक की स्थापना हो गयी है। वहाँ उनकी नित्यसगिनी लक्ष्मी उनके साथ रहती है उनक विशाल प्रासाद हैं पापद हैं प्रहरी हैं। साधारण मानव स भिन्न चित्रित करन क लिए उनकी चार भुजाओ का उल्लेख है और कहीं-कहीं आठ भुजाओ का भी। दवो क कल्याण के लिए उन्ह कभी कभी छल का भी सहारा लेना पड़ता है। जलन्धर नामक दत्य की सती नारी के सतीत्व को भग करन का गुरुतर अपराध भी उन्ह करना पडा। कभी-कभी इनका शिव क साथ सघष भी दिखाया गया है। जबकि वदिक काल म उनके इस रूप के सकेत तक भी नहा मिलत।

१ भागवत ६।४।२५

श्री कृष्ण

कृष्ण रूप म विष्णु ही अवतार लेत हैं। वे साक्षात भगवान हैं। ब्रह्मा आदि देवो के स्वामी हैं, जगत के एकमात्र आराध्य दव हैं। भीष्म अन्तिम समय म उनके दशन पाने पर अपने का सौभाग्यशाली मानत हैं और उनकी विविध प्रकार से स्तुति करत हैं। युद्धोपरान्त उनके द्वारका जात समय विविध व्यक्ति विविध प्रकार से स्तुति करते हैं।[1] अत जा विशेषताएँ विष्णु की है व ही कृष्ण की भी हैं। कृष्ण के रूप म उनकी तीन पत्नियाँ हैं—रुक्मिणी, सत्यभामा और साम्बवती। इनके विविध कृत्यो से कई पुराणें भरी पडी हैं। इनक अवतार का प्रमुख उद्देश्य अधम का नाश और धम की स्थापना है। उन्होंने अपने ही मुख से श्रीमदभगवद्‌गीता म इस प्रमुख उद्देश्य को इन शब्दो म व्यक्त किया है—

यदा यदा हि धमस्य ग्लानिभवति भारत।
अभ्युत्थानमधमस्य तदात्मान सजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूना, विनाशाय च दुष्कृताम।
धमसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे॥[2]

शिशु रूप मे प्रगट होने से अपने लीला धाम म जाने के समय तक किये गये उनके सब कार्यों का लक्ष्य भू भार को उतारना है। बच्चो को मारने वाली पूतना के स्तन पीते समय उसके स्तना का दबा कर उसे मार देना, उसके शरीर के जलाय जाने पर चन्दन-जसी सुग ध का फलना, पापीयसी होत हुए भी भगवान को स्तन पिलान से उसको सदगति मिलना[3] कालिय नाग का यमुना-कुण्ड म से निकाल कर समुद्र म भेजना, ब्रजवासिया को निगलन क लिए बढने वाली दावाग्नि को निगल जाना[4] आदि उनके कार्यों का वणन सविस्तार किया गया है। इन्द्र की पूजा रोक दिय जान पर इन्द्र का क्रोध म भर कर मघो और आँधियो को व्रज के नाश के लिए भेजना तथा श्रीकृष्ण द्वारा गोवधन पवत का अपनी अगुली पर उठाकर ब्रज की रक्षा करना आदि उनके अलौकिक कार्यों की चर्चा भी बहुत स्थानो पर है।[5] दुर्योधन के राजकीय सत्कार को ठुकरा कर विदुर के घर वे सागपात का भोजन करत हैं। कस, शिशुपाल और जरासन्ध के भार से पृथ्वी को मुक्त करते हैं। महाभारत के युद्ध की जो चर्चा मध्य कालीन हिन्दी-साहित्य मे मिलती है उन सबका आधार पौराणिक साहित्य है। वे प्रेम

---

१ भागवत १।१०।२० २६
२ भगवदगीता ४।७।८
३ भागवतपुराण १०।६।२ १९
४ वही, १०।६।२१ ३६
५ भागवत, अ० २, स्क० ३ पृ० २४१ (भाग २)
६ वही, पृ० २५०

के महत्त्व को भली भांति समझते हैं। कुब्जा द्वारा थोड़ा सा प्रेम दिखाए जाने पर वे अपनी कृपा से उसके टेढ़े मेढ़े शरीर को सीधा कर देते हैं और वह कुब्जा युवतियों में श्रेष्ठ हो जाती है—

सा तदजु समानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा।
मुकुन्दस्पर्शनात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा॥[1]

वृन्दावन उनका परम प्रिय स्थान है उनके लोक का नाम गोलोक है गाय और गोपियाँ उन्हें परम प्रिय हैं दूध से वे भोगन हैं और माखन उनका प्रिय पदार्थ है। माखन और दही के लिए वे दूसरे घरों में चोरी भी कर लेते हैं गाय-गोपियों के साथ रास रचाते हैं। उनके और विष्णु के कुछ मुख्य नाम इस प्रकार हैं—

नारायण दामोदर केशव माधव पीताम्बर अच्युत शार्ङ्गी जनार्दन चतुर्भुज मधुरिपु कैटभारि, वनमाली दैत्यारि दानवारि, गोविन्द गरुडध्वज, उपेन्द्र चक्रपाणि।

शिव

पौराणिक काल से पूर्व ही रुद्र और शिव का एकीकरण हो चुका था और इनकी प्रभुता का सिक्का बैठ चुका था। पौराणिक काल में शिव की पूजा सर्वत्र प्रचलित है और उनका नाम भव सागर से पार उतारने वाला है यह विश्वास सब में घर कर चुका था—

शिवेति द्व्यक्षरं नाम व्याहरिष्यन्ति ये जनाः।
तेषां स्वर्गश्च मोक्षश्च भविष्यन्ति न चान्यथा॥[2]

अर्थात् दो अक्षर वाले शिव का नाम लेने से प्राणी स्वर्ग और मोक्ष का अधिकारी बन जाता है यह वचन कभी अन्यथा नहीं होता। वे प्रधान पुरुष हैं सर्ग स्थिति और संहारकारी हैं एक अन्य स्थान पर इन्हें निम्न शब्दों में नमस्कार किया गया है—

नमो रुद्राय हरये ब्रह्मणे परमात्मने।
प्रधानपुरुषेशाय सर्गस्थित्यन्तकारणे॥[3]

वेश भूषा

इनका वर्ण कपूर के समान गौर है शरीर में भस्म का लेप है, श्वेत वस्त्र हैं ग्रीवा का रंग नीला है सिर पर जटा है गले में सर्प की और रुण्डों की माला है

---

१ भागवत, पृ० ३८५
२ स्कन्दपुराण माहेश्वर ग्रन्थ खंड १ श्लोक १४
३ लिंगपुराण सर्ग १ श्लोक १

तीन आँखें हैं, मृगछाला प्रिय आसन है, श्मशान म वास करते हैं खप्पर भोजनपात्र है, भाँग धतूरा खाते हैं हाथी की खाल लपेटते हैं, भूत, प्रेत, पिशाच इनके गण हैं, हाथ मे डमरू और त्रिशूल रखत हैं। वेश से अशिव हैं और वसे शिव। इनके धनुष का नाम पिनाक है और पत्नी का नाम पावती या उमा।

शिव के इस साकार रूप की आध्यात्मिक व्याख्या भी है। सत्य का रग उजला होता है भस्म सत्य का प्रतीक है। शकर के मस्तक, गल और भुज दडो पर भयकर सर्पों का दिखाया जाना मृत्यु के प्रतीक सप पर विजय पाना है, यह उनका मत्युञ्जय रूप है। ललाट पर सुशाभित च द्रमा स ताप का हरण करने वाला है तथा सौ दय का विघायक है। गगा जीवा को मुक्ति दती है और शिव के मुक्तिदाता रूप की प्रतीक है। त्रिलोचन का अथ सूय और चद्रमा रूपी दो प्रकाश पिण्डो के आन्तरिक ज्ञान रूपी तीसरे नेत्र की सूचना देता है। इस ज्ञान-नेत्र से काम को दग्ध करना अर्थात उस पर विजय पाना ही काम का दहन करना है। वषभ धम का चिह्न है। उन्हें वषभ पर आरूढ दिखाने का भाव यह है कि शिव धम को धारण करने वाले हैं। उ ह दिगम्बर रूप म प्रदर्शित करने का भाव उनके देश और काल से अनवच्छिन्न होने की दशा को व्यक्त करना है। भस्म का अथ है शिव द्वारा मौलिक तत्त्व को धारण करना। किसी भी रग के पदाथ को जलाने पर अ त म प्रकाशमान श्वेत भस्म ही शेष रहता है। यह मौलिक तत्त्व है।

म० म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेद न सप धारण की व्याख्या ज्योतिषशास्त्र के अनुसार की है। उनकी मूर्ति मे जगह-जगह सप लिपटे हुए हैं। इसका स्थूल अभिप्राय मगल और अमगल दोना ही का समावेश ईश्वर म दिखाना है। सर्प उनके सहारक रूप का चिह्न है। च द्रमा मगल आदि सूय के चारो ओर भ्रमण करते हैं। उनका एक एक भ्रमण एक एक कुण्डलाकार वत्त पर आ जाता है। यह भिन्न भिन्न मण्डलो का समुदाय रस्सी की तरह लपेटा हुआ खयाल मे लाया जाय ता यह सप कुण्डल के आकार का होता है। इस परिभ्रमण रूप को वदिक साहित्य म सप या नाग कह कर पुकारा जाता है। सूय को मध्य म रखकर घूमने वालो म आठ ग्रह मुख्य हैं अत आठ ही सप मुख्य माने जाते हैं। ये सब ग्रह और उनके कक्षा वत्त (सर्पाकार) ब्रह्माण्ड म स्थित हैं। शिव ही म ब्रह्माण्ड है अत उनके शरीर मे सर्पों की स्थिति है।"[1] इनके अनुसार श्वेत मूर्ति का अथ ज्ञान मूर्ति होना है। "शिव ईश्वर है चेतन रूप है अर्थात ज्ञान रूप है। ज्ञान को प्रकाश कहत हैं और वह श्वेत रूप है। श्वेत वण कृत्रिम नही, स्वाभाविक है। अ य रग धोने पर उतर जाते है, श्वेत ज्या-का त्यो रहता है। ईश्वर का रूप कृत्रिम नही स्वाभाविक है, यही दिखाने के लिए श्वेत रूप दिखाया है।"[2]

---

१ व० वि० भा० स०, पृ० २५६ ७

२ वही पृ० २५७

वह समन्वय का रूप भी श्वेत वर्ण के द्वारा ही व्यक्त होता है। सब वर्णों का समूह श्वेत है। वह अपने आप में पृथक वर्ण नहीं। सूर्य की किरणों में सातों रंग हैं पर उनका पूरा समन्वय श्वेत रूप में दीख पड़ता है। भेद भाव को छोड़कर वह सब में ओतप्रोत है यही दिखाने के लिए उसे श्वेत रूप में चित्रित किया जाता है।

कुछ सज्जनों ने उनके इस रूप को महायोगी के रूप में लिया है। महादेव महायोगी कहलाते हैं। महायोगी का काम क्रोध लोभ मोह भय और मत्सर इन षडविकारों को जला कर उनका भस्म शरीर पर धारण करना पड़ता है। उसका निवास भी ऐसे श्मशान में होता है जहाँ इन षडविकारों की चिता दिन रात जलती रहती है। उसका तृतीय नेत्र अर्थात् ज्ञान-नेत्र खुला रहता है। तीव्र योगासन के लिए उसका व्याघ्र चर्म ही आसन होता है। जिस समय सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होने लगती है उस समय योगी को हलाहल विष पान करने के समान प्राणान्त वेदना होती है। वेदना का शमन करने के लिए वह मन के पुत्र चन्द्रमा को सहस्रदल से उत्पन्न हुई त्रिवेणी धारा (गंगा) को सिर पर धारण करता है। खेचरी आदि मुद्राओं को करने के कारण उसके शरीर पर सर्प-रूप भूषण सहज ही शोभायमान होते हैं।[1]

लिंग की उत्पत्ति

एक बार विष्णु और ब्रह्मा में परस्पर लड़ाई हो गयी। दोनों ही अपने को श्रेष्ठतर सिद्ध करने में लगे रहे। भयंकर अस्त्रों का प्रयोग हुआ और संसार में त्राहि त्राहि मच गयी। देवता घबराकर शिव के पास पहुँचे। शिव अपने गणों के साथ युद्ध स्थल पर चले आये। वहाँ माहेश्वरास्त्र और पाशुपतास्त्र के प्रयोग से संसार को जलता देख कर शिवजी ज्योति-स्तम्भ के रूप में खड़े हो गये। यह स्तम्भ लिंग रूप था और उसके आदि और अन्त का पता लगाने वाले को श्रेष्ठतर या उच्चतर मानने का निर्णय उन्होंने दिया। उनका तेज ही यह लिंग था और इस संसार को संहार से बचाने के लिए उसकी उत्पत्ति हुई थी।[1] लिंग की पूजा किस तरह प्रारम्भ हुई इस विषय में भी एक कथा दी गयी है। पार्वती के मर जाने पर शिव काम पीड़ित होकर इधर उधर फिरने लगे। काम ने पूरे वेग के साथ आक्रमण किया। शिव के कामोन्मत्त हो जाने पर मुनि पत्नियाँ धर्मच्युत होकर शिव के पीछे-पीछे इस तरह फिरने लगीं मानो मस्त हथिनियाँ हाथी के पीछे घूम रही हों —

त्यक्त्वाश्रमाणि शून्यानि स्वानि ता मुनियोषित ।
अनुजग्मुयथा मत्त करिण्य इव कुंजरम ॥

तंग आकर ऋषियों ने शाप दिया शाप-वश लिंग पृथ्वी पर गिर पड़ा, उससे

---

१ कल्याण (शिवांक) पृ० ३०६ ले० रामदासानन्दजी

२ शिवपुराण, अ० ७

पृथ्वी तथा समस्त लोकों में कम्पन आ गया। देवताओं द्वारा स्तुति किये जाने पर शिव ने शत रखी कि यदि सब देवता लिंग की पूजा करें तो उसे वापस लेंगे, अन्यथा नहीं, फलत लिंग-पूजा चल पड़ी।[१]

स्वभाव

शिव आशुतोष हैं, औघड दानी हैं। बाणासुर की थोड़ी-सी स्तुति से ही वे उसे अपार ऐश्वर्य देते हैं और द्वार रक्षक तक बनना स्वीकार कर लेते हैं।[२] वृत्रासुर को वर देते हैं कि जिसके सिर पर वह हाथ रखेगा वह जल कर भस्म हो जायेगा, और वर देकर स्वयं विपत्ति में फँस जाते हैं। अन्त में वैकुण्ठ जाने पर विष्णु की चतुरता के कारण वृत्रासुर जल कर मर जाता है और शिव की रक्षा होती है—

मुमुचु पुष्पवर्षाणि हृते पापे वृत्रासुरे।
देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचिता सङ्कटाच्छिव ॥[३]

आशुतोष होते हुए भी वे अपना विरोध करने वालों को कठोर दण्ड देने में सकोच नहीं करते। दक्ष-यज्ञ के अवसर पर वे दक्ष को और उसका यज्ञ कराने वाले ऋषियों मुनियों को कसकर दण्ड देते हैं। कहा गया है कि नारद के मुख से सती के अपमान की बात सुनकर लोक-संहारकारी शिव ने अपनी एक जटा उखाड़ी और उसे क्रोध से एक पर्वत पर दे मारा। जटा के पूर्व भाग से वीरभद्र की उत्पत्ति हुई। वह प्रलयाग्नि के समान तेजस्वी, अत्यन्त उन्नत और दो हजार भुजाओं वाला था। जटा के दूसरे भाग से अत्यन्त भयंकर और करोड़ों भूतों से घिरी हुई महाकाली पैदा हुई। शिव ने वीरभद्र को आदेश दिया कि वह उनके विरोधी ब्रह्मा, विष्णु इन्द्र, यम सभी को भस्म कर दे।[४] वैसे वे साधारण रूप से सबका भला करने वाले हैं। समुद्र मन्थन से निकले हलाहल को पीकर वे सबको भय से मुक्ति देते हैं।[५]

वे काम से अभिभूत नहीं होते। देवताओं के अनुरोध पर कामदेव शिव की तपस्या भंग करने का यत्न करता है। सारे वातावरण में परिवर्तन हो जाता है। काम अपनी पूरी शक्ति के साथ अपने बाणों को शिव पर छोड़ता है पर शिव पर कोई प्रभाव नहीं होता। उसके इस दुःसाहस पर अति क्रुद्ध हुए शिवजी ललाट के मध्य में स्थित तीसरे नेत्र से काम को भस्म कर देते हैं।[६] किंतु पर इतना होने पर भी वे माया

---

१ वा० पु०, अ० ६ श्लोक १५
२ भागवतपुराण, १०।८८।३ ५
३ वही, १०।८८।३७
४ शिवपुराण, पार्वतीखड अ० १६।१-१६
५ भागवत, ८।७।३६ ४२
६ शिवपुराण, पार्वतीखड, अ० १६।१-१६

एकदम ऊपर नहीं उठ सके। जलन्धर दैत्य युद्ध भूमि में अपनी माया से शंकर को मुग्ध करने के हेतु उनके गन्धर्वों और अप्सराओं को पैदा करता है। उन गन्धर्वों की माया से शिव विमुग्ध हो जाते हैं। उनके हाथ से अस्त्र-शस्त्र तीर गिर पड़ते हैं और वे जान भी नहीं पाते।[1] इसके अतिरिक्त अमृत-मंथन के समय जिस मोहिनी-स्वरूप से विष्णु ने दैत्यों को ठगा था उसी के दर्शन पाने पर वे अपने को सम्हाल नहीं पाते। मोहिनी के विवसन होने हो वे मुग्ध होकर उनके पीछे दौड़ते हैं और उसे पकड़ने की चेष्टा करते हैं और कामातुर दशा में उनके वीर्य का स्खलन हो जाता है।[2]

शिव और विष्णु की प्रतिद्वन्द्विता आपस में चलती रहती है। कहा गया है कि हिरण्यकशिपु के विनाश के लिए विष्णु ने नृसिंहावतार लिया था पर उसके मर जाने पर भी जब नृसिंह का क्रोध शान्त न हुआ तो शिव के कहने पर वीरभद्र आदि उन्होंने विष्णु की स्तुति की अपने भयंकर रूप को शान्त करने का अनुरोध किया पर विष्णु तो अपने को विश्वाधिप कहने लगे और अखिलेश्वर समझ कर मदमत्त हो गये। उन्होंने वीरभद्र को ही धर दबाने की चेष्टा की। इस पर शिव पक्षी का रूप धारण करके विष्णु को पूछ में बाँध कर आकाश में उड़ने लगे।[3] यह भी कथा है कि दक्ष-यज्ञ में सती की देह-पात सुनकर शिव ने जटा का एक बाल उखाड़ कर फेंका। उसके दो टुकड़े हुए एक से वीरभद्र हुआ और दूसरे से महाकाली। शिव के प्रकोप से दक्ष को बचाने में विष्णु भी असमर्थ रहे। उनका चक्र शैव चक्र के सामने व्यर्थ सिद्ध हुआ।[4] विष्णु का उत्कर्ष दिखाने वाले पुराणों में विष्णु द्वारा शिव को पराजित होना दिखलाया गया है। बाणासुर की ओर से युद्ध करते समय शिव के ज्वर—माहेश्वर—और श्रीकृष्ण के ज्वर—वैष्णव—में युद्ध हुआ और वैष्णव ज्वर के सामने माहेश्वर ज्वर को पराजित होना पड़ा। यहाँ यह भी कहा गया है कि कृष्ण के द्वारा छोड़े गए जम्भणास्त्र से शिव मूर्च्छित होकर गिर पड़े।[5]

इनके प्रमुख नाम इस प्रकार थे—

शम्भु ईश पशुपति शूली महेश्वर, महेश्वर गिरीश गिरिश कपर्दी धूर्जटी चन्द्रशेखर शंकर वृषभध्वज उमापति भूतेश।

वैदिक काल से अन्तर

वैदिक रुद्र प्रकृति के देवता हैं। वहाँ उन्हें घन बादलों में चमकती हुई विद्युत

---

१ शिवपुराण युद्धखण्ड १२।२२-२६
२ भागवत ८।१२।१६-२६
३ शिवपुराण—शतरुद्रसंहिता प्रकरण १०।११-१५
४ शिवपुराण १२ रुद्रसंहिता अ० ३५।४६-५२
५ भागवत, १०।६३।१-२४

और उसके साथ होने वाले घनघोर गजन तथा वर्षा का प्रतीक माना गया है। उनकी गणना मध्य लोक अर्थात आवाश के दवताओ म की गयी है । इस बिजली को ही वहा धनुप का बाण कहा गया है। आकाश म उमड कर आयी हुई मटियाले रग की मेघ माला के कारण उनका नाम कपर्दी भी है। कपर्दी का अथ है जटाजूट वाला । कहीं-कहीं अग्नि के साथ भी उनका तादात्म्य किया गया है। कालान्तर (पौराणिक काल) मे उनके इन प्रतीको को एकत्र्म आकार द दिया गया। उनक धनुप का नाम पिनाक रखा गया । कपर्दी नाम के कारण शिव के जटाजूट की कल्पना की गयी और जल के कारण गगा की कल्पना कर जटाओ क साथ उसका सम्बन्ध जोड दिया गया । अग्नि के साथ तादात्म्य के कारण अग्नि को जा 'त्र्यम्बक' कहा गया है, उसका अथ हुआ त्रिनेत्र वाला । वास्तव म यहा (अग्नि के सम्बन्ध मे) अम्बक का अथ पिता का है। जिसके तीन पिता हो ऐसा वदिक देवता केवल अग्नि ही है । अग्नि के य तीन ज म स्थान हैं - पृथ्वी आकाश और द्युलोक । पौराणिक काल म शिव के तीसरे नेत्र की स्थिति माथे पर बतायी गयी है और उससे काम का दग्ध होना बताया गया है। इनका अपना निवास स्थान हिमालय है ।

पौराणिक काल म उनका निवास स्थान श्मशान बताया गया है। इनकी वेश भूपा भी अशुभ दिखायी गयी है । उनके आशुतोप रूप की चर्चा के साथ-साथ उनका राक्षसो के साथ विशेप सम्बन्ध दिखाया गया है । असुर जिस देवता की स्मति करते हैं वे शिव ही हैं । वे सभी राक्षसा को वर देते हैं । बाणासुर की ओर से वे अनिरुद्ध उपा के विवाह के समय श्रीकृष्ण के विरुद्ध युद्ध करते हैं । वसे व कभी-कभी त्रिपुरासुर जस असुरा का विनाश भी करत हैं । समुद्र मन्थन के समय वे भयकर कालकूट विप को पीकर देवा और दानवो को भयकर त्रास से छुटकारा दिलात है । वेदो म उनके इस रूप का कही सकेत भी नही । यद्यपि अपने तीसर नेत्र से वे कामदेव को दग्ध करत हैं, पर विष्णु के मोहिनी रूप से आकर्पित होकर मोहिनी के पीछे दौडते हैं और स्खलित हो जाते हैं । पुराणो मे महादेव के इस चारित्रिक पतन का दखकर आश्चय और खेद होता है ।

ब्रह्मा

ये जगत के स्रष्टा देवताओं और दानवो के गुरु, ऋपियो, मुनियो, ग्रहो और नक्षत्रा तथा सरस्वती स सेवित हैं। इस गौरवमय पद के कारण ही ये पितामह कहलाते हैं। पर स्रष्टा होन पर भी य अनादि और अजन्मा नही । इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध म बहुत-सी कथाए प्रचलित है । एक कथा के अनुसार भगवान ने जल मे अपनी शक्ति का आघात किया, उससे स्वणमय अण्ड प्रकट हुआ इससे ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए । ब्रह्मा जी ने उसम एक वप तक निवास किया और उसके दो टुकडे किये, एक से द्युलोक बनाया और दूसरे से भूलोक तथा दोनो के बीच मे आवाश । ब्रह्मा ने ही

तदनन्तर मन, वाणी काम, क्रोध और रति की सष्टि की। बाद म विद्युत वज्र, बादल इन्द्र धनुष पक्षिया और ओषधिया की सष्टि की।[1] एक कथा के अनुसार—जब भगवान विष्णु यागनिद्रा का आश्रय लेकर जल म शयन कर रहे थे तब उनकी नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई और उस कमल के अग्रभाग पर ब्रह्माजी स्थित दीख पडे। तदनन्तर सष्टि की इच्छा से ब्रह्माजी ने अखण्ड ब्रह्मचय म स्थित होकर दुष्कर तप किया।[2] इसी पुराण म आगे चलकर एक अन्य स्थान पर फिर कहा गया है कि विष्णु की नाभि स निकल हुए कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई थी।[3] यह भी कहा गया है कि ब्रह्मा अपन आधार के आदि का जानने के लिए कमल क अन्दर घुस पर उन्ह कुछ पता नही चला। सकडो वष बीत जाने पर भी वे असफल ही रह। अन्त म अन्तमु ख हाकर समाधि लगान पर ही उन्ह भगवान के दशन हुए।[4]

चतुमु खत्व—य चतुमु ख हैं और इस सम्बन्ध म भी एक से अधिक कथाए हैं। पदा हाते ही उन्हाने जा चारो ओर दखना शुरू किया उससे ये चतुमु ख कहलाय।[5] दूसरे स्थान पर कहा गया है कि सष्टि रचने की इच्छा से ब्रह्मा ने शरीर के दा भाग किय—एक पुरुष और दूसरा स्त्री। यह स्त्री रूप शतरूपा क नाम से विख्यात हुआ इसी का दूसरा नाम सावित्री है। उस सावित्री के रूप स ब्रह्मा काम माहित हो गय बार-बार उस दखते रह। वशिष्ठ आदि अपन पुत्रा के मना करने पर भी वे अपन नेत्रा का उधर से नही रोक पाय। सावित्री ने ब्रह्मा की प्रदक्षिणा की वह जिधर गयी उधर ही ब्रह्मा का एक नया मुख निकल आया इसस चार मुखा की उत्पत्ति हुई। यह भी कहा है कि जब सावित्री ऊपर जान लगी तब ब्रह्मा भी ऊपर की ओर ताकने लगे इससे उनका पाचवा मुख निकल आया।[6]

कामासक्तता—अखण्डित ब्रह्मचय म स्थित रहने क बाद भी ये काम से ऊपर नही उठ सके उसके बुरी तरह शिकार हुए इस सम्बन्ध म भी अनेक कथाए हैं। इन्हाने सकडा वर्षो तक अपनी पुत्री शतरूपा स विहार किया और इसी सयाग से मनु की उत्पत्ति हुई। यहाँ कहा गया है कि अपनी पुत्री स भोग करन क बाद भी ब्रह्मा को किसी तरह का दोष नही लगा क्याकि दवता शुभ और अशुभ फला स ऊपर

---

१ हरिवश, आदिसग, अध्याय १
२ भागवत १।३।२ ६
३ वही ३।६।१५ १६
४ वही ३।८।३३ ३४
५ मत्स्यपुराण अ० ३
६ वही ३।२६ ४३
७ वही, ३।२६ ४३

होते हैं। पर आगे चलकर कहा गया है कि अपने इस काय पर ब्रह्मा को बड़ी लज्जा आयी और उन्होंने काम को शिव द्वारा जलकर भस्म होने का शाप दिया।[1]

एक अन्य पुराण म भी उनकी कामासक्तता की कहानी इस प्रकार दी गयी है कि वे जब अपनी पुत्री सन्ध्या के प्रति अनुरक्त हो गये तो शिव ने उनकी भत्सना की। अपनी भत्सना से ब्रह्मा जल उठे और उन्होंने शिव को डिगाने के लिए काम के साथ षडयन्त्र किया तथा उसके सहायक रूप म वसन्त की सष्टि की।[2] इसी पुराण म आगे चलकर बताया गया है कि शिव के विवाह के समय ब्रह्मा के मन मे सती का मुख देखने की तीव्र अभिलाषा पदा हुई और उन्होंने धुएं से सबको आच्छादित कर दिया। सती के मुख को देखकर वे कामात हो उठे और उनके वीय का स्खलन हो गया। विष्णु के बीच म पडने पर वे जस तस शिव के प्रकोप से बच सके।[3] भागवत म भी एसी ही कथा है कि ब्रह्मा जब अपनी पुत्री वाग्देवी को कामातुर दष्टि स देखते ही रहे तो मरीचि आदि ऋषियों ने उन्हें समझाया। समझ आने पर उन्होंने लज्जा के कारण शरीर को छोड दिया।

पूजा से बहिष्कृत होना—यद्यपि ये लोक कर्ता हैं सवदेव नमस्कृत हैं तथापि ये पूजा के अधिकारी नही। कहा गया है कि विष्णु और उनके बीच हुए झगडे को निपटाने के लिए शिव ने ज्योतिरूप अपने लिंग को प्रकट कर दिया। शिव ने विष्णु को उसकी थाह का पता लगाने के लिए भेजा और ब्रह्मा को ऊंचाई का पता लगाने। विष्णु तो थककर लौट आये और उन्होंने आकर सब कुछ सच सच कह दिया, पर ब्रह्मा ने केतकी-पुष्प को गवाह बनाया और आकर कहा कि वे ऊंचाई का पता लगा आये हैं। इनके इस झूठ से रुष्ट होकर शिवजी ने ब्रह्मा को पूजा से निष्कासित कर दिया।[4] देवताओं म अपना उत्कष सिद्ध करने की जो प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है उसमे यदा-कदा ब्रह्मा भी भाग ले लेते हैं। चुहल का इन्हें थोडा-बहुत शौक है। कहा गया है कि जब विष्णु ने श्रीकृष्ण रूप म अवतार लिया और वे गोचारण करने लगे तो एक दिन ब्रह्मा को चुहल सूझी। उन्होंने गायों के सभी बछडे छिपा दिये। श्रीकृष्ण ने अपने को सभी बछडों म विभाजित किया और गायों ने उन्हें अपने सचमुच के बछडे समझकर दूध पिलाया। एक वष के पश्चात आकर जब उन्होंने देखा तो इन्हें (ब्रह्मा को) अपने द्वारा छिपाये गये बछडे उसी प्रकार सोये हुए दिखायी पडे और कृष्ण की माया से उत्पादित बछडे दूसरी ओर। ब्रह्मा निणय नहीं कर सके कि उनमे कौन-से वास्तविक हैं और कौन से मायोत्पादित। फिर ब्रह्मा ने प्रत्येक को साक्षात् विष्णु के रूप मे देखा और अन्त म नेत्र खुलने पर सामने साक्षात विष्णु को पाया।[5]

---

१ मत्स्य०, ४।६-२६
२ शिवपु०, सतीखण्ड
३ वही।
४ मत्स्य०, अध्याय ८
५ भागवत १०।१३

कुछ भी हो ये पितामह हैं सष्टि के उत्पादक हैं और इस रूप म सभी स आराधित हैं। इनके कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—

आत्मभू पितामह चतुरानन कमलासन प्रजापति, पदमयानि हिरण्यगभ परमेष्ठी वेधा स्वयभू विरचि, स्रष्टा।

गणेश—य पौराणिक काल क नय देवता हैं। वेदो म जिन ततीस देवताओ का नाम है उनम इनकी गिनती नही। गणाना त्वा गणपति हवामह '—ऋग्वेद के इस मत्र म जो गणपति शब्द आता है और जिसका सम्बन्ध आजकल गणेश क साथ जोडा जाने लगा है उसका अथ यहाँ—मन्त्रो का स्वामी— ब्रह्मणस्पति —है। यजुर्वेद के "गणाना त्वा गणपतिं हवामहे प्रियाणा त्वा (२३/१९) म गणपति का अथ अश्वमेध का अश्व है। ब्राह्मणो और श्रौतसूत्रा म इसका अथ म त्रा का स्वामी और अश्व ही किया गया है। प्रमुख उपनिषदो म गणेश का कही भी उल्लख नही है। डा० सम्पूर्णानन्द ने गणेश नामक अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रथ म इस पर सविस्तार विवचन किया है और वे इस निष्कष पर पहुँचे हैं कि गणेश अनाय देवता हैं और पौराणिक काल तक आते-आते आय परिवार म सम्मिलित हो गय हैं।

वराह पुराण स्कन्द पुराण लिंग पुराण और ब्रह्मवैवत पुराण म इनके जन्म क सम्बन्ध म विविध प्रकार की कथाए हैं। बहुत सी बातो म इनम भेद भी हैं।

डा० सम्पूर्णानन्द के विचार उनके ही शब्दो म इस प्रकार हैं—

वेदो और पुराणा क बीच के समय म गणेश जी कहाँ स आ टपके ? विदेशी विद्वानो की राय है कि गणेश जी अनाय निवासियो क उपास्य हैं। मैं भी इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ। सभी अनाय नष्ट नही हुए। वे भी उन्हीं की बस्तिया म रहते थे। विचार विनिमय म य आर्यों म आ गय। अनार्यों न आर्यों स बहुत कुछ सीखा परन्तु आर्यों न भी उनसे कुछ लिया। आर्यों के उपास्य प्रसन्न हँसमुख, अमूत होने थे। वह दव प्रकाशधर्मा थे। रुद्र उग्रकर्मा थे पर वह भी सत्कृत्य म बाधा नही डालते थ। दस्यु क ही शत्रु थे। जसा कि ऋग्वेद के प्रसिद्ध दवीसूक्त म कहा है ब्रह्म द्वेषी का मारने के लिए ही परम शक्ति उनके धनुष को उन्यत करती थी। अब आर्यों न अपने विजित पडोसियो की दखा देखी कुछ नय उपास्यो का अपनाया—नाग शीतला भरव आदि अनार्यों की देन हैं। प्रेत पिशाच पशु पक्षी की पूजा हमने इन्ही लोगो स पायी। गणशजी भी हमका इसी प्रकार मिल हैं।[1]

श्री सावलियाविहारीलाल जी का मत भी यही है और उन्होन भी ये ही युक्तिया दी हैं।[2] इनके साथ ही उन्होने यह भी कहा है कि बुद्धदेव न ब्रह्मा इन्द्र तथा कुछ अन्य देवो क नाम लिय हैं परन्तु गणश का नाम कहीं नही आया। महावीर

१ गणेश पृ० २६

२ वि० ध० द्व० पृ० २२६

स्वामी ने भी गणेश का नाम नही लिया।"[१] श्री गेटे इन्हे विदेशी मानते हुए भी इनके महत्त्व पर प्रकाश डालते हैं—'गणो के स्वामी गणेश यद्यपि परवर्ती देवता हैं तथापि महत्त्व में सर्वाधिक हैं। उनकी मूर्ति भारत के प्राय सभी स्थानो मे पायी जाती है। गणेश की लोकप्रियता नपाल और चीनी तुर्किस्तान तक फैल चुकी थी। समुद्र को लाघ कर जावा बाली और बार्नियो तक जा चुकी थी और तिब्बत, बर्मा, स्याम, चीन, इण्डाचीन और जापान मे भी लोग गणेश से परिचित थे।"[१]

स्कन्दपुराण, वराहपुराण लिंगपुराण और ब्रह्मवैवर्तपुराण मे इनके जन्म के सम्बन्ध मे विविध कथाएँ हैं। लिंग पुराण के अनुसार देवो की विजय के लिए पार्वती के गर्भ से गणेश का जन्म हुआ था। शिवपुराण मे कहा गया है कि स्नान करते समय पार्वती ने मल का पुतला बनाकर द्वार रक्षक के रूप मे नियुक्त कर दिया था। शिव के हठपूर्वक अन्दर घुसने का यत्न करने पर उसके द्वारा रोका जाना, शिव द्वारा उसकी मृत्यु और अन्त मे विष्णु द्वारा हाथी का सिर लाकर गणेश के सिर की जगह रखना आदि बातो का उल्लेख है। वराहपुराण के अनुसार देवताओ की प्रार्थना पर देवताओ की रक्षा के लिए गणेश का जन्म महादेव के मुख से हुआ। स्वय शिव जी ने इनका अभिषेक किया और सबसे पहले पूजा का अधिकारी बनाया। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बहुत से मतो का उल्लेख करते हुए श्री जितेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा है—

T G Rav has called a good many stories about the topic from several Puranas and Agamas in which the god is variably described as the son of Parvati alone, as the son of Shiva and Parvati and even having independent origin[२]

श्री टी० जी० राव ने पुराणो और आगमो मे से इस विषयक बहुत सी ऐसी कहानियाँ कही हैं, जिनमे गणेश को कही तो केवल पार्वती का पुत्र कहा गया है कही शिव पार्वती का और कही उसे स्वत प्रसूत (अयोनिज) कहा गया है।

जो भी विभिन्न कथाएँ हैं उनमे निम्नलिखित बातें समान हैं—

(१) गणेश स्वभावत विघ्नकर्ता हैं उनके अनुचर भी लोगो को छेडते रहते हैं। यदि इन्हें प्रसन्न न किया जाय तो ये यज्ञ स्वाध्याय और पूजा आदि शुभ कार्यों मे भी विघ्न डाल सकते हैं। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए इनका सतुष्ट रहना आवश्यक है।

(२) किसी-न किसी ढग से पार्वती ने इन्हें जन्म दिया है। शिव इनके पिता हैं तथा उनके द्वारा ये गणो के स्वामी के रूप मे नियुक्त हुए हैं।

---

१ रि० इ० प० १२६ (दि रिलीजन आफ इण्डिया)

२ डेव० हि० इक०, पृ० ३५५

(३) पना होते समय वे गजवदन थे। कहीं-न-कहीं से, किसी-न किसी प्रकार हाथी की सूड उनके कंधे पर लाकर स्थापित कर दी गयी।

ये एकदत हैं और ब्रह्मववतपुराण म कहा गया है कि जब य द्वारपाल का काय कर रह थे तब परशुराम के साथ इनका युद्ध हुआ और उसम इनका एक दाँत टूट गया। इनके कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार हैं—

गणपति गजानन लम्बोदर विनायक विघ्नश विघ्ननाशक एकद त मूषक वाहन हेरम्ब द्वमातुर वमातुर।

वैष्णव मत

विष्णु के भक्त या अनुयायी वष्णव कहलात है। इस मत मे विष्णु ही साक्षात भगवान हैं और व ही परमाराध्य हैं। विष्णु का ही दूसरा नाम नारायण भी है। भगवान क अनुयायी होन स उह ही भागवत भी कहत हैं। पाचरात्र और सात्वत भी इन्ही का नाम है। नान शक्ति, बल ऐश्वय वीय और तज स युक्त वासुदव भी भगवान कहलात हैं अत यह मत वासुदेव मत भी कहलाता है।

वैष्णव धम की उत्पत्ति

इस धम की उत्पत्ति ठीक ठीक रप स किमी समय हुई यह कह सकना कठिन है। विष्णु का नाम वेदो म आता है और इस आधार पर इस वेदो से सम्बद्ध किया जाता है पर यह मत सभी का मान्य नहीं। श्री जितन्द्रनाथ बनर्जी न इस मत का खण्डन करत हुए कहा है कि इस मत की सष्टि म वासुदेव कृष्ण वदिक सूय, विष्णु और नारायण का मिश्रण है। उनके शब्दो म उनका मत इस प्रकार है—

But the Visnu round whom one of the major Brahmnical cults grew was really a result of nyncretism of three goo-concept—Narayana of Brahmnas Vasudev Krisna the Satvat hero was really at the root of the Bhakti-cult that came to be designated as the Vaisnava at a comparatively late stage in its growth[1]

अर्थात वह विष्णु जिसके इद गिद बहुत स ब्राह्मण मत खड हुए वास्तव म ब्राह्मणकाल के नारायण वासुदेव कृष्ण और सात्वत का मिश्रण है। बाद म यह विष्णु ही वष्णव धम के नाम से प्रचलित भक्ति मत का आधार बना।

कुछ और भी तक एसे हैं जिनस यह मत बहुत प्राचीन नही सिद्ध होता। विनयपिटक के समय तक यह मत प्रसिद्ध नही था। इन पिटको म विष्णु की अपेक्षा ब्रह्मा और इन्द्र अधिक महत्वपूण प्रदर्शित किय गय हैं। बुद्ध की नाकास्तरता प्रदर्शित

१ डेव० हि० इक०, पृ० ३८६

करने के लिए इन्हें (ब्रह्मा और इन्द्र) बुद्ध से पराजित होते हुए दिखाया गया है—शिव और विष्णु को नहीं। इनके अनुसार वैष्णव मत को विनयपिटक की रचना के बाद का मानना उचित है।

कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जिनके मत में यह मत बहुत प्राचीन है। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखने वाले पतजलि का जन्म विक्रम-पूर्व दूसरी शती का माना जाता है। उन्होंने 'कंसवध' तथा 'बलिबन्धन' नामक नाटकों के अभिनय का उल्लेख किया है। विष्णु ही कृष्ण के रूप में अवतरित हुए थे। यह भी स्पष्ट है कि उस समय वैष्णव धर्म अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था अतः शिव के भक्त अपने को शिवभागवत कहलाना पसन्द करते थे। पतजलि ने ही 'शिवभागवत' का उल्लेख किया है। बेसनगर के शिलालेख (ई० पू० २०० वर्ष) से भी वैष्णव धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है। इस शिलालेख के अनुसार यवन-दूत हालीयाडोरस ने देवाधिदेव वासुदेव की प्रतिष्ठा में गरुड-स्तम्भ का निर्माण किया था। स्पष्ट है कि उस समय तक 'वासुदेव' देवों के भी देव माने जाते थे। इन विद्वानों के अनुसार पाणिनि के समय से पूर्व ही यह मत अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त कर चुका था।

विभिन्न सम्प्रदाय

वैष्णव धर्म के चार प्रसिद्ध सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार हैं—(१) श्री वैष्णव सम्प्रदाय (२) ब्रह्म सम्प्रदाय (३) रुद्र सम्प्रदाय (४) सनक सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों का उदय या प्रवर्तन क्रमशः लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र तथा सनत्कुमार से माना जाता है। श्री वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य मध्व द्वैत के, रुद्र सम्प्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी तथा तदनुयायी आचार्य वल्लभ शुद्धाद्वैतवाद के, सनक सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क द्वैताद्वैत सिद्धान्त के प्रचारक हैं। चैतन्य सम्प्रदाय को माध्व मत की शाखा माना जाता है। वैष्णव पुराणों में रामानुज ने विष्णुपुराण को और वल्लभ तथा चैतन्य ने भागवत को विशेष रूप से अपनाया है।

वैष्णव धर्म की देन—जीवन के प्रति उदार दृष्टि इस मत की उल्लेखनीय विशेषता है। यह धर्म सामाजिक जीवन में वर्ण व्यवस्था का समर्थक है पर फिर भी वह भक्ति के क्षेत्र में ऊँच-नीच के भावों को नहीं मानता। जाति पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई—इसका सिद्धान्त है। परम पिता के दरबार में कौन छोटा और कौन बड़ा! प्रसिद्ध आलवारों में अनेक भक्त तथाकथित नीच जाति के पुरुष थे। सबसे अधिक प्रसिद्ध भक्त नम्मालवर (शठकोपाचार्य) अछूत जाति के थे। तिरुमङ्ग अलवार जाति से नीच और कर्मों से भारी डाकू थे। गोदा या अंदाल स्त्री थी जिसे समाज में कोई अधिकार प्राप्त न थे। हिन्दी के क्षेत्र में कबीर जुलाहा थे, रैदास मोची, दादू दयाल धुनिया थे रज्जब मुसलमान थे और मीरा नारी थीं। विदेशों से आनेवाली अनेक जातियों का हिन्दू धर्म में समावेश इसी उदार दृष्टि के

कारण हो सका था। पुराणो म इनमे हूण आध्र, पुलिन्द पुल्कस आदि जातियो के नाम गिनाये गये हैं।

अहिंसा का शखनाद

सामान्य रूप स सभी की यह धारण है कि अहिंसा का नारा बुलन्द करन का सवप्रथम श्रेय श्री महावीर स्वामी और भगवान बुद्ध का है पर वास्तविकता यह है कि स्वय वदिक धम म यज्ञो की हिंसा के विरुद्ध आन्दोलन का सूत्रपात हो चुका था। हमन अन्यत्र (जन और बौद्ध धम के आन्दोलन की पृष्ठभूमि म) यह दिखाया है कि किस प्रकार उपनिषदो म वदिक हिंसा को हय एव निन्द्य समझा जान लगा था। अन्तर केवल इतना ही है कि जन और बौद्ध आन्दोलन वदिक कमकाण्ड की उपयोगिता स्वीकार नही करते। वष्णव धम मूल रूप स उसकी उपयोगिता और प्रामाणिकता स्वीकार करत हुए भी यज्ञो म हिंसा क विरुद्ध है। महाभारत म आया हुआ भागवत धम के अनुयायी राजा उपरिचर का आख्यान इस विषय म विशष रूप से महत्त्वपूण है।[१] यहाँ इस राजा द्वारा अनुष्ठित वदिक यज्ञ म यवो की आहुति दी गयी है पशुओ की नही। यहा अश्वमेध यज्ञ म पशु वध नही है।

सिद्धात

ब्रह्म तथा जीव का सम्बन्ध—आचाय रामानुज के अनुसार ब्रह्म और जीव एक दूसरे से भिन्न हैं। ब्रह्म आनन्दमय है जीव दु खत्रय से पीडित है। ब्रह्म प्राज्ञ है जीव अज्ञ है ईश्वर या ब्रह्म एक है और जीव अनन्त हैं। ब्रह्म नियामक है जीव नियम्य है। ब्रह्म आधार है जीव आधेय है। आचाय मध्व के अनुसार भी जीव और ब्रह्म म अभेद नही है। इनके अनुसार जीव अज्ञान मोह दु ख और भय आदि दोषो स युक्त है। इस प्रकार के जीव क उन्होन तीन भेद बताये हैं (१) मुक्ति योग्य (२) नित्यससारी (३) तमोयोग्य। इनम स मुक्तियोग्य जीव देव ऋषि पित चक्रवर्ती तथा उत्तम पुरुषो क रूप म जन्म लता है। नित्य ससारी मध्यम कोटि का है। यह कभी सुख प्राप्त करता है तो कभी दु ख। तमोयोग्य कोटि म दत्य राक्षस पिशाच तथा अधम पुरुषो की गणना की जाती है। उपनिषत्[१] म जो परम साम्य की बात कही गयी है वह अभेदपरक न होकर प्राचुय विषयक है ऐसा माध्व मत का सिद्धान्त है। आचाय निम्बाक भी जीव और ब्रह्म का अभेद स्वीकार नही करत। उनके अनुसार भी जीव परतन्त्र है और ब्रह्म स्वतन्त्र। मुक्त दशा म भी जीव ब्रह्म पर निभर रहता है। जीव का कत्तव्य भी जीव के अपन वश की बात नही, वह भी ब्रह्म द्वारा नियन्त्रित है। इस जीव की दो दशाएँ होती हैं—बद्ध-दशा जब जीव ससार के

---

१ मुण्डकोपनिषत ३।१।३

नाना दु खों के बन्धन मे पड़ा रहता ह और मुक्त दशा वह है, जब भगवान के अनुग्रह से बन्धना से और दु खा की निवत्ति हो जाने से वह मुक्ति पा लेता है।

भक्ति

इस माग म नान की अपेक्षा भक्ति का महत्त्व बहुत अधिक है। उपनिषदो मे ज्ञान का जो महत्त्व प्रतिपादित किया गया है वह नान पुस्तकीय ज्ञान नही है अपितु ईश्वर का निरन्तर स्मरण ही नान है, ऐसा इन मतवालो का मन्तय है। यही इनके मत में भक्ति है। भक्ति म भी सवश्रेष्ठ स्थिति प्रपत्ति की है। प्रपत्ति का अथ है भगवान की शरण मे जाना। जब जीव सवतोभावेन भगवान की शरण म चला जाता है ता उसकी रक्षा का भार भगवान अपने हाथो मे ले लेत है। प्रपत्ति का समझाने के लिये मार्जार शिशु और कपि शिशु के उदाहरण दिये जाते है। बिल्ली का बच्चा जब नि सहाय होकर माता की शरण मे आता है ता बिल्ली उसे अपने मुह म दबाकर सुरक्षित स्थान पर ले जाती है। इसी प्रकार बन्दरी का बच्चा अपनी माँ से चिपक जाता है और वह उसे सुरक्षित स्थान पर पहुचा देती है। भक्त की स्थिति मार्जार और कपि के शिशु के समान है उसकी चिन्ता का भार किसी और पर है। स्वय उसे कुछ नही सोचना पडता। निम्बाक मत मे भी प्रपत्ति का इतना ही महत्त्व है। इन वष्णवो का विदेह मुक्ति ही मान्य है जीवन्मुक्ति नहीं।

ईश्वर

इस मत म ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप म की गयी है। विशेषता यह है कि वह कल्याणकारी समस्त गुणो का निधान होत हुए भी अविद्या और अस्मिता आदि प्राकृत दाषा से रहित है। इस चराचर जगत म जो कुछ नेत्रो और काना का विषय है, उस सबके भीतर नारायण व्याप्त रहता है। जसा आरम्भ मे कहा गया है, पर ब्रह्म नारायण, भगवान्, कृष्ण और पुरुषोत्तम आदि उसकी विविध सज्ञाएँ है। वही समस्त सृष्टि का नियामक है। यह विश्व उस पर अवलम्बित है और स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र है। निम्बाक के इस मत से मिलता जुलता मत वल्लभ का है। इस मत म ब्रह्म को सवधमविशिष्ट अगीकृत किया गया है।

जगत

जगत् के विषय मे वल्लभाचाय जिस मत को स्वीकार करते हैं उसका नाम है अविकृत परिणामवाद। सरल शब्दा म इसका अथ है कि जगत ईश्वर का ही परिणाम है। यहाँ यह शका हा सकती है कि जिस प्रकार दूध से दही बनता है और दूध मे विकार आ जाता है क्या इसी प्रकार ब्रह्म से जगत बनने पर ब्रह्म म भी विकार आ जाता है ? इसका उत्तर है नहीं। ईश्वर या ब्रह्म के विषय मे दूधवाला दष्टान्त लागू नही होता। इसे समझाने के लिए स्वण और कुण्डल का उदाहरण दिया जाता

है। जिस प्रकार कुण्डलादि रूपों में परिणत होने पर भी स्वर्ण अविकृत ही रहता है उसी तरह ब्रह्म भी अविकृत रहता है—

> यथा सुवर्ण सुकृत पुरस्तात पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य ।
> तथैव मध्ये व्यवह्रियमाणं नानापदेशैः रहमस्य तद्वत् ॥

परिणामवाद को स्वीकार करते हुए भी वैष्णव लोग ईश्वर में किसी प्रकार के विकार को स्वीकार नहीं करते, अतः यह मत अविकृत परिणामवाद के नाम से पुकारा जाता है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इस मत में जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश की स्वीकृति नहीं है। ये लोग आविर्भाव तथा तिरोभाव को स्वीकार करते हैं। अनुभव होने पर जगत का आविर्भाव होता है और अनुभव-योग्य न होने पर जगत् का तिरोभाव होता है।[1] ब्रह्म का अंश होने से ही यह जगत् सत्यभूत पदार्थ है, अनित्य नहीं है।

लक्ष्मी

शैव मत में जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान का अभेद माना जाता है वैष्णव मत में वैसा नहीं है। इस मत में लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है। वह केवल परमात्मा के ही अधीन रहती है अतः उनसे भिन्न है। परमात्मा के समान ही लक्ष्मी नित्य है, मुक्त है नानारूप धारिणी है। पुराणों में कहा गया है कि जिनका कभी तिरोभाव नहीं होता वे जगन्माता लक्ष्मी नित्य हैं। जिस प्रकार विष्णु भगवान सर्व व्यापक हैं वैसे ही वे भी हैं—

> नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी ।
> यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं द्विजोत्तम ॥[2]

इस बात का भी उल्लेख है कि विष्णु और लक्ष्मी का साथ नित्य है। हरि न्याय हैं तो ये नीति हैं विष्णु बोध हैं और ये बुद्धि हैं वे धर्म हैं और ये सत्क्रिया हैं। इसी प्रकार के विभिन्न उदाहरणों से इन दोनों के सतत साहचर्य का वर्णन है।[3]

जिस प्रकार परमात्मा का शरीर दिव्य है अप्राकृत है लक्ष्मी भी उसी प्रकार दिव्यदेहधारिणी है। उसका कभी क्षरण (नाश) नहीं होता अतः वह अक्षरा है। इतना साम्य होते हुए भी वैषम्य यह है कि लक्ष्मी गुणों में भगवान से कुछ न्यून है।

वैष्णव धर्म के आराध्य विष्णु के चिह्नों के नाम ये हैं और उनका महत्त्व इस प्रकार है—

---

१ भारतीय दर्शन पृ० ५२१
२ वही पृ० ४६५
३ वि० पु० १।८।१७
४ वही, १।८।१८ ३५

चक्र-सुदशन—यह आग्नेय अस्त्र है। सभी शस्त्रो मे यह श्रेष्ठ है और शत्रु को मारकर फिर स्वामी के हाथो म लौट आता है। विष्णु के श्रीकृष्ण रूप म अवतरित होने पर अग्नि ने इसे कृष्ण को दिया था। महाभारत के ही एक अय स्थान पर कहा गया है कि इस चक्र का निर्माण शिव ने किया था और शिव ने ही इसे श्रीकृष्ण को प्रदान किया था।

गदा—इसका नाम कौमोदिकी है। महाभारत के अनुसार यह गदा वरुण ने विष्णु को दी थी। यह सभी शत्रुओ को मारने मे समथ है। इसका शब्द अशनि के समान है।

कौस्तुभ मणि—यह मणि सूय द्वारा सत्राजित को प्रदान की गयी थी। इसम उत्पादन और वर्षा करने की शक्ति निहित है।

शख—मगल का सूचक है और स्त्री की योनि का प्रतीक है। इसके द्वारा अशुभ को भगाया जाता है। यूनान म प्राचीन समय मे मोती और शख का देवी के साथ सम्बध था।

शव मत

शिव के रूप म परमेश्वर की पूजा और उपासना करने वाले व्यक्ति शव कहलाते हैं। कहना न होगा कि इन उपासको के मतानुसार शिव ही एकमात्र आराध्य हैं। निखिल सृष्टि के कर्ता, पालक और सहारक भी वे ही हैं। वे अनादि हैं, निराकार हैं और स्वत पूण हैं। वे अपनी शक्ति के द्वारा, जो उनका साधन है, सष्टि का काय सम्पन कराते हैं। यह शक्ति शिव की समवर्तिनी है और उनसे अभिन है। जो भिनता दीखती है वह प्रतीयमान है, वास्तविक नही। यद्यपि यह विश्व उनका ही प्रसार है पर वस्तुत वे उससे परे है।

शव मत का प्रारम्भ—इस विषय म विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। वसे भी किसी भी विचारधारा की उत्पत्ति के लिए निश्चित समय का दे सकना असम्भव काय है। यह विचारधारा पृथ्वी के गभ म बहनेवाली जल धारा के समान चुपचाप बहती रहती है। समाज मे उसका प्रकार बढता रहता है और जब कभी उस विचारधारा का उनायक कोई महान पुरुष सामने आ जाता है ता जन सामाय की दष्टि म उसका आरम्भ माना जाने लगता है। इस मत की भी काई निश्चित तिथि या वष दे सकना सम्भव नही, कुछ विद्वान इस मत का विशुद्ध वदिक मानते हैं। उनके अनुसार अग्नि ही रुद्र है और अग्नि की ऊध्वगामी शिखा ही शिव का लिग है।[1]

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने भी शतपथब्राह्मण के आधार पर रुद्र, शव और

---

१ कल्याण—भाग २०, सख्या ८, पृ० १०७९ (शैवधम' नामक लेख)

भव को अग्नि का रूप कहा है। इनमें शर्व प्राच्य देश में और भव वाहीक देश में लोकप्रिय था—शर्व इति प्राच्य आचक्षते भव इति वाहीका।[1]

दूसरे विद्वानों के अनुसार यह मत आर्येतर है। बाद में जब आर्यों और अनार्यों में युद्ध हुए दोनों जातियों का मिश्रण हुआ दोनों में आदान प्रदान हुआ उसी समय वैदिक देवताओं ने सिन्धु घाटी के देवताओं को आत्मसात कर लिया।[2] पिछले प्रकरण में इस विषय की विवेचना करते हुए हम दिखा चुके हैं कि रुद्र और शिव का एकीकरण परवर्ती काल का है, वैदिक काल का नहीं। पर फिर भी काल का प्रश्न बना ही रहता है। पाणिनि में अम्बिका या पार्वती के चार चरणों का उल्लेख है।[3] पाणिनि ने ही एक अन्य सूत्र में शिव के उपासकों का उल्लेख किया है।[4] यजुर्वेद में जो प्रक्रिया आरम्भ हुई थी वह पाणिनि के समय तक एकदम स्पष्ट हो गयी है। महाभारत काल में शंकर की उपासना के स्पष्ट प्रमाण हैं। इस प्रकार ईसा संवत् के प्रारम्भ तक शैव धर्म का प्रचार समस्त भारत में हो गया था और उसका स्वरूप सारत वही था जो रामायण महाभारत काल में था।[5]

शैव मत के भेद—पुराण में इसके चार विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है (१) शैव (२) पाशुपत (३) कालदमन, (४) कापालिक। कुछ अन्य व्यक्तियों ने कालदमन के स्थान पर कालामुख नाम का उल्लेख किया है।

सिद्धांत—वीर शैवमत के अनुसार सृष्टि न तो विवर्तवाद है और न परिणामवाद है। विवर्तवाद के अनुसार भगवान् अपने स्वरूप को जगत के रूप में निर्माण करता है। यह जगत ब्रह्म से पृथक सत्ता नहीं रखता अत मिथ्या है। परिणामवाद के अनुसार सृष्टि शिव का स्वरूप होते हुए भी उसी प्रकार पृथक है जिस प्रकार दही दूध से। दही दूध का परिणाम अवश्य है पर फिर भी वह पृथक और स्वतन्त्र पदार्थ है। वीर शैवमत वालों ने इन दोनों शब्दों (विवर्तवाद और परिणामवाद) का परित्याग कर, शक्ति विकास और शक्ति संकोच इन दो नवीन शब्दों के द्वारा अपने सिद्धांत को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार कछुआ परों को बाहर निकालकर पानी में चलता रहता है तथा दूसरे समय में अपने परों को शरीर में छिपाकर चुपचाप बैठा रहता है उसी प्रकार शिव भी एक समय में अपनी शक्ति द्वारा जगत् का विकास करते हैं तथा दूसरे समय उसका संकोच कर लेते हैं। इस मत के अनुसार

---

१ पा० का० भा० पृ० ३५०
२ शैवमत पृ० ३३
३ अष्टाध्यायी ४।१।४९
४ वही पृ० ४।१।११२
५ शैवमत पृ० ८७

उत्पत्ति और नाश शब्दो के स्थान पर विकास और सकोच का प्रयोग अधिक उपयुक्त है।

जीव—वीर शव मत के अनुसार जीव शिव का ही अश है। शिव अशी हैं और जीव उनका अश। इन दोनो मे न तो एकदम भेद है और न अभेद ही है। जो सम्बन्ध अग्नि और उससे प्रसूत कणा का है वही शिव के साथ जीव का है। अग्नि से उत्पन्न कण न तो अग्नि का अपना रूप है और न उससे एकदम पथक् ही ह। इसको भेदाभेद मत कहा जा सकता ह।

जीवात्मा अल्पज्ञ होने के कारण अविद्या काम और माया के बन्धन मे फँस जाता ह। इस बन्धन से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय शिव का अनुग्रह प्राप्त करना ह। डा० यदुवशी के शब्दो मे, "आत्मा का कम बन्धन ही पाप ह और परम शिव की दया तथा अनुग्रह स ही इस बन्धन से मुक्ति मिलती ह। जब यह बन्धन हट जाता ह तब आत्मा विमुक्त हो जाता ह और आवागमन के चक्र से छूटकर सम्पूर्ण रूप से शिव समान होकर उन्हीके सान्निध्य म जाकर परमानन्द को प्राप्त होता ह।'[1]

पाश— शव सिद्धान्त के अनुसार पाश उन बन्धनो का नाम ह जिनके द्वारा शिव रूप जीव भी पशु भाव को प्राप्त होता ह। इन पाशो के चार भेद हैं—(१) मल, (२) कम (३) माया, (४) रोध शक्ति।

जिस बन्धन के कारण जीव की नसर्गिक ज्ञान क्रिया तिरोहित हो जाती है, उसका नाम मल ह। श्री बलदेव उपाध्याय ने तत्त्व प्रकाशिका' से श्लोक उदधत करते हुये इसे इस प्रकार समझाया ह, "मल की उपमा तण्डुल के तुप (छिलका) और ताम्र स्थित कालिमा से दी जाती ह। जिस प्रकार तुप धान के अकुरित हाने का कारण होता ह उसी प्रकार यह मल देहादि की उत्पत्ति का हेतु ह। जिस प्रकार ताम्र की कालिमा रस-शक्ति से निवत्त होती ह उसी प्रकार यह मल शिव शक्ति से निवत्त होता ह।'[2] मनुष्य के अनादि कार्यों के समूह का नाम ही कम है। माया से भाव उस शक्ति से ह जा प्रलय काल म जीवो को अपने म लीन कर लेती ह और सृष्टि काल मे उन्हे उत्पन्न कर देती ह। रोध-शक्ति से भाव उस शक्ति से ह जिससे परमेश्वर शिव जीवो के स्वरूप का तिरोधान करते हैं।

पाशों को छिन्न करना—इन पाशा का छिन्न करने का सामथ्य जीव मे नही है। जिस प्रकार सुतीक्ष्ण असि धारा भी अपने को नही काट सकती, उसी प्रकार ज्ञान और तप आदि भी जीव के इन मलो को काटन मे असमथ हैं। जीव के मलापनयन का एक ही साधन है और वह है परम शिव की अनुग्रह शक्ति। इसे तान्त्रिक भाषा म

१ शव मत पृ० १६६

२ भारतीय दशन, पृ० ५८६

'शक्तिमान' कहा जाता है। भगवान के जिस अनुग्रह से जीव भव-बन्धन से छुटकारा पाकर शिवत्व प्राप्त करता है उसी शक्ति का नाम दीक्षा है।

शिव और शक्ति—'सदा शिव से लेकर क्षिति-पर्यन्त जो भी चौंतीस तत्त्व हैं उनका नाम विश्व है जिस तत्त्व का यह विश्व उन्मेष मात्र है वह तत्त्व 'शक्ति' है। शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है और शिव की बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख दोनों भाव सनातन हैं। शिव तत्त्व में शक्तिभाव गौण और शिव भाव प्रधान है। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है न शक्ति की प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। यही शिव शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य का शैव लोग परम शिव के नाम से पुकारते हैं परन्तु शाक्त लोग पराशक्ति के नाम से।

शाक्त मत

शक्ति—*शक्ति की व्युत्पत्ति शक् धातु से होती है और इसका अर्थ है* बल। साधारण रूप से इस शब्द का यही अर्थ गृहीत होता है। उनकी दृष्टि में शक्ति की पूजा का अर्थ है बल की पूजा। केशवचन्द्र सेन ने शक्ति के इसी अर्थ को स्वीकार कर यूरोप में प्रेम के स्थान पर शक्ति की पूजा पर खेद प्रकट किया था। प्रोफेसर मानियर विलियम ने 'हिन्दूइज्म' में यही अर्थ स्वीकार किया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'मॉडर्न रिव्यू' के (*जौलाई १६१६ के अंक*) *में शक्ति का अर्थ बल ही स्वीकार* किया था। शक्ति का यह अर्थ सीमित है। शक्ति बल तो है ही पर साथ ही वह कुछ और भी है। वह चिद्रूपिणी और आनन्दमयी है।[1] म० म० प० गोपीनाथ कविराज के अनुसार, 'सृष्टि के आदि में अनादिकाल से जो अव्यय पूर्ण निराकार और शून्य *स्वरूप वस्तु विराजमान है वह तत्त्वातीत, प्रपंचातीत तथा व्यवहार के भी अतीत है। वही शाक्तों की महाशक्ति है और शैवों के परमशिव हैं।*[2] *भारतीय उपासना* पद्धति में शक्ति उपासना के दो रूप हैं—

(१) सहायिका के रूप में और (२) स्वतन्त्र रूप में। सहायिका रूप में देवी या शक्ति अपने देवता या पुरुष के साथ प्रतिष्ठित की जाती है। हर-गौरी शिव पार्वती राधा-कृष्ण सीता राम आदि की मूर्तियों में गौरी पार्वती राधा और सीता अपने पुरुष हर शिव, कृष्ण और राम की सहायिका हैं। तान्त्रिक साधना में भी जहाँ शक्तियों की पूजा की स्वतन्त्र मान्यता थी, पुरुष के साथ उसकी शक्ति के प्रदर्शन का नियम था। वज्रयानियों के ध्वज चित्रों में तो कभी-कभी पुरुष के साथ उसकी शक्ति चिपकी हुई दिखायी जाती है। किन्तु इस पद्धति से भिन्न शक्तियों के पृथक और स्वतन्त्र रूप से पूजन तथा मूर्तीकरण का भी प्रचलन भारत में चला। इस

---

१ शक्ति एण्ड शाक्ताज़, पृ० १८६

२ वही पृ० १८६

पद्धति के अनुसार शक्तियाँ ब्रह्मा, विष्णु, शिव के अनुसार ही आराध्य हैं।[1] सम्भवत यह युगपत पूजा दोनो की अविभाज्यता दिखाने के उद्देश्य से प्रचलित हुई होगी। अद्ध नारीश्वर की कल्पना मे भी यही भावना है।

शक्ति का महत्त्व—इसके सर्वाधिक महत्त्व का कारण है उसकी क्रियाशीलता। शिव गतिहीन हैं और शिवा ही सब काय करती हैं। इसी कारण शिव के श्वेत शरीर म खडी हुई काली की पूजा होती है। उसे काला दिखाने का भाव यह है कि यह अन्त म सबका कालिमा म मिला देती है। 'महाकाली स्तोत्र' मे उसका वणन इस प्रकार है—बिना चरणा के भी तुम वायु से अधिक चलने वाली हो। बिना कानो के सब-कुछ सुनती हो। बिना नेत्रो के सब-कुछ देखती हो। बिना नाक के सब कुछ सूघती हो। बिना जिह्वा के सब कुछ चखती हो।[2]

इस सष्टि की उत्पत्ति या प्राकट्य शक्ति के द्वारा ही होता है। शिव अपने आप ता शवमात्र ही है। वे परमशिव अर्थात पूण शिव तभी बनते है जब शक्ति के साथ उनका सयोग रहता है। "शिव तथा परमशिव एक होने पर भी ठीक एक नही हैं, क्योकि शिव शक्ति हीन प्रकाश मात्र है यह शिव होने पर भी वस्तुत शव हैं या जडवत हैं। शक्तिहीन शिव—शिव तत्त्व म, जो अनाश्रित शिव के नाम से शास्त्रो म प्रसिद्ध हैं मे चिदक्य की ख्याति अर्थात् स्फुरण न रहने के कारण एक प्रकार से अविद्या से भरा है। इसलिए इसे अख्यातिमय कहा जाता है। यह शिव विश्वोत्तीण है, पर तु शक्ति के योग से और उसकी समरसता के प्रभाव से वही शिव परम शिव पद को प्राप्त होता है।[3]

शक्तिहीन का अथ यह कदापि नही कि किसी भी दशा मे उसका शक्ति से वियोग हो जाता है। इसका भाव उस स्थिति से है जिसम शक्ति अव्यक्त रहती है। शक्ति हीन होने पर भी वह शक्त्यात्मक है। शू यातिशू य रूप कहकर आगम मे उसका वणन किया गया है। शक्ति हीन इसलिए कहा जाता है कि उस स्थिति मे शक्ति अव्यक्त रहती है। वस्तुत 'अस्ति' और 'आसत' एक ही अथ के वाचक है। जिसका अस्तित्व है उसी का मान होता है एव जिसका मान होता है उसी का अस्तित्व माना जाता है। इसलिए सत्ता माने ही चिति है और चिति माने ही सत्ता है। दोनो का आन द म समानाधिकरण्य है रसा वय है।[4]

अद्वैतवाद

ऊपर के विवेचन से यह न समझ लिया जाय कि शिव और शक्ति अलग

---

१ ता० वा० शा० द०, पृ० ७७
२ शक्ति एण्ड शाक्ताज, प० ४३
३ ता० वा० शा० द०, भूमिकाभाग, पृ० ८
४ ता० वा० शा० द० भूमिकाभाग, पृ० ८

अलग हैं। वस्तुत इन दोना म पाथक्य नही है। मूलत दोना एक ही हैं। जो परम शिव हैं, वही परमा शक्ति हैं। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन ज्ञानहीन क्रियाहीन और स्पन्दन म असमथ शवमात्र है, और प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्म प्रकाश म असमथ है। दोनो ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपत अभिन्न हैं एक को छोडकर दूसरा रह भी नही सकता। वस्तुत चित्स्वरूप म लिंग भेद नही है। इसी लिए वह अलिंग होकर भी सर्वलिंग रूप म प्रकाशित होता है तथा नाना लिंग रूप म प्रकट होने पर भी अलिंग है—

शिवो देव शिवा देवी शिव ज्योतिरिति त्रिधा।
अलिंगमपि तत्तत्त्व लिंगभेदेन कथ्यते॥

यह निम्न निर्दिष्ट श्वेताश्वतर श्रुति की ही प्रतिध्वनि है—

नव स्त्री न पुमानप न चाय स्यात नपुसक ॥[1]

जसा पहले कहा गया है कि दोना एक हैं, एक ही तत्त्व के दो रूप हैं इसी लिए एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। दोनो मिलकर ही सष्टि का काय करते हैं। वस्तु का सामीप्य सम्बन्ध न रहने पर जसे दपण प्रतिबिम्ब को ग्रहण नही कर सकता अथवा वस्तु का सान्निध्य होने पर भी प्रकाश के अभाव स दपण म स्थित प्रति बिम्ब जसे प्रतिबिम्ब-रूप म नही भासता उसी प्रकार पराशक्ति भी प्रकाश स्वरूप परम शिव के सान्निध्य के बिना अपने अन्त स्थित विश्व प्रपच को प्रकटित करने म समथ नहीं होती। इसी कारण शुद्ध शिव अथवा शुद्ध शक्ति परस्पर सम्बन्ध रहित होकर अकेले जगत के निर्माण का काय नही कर सकते। दोना की आपक्षिक सहका रिता के बिना सष्टि काय असम्भव है।[2] शक्ति और शिव की अविभक्त दशा ही परम दशा कहलाती है और इस परम दशा म ही सष्टि होती है। सष्टि का उदभव और नाश कसे होता है यह समझाते हुए म० म० कवि० गोपीनाथ का कथन है—'उसका शिव से वियोग कभी नही होता। जसे आकाश और वायु अविभक्त हैं ठीक वैसे ही उन्हें समझना चाहिए। अविभक्त होने पर भी जब शिव प्राधान्य रहता है और वे स्वमात्र म विश्रान्त रहते हैं तब चितशक्ति निज स्वरूप मे विद्यमान रहती है। उस अवस्था म विश्व की सष्टि नही होती। परन्तु जब शिव शक्त्युन्मुख होते हैं और शक्ति शिवोन्मुख होती है तब उस समय की अवस्था को यामल अवस्था कहते हैं। उक्त अवस्था म न शिव शक्ति-हीन रहते है और न शक्ति ही शिव हीन रहती हैं। इसी को सघट्ट कहते हैं।'[3]

---

१ ता० वा० शा० द०, प० ११
२ वही, प० ७६
३ वही पृ० ११

असल मे महाकाल पुरुष और उसकी शक्ति अभिन्न हैं। शक्ति और शक्तिमान एक ही हैं। जसे अग्नि मे दाहिका शक्ति सदव विद्यमान रहती है ऐसे ही चिन्मात्मा की शक्ति चिदात्मा मे सदव विद्यमान रहती है—

सा ब्रह्मस्वरूपा चानित्या सा च सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तियथाग्नौ दाहिका स्थिता॥
अतएव हि योगीन्द्र स्त्रीपुम्भेदो न मन्यत।
सव ब्रह्ममय ब्रह्मन् शश्वत सदपि नारद॥[1]

इस मत म जीव और परमेश्वर (शक्ति) भी एक ही हैं। यह जीव ईश्वर होत हुए भी मल के आवरण के कारण अपने शिव स्वरूप को भूलकर कत त्व-भाव धारण कर विभिन लोको मे भ्रमण करता रहता है। उसकी इस आत्म विस्मृति म ईश्वर की इच्छा ही प्रधान कारण है। उसकी इच्छा स जब यह आवरण शक्ति हट जाती है तब वह फिर आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। साधना के समय भी साधक शक्ति की पूजा अद्व तभाव से ही करता है—

अह देवी न चायोऽस्मि ब्रह्मवाह न शोकभाक।
सच्चिदान दरूपोऽह नित्यमुक्त स्वभावजम॥

मातृ रूप मे पूजा—इस मत म ईश्वर की पूजा मात रूप म (शक्ति रूप म) होती है। इस मत के अनुसार ईश्वर इसी रूप म क्रियाशील रहता है। जिस प्रकार माता अपने शिशु के कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहती है ऐसे ही यह शक्ति जीवो के कल्याण के लिए सचेष्ट रहती है। शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है इस कारण उसे कोई अबला या निबला न समझ ले इसी बात को लक्ष्य करके 'महाकाली संहिता' म कहा गया है—"तुम न लडकी हो, न जवान हो न बूढी हो। तुम न पुरुष हो, न स्त्री और न इन दोनो से पृथक्। तुम अवणनीय हो परिमाण से बाहर हो, इस भावना से परे हो, तुम साक्षात ब्रह्म हो।" जो यक्ति इस स्त्रीलिंग शब्द के आधार पर इस मत की आलोचना करते है, उन्हें श्री उडरफ ने मौन धारण करने का परामश दिया है।[2]

एक ही शक्ति विविध नामो से प्रसिद्ध है—ब्रह्माणी माहेश्वरी वैष्णवी, कौमारी, वाराही इन्द्राणी और चामुण्डा उसी शक्ति के अलग अलग नाम हैं। यह शक्ति नारी के इन रूपो म ता अवतरित होती ही है वह इच्छानुसार पुरुष-वेश भी धारण करती है। एक बार महाशक्ति ने कृष्ण का रूप धारण किया था और एक बार राम का।[3]

---

१ देवीभागवत, ६।१।१०-११
२ श० शा०, पृ० २८ ६
३ वही, पृ० ५८

आयी हैं।[1] केनोपनिषद् मे जिस उमा हैमवती का उल्लेख है उसे शक्ति मानना भी भ्रामक है। वहाँ उमा का अथ ब्रह्मविद्या है। मुण्डकोपनिषत (१।२।४) मे जो काली और कराली शब्द आते हैं वे भी शक्ति के पर्यायवाची रूप मे नहीं आते। इनका प्रयोग अग्नि की जिह्वाओ के लिए है।[2] कालान्तर म ये विशेषण शक्ति के समानाथक बन गय।

कुछ अन्य प्रमाण भी ऐसे हैं जिनसे इसे सातवी शती के बाद का प्रचलित धम मानना पडता है। बाणभट्ट ने अपनी रचनाओ म विभिन्न मतो का उल्लेख करते हुए पाशुपतो और भागवता का तो उल्लेख किया है पर शाक्तो का नही।[3] यदि यह मत इतना प्राचीन था तो बाणभट्ट ने इसका उल्लेख क्या नही किया ? स्पष्ट है कि अपने इस रूप म यह प्रचलित नही रहा होगा। सभावना यही है कि अवदिक हाने के नाते यह धम उस समय तक हिन्दू धम का अग नही बन पाया होगा।

तान्त्रिक मत

शाक्त मत म तन्त्रो और मन्त्रो की प्रधानता है। तन्त्र का शाब्दिक अथ उस विद्या से है जो ज्ञान का विस्तार करती है—

तनोति विपुलान अर्थान तन्त्रमन्त्रसमन्वितान।
त्राण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

परन्तु यहाँ तन्त्र से अभिप्राय उन धार्मिक ग्रन्थो से है जो तन्त्रमन्त्रादि समन्वित एक विशिष्ट साधना माग का उपदेश देते हैं। तन्त्र का दूसरा नाम आगम है। ज्ञान और उपासना के नियम का वेद बताते हैं तथा उनके साधनभूत नियमो को आगम सिखाते हैं। इन तन्त्रो म उपासना और प्राथना के स्थान पर एक ऐसी साधना का विधान है जिसके द्वारा प्रकृति और पुरुष म एकता पदा करने का काय किया जाता है। तान्त्रिक-साधना का उद्देश्य स्वराट और विराट का एकीकरण है। यह काय शारीरिक शक्तियो को जगाकर ही किया जा सकता है। शारीरिक साधना के साथ साथ इसमे मन्त्रो का भी आश्रय लिया जाता है। मन्त्र का साधारण अथ रहस्यात्मक शब्दो से है। इन मन्त्रो की भाषा और उसके क्रम मे कोई परिवतन नहीं किया जा सकता। इनके अक्षर और स्वर भी निश्चित हाते हैं। इसी कारण इनका अनुवाद भी नही किया जा सकता। ये गुरु से जिस रूप म भी प्राप्त होते हैं उसी रूप म इनका जप करना होता है। इस जप का उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना है। ये मन्त्र प्राय एकाक्षर और निरथक होते थे। जसे ह्रीं, ती आदि।

---

१ डेव० हि० इक०, पृ० ४९
२ वही पृ० ४९
३ हि० बुद्धि, भाग २, पृ० २८०

यह साधना-पद्धति गुह्य होती थी। इसके अर्थ सभी को स्पष्ट नहीं होते थे। धीरे-धीरे इसमें पंच मकारों की प्रधानता आ गयी और सिद्धि के लिए इनका सेवन अनिवार्य माना जाने लगा। ये पंच मकार इस प्रकार हैं—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन।[1]

एक मत के अनुसार ये मकारी शब्द साधक की पांच विशेष अवस्थाओं के द्योतक या प्रतीक हैं।[2] विद्वानों द्वारा इन शब्दों से कुछ अन्य अर्थ भी बनाये गये हैं। पर अन्त में इन मकारों की परिणति वामाचार में हुई इस तथ्य का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साधना के नाम पर इनका सेवन खुलकर किया जाने लगा। मारण मोहन उच्चाटन और वशीकरण आदि षटकर्मों की बाढ़-सी आ गई। शक्ति और सिद्ध अपने चमत्कारों द्वारा अपनी धाक जमाने लगे। जनता में इनके प्रति भय बढ़ने लगा, आदर घटने लगा।

हिंदी-साहित्य पर प्रभाव—तन्त्र का आगमन ईस्वी सन की छठी शती में हुआ है ऐसा अधिकांश विद्वानों का मत है। म० म० डा० हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार तन्त्रों का आगमन शकों के संग पुरोहितों द्वारा हुआ है। जो भी हो भक्तिकाल में पर्याप्त समय पूर्व तन्त्र का प्रचलन हो चुका था। यह भी ठीक है कि इस समय तक शाक्त मत का प्रभाव धीरे धीरे कम हो गया था। वैष्णव धर्म के अभिनव आकर्षण ने अधिकांश जनता को अपनी ओर खींच लिया था। शाक्तों के वामाचार से जनता तंग आ गई सी प्रतीत होती थी। यही कारण है कि कबीर-जैसे सन्त कवि ने शाक्तों की निन्दा बड़े तीखे शब्दों में की है—

अ—वैष्णों की छपरी भली, ना शाक्त बड़ गाउ।

आ—साकत ब्राह्मन ना मिला वैष्णो मिला चंडाल।

तत्कालीन समाज पर इनका प्रभाव अनिष्टकारी सिद्ध हो रहा था इस तथ्य का अस्वीकार नहीं किया जा सकता। योगी अरविन्द आदि विद्वानों को इन तन्त्रों में निहित सिद्धान्तों की उदात्तता और गहन आध्यात्मिकता का स्वीकार करते हुए भी यह मानना पड़ा है कि कालान्तर में इनमें बहुत-से ऐसे तत्त्व आकर जुड़ गये थे जिनके कारण अनियन्त्रित वामाचार असंयत सामाजिक व्यभिचार-दुराचार का मानो एक पथ ही चल पड़ा।[3] प्रज्ञा-पारमिताओं के संपादक श्री राजेन्द्रलाल तथा बौद्ध-साहित्य का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डा० विनयतोष भट्टाचार्य दोनों ही इन बौद्ध तन्त्राचार्यों की साधनाओं को विकृत रोगग्रस्त अस्वस्थ और पतनोन्मुखी बताते हैं।

प्रसंगवश यह भी कह देना अनुचित न होगा कि यद्यपि राजपूत-काल में शिव

१ श० शा०, पृ० ३४१

२ वि० ध० दा० पृ० २१६

३ सि० मा०, पृ० ७१

के साथ शक्ति की पूजा प्रचलित थी पर शक्ति को लेकर स्वतन्त्र रूप से साहित्य का निर्माण बहुत कम मात्रा में हुआ। इसके साथ वह भावात्मक एकता नहीं हो सकी, जिसका सृजनात्मक साहित्य के लिए होना अनिवार्य है। वैष्णव मत की मोहिनी ने धीरे धीरे सबको अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इसमें सीता और राधा का चित्रण शक्ति के रूप में हुआ है, अंशतः इस कारण भी शक्ति के स्वतन्त्र वर्णन की आवश्यकता का अनुभव कम ही हुआ। ऊपर जिस साधना पद्धति का उल्लेख हुआ है उसके कारण भी बहुत से व्यक्तियों का इस मार्ग से अरुचि हो गयी है। इस अरुचि की अभिव्यक्ति कबीर के शब्दों में इस प्रकार हुई है—

साक्त मरहिं संत सभि जीवहिं।
राम रसायनु रसना पीवहिं।।

भारतीय देव-भावना को प्रभावित करने वाले उपादान

जैन और बौद्ध सुधार-आंदोलन की पृष्ठभूमि

विद्रोह या क्रान्ति सहसा नहीं फूट निकलती। उसकी बिजली की-सी चका-चौंध से सामान्य जन हतप्रभ से होकर उसे आकस्मिक मान बैठते हैं पर वास्तव में उसकी सृष्टि ज्ञात और अज्ञात ढंग से शनैः शनैः होती रहती है। उसके बीज पृथ्वी गर्भ में विद्यमान रहते हैं और अनुकूल अवसर पाकर अंकुरित पल्लवित एवं पुष्पित हो उठते हैं। न तो ज्वालामुखी ही सहसा फूटता है और न स्रोत ही। उनके तत्त्व अन्दर-ही-अन्दर पनपते रहते हैं और इस प्रक्रिया के सम्पूर्ण हो जाने पर फूट पड़ते हैं। यही सिद्धान्त धार्मिक क्रान्ति के विषय में भी लागू होता है। एक निश्चित विचार-धारा जनसाधारण में धीरे धीरे फैलती रहती है। साधारण स्रोत के समान वह मन्द गति से बहती रहती है और अनुकूल परिस्थिति एवं धरातल पाकर वह सम्पूर्ण वेग के साथ उमड़ पड़ती है। क्रान्तिकारी नेता उस क्रान्ति के विचारधारा के उन्नायक मात्र होते हैं वे उसका प्रसार भर करते हैं वे उसके जन्मदाता नहीं होते। उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से वह विचारधारा आसानी से ग्राह्य बन जाती है। यही नियम जैन और बौद्ध धर्म के विषय में लागू होता है। उनके विचार और सिद्धान्त न तो सहसा ही फूट ही निकले थे और न वे कहीं ऊपर से ही आ गिरे थे। उनका विकास भी उनसे बहुत समय पूर्व से यहीं हो रहा था।

जैन-बौद्धधर्मों के प्रवर्तकों—भगवान महावीर स्वामी और बुद्ध—से बहुत पहले उपनिषदों में हमें उसी विचारधारा के दर्शन होते हैं जो कुछ परिवर्तित रूप में इन दोनों धर्मों में ग्राह्य हुई। धीरे धीरे वैदिक धर्म जब यज्ञों में ही सीमित हो गया यज्ञ बहु-व्ययसाध्य हो गये हृदय का स्थान कर्मकाण्ड ने ले लिया तो उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक ही था। उपनिषदों में यह प्रतिक्रिया एकदम स्पष्ट रूप में मिलती है। 'स्वर्गकामो यजेत' आदि में यज्ञ का जो महत्त्व प्रतिपादित किया गया है उसे उन्होंने स्पष्ट रूप में अस्वीकार किया है। इनके अनुसार यज्ञ की नौका के सहारे इस संसार सागर को पार नहीं किया जा सकता—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा ॥

एक अन्य स्थान पर तप, ऋजुता, अहिंसा और सत्यवचन को ही दक्षिणा कह-कर द्रव्यमयी दक्षिणा का निषेध किया गया है—

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणा ॥[1]

कर्मकांड के स्थान पर आत्म-तत्त्व की उपलब्धि पर सभी उपनिषदों में बल दिया गया है। असली बात तो यह है कि आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार ही उपनिषदों का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय है। शुभाशुभ कर्मों के फल और पुनर्जन्म इत्यादि विषयों की स्थापना इस युग तक हो चुकी थी। ब्राह्मणों का महत्त्व कम हो गया था। कितने ही ऋषि क्षत्रिय राजाओं के पास शिष्य भाव से ब्रह्म विद्या का उपदेश ग्रहण करने जाते थे। जन्मगत जातिपाँति की व्यर्थता भी स्पष्ट होने लगी थी। सत्यकाम जाबाल जारज सन्तान होते हुए भी ब्रह्म विद्या का अधिकारी समझा गया।[2]

हिंसा का विरोध और अहिंसा का प्रचार जैन तथा बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी देन है। पर हिंसा का विरोध उससे पहले भी शुरू हो चुका था। अवध की ओर के आर्य यज्ञों में हिंसा का प्रयोग बुरा समझते थे। 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि कुरु पांचाल के ब्राह्मणों को काशी, कोशल, विदेह और मगध नहीं जाना चाहिए, क्योंकि वहाँ के ब्राह्मणों ने वैदिक धर्म (यज्ञ) को छोड़ दिया है तथा वे एक नये धर्म का प्रचार करते हैं जिसमें यज्ञ और पशु हिंसा दोनों ही मना है।[3]

जैन और बौद्ध धर्म में वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया गया। उपनिषदों में यह प्रक्रिया पहले ही शुरू हो चुकी थी। मुण्डकोपनिषद में विद्या के दो भेद किये गये हैं—१ परा और २ अपरा। अपरा भोगपरक है, उसका सम्बन्ध ऋक्, यजु और साम से है। यहाँ अपरा का त्यागकर परा को स्वीकार करने की बात कही गयी है।

वैराग्य और संन्यास की प्रवृत्ति जैन और बौद्ध धर्म की एक भारी विशेषता है। इस विशेषता का साक्षात्कार हम उपनिषदों में हो जाता है। नचिकेता और यमराज के संवाद में स्पष्ट रूप से ऐहिक सुखों को हेय कहा गया है। यमराज नचिकेता को सब प्रलोभन देता है सब-कुछ माँगने को कहता है, पर नचिकेता अमर होने के सिवाय अन्य सब कुछ नहीं माँगना चाहता। उसका कहना है कि मर्त्य के सभी सांसारिक उपभोग शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। साथ ही इनके उपभोग से सब इंद्रियों का तेज भी क्षीण हो जाता है। फिर सारा जीवन भी थोड़ा ही है। इसलिए आपके जो ये वाहन और नाच गान हैं इन्हें आप ही रखिये, मुझे इनकी आवश्यकता नहीं।'[4]

---

१ छान्दोग्य, ३।१७।४

२ वही, ४।४।४

३ संस्कृति के चार अध्याय, पृ० १०६

४ कठोपनिषद् १।१।२६ २८

यमराज अभी और परीक्षा लेना चाहता है तरह-तरह के प्रलोभन देता है, पर नचिकेता अडिग है। वह कहता है कि धन के द्वारा मनुष्य तृप्त नहीं हो सकता—न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य । स्वयं यमराज प्रसन्न होकर उससे कहता है कि उस ध्रुव की प्राप्ति अध्रुव से नहीं होती— न ह्यध्रुवै प्राप्यते हि ध्रुवं तत ।"[1]

संन्यास का उल्लेख भी उपनिषदों में है। कहा गया है कि जो वेदान्त विज्ञान और संन्यास के द्वारा यति हो गए हैं जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वे ही उस ईश्वर के पास रहते हैं—

वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्था संन्यासयोगाद्यतय शुद्धसत्त्वा ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाल परामृता परिमुच्यन्ति सर्वे ।।[2]

बौद्ध और जैन धर्म सुधार आंदोलन तथा भारतीय देव-भावना पर प्रभाव

भारतीय जीवन में जैन और बौद्ध धर्म का आगमन एक चमत्कार के समान था। जिस प्रकार बिजली के कौंध जाने से आकाश में प्रकाश ही प्रकाश छा जाता है उसी प्रकार इन नवीन आंदोलनों से भारतीय अन्तरात्मा आलोकित हो उठा था। जिस बौद्ध धर्म ने देश-देशान्तरों के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया था उसकी मोहनी का प्रभाव अपने ही देश पर न पड़ता यह कैसे सम्भव था ? यह ठीक है कि कालान्तर में यह बौद्ध धर्म अपने ही जन्म-स्थान से निष्कासित-सा हो गया था पर वह अपना व्यापक प्रभाव इस देश के जीवन पर छोड़ गया इस तथ्य को कौन अस्वीकार कर सकता है ? असली बात तो यह है कि उसके बाहरी रूप से लुप्त हो जाने पर अपने उदात्तरूप में वह भारतीय जीवन में आज भी विद्यमान है। जैनधर्म के सभी प्रमुख सिद्धान्त भारतीय जीवन में घुलमिल गए हैं। पार्श्वनाथ का चातुर्याम—अहिंसा असत्य स्तेय और परिग्रह का त्याग—हिन्दू धर्म में यम के रूप में मनुस्मृति में ग्रहण कर लिया गया है। ये तत्व भारतीय और हिन्दू धर्म के ऐसे अविभाज्य अंग बन गए हैं कि सामान्य पाठक इन्हें जैन धर्म की देन मानने को तैयार नहीं होता। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त किया है— हिन्दुत्व और जैन धर्म आपस में घुलमिल कर अब इतने एकाकार हो गए हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैन धर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं ।"[3]

जैन धर्म और बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी देन अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना है। वैदिक यज्ञों में पशुओं की बलि धार्मिक अनुष्ठान का एक अंग समझा जाता था।

---

१ कठोपनिषद, १।२।१०
२ मुण्डक, ३।२।६
३ संस्कृति के चार अध्याय, १०६

इन घोर कृत्या को रोकने के लिए इन दोनो सुधारको ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। इन प्रयत्नो का प्रभाव परवर्ती समाज पर स्पष्ट रूप मे पडा है। राजा उपरिचर के यन म पशुघात नही हुआ।[1] यह भी कथा है कि यन म आहुति के लिए प्रयुक्त 'अज' शब्द का अथ अन्न है, बकरा नही यह जानत हुए भी राजा उपरिचर ने देवताओ के पक्षपात के कारण अज' का अथ बकरा बताया और इसीलिए उसका अध पतन हुआ।[2]

बौद्ध धम के प्रकरण म स्थान-स्थान पर इसके दो प्रमुख भेदो—हीनयान और महायान—की चर्चा आती है अत यहा सक्षिप्त रूप मे इन दोनो के शब्दाथ और भावाथ पर विचार कर लेना अप्रासगिक न होगा।

हीनयान का शाब्दिक अथ है छोटी सवारी। आरभ म यह नाम महायानियो न दिया था। इसके पीछे उनका उद्देश्य अपने माग की श्रेष्ठता तथा दूसरे मार्ग की हीनता सिद्ध करना था पर धीरे धीरे यह नाम इसी अथ म प्रचलित हो गया। चीनी यात्री ईचिग (ईसवी पश्चात ६७५ ७१३) ने जो परिभाषा दी है वह इस प्रकार है—

"जो बोधिसत्वो की उपासना करते हैं महायान सूत्रा को पढत हैं महायानी कहलात हैं, जो यह नही करते व हीनयानी कहलाते हैं।[3] डा० उमश मिश्र ने इनके अन्तर का या स्पष्ट किया है—(१) "हीनयान के साधक लाग 'अहत' पद को ही अपना चरम लक्ष्य मानते है। इस पद पर पहुँचकर साधक नानानिष्ठ हा जाता है। (२) महायान के साधक बाधिसत्त्व अवस्था तक पहुँचते हैं और दूसरा के कल्याण करने की शक्ति को प्राप्त करत हैं।[4] श्री धमवीर भारती ने महायान की विशेषताओ को इस प्रकार व्यक्त किया है—

(१) बाधिसत्त्वा म आस्था और प्रत्येक व्यक्ति म निहित सामथ्य पर आस्था, जिसमे वह बोधिसत्त्व की स्थिति तक पहुच सकता है। (२) लोक हित की भावना, (३) बुद्ध की लाकोत्तर सत्ता म विश्वास। (४) विभिन्न दाशनिक प्रणालिया का प्रचार जो बुद्ध-तत्त्व तथा परिनिर्वाण की लगभग वसी ही व्याख्या करते थे जसी ब्राह्मण वेदान्तो मे प्राप्त होती है। (५) महायानिया का अधिकतर साहित्य सस्कृत म है। (६) प्रतिमाओ की पूजा और पूजा तिथियो तथा अनुष्ठाना का विस्तार। (७) अमिताभ बुद्ध म केवल आस्था मात्र रखने स ही निर्वाण प्राप्ति का विधान और इसी लक्ष्य से उसका नाम-जाप।[5]

---

१ म० भा० शान्तिपव (माक्षधमपव), श्लाक १०
२ वही, पृ० १३७
३ हि० बुद्धि, भाग २ प० ३
४ भा० दशन, पृ० १४५
५ सिद्ध-साहित्य, प० १०६

इन सभी विद्वानो ने बोधिसत्व शब्द का प्रयोग किया है अत इसका ठीक-ठीक अर्थ समझ लेना आवश्यक है। इसका शाब्दिक अर्थ है पूर्ण ज्ञानवाला व्यक्ति। पर ऐतिहासिक विकास क्रम से इसका अर्थ उस व्यक्ति से है जो पूर्ण ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर हो—

One who is on the way to the attainment of perfect knowledge i e, future—Budha [1]

अर्थात जो पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के मार्ग पर पहुच गया है वह भावी बुद्ध या बोधिसत्त्व हो।

एक अन्य स्थल पर इसकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

A being who is in process of obtaining but has not yet attained Buddhahood [2]

जो प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर है पर बुद्धत्व को पा नही सका वह बोधिसत्त्व है।

महायान की उत्पत्ति के मूल म दो प्रधान कारण थे—(१) लोक भावना और (२) उसे सहज रूप देने की भावना। धीरे-धीरे महायान बहुत लोकप्रिय हो गया। लोकप्रिय हो जाने के कारण धीरे धीरे इसके रूप म बहुत-से परिवर्तन हुए। इसका एकरूप मन्त्रनय या मन्त्रयान के नाम से अभिहित हुआ और इसी से वज्रयान की उत्पत्ति हुई।

बौद्ध धर्म की महायान शाखा आगे चलकर अत्यधिक लोकप्रिय हुई और इसने बौद्ध तथा बौद्धेतर जीवन को प्रचुर मात्रा म प्रभावित किया। महायान की उत्पत्ति के अनेक कारणो म उसकी लोक हित भावना ही सबसे प्रमुख है। व्यक्ति निर्वाण की अपेक्षा समस्त लोक का निर्वाण इसका लक्ष्य है। इसे समझाने के लिए अवलोकितेश्वर की कहानी कही जाती है। बताया गया है। कि बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर निर्वाण प्राप्त कर जब शून्य म लीन होने जा रहे थे तो उन्होंने सुमेरु पर्वत के शिखर से दूरागत क्रन्दन सुना। पता चला कि यह उन जनसाधारण के परिताप के कारण है जो अवलोकितेश्वर की उपस्थिति के कारण अपने दुखो म सात्वना पा रहे थे। अब उन्हें अपने से दूर जाते देखकर वे विकल थे। अवलोकितेश्वर ने उस समय तक अपने निर्वाण को स्वीकार करने से मना कर दिया कि जब तक एक प्राणी भी भव-जाल से बँधा रहता है।[3]

करुणा का यह प्रभाव हिन्दू देवताओ पर भी पडा है। क्षण भर के लिए नरक

१ इन० रि० ए० भाग १ पृ० ७३९
२ हिन्द बुद्धि भाग २, पृ० ७
३ म० सा० अव० पृ० ४८

दशन के बाद जब युधिष्ठिर वहा से लौटने लगे ता उन्हें जीवो की दयनीय पुकार सुनाई पडी—धमनन्दन ! आप हम लोगो पर कृपा कर थोडी देर यहा ठहर जाइये। आपके आते ही परम पवित्र और सुगन्धित वायु चलन लगी है। इससे हमे सुख मिल रहा है, क्षण भर और ठहर जाइए। युधिष्ठिर ने क्षण भर सोच विचार कर दूत से कहा— 'तुम जिनके दूत हो उनके पास लौट जाओ, मैं वहा नही चलूगा। यहाँ मेरे रहने से मेरे बन्धुआ को सुख मिलता है।'[१]

स्पष्ट रूप से यह अवलोकितेश्वर की करुणा का ही प्रभाव है। जहाँ तक अवलोकितेश्वर के समय का प्रश्न है, वह ईसा की प्रथम शताब्दी के काफी पूव है। ईसा की प्रथम शताब्दी म बनी उनकी जा मूर्तिया मिली हैं, वे इस बात का प्रमाण हैं।[२] महायान की इस लोक भावना का हिन्दू दव भावना पर बडा व्यापक प्रभाव पड़ा है। उनके भगवान् के दीनदयालु पतित पावन और भक्तवत्सल होने म महायान का प्रभाव ही अपना काम कर रहा है। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य म स्थान स्थान पर राम और कृष्ण के जिस पतित-पावन रूप का विरद गाया जाता है वह बौद्ध धम का ही प्रभाव है।

आरम्भ म भगवान के अवतार का लक्ष्य अधम का नाश और धम की वृद्धि था। भगवदगीता म भी भगवान कृष्ण न अपने प्रकट हाने का यही कारण बताया है—

यदा यदा हि धमस्य ग्लानिभवति भारत।
अभ्युत्थानमधमस्य तदात्मान सजाम्यहम ॥
परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम।
धम सस्थापनार्थाय सभवामि युगे युग ॥[३]

परम्परावादी तुलसीदास ने भी भगवान के रक्षक रूप का ही अपनी उपासना का जो विषय बताया है उसके पीछे दुष्ट-दलन और सज्जन रक्षण की भावना अपना काय कर रही है। पर बौद्ध धम के लाक-सग्रह रूप के प्रभाव के कारण भगवान की कृपालुता पर विश्वास अधिकाधिक मात्रा म बन्ता गया। महायान माग के अनुयायियो का विश्वास है कि अमिताभ बुद्ध म केवल आस्थामात्र रखन स ही निर्वाण प्राप्ति सम्भव है। वल्लभमत म भगवान के अवतार का जा प्रमुख साधन निरपेक्ष मुक्तिदान माना गया है उस बौद्ध धम का प्रभाव मानना ही उचित है। श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का मत भी यही है। उनके शब्दो मे, 'वष्णव मता म तन्त्रो की ही तरह शक्तिपात या कृपा क सिद्धान्त पर सबस अधिक बल दिया गया है। साधन निरपेक्ष मुक्ति का दान ही वल्लभ क अनुसार भगवान् के अवतार का कारण है।

१ महाभारत, शान्तिप व, स्वगगमन प्रकरण
२ बुद्धि हिन्दू भाग १, प० १६
३ भगवद्गीता, ४।७ ८

यह काय भगवान कृपावश करते हैं। उनके अनुसार दुष्ट-दलन तथा सज्जन रक्षण का काय तो भगवान अन्य साधना से भी पूरा कर सकते थ, तब उनके अवतार का प्रयाजन ही क्या है ? मनुष्यों का साधन निरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान के अवतार का प्रयोजन हो सकता है।[1] वास्तविकता तो यह है कि तन्त्रो का उद्गम भी बौद्ध धम से ही हुआ है जिस उपाध्यायजी ने तान्त्रिक प्रभाव कहा है वह अपने मूल रूप म बौद्ध प्रभाव ही है।

कुछ विद्वानो के अनुसार विष्णु की कल्पना म भी बौद्ध धम का प्रभाव परिलक्षित होता है। वैदिक देवो म विष्णु का महत्त्व सापेक्षिक रूप म कुछ परवर्ती है। वेदो म असुर विनाशन का काय प्रमुख रूप स इन्द्र के हाथ म है। यद्यपि बाद मे विष्णु इन्द्र के सहयोगी पद से उठकर उससे अधिक शक्तिशाली बन गय हैं उनके अपने आयुध हैं और समय आने पर वे असुरो का विनाश भी करते हैं तथापि कुल मिलाकर वे शान्तिप्रिय देवता हैं। लगता है कि उनका सौम्यरूप देन म बौद्ध धम के अहिंसा-आदोलन का पर्याप्त प्रभाव है। आज भी वष्णव का साधारणतया प्रचलित अथ उस व्यक्ति से लिया जाता है जो मास भक्षण से परहज करता है। कबीर न जहाँ साक्त बाम्हन ना मिलो वस्नो मिला चडाल' कहा है वहाँ उनका भाव अहिंसा के प्रति श्रद्धा और हिंसापूण जघन्य कार्यों के प्रति विरक्ति का भाव प्रदर्शित करना ही है।

जहा तक मूर्ति-पूजा या देवताओ की मूर्ति की कल्पना का प्रश्न है यह कह सकना कठिन है कि हिन्दू और बौद्ध दोनो धर्मों म से किसने किसे अधिक प्रभावित किया। भगवान बुद्ध अपने जीवन के अन्तिम दिनो म साधारण मानव न रहकर अतिमानव के पद पर प्रतिष्ठित होने लगे थ। उनके परम अग्रणी शिष्य सारिपुत्र ने अपने अन्तकाल म जो वचन कहे थ उनम बुद्ध को अतिमानव मानने की भावना स्पष्ट झलक रही है। उन्होंने कहा था— भन्ते ! इन चरणो की वन्दना के लिए सौ हजार कल्पो से भी अधिक काल तक मैंने असख्य पारमिताएँ पूरी की थी। अब मेरा मनोरथ सिर तक पहुच गया। बीमार भिक्षु वक्कलि तो अपने साथी भिक्षु के द्वारा कहे गये वचनो को चारपाई पर लेटे हुए नहीं सुन सकता था—मेरे लिए यह उचित नहीं कि मैं चारपाई पर लेट-लेटे शास्ता के वचनो को सुनू। धरती पर अपने को उतार कर ही उनने बुद्ध-वचनो को सुना। बुद्ध म देवत्व का यह आरोप वदिक धम म प्रचलित देव भावना के कारण हुआ था या उस स्वाभाविक श्रद्धा के कारण जो किसी भी महान सुधारक को धीरे धीरे देवत्व की कोटि तक पहुँचा देती है, इसका निर्णय कठिन है। कारण चाहे जो रहा हो महायान म बुद्ध का लोकोत्तर सत्ता के रूप म स्वीकार किया गया उनकी अनेक प्रतिमाए बनीं पूजा विधियो तथा अनु

१ सन्त वष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव पृ० ३५६
२ बौद्ध दशन तथा अन्य भारतीय दशन प० १०६८

स्थानो का विस्तार हुआ। बौद्धो के इस प्रतिमा पूजन का प्रभाव उस समय के हिंदू धम पर अवश्य ही पडा होगा। दोनो का एक दूसरे से प्रभावित होना अनिवाय था। परिणाम यह हुआ कि बुद्ध की गणना हिंदुओ के अवतारा म हाने लगी और बौद्ध तीर्थों के समान हिंदुओ के अपने तीथ बनाये जाने लगे। डा० धीरेंद्र वर्मा के शब्दो मे कहा जा सकता है "गौतम बुद्ध को विष्णु का अंतिम अवतार मान लिया गया। किंतु साथ ही जनपदकालीन महापुरुष राम और कृष्ण को भी अवतारी पुरुष बनाकर उनको बुद्ध का स्थान दिला दिया गया। निर्वाण के स्थान पर वकुण्ठ की कल्पना सामने रखी गयी। बौद्ध तीथ स्थानो की जगह लेने के लिए शिव, विष्णु तथा राम से सम्बन्ध रखने वाले स्थानो का महत्त्व बढाया गया, बौद्ध मंदिरो के स्थान पर पौराणिक देवताओ के मन्दिर बनाए गये तथा बौद्ध और जन कल्पित कहानियो के स्थान पर पौराणिक कहानियो का सजन हुआ। वदिक, बौद्ध, जन वासुदेव, और शव तथा शाक्तधर्मों की इस खिचडी से विकसित हुए इस धार्मिक रूप को हम पौराणिक धम कह सकते हैं।"[१]

हिंदुओ के क्षत्रिय अवतारो की मान्यता पर जन और बौद्ध धम का प्रभाव है। ब्राह्मणा की प्रधानता से क्षत्रियो की प्रधानता की स्वीकृति इन दोनो धर्मों की देन है, इस भाव को श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन शब्दा म व्यक्त किया है—

"बौद्धा और जनो ने बुद्ध और महावीर की भक्ति और मान्यता का जो लक्ष्य बनाया था उसका प्रभाव हिंदुओ पर भी पडा।। वहाँ जसे बुद्ध और महावीर क्षत्रिय थे वसे ही दाशरथि राम और वासुदेव कृष्ण क्षत्रिय थे। उन्ही का लेकर भक्ति का आरम्भ हुआ। पाणिनि ने वासुदेव और अजुन की भक्ति का उल्लेख किया है। वासुदेव की भक्ति करने वाले वासुदेवक और अजु न की भक्ति करने वाले अजुनक कहलाते थे।"

इसके साथ किसी महापुरुष के साथ उसके परिवार की पूजा भी बौद्ध प्रभाव है इस बात को उन्हाने इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

"जसे बौद्ध धम मे सप्तमानुषी बुद्धो की कल्पना थी। जनधम म पाच मुख्य तीथकरा की कल्पना थी, यक्षो मे वीर या मुख्य यक्षो की उपासना थी, जसे ही वासुदेव कृष्ण के साथ भी परिवार की कल्पना हुई।"[३]

देव भावना और भक्ति माग का परस्पर बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मध्यकाल के इस भक्ति-माग को बौद्ध धम की विचारधारा ने अत्यधिक प्रभावित किया है इसम सन्देह नही। बौद्ध धम के एक स्वतन्त्र प्रभावशाली साधना माग के उस समय विद्यमान न रहने से बहुतो को उसके प्रभाव के विषय म सन्देह हो सकता है पर वह सदेह

---

२ बौद्ध दशन तथा अन्य भारतीय दशन, प० १०६८

३ मध्य देश प० १४२ १४३

१ पा० का० भा० पृ० ३५२

यह काय भगवान कृपावश करते हैं। उनके अनुसार दुष्ट-दमन तथा सज्जन रक्षण का काय तो भगवान् अय साधना से भी पूरा कर सकते थे, तब उनके अवतार का प्रयोजन ही क्या है ? मनुष्यों का साधन निरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान् के अवतार का प्रयोजन हो सकता है।[1] वास्तविकता तो यह है कि तत्रों का उद्गम भी बौद्ध धर्म से ही हुआ है जिसे उपाध्यायजी ने तांत्रिक प्रभाव कहा है वह अपने मूल रूप में बौद्ध प्रभाव ही है।

कुछ विद्वानों के अनुसार विष्णु की कल्पना में भी बौद्ध धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है। वैदिक देवों में विष्णु का महत्त्व सापेक्षिक रूप में कुछ परवर्ती है। वेदों में असुर विनाशन का काय प्रमुख रूप से इन्द्र के हाथ में है। यद्यपि बाद में विष्णु इन्द्र के सहयोगी पद से उठकर उससे अधिक शक्तिशाली बन गये हैं, उनके अपने आयुध हैं और समय आने पर वे असुरों का विनाश भी करते हैं तथापि कुल मिलाकर वे शान्तिप्रिय देवता हैं। लगता है कि उनका सौम्यरूप देने में बौद्ध धर्म के अहिंसा-आन्दोलन का पर्याप्त प्रभाव है। आज भी वैष्णव का साधारणतया प्रचलित अर्थ उस व्यक्ति से लिया जाता है जो मांस भक्षण से परहेज करता है। कबीर ने जहाँ 'साकत बाम्हन ना मिला बस्नो मिलो चडाल' कहा है वहाँ उनका भाव अहिंसा के प्रति श्रद्धा और हिंसापूर्ण जघन्य कार्यों के प्रति विरक्ति का भाव प्रदर्शित करना ही है।

जहाँ तक मूर्ति पूजा या देवताओं की मूर्ति की कल्पना का प्रश्न है यह कह सकना कठिन है कि हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों में से किसने किसे अधिक प्रभावित किया। भगवान बुद्ध अपने जीवन के अन्तिम दिनों में साधारण मानव न रहकर अतिमानव के पद पर प्रतिष्ठित होने लगे थे। उनके परम अग्रणी शिष्य सारिपुत्र ने अपने अन्तकाल में जो वचन कहे थे उनमें बुद्ध को अतिमानव मानने की भावना स्पष्ट झलक रही है। उन्होंने कहा था— 'भन्ते ! इन चरणों की वन्दना के लिए सौ हजार कल्पों से भी अधिक काल तक मैंने असख्य पारमिताएं पूरी की थी। अब मेरा मनोरथ सिर तक पहुंच गया।'[2] बीमार भिक्षु वक्कलि तो अपने साथी भिक्षु के द्वारा कहे गये वचनों को चारपाई पर लेटे हुए नहीं सुन सकता था—'मेरे लिए यह उचित नहीं कि मैं चारपाई पर लेटे-लेटे शास्ता के वचनों को सुनूं।' धरती पर अपने को उतार कर ही उसने बुद्ध-वचनों को सुना। बुद्ध में देवत्व का यह आरोप वैदिक धर्म में प्रचलित देव भावना के कारण हुआ था या उस स्वाभाविक श्रद्धा के कारण जो किसी भी महान सुधारक को धीरे धीरे देवत्व की कोटि तक पहुँचा देती है, इसका निर्णय कठिन है। कारण चाहे जो रहा हो महायान में बुद्ध को लोकोत्तर सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया उनकी अनेकश प्रतिमाएं बनी, पूजा विधियों तथा अनु

---

१ सन्त वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव पृ० ३५६

२ बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ० १०६८

ष्ठानो का विस्तार हुआ। बौद्धो के इस प्रतिमा पूजन का प्रभाव उस समय के हिन्दू धम पर अवश्य ही पडा होगा। दोनो का एक दूसरे स प्रभावित होना अनिवाय था। परिणाम यह हुआ कि बुद्ध की गणना हिन्दुओ के अवतारा मे होने लगी और बौद्ध तीर्थों के समान हिन्दुओ के अपने तीथ बनाये जाने लगे। डा० धीरेन्द्र वर्मा के शब्दो मे कहा जा सकता है "गौतम बुद्ध को विष्णु का अन्तिम अवतार मान लिया गया। किन्तु साथ ही जनपदकालीन महापुरुष राम और कृष्ण का भी अवतारी पुरुष बनाकर उनको बुद्ध का स्थान दिला दिया गया। निर्वाण के स्थान पर वकुण्ठ की कल्पना सामने रखी गयी। बौद्ध तीथ स्थाना की जगह लेने के लिए शिव, विष्णु तथा राम से सम्बन्ध रखने वाले स्थानो का महत्त्व बढाया गया, बौद्ध मन्दिरा के स्थान पर पौराणिक देवताआ के मन्दिर बनाए गये तथा बौद्ध और जन कल्पित कहानियो के स्थान पर पौराणिक कहानियो का सजन हुआ। वदिक, बौद्ध, जन वासुदेव, और शव तया शावनधर्मों की इस खिचडी से विकसित हुए इस धार्मिक रूप को हम पौराणिक धम कह सकते हैं।"[1]

हिन्दुओ के क्षत्रिय अवतारो की मान्यता पर जन और बौद्ध धम का प्रभाव है। ब्राह्मणो की प्रधानता से क्षत्रिया की प्रधानता की स्वीकृति इन दोनो धर्मों की देन है, इस भाव को श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन शब्दा म व्यक्त किया है—

"बौद्धा और जनो ने बुद्ध और महावीर की भक्ति और मान्यता का जो लक्ष्य बनाया था उसका प्रभाव हिन्दुओ पर भी पडा।। वहा जसे बुद्ध और महावीर क्षत्रिय थे वसे ही दाशरथि राम और वासुदेव कृष्ण क्षत्रिय थे। उन्ही को लेकर भक्ति का आरम्भ हुआ। पाणिनि ने वासुदेव और अजुन की भक्ति का उल्लेख किया है। वासुदेव की भक्ति करने वाले वासुदेवक और अजु न की भक्ति करने वाले अर्जुनक कहलाते थे।"

इसके साथ किसी महापुरुष के साथ उसके परिवार की पूजा भी बौद्ध प्रभाव है, इस बात का उन्होने इन शब्दो म व्यक्त किया है—

"जसे बौद्ध धम म सप्तमानुषी बुद्धा की कल्पना थी। जनधम म पाच मुख्य तीथकरो की कल्पना थी यक्षो म वीर या मुख्य यक्षो की उपासना थी, जसे ही वासुदेव कृष्ण के साथ भी परिवार की कल्पना हुई।"[3]

देव भावना और भक्ति माग का परस्पर बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। मध्यकाल के इस भक्ति-माग को बौद्ध धम की विचारधारा ने अत्यधिक प्रभावित किया है इसम सन्देह नहीं। बौद्ध धम के एक स्वतन्त्र प्रभावशाली साधना-माग के उस समय विद्यमान न रहने से बहुतो को उसके प्रभाव के विषय म सन्देह हो सकता है, पर वह सदेह

२ बौद्ध दशन तया अन्य भारतीय दशन, पृ० १०६८

३ मध्य देश, पृ० १४२ १४३

१ पा० का० भा०, पृ० ३५२

निरा भ्रम है। जिस विरति की इतनी चर्चा की गयी है वह बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों की साँसी है। यह प्रभाव दोनों ही का प्रभाव है। पर इसके अतिरिक्त भी जैन धर्म का जो प्रभाव हिन्दू धर्म पर पड़ा है वह अवतारों की चौबीस संख्या और सात पुरियों के रूप में स्पष्ट है। श्री बिहारीलाल सौवनियामल का कथन है—' चौबीस तीर्थंकरों की भाँति विष्णु के चौबीस अवतार मिश्रित कर मूर्ति-पूजा प्रचलित करनी पड़ी। जैनों के सात तीर्थों की भाँति हिंदुओं ने भी सात पुरियों की महत्ता कायम की। जैन धर्म के महावाक्य अहिंसा परमो धर्मः का स्वीकार कर इसे वैष्णव धर्म का मूलमंत्र बनाया।'[1]

भगवान के चौबीस अवतारों की कल्पना निश्चित रूप से जैन धर्म द्वारा प्रभावित है। न तो महाभारत में ही कहीं चौबीस अवतारों की गणना है और न भागवत को छोड़कर अन्य किसी पुराण में ही। इस विषय में डा० कपिलदेव पाण्डेय का यह कथन द्रष्टव्य है—

इसी प्रसंग में यह भी देख लेना अनुचित न होगा कि जैन और भागवत धर्म में प्रचलित क्रमशः २४ तीर्थंकर और २४ अवतार किस काल में प्रचलित हुए। इस दृष्टि से विचार करने पर बौद्ध और जैन उल्लेखों की अपेक्षा वैष्णव चौबीस अवतारों की कल्पना अधिक परवर्ती विदित होती है। क्योंकि महाभारत के परिवर्द्धित रूप में भी केवल दशावतारों का ही उल्लेख मिलता है। इस प्रकार महाभारत से लेकर श्रीमद्भागवत तक १० ११ १२ १४ २२ की संख्या भी अन्य पुराणों में मिलती है। परन्तु चौबीस अवतारों का स्पष्ट उल्लेख भागवत में ही मिलता है। श्रीमद् भागवत का काल विद्वान अधिक से अधिक छठी शताब्दी तक मानते हैं।[2]

अवतारों की २४ संख्या के अतिरिक्त वह प्रभाव अन्य प्रकार से भी देखा जा सकता है। हिन्दू धर्म में ब्राह्मणों की प्रधानता थी क्षत्रियों की नहीं। अवतारों में क्षत्रियों को लेना जैन और बौद्ध धर्म का प्रभाव है। अवतारों के परिवार की कल्पना भी इन्हीं धर्मों का प्रभाव है।

किसी भी विचारधारा का प्रभाव प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों ढंग से पड़ता है। सूर्य की किरणें कहीं तो सीधी पड़ती हैं और कहीं वृक्षों के अन्तराल से। बौद्ध विचारधारा का प्रभाव अन्य मतों के अन्तरालों में होता हुआ भी भक्तिकालीन साहित्य पर पड़ा है। नाथपंथ पर बौद्ध मत का पर्याप्त प्रभाव है। यह भी कहा जाता है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद में शैव हो गये थे। हिन्दी-साहित्य का साधारण पाठक भी कबीर पर बौद्ध पंथ के प्रभाव से अपरिचित नहीं। कबीर ने बार-बार जो योग की चर्चा की है वह स्पष्ट रूप से बौद्ध सम्प्रदाय का प्रभाव है। हठयोग के वर्णन में कबीर ने शरीर में सूर्य चंद्र गंगा यमुना और सरस्वती की स्थापना की है।

१ वि० ध० द० पृ० १३१
२ मध्य सा० अव० पृ० २५

सूय जब चद्रमा से मिलता है तब अमत की प्राप्ति होनी है। यह भाषा और हठयोग सम्बन्धी विचार कबीर ने बौद्ध सिद्धो से लिये हैं।

श्री भरतसिंह उपाध्याय ने 'बौद्ध तथा अन्य भारतीय दशन' के पष्ठ १०५४ पर श्री हरप्रसाद शास्त्री के मत का उल्लेख करत हुए लिखा है—"बगाल के न्यारा और सहजिया सम्प्रदाय, जो वष्णव समझे जाते हैं, उत्तरकालीन बौद्धो के वशज हैं।" स्पष्ट है कि किसी न किसी रूप म समस्त मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य बौद्ध धम से प्रभावित है। रही सन्त मत की बात, उसका सम्बन्ध तो विद्वाना ने श्रमण परम्परा के साथ जोडा ही है। उनका जातिपाँति का खण्डन और शास्त्रीय ज्ञान के स्थान पर आत्मज्ञान की बात कहना बौद्ध परम्परा ही है। इन्ही सब कारणो का ध्यान मे रखते हुए श्री रामधारीसिंह दिनकर' ने बौद्ध धम के प्रभाव को इन शब्दो म स्वीकार किया है "निगुणिया सन्त बहुत सी बातो मे बुद्ध के खानदान मे पडते हैं और उनका वैराग्य, उनकी निवत्तिवादिता, उनका फक्कडपन, उनका सभी जातिया को बराबर मानने का आग्रह और उनका यह विश्वास कि देवता मन्दिर म नही हृदय म वास करता है ये सारी-की सारी बातें बौद्ध धम की अच्छी और फिर बाद की बिगडी हुई परम्परा से निकली हैं। अगर बुद्ध नहीं होते तो इस देश मे दादू और कबीर नानक और हरिदास निरजनी मे से कोई नही हुआ होता।[1]

तथ्य तो यह है कि हिन्दू धम और बौद्ध धम आपस म इतने घुल मिल गये हैं कि वे मिलकर एक हो गये हैं। दोनो ने एक दूसरे से बहुत लिया है तो एक-दूसरे को बहुत कुछ भी दिया है। वसे भी भारत के लिए बौद्ध धम कोई विदेशी धर्म नही था। यह एक सुधारवादी आन्दोलन था। महायान की उत्पत्ति तक इस पर भी ब्राह्मण धम का प्रभाव पर्याप्त मात्रा म पड चुका था। इन कई सौ शताब्दियो ने बौद्ध धम की विशेषताओ को आत्मसात् कर लिया था। भारतवष से उसके निष्कासित हो जाने या स्वतन्त्र रूप म उसक प्रभावशाली न रहने का एक प्रमुख कारण यही है। आचार्य विश्वबन्धु न सन् १६३४ मे टोकियो म हुए बौद्ध सम्मलन मे भाषण करते हुए कहा था कि बौद्ध धम देश स निष्कासित हो गया, ऐसा मानना भ्रमपूण है। तथ्य ता यह है कि हिन्दू धम म उसका विलीनीकरण हो गया है—

The so called disappearance of Buddhism from India is, the refore, only an illusion, Post Buddhistic Hinduism has imbibed all the Lord Buddha and other great teachers of his system taught[2]

भाव यह है कि जिसे हम भारत से बौद्ध धम का लोप हो जाना कहते हैं वह केवल भ्रम है। तथ्य तो यह है कि बुद्ध-काल के परवर्ती हिन्दू धम ने उन सभी

---

१ संस्कृति के चार अध्याय पृ० १५५ ५६

२ लार्ड बुद्ध एण्ड बुद्धिज्म थ्रू हिन्दू आईज, पृ० ३८

शिक्षाओं को अपने म समाविष्ट कर लिया है जो भगवान बुद्ध या अन्य मतो के महान उपदेशको द्वारा दी गयी हैं।

इसी विषय मे अपने मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए आपने गाधीजी के मत को इन शब्दो मे उद्धत किया है—

It is my definite opinion that the essential part of teachings of Buddha now forms an integral part of Hinduism [1]

अर्थात—मेरा यह निश्चित मत है कि बौद्ध धम की शिक्षाओं का सार हिन्दू धम का अविभाज्य अग बन गया है।

सर चार्ल्स इलियट का भी मत यही है कि भारत म बौद्ध धम नष्ट नही हुआ वह हिन्दू धम के साथ मिलकर एक हो गया—

Yet in reviving the disappearance of Buddhism from India we must remember that it was absorbed not expelled The result of the mixture is justly called Hinduism yet both in usages and beliefs it has taken over much that is Buddhist and without Buddhism it would never have assumed its present shape [2]

अर्थात 'जब हम भारतवष से बौद्धधम के लोप हो जाने की बात कहते हैं तो हमे यह नही भूलना चाहिए कि वह यहाँ से निष्कासित नही हुआ अपितु यहाँ के धम म विलीन हो गया। यह ठीक है कि बौद्धधम और हिन्दू धम का यह मिश्रित रूप हिन्दू धम ही कहलाता है पर यह भी सच है कि हिन्दू धम ने अपने व्यवहार और सिद्धान्त क्षेत्र, दोनो ही म क्षेत्रो म बौद्धधम से बहुत कुछ लिया है। उसका यह वतमान रूप बौद्ध धम की ही देन है।'

अन्यान्य सस्कृतियो की देव-भावना का भारतीय देव-भावना पर प्रभाव

विश्व की प्राचीनतम मानी जाने वाली सस्कृतियो की देव भावना का पूण अध्ययन स्वय म एक इतना बडा शोध काय है कि उस पर स्वतत्र रूप से अनेक ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। अत उन सबके विवरण म न जाकर हम यहा केवल पाँच देशो की देव भावना पर विहगम दृष्टिपात करके ही सतोष कर लेंगे।

यूनान का स्थान न केवल यूरोप म ही अपितु विश्व म भी अनेक कारणो से अत्यधिक महत्त्वपूण रहा है। यहाँ के जीवन पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि यहा भी देव भावना का प्राधान्य उसी रूप म मिलता है जिस रूप म वह तत्कालीन

---

१ लार्ड बुद्ध एण्ड बुद्धिज्म थ्रू हिन्दू आईज, पृ० ३८ ३६

२ हिन्दू० बुद्धि०, भाग २ पृष्ठ १३१

अन्य देशों में प्रचलित था। देवी-देवताओं में विश्वास करना इस देश के जीवन का अंग था। यों तो देवी देवताओं की संख्या अनेक थी पर मोटे तौर पर उन्हें सात वर्गों में विभाजित किया गया है १ आकाश स्थानीय (Sky gods) २ पृथ्वीस्थानीय (Earthgods), ३ पशुदेवता (Animalgods) ४ अन्तरालनिवासी (Sub-tereneangods) ५ पूर्वज देवता या वीर देवता (Ancestor or Hero gods), ६ उत्पादक देवता (Fertility gods), ७ विश्व देवता (Olympians)।

यद्यपि अधिकांश देवताओं का उत्पत्ति स्थान पृथ्वी है तथापि भारत के समान यहाँ का सर्वप्रमुख देवता आकाश का देवता है और इसका नाम ज्यूस (Zeus) है। यद्यपि वहाँ इससे पुराने देवता विद्यमान थे पर यह उन्हें विस्थापित कर सर्वोच्च पद प्राप्त कर सकने में समर्थ हो सका। इसने अपने भाइयों के साथ मिलकर समस्त विश्व को आपस में बाँट लिया। ज्यूस ने आकाश को जीता, पोसिडोन ने समुद्र को और हेडस (Hades) ने पृथ्वी का। समस्त देव-वर्ग में वहाँ ज्यूस की प्रधानता है और इसका स्थान सर्वोपरि है। यद्यपि कुछ स्थानों पर यह उनका कहना भी मानता है पर कुल मिलाकर यह उनका शासक है। आरम्भ में यह आकाश और पर्वतों का देवता है बादलों को विवश कर यह उससे वर्षा करवाता है, पर बाद में यह युद्ध का भी देवता बन जाता है। ट्राय का मोर्चा लगना चाहिए या नहीं, यह इसपर वाद विवाद करता है और अन्त में युद्ध का निश्चय करता है। इसके अलावा यह नैतिकता का रक्षक भी है। यह असावधान व्यक्ति को दण्डित करता है तथा परिवार की सम्पत्ति और सीमाओं की रक्षा करना भी इसी का काम है।

पशु देवता

जैसा कि स्वाभाविक था यूनान में भी देवता और अर्द्ध देवता के रूप में कितने ही पशुओं की पूजा होती थी। शक्ति और वीर्यवत्ता के कारण वृषभ पवित्र माना जाता था। प्रायः वह ज्यूस या डायानिसस के प्रतीक के रूप में गृहीत होता था। उत्पादन की शक्ति के कारण शूकर भी पवित्र था और इसका सम्बन्ध डेमेटर से था। सर्प के देवता होने का कारण चाहे उसका मृत्यु से परे होना रहा हो या उसकी उत्पादक शक्ति रही हो पर देवता रूप में उसकी पूजा होती थी, इसमें सन्देह नहीं। यूनानी कला में हर्मेस और अपोलो की मूर्तियों के साथ सर्प चित्रित किया जाता था और घर तथा मन्दिर का रक्षक समझा जाता था। यह मृत व्यक्तियों की कब्रों के इर्द गिर्द घूमता रहता था। इसलिए उस समय यह विश्वास किया जाता था कि यह मृत व्यक्ति की आत्मा है।[1]

१ दि लाइफ आफ ग्रीस, पृ० १७६

लिंग-पूजा

जिस प्रकार आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में लिंग पूजा प्रचलित थी, उसी प्रकार यूनान में भी प्रचलित थी। प्रकृति में सबसे अधिक भयावह शक्ति मृत्यु की है और उससे छुटकारा पाने के उपायों में से एक पुनरुत्पादन भी है। लिंग उत्पादन का प्रतीक है। अन्य देशों के निवासियों के समान यूनानी भी स्त्री और पुरुष में निहित इस पुनरुत्पादन शक्ति की पूजा करते थे। डेमेटर डायोनिसस हर्मस और अरटेमिस की पूजा के विधान में वहाँ लिंग की पूजा होती थी।[1]

बहुदेववाद

ऊपर हमने जिन अनेक पुरुषाकार देवताओं और पशु-देवताओं की चर्चा की है उससे यह तो स्पष्ट हो चुका है कि वहाँ बहुदेववाद प्रचलित था। यहाँ हम इतना और कह देना चाहते हैं कि उस समय हर परिवार का देवता पृथक-पृथक था उसके लिए पवित्र अग्नि आठों याम जलती रहती थी भोजन से पूर्व उसके लिए खाद्य सामग्री तथा शराब का चढ़ाया जाना अनिवार्य था। जब किसी के साथ नगरनिवासियों का युद्ध होता था तो नगरदेवता की मूर्ति सेना के सामने रहती थी और उसके परामर्श के बिना कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जाता था। वास्तविक बात तो यह है कि ये युद्ध राजनीतिक ही न होकर धार्मिक भी होते थे। एक नगर पर दूसरे नगर की विजय उसी समय पूर्ण मानी जाती थी जब कि विजित नगर के देवता बन्दी बनाकर विजेता के नगर में पहुँचा दिए जाते थे। वास्तविकता यह है कि उन दिनों पृथ्वी पर और जल में सैकड़ों छोटे छोटे देवता थे, यहाँ तक कि वृक्षों, जंगलों और जंगली अग्नि के भी अलग अलग देवता थे। सब स्थानों पर देवताओं की ही भरमार थी।

There is not one empty chink into which you could push the spike of a blad of corn[2]

भाव यह है कि वहाँ एक ऐसा छोटा-सा सुराख या ऐसी दरार भी नहीं थी जिसमें अन्न की बाल का भी प्रवेश हो सके।

जितने विभिन्न देवता थे उतने ही उनकी पूजा के प्रकार भी प्रचलित थे। इन पूजाविधियों में पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती थी। पिता घर का पुरोहित होता था और मुख्य न्यायाधीश राज्य का। जहाँ मिस्र आदि देशों में पुरोहितों का प्रभुत्व था वहाँ यूनान में पुरोहितों पर राज्य का प्रभुत्व था। मन्दिरों का मिलने वाली चल और अचल सम्पत्ति की जाँच राज्य की ओर से होती थी। श्री बिल ड्यूरों के शब्दों में मन्दिर और राज्य एक ही थे —

---

१ दि लाइफ आफ ग्रीस पृ० १७८

२ वही पृ० १७८

In Greece Church and the State were the same[1]

यहाँ इतना और कह देना अप्रासंगिक न होगा कि जीवन मे बाह्य विधान की प्रधानता अधिक थी, आचार की कम। सही ढंग से किए गये बाह्य विधानों पर अधिक बल था, शुद्ध आचार पर कम। धीरे धीरे बाह्य शुद्धि को लाँघकर आन्तरिक शुद्धि पर भी ध्यान गया।

मिस्र

इस देश मे देव भावना का प्राधान्य उसी रूप मे था। वहाँ शासन, साहित्य और कला सभी मे धर्म प्रभाव एकदम स्पष्ट है। यहाँ भी देवता मानवाकार[2] मे चित्रित किये गये हैं या यों कहिये कि कुछ अधिक ऊँचे उठे हुए पुरुष या स्त्रियाँ ही देवी-देवता बन गये थे। साधारण मानवों के समान ये देवी देवता हाड मास के बने थे, उन्हें भूख प्यास लगती थी, वे प्यार भी करते थे, घृणा भी करते थे बढते थे और मृत्यु का ग्रास होते थे। उदाहरण के लिए आसीरिस को लिया जा सकता है। वह लाभदायक नील नदी का देवता था, जिसकी मृत्यु और जन्म का उत्सव प्रतिवर्ष मनाया जाता था। यही देवता नदी के बढने और घटने का प्रतीक था और सम्भवत पृथ्वी की वृद्धि और क्षय का भी प्रतीक यही था।[3]

पूजा पाने वाले देवताओं मे सबसे पुराना देवता चन्द्रमा था। सूर्य भी महत्त्व-शाली देवता था और सम्भवत धार्मिक महत्त्व मे सर्वोपरि था। इसे रा (Ra) या री (Re) कहते थे। इसका रूप चमकीला था और यह अपनी किरणों से पृथ्वी को उष्णता प्रदान करता था तथा इसे अधिक उर्वरा बनाता था। कभी कभी इसका वर्णन उस गो वत्स के रूप मे होता था जो प्रतिदिन उषाकाल मे नवीन जन्म धारण करता है और वृद्ध व्यक्ति के समान थका-माँदा-सा सायकाल के समय पश्चिम दिशा रूपी कब्र मे चला जाता है।[4] यह श्येन (felcon) का भी रूप धारण करता था। यह प्रतिदिन आकाश मे उडता था और अपने क्षेत्र का निरीक्षण करता था। यह मिस्र के धर्म और राज्य का प्रतीक था। उत्पादिका शक्ति का स्रोत और केन्द्र भी यही था। धरती को बंजर और रेतीली देखकर इसने ही अपनी किरणों से उसे उर्वरा बनाया और फिर हरियाली छा गयी। प्रथम मानव सूर्य की ही सन्तान था।[4]

इसके अतिरिक्त वहाँ अन्य नक्षत्रों को भी देवताओं के रूप मे माना जाता था। जिस प्रकार भारतवर्ष मे राहु और केतु सूर्य और चन्द्रमा को ग्रस लेते हैं उसी प्रकार वहाँ साहू देवताओं को दिन मे तीन बार निगलता था। कभी कभी कोई

१ दि लाइफ आफ ग्रीस, पृ० १६२
२ स्टो० सिवि० भाग, १, पृ० २००
३ दि लाइफ आफ ग्रीस, पृ० १९८
४ वही पृ० १९८

आसुरी शक्ति चन्द्रमा को ग्रस लेती थी पर मनुष्यों की प्रार्थना तथा अन्य देवताओं के क्रोध के कारण उसका (चन्द्रमा का) उद्धार शीघ्र ही हो जाता था। चन्द्र ग्रहण का जैसा वर्णन हमारे देश में है वैसा ही लगभग वहाँ था।[1] वहाँ की देव भावना की एक विशेषता यह है कि वहाँ आरम्भ में स्त्री देवता का प्राधान्य था। उत्पादिका शक्ति की प्रतीक होने से ईसिस (Isis) उच्च मातशक्ति (The Great Mother) के रूप में पूजा की अधिकारिणी समझी जाती थी। पक्षी तथा अन्य प्राणधारियों की उत्पादिका यही है। वहाँ की पौराणिक कथा के अनुसार गेहूँ और जौ का पता सबसे पहले उसी को लगा था और उसी ने यह भेद अपने पति ओसिरिस (Osiris) पर प्रकट किया था।[2]

पशु देवता

पशुओं को देवता मानकर पूजा करने की प्रथा यहाँ भी प्रचलित थी। भारत में जिस प्रकार भगवान के कच्छप कूर्म और वराह आदि पशु रूपों में अवतार लेने की धारणा प्रचलित थी उसी प्रकार मिस्र में भी अनेक देवताओं की पशु रूप में पूजा होती थी। इसी समय वहाँ सर्वाधिक जनप्रिय देवता पशु देवता ही था। श्री विल ड्यूरों के अनुसार वहाँ के निवासियों की दृष्टि में भेड़ और वृषभ विशेष रूप से पवित्र थे क्योंकि ये दोनों ही प्रजनन शक्ति के प्रतीक थे।[3] उनकी संख्या बहुत अधिक थी और वहाँ के देव-वाद में पशुओं की भरमार थी। प्रत्येक काल में वहाँ किसी-न-किसी रूप में वृषभ मकर, श्येन गौ, भेड़ मेष बिल्ली, कुत्ता मुर्गा गीदड़ और सर्पादि की पूजा होती थी। इनमें से कुछ को वहाँ मन्दिरों में इतनी ही स्वतन्त्रता के साथ घूमने का अधिकार था जितना कि गौ को भारत में उपलब्ध है। पशुओं का वहाँ इतना प्राधान्य था कि जब देवता मानव बन गये तब भी उनका पशु रूप एकदम नष्ट नहीं हो गया। ऐमन (Amon) की पूजा बत्तक (Goose) और राम के रूप में होती रही। सूर्य Ra की वृषभ रूप में ओसिरिस (Osiris) की वृषभ या राम (Ram) के रूप में सेबक (Sebek) की मकर की रूप में होरस (Hores) की श्येन या फैल्कन (felcon) के रूप में। कभी कभी यह भी होता था कि इन पशु देवताओं का सम्मान के रूप में औरतें भी भेंट रूप में दी जाती थीं।[4]

बेबीलोनिया

यहाँ भी देव भावना प्रायः उसी प्रकार की है। वहाँ देव भावना का इतना प्राधान्य था कि राजा स्वतन्त्र शासक न माना जाकर नगरदेवता का प्रतिनिधि मात्र

---

१ स्टो० मिवि० भाग १ पृ० १९८
२ वही पृ० २००
३ वही, पृ० १९९
४ वही पृ० १९९

समझा जाता था। वहा जो कर लिया जाता था, वह देवताओ के नाम पर लिया जाता था तथा वह धन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे मदिर के कोश म चला जाता था। पुरोहित वग को पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे और यदि राजा के अधिकार सीमित थे तो उसका एक कारण पुरोहित वग का शक्तिसम्पन्न होना भी था। व्यापारी वग जो धनोत्पादन करता था उसका उपयोग पुरोहित वग करता था। श्री विल ड्यूरां के शब्दो म वहाँ की स्थिति इस प्रकार थी

It was fated that the merchants should make Babylon and that the priests should enjoy it[1]

भाव यह है कि भाग्य का यही स्वीकार था कि व्यापारी बेबीलान को समृद्ध बनायें और पुरोहित उसका उपयोग करें।

राजा का राज्याभिषेक भी वहा तब तक पूण नही माना जाता था जब तक उसे पुरोहित द्वारा शासनाधिकार न मिल गय हो। नगर म राजा का जो जुलूस निकलता था उसमे उसकी वेषभूषा पुरोहित की वेशभूषा हुआ करती थी जिसका अथ यह प्रकट करना था कि मन्दिर और राज्य एक ही हैं।

देव भावना की प्रधानता के कारण ही देव-मन्दिरो का बडा महत्त्व था। मन्दिर अत्यधिक सम्पन्न थे। धनिक वग की ओर से चढाव और दान के रूप म जो कुछ मिलता था वह तो मिलता ही था राजा की ओर स भी मन्दिरो के लिए जागीरें लगी रहती थी। यदि सेना कही विजय प्राप्त करती थी तो उसकी लूट का एक बहुत बडा भाग मन्दिरो को मिलता था।

पुरोहित-वग इस अतुल सम्पत्ति का स्वय उपभोग करने म असमथ था अत वह उस सम्पत्ति को व्यापार म लगा देता था। उस समय यह वग अपने देश का सबसे बडा जमीदार, निर्माता और धनी साहूकार था। न केवल उसके पास जमीन जागीर ही थी अपितु उसके पास दास भी प्रचुर सख्या म थे। वे दास किराये पर दूसरो को दिये जाते थ और मन्दिरो की ओर स चलाय गय व्यापारो म काम करते थे। इनम उदारता की एकदम कमी न थी। इनके ब्याज की दर अपेक्षाकृत कम होती थी और कभी-कभी य लोग बिना ब्याज के भी रुपया दिया करते थे।

यहाँ के देवता भी सामान्य आदमियो से पृथक नही थे, उनके आचरण मानवो के समान थे। उनम से अधिकाश इसी धरती पर बने मन्दिरो म रहते थे। वे छककर भोजन करते थे और व्यस्त रहने वाले बेबीलान निवासियो के घर पधार कर उनकी स्त्रियो म सन्तानोत्पत्ति का काय भी करते थे।[2]

१ स्टोरी आव सिविलिजेशन, पृ० २३४
२ वही, पृ० २३४

बहुदेववाद

यहाँ भी अन्यन्त्र भारत के समान बहुदेववाद प्रचलित था। यहाँ के लोगों की कल्पनाशक्ति अत्यधिक उर्वर थी। उनकी आवश्यकताएँ असीम थी और उनकी पूर्ति के लिए उन्हें अनन्त देवों की सहायता की अपेक्षा रहती थी। ईसा-पूर्व नवम शताब्दी में वहाँ देवताओं की जो गणना की गयी थी उसमें उनकी संख्या ६५,००० थी।[1] प्रत्येक नगर के अपने पृथक-पृथक देवता थे जैसा कि आज भी है। उस समय के ग्राम और नगर किसी सर्वोच्च देवता की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी स्थानीय देवताओं की पूजा किया करते थे।

रोम-सभ्यता की देव-भावना

यहाँ की देव भावना की कथा भी वैसी ही है। जिस प्रकार अन्य अधिकांश देशों में सर्वाधिक महत्व आकाश के देवता का था, यहाँ उसी प्रकार पृथ्वी देवी का था। सितम्बर, जनवरी और मई में पृथ्वी सम्बन्धी उत्सव मनाये जाते थे।[2] वैसे इनके यहाँ राष्ट्रीय देवों में सर्वप्रमुख स्थान जुपिटर (Jupitor) का था। वह सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश था, गड़गड़ाहट करने वाला वज्र था और उत्पादन में वृद्धि करने वाली वर्षा भी उसी से होती थी। वर्षा के न होने पर धनी परिवारों की स्त्रियाँ पर्वत पर स्थित जुपिटर के मन्दिर में नंगे पैर पूजा करने जाया करती थी और वर्षा के लिए प्रार्थना किया करती थी। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि यह जुपिटर शब्द संभवतः द्युस पिटर का अपभ्रंश है, जिसका मूल संस्कृत के द्यौस पितर शब्द में ढूंढा जा सकता है। इस देवता की शक्ति में उन्हें बड़ा विश्वास था। उनकी दृढ़ धारणा थी कि यह देवता शत्रुओं को हरा देगा इसलिए इसके दरवाजे उसी समय खुलते थे जब किसी बाहरी शत्रु का आक्रमण होता था।

बहुदेववाद

यहाँ भी एक देवता की पूजा न होकर अनेक देवी और देवताओं की पूजा होती थी। उस समय पृथ्वी माता (Mother Earth), बोना दे (Bona Dee) जो औरतों और खेतों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करती थी पोमोना (Pomana) जो बगीचों का देवता था फौनस (Founes) जिसका सम्बन्ध पशुओं से था तथा पैलस देवताओं की पूजा होती थी। सीमा बनानेवाले पत्थरों और वृक्षों के भी अलग अलग देवता थे। देवों के साथ देवियाँ भी थीं। जूनो रीजिना (Juno Regina) स्वर्ग की देवी थी और इसका विशेष सम्बन्ध नारीत्व विवाह और सन्तानोत्पादन से था, मिनर्वा (Minerva) बुद्धि या स्मृति की देवी थी। वीनस (Venus) अभिलाषाओं

१ स्टो० सिवि०, पृ० २३४

२ सीज़र एण्ड क्राइस्ट पृ० ८८

से सम्बन्ध रखनेवाली देवी थी। दियाना (Diana) चन्द्रमा नारी, बच्चे की उत्पत्ति, शिकार और जगल की दवी थी। आप्स (Op) सपत्ति की दवी थी और बलोना (Bellona) युद्ध की देवी थी।

एक विशेष द्रष्टव्य बात यह है कि यहाँ के देवता मानवाकार न होकर भवात्मक या अमूत अधिक थे। उदाहरण के लिए स्वास्थ्य, युवावस्था, स्मृति, भाग्य, प्रतिष्ठा, आशा, भय और कौमार्य आदि को लिया जा सकता है।[1]

चीन

इस देश का वातावरण भी देव भावना से भरपूर रहा है। यहाँ पूवजो की, प्रकृति की, स्वग तथा पथ्वी आदि की पूजा होती थी। उनका विश्वास था कि मनुष्य के कल्याण के लिए इनका सहयोग आवश्यक है। यह भी विश्वास था कि पवत और नदी आदि प्राकृतिक तत्त्वो मे शक्तिशाली आत्माओ का निवास है और वे पूजा की अधिकारिणी हैं। बहुत से नक्षत्र भी—जिनमे उनसा प्रमुख है—पूजा के अधिकारी समझे जात थे। इन देवा को बलि भी दी जाती थी। सभी नगरों म नगर-देवता का मन्दिर होता था। उस दवता के दो सहायक होते थे, कभी उसकी पत्नी, रखल और पुत्र सहायक के रूप म रहत थ और कभी-कभी अन्य देवता भी। नगर-देवता की मूर्ति यद्यपि वही रहती थी तो भी वे समभत थे कि अन्य मैजिस्ट्रेटो के समान वह भी बदलता रहता था। नगर के जीवन म नगर देवता का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूण था। सभी अधिकारी नियमित रूप स मन्दिर म जाया करते थे। पतझड और वसन्त ऋतु म वप म दो बार उसका जुलूस निकलता था। देवता की इस पूजा के बदले मे नगर निवासी स्वाभावत यह आशा करत थे कि वह अनिष्ट से उनकी रक्षा करेगा। यह भी विश्वास किया जाता था कि वह सब-कुछ जानता है, नगरनिवासियो के सभी कामो को देखता और स्वग म सूचना देता है।

बहुदेववाद

देवताओ की सख्या अनेक थी और अपने समकालीन अन्य देशो के समान वहाँ भी बहुदेववाद प्रचलित था। ऊपर जिस नगरदेवता का उल्लेख किया गया है उसके अलावा वहाँ पृथ्वी और फसल के देवता भी थे। साहित्य का देवता इनसे पृथक था और यह देवता बडा ही जन प्रिय था। वहाँ के निवासियो का विश्वास है कि यह देवता उरसामेजर नामक स्थान पर सचमुच ही रहा है। सकडो मन्दिरो म इस देवता की पूजा होती थी।[1] एक अन्य देवता भी वहा बडा प्रिय था और वह था युद्ध का देवता। जिस प्रकार राज्य के असनिक कमचारियो मे कनफ्यूशस प्रिय था

---

१ सीजर एण्ड क्राइस्ट पृ० ६०

२ दि चायनीज देयर हिस्टरी एण्ड कल्चर, पृ० ६२५

उसी प्रकार सनिक अधिकारियों म यह देवता प्रिय था। इन सबके अलावा रसोई, अग्नि सम्पत्ति औषधि चेचक आदि सबके अपने अलग-अलग देवता थे। इस बहुदेववाद की चर्चा करते हुए श्री केनेथ स्काट लटारेट ने कहा है—

Indeed more than one foreigner observer has declared animism the basis characteristic religion of Chinese They have also contained much of polytheism—a polytheism acuminated by the state cult and Buddhism and Tuoism but the list of deities is much larger than the sum of all these of other pantheous[1]

भाव यह है कि वास्तव म अनेक विदेशी पर्यवेक्षकों ने घोषणा की है कि चीन के धर्म का आधार आत्मवाद है। इसमें बहुदेववाद का अंश पर्याप्त है जिसमें राज्य मत बौद्ध धर्म और *ताओ-वाद के कारण अधिक नोकीलापन (तीक्ष्णत्व) आ गया है। अन्य* देव-परिवारों की अपेक्षा यहाँ के देवों की संख्या अधिक विशाल है।

ईसाई मत

वबर और जार्ज ग्रियर्सन जसे यूरोपीय विद्वानों के मत म भारतीय देव भावना पर ईसाई मत का भारी प्रभाव है। उनका कथन है कि ईसा की दूसरी शती म ईसाइयों का एक दल सीरिया से आकर मद्रास के दक्षिण म बस गया था। ये ईसाई अपनी अनेक बातें छोड़कर हिन्दुओं की प्रथानुसार सेंट थामस पर्वत पर मन्दिर बनाकर ईसा की पूजा करने लगे थे। इनकी इस भक्ति भावना का प्रभाव आसपास जन समुदाय पर भी पड़ा और उसका प्रतिफलन दक्षिण के आलवार सन्तों म हुआ। आरम्भ के ये आलवार सन्त निम्न जाति के थे अत इनके माध्यम से ईसाई मत का प्रचार निम्न वर्ग म ही हुआ। जब बाद म ब्राह्मण वंशोत्पन्न रामानुज ने यमुनाचार्य से दीक्षा ली तब उनके द्वारा उच्च वर्ग के व्यक्ति भी इस ओर आकृष्ट हुए। इनके अनुसार वैष्णवों की दास्यभक्ति प्रसाद और पूतना-स्तन पान ईसाइयत की देन है। पूतना बाइबिल की वर्जिन है प्रसाद लव फीस्ट है और दास्य भक्ति पाप-पीड़ित मानवता का क्रन्दन है। इनका यह भी कथन है कि कृष्ण क्राइस्ट का ही रूपान्तर है। *गामानोज और बंगाली प्राय कृष्ण शब्द को क्रिस्ट या क्रिस्टो के रूप म उच्चरित करते* हैं। इनका यह भी मत है कि कृष्ण का *बालरूप सीरिया से आयी हुई आभीर जाति* की देन है।

डा० भण्डारकर का मत भी इसी मत से मिलता जुलता है। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस कल्ट्स' म कृष्ण,

---

१ दि चायनीज देयर हिस्ट्री एण्ड कल्चर पृष्ठ ६४६ ४७

विष्णु और नारायण के सम्बन्ध मे विस्तार म साथ विवेचन किया है। इनका कथन है कि यद्यपि महाभारत काल म वासुदेव, कृष्ण, विष्णु और नारायण एक हो चुके थे, पर गोपाल कृष्ण का इनसे कोई सम्बन्ध नही था। इस प्रकार के किसी देवता का नाम न तो महाभारत के नारायणीय मत म आता है और न पातजल महाभाष्य म। यहा नारायणीय वासुदेव के अवतार का उल्लेख है कस-वध की चर्चा भी है, पर गोपाल कृष्ण का उल्लख नही। वहा गोपालकृष्ण द्वारा मारे गये राक्षसा का भी काई उल्लख नही मिलता। इसी ग्रन्थ के शान्तिपव म भीष्म के मुख से जा कृष्ण की स्तुति करायी गयी है उसम गोपाल कृष्ण की चर्चा नही है। गोपाल कृष्ण सम्बन्धी सर्वप्रथम उल्लख हमे हरिवशपुराण म मिलत है। डा० भण्डारकर के अनुसार इसका रचना काल ईसवी-पश्चात तीसरी शती है। इस प्रकार महाभारत म गोपाल कृष्ण का उल्लेख न हान से वे कृष्ण क इस रूप का परवर्ती मानत हैं। उनका कथन है कि बालकृष्ण का रूप इम घुमक्कड आभीर जाति की दन है जो बाहर स आयी थी और जिसने मधुपुर से लेकर आनत और अनूप तक के प्रदेशो पर अधिकार कर लिया था। इस आभीर जाति के वशज ही आजकल गूजर जाट और अहीर के नाम से पुकारे जात हैं, ऐसा इन विद्वानों का मत है। डा० भण्डारकर भी कृष्ण को क्राइस्ट का ही रूपान्तर मानत हैं।

वबर के मत का खण्डन बहुत सीमा तक श्री ए० बी० कीथ ने ही कर दिया है। वेबर के तक का आधार श्रीकृष्ण ज माष्टमी के वे अनुष्ठान है जिन्हे अब सभी ख्रिष्ट पूव का मानते हैं। रही बात ख्रिष्टो या क्रिष्ट श द स कृष्ण श द के बनन की, उसकी तक विरुद्धता और असगतता अब सभी स्वीकार कर चुके हैं। भाषा विज्ञान की दष्टि से यह सभव नही। फिर कृष्ण का क्राइस्ट का ही रूपान्तर क्या माना जाय? क्या निरथक जिद करन वाले इन व्यक्तिा से आचाय हजारीप्रसाद द्विवदी के शब्दो मे यह प्रश्न नही किया जा सकता—"क्या यह सभव नही कि सेंट लूक लिखित सुसमाचारो मे आभीरो के बालदेवता का प्रभाव पडा हो जा भारतवष मे देवकी पुत्र श्रीकृष्ण के रूप म प्रख्यात हो चुक थे?"[1] कृष्ण शब्द हमारे यहा अतिप्राचीन काल से चला आ रहा है। वेदो म यह शब्द मिलता है, उपनिषदो म आगिरस कृष्ण की चर्चा है और महाभारत म वासुदेव कृष्ण की विष्णु और नारायण के साथ एकता स्वीकार हा गयी है। इतने प्राचीन श द को क्राइस्ट का रूपान्तर मानन का आग्रह दुराग्रह ही है। पाणिनि का काल ५वी शती ईसवी के पूवमध्यभाग का माना जाता है। इस समय न केवल कृष्ण का नाम ही प्रचलित था अपितु उस समय तक वासुदेव कृष्ण और विष्णु की एकता भी स्थापित हा चुकी थी। पाणिनि की रचना—'अष्टाध्यायी'—म कृष्ण का उल्लेख भगवान् के रूप म हुआ है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का यही मत है "पश्चिमी विद्वान् भी पाणिनि के इस उल्लेख को भागवत धम की प्राचीनता मे

१ सूर साहित्य, पृ० १०

प्रमाण मानन हैं। कीथ न पतजलि के— सना चपा तत्रभवत वचन का यथाय मानन हुए लिखा है कि निश्चय ही पाणिनि क समय म वासुदव कृष्ण का विष्णु का अवतार माना जान लगा था। ग्रियसन न पाणिनीय उल्लख क आधार पर भागवत धम की प्राचीनता का निर्विवाद कहा है।[1]

यह भी स्पष्ट है कि पतजलि क समय स पूव कृष्ण की जीवन-लीलाओं का विकास हो चुका था जसा उन्होंने लिखा है—जघान कस किल वासुदव (३।२।११ वा० २)। पतजलि न कृष्ण क कस-वध का उल्लख किया है—कसवधमाचष्ट कस घातयति बलिवधमाचष्ट बलि बधयति (३।१।२६ वा० ६) म पतजलि न यह भी लिखा है कि य दोनो आख्यान उन घटनाओं क सम्बध म थ जो बहुत पहल घटित हो चुकी थी किन्तु अभिनता प्रत्यक्ष रूप म उन लीलाओं का प्रदर्शित कर दिखात थ।[2]

हरिवश पुराण जिसम कृष्ण के बालरूप की चर्चा है ईसवी-पश्चात तीसरी शताब्दी की ही रचना है इसस पूव की नहीं इसम भी कोइ निश्चित आधार नही। जिस लटिन दीनार शब्द क आधार पर डा० भण्डारकर इस पुराण का काल तीसरी शती (इसवी पश्चात) मानत हैं उसका प्रयोग यहाँ तीसरी शती स पूव होने लगा था। आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी न लिखा है— आधुनिक शोधो स जाना गया है कि दीनार शब्द इसवी सन क पूव ही इस दश म पहुच चुका था। इस लिए कहा जा सकता है कि हरिवशपुराण का काल और भी पुराना मानन म दीनार शब्द बाधक नही होगा। यदि एसा माना जा सक ता यह भी कहा जा सकता है कि आभीरो क बालदवता श्रीकृष्ण की कहानियो का उक्त ग्रन्थ म स्थान पाना निश्चय ही यह सिद्ध करता है कि उनका अस्तित्व इसवी सन स पुराना है।"[3]

अगर किसी प्रकार हरिवशपुराण का काल तीसरी शताब्दी ही माना जाय तो भी कृष्ण का क्राइस्ट का रूपान्तर मात्र सिद्ध नहीं किया जा सकता। ग्रियसन के ही अनुसार ईसाइयो का सवप्रथम आगमन मद्रास म दूसरी शती म हुआ। क्या एक ही शताब्दी म उनक धम का इतना अधिक प्रचार हो गया कि समस्त वातावरण म एकदम ही परिवतन हो गया ?

एसी कौन सी जादू की छडी उनक हाथ में थी कि जिसक छूत ही नवीन लोक का निर्माण हो गया ? जिस दश की अपनी एक सुसम्पन्न सभ्यता थी जिसक दार्श-निक सिद्धान्तो की उत्तान का विदशी विद्वान भी मुक्त कण्ठ स स्वीकार करत हो वह एक ही शताब्दी म एक नवोदित धार्मिक विचारधारा स इतना प्रभावित हो जायगा, यह किसी भी प्रकार विश्वसनीय नहीं लगता।

हरिवश क अलावा भी अन्य एस बहुत स प्रमाण हैं जिनके द्वारा बाल कृष्ण

---

१ ज० रा० ए० सो० पृ० ८४२ (सन १६०८)

२ पा० का० सा० पृ० ३५३ ५४

३ सूर-साहित्य, पृ० ६

और गोपाल कृष्ण अस्तित्व ईसवी सन से पूर्व में सिद्ध किया जा सकता है। भास के बालचरित —'दूतवाक्य — दूतघटोत्कच'—आदि नाटकों में कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन उसी रूप में पाया जाता है जिस रूप में बाद में भागवत आदि पुराणों में पाया जाता है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार भास का काल ईसवी पूर्व ५३ ७१है और वे काण्व वंशी राजा नारायण के सभा कवि थे। कालिदास द्वारा उनका उल्लेख होने से उनका कालिदास से पूर्ववर्ती होना तो सिद्ध ही है। इन सबके अतिरिक्त जोधपुर के निकट माडोर ग्राम में एक ऐसा स्तम्भ पाया गया है जिस पर यमुना कदम्ब पर श्रीकृष्ण, वस्त्रहरण और नग्न गोपिकाओं का चित्रण है। श्री भाण्डारकर के अनुसार इसका काल ईसवी सन चतुर्थ शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता। ईसवी पूर्व चतुर्थ शताब्दी में कृष्ण की केलि-कथा का प्रसिद्ध हो जाना क्या कृष्ण के स्वतन्त्र अस्तित्व को सिद्ध नहीं करता? क्या इससे वे सब तर्क जाल छिन्न भिन्न नहीं हो जाते, जिनका उपयोग कृष्ण को क्राइस्ट का रूपान्तर मात्र सिद्ध करने के लिए किया जाता रहा है?

कुछ लोगों का विचार है कि आभीर नामक जाति सीरिया—सेण्ट्रल एशिया—से आयी थी और बालदेवता की पूजा उसी की देन है। श्री केनेडी ने इस विषय की विस्तृत विवेचना करते हुए कहा है कि बाल कृष्ण का खेल ही खेल में असुरों का नाश कर देना चक्र या धनुष की आवश्यकता का न होना और वंशीवादन, ये भारतीय समाज के लिए नवीन बातें हैं। यह मुरली गुजरों और अहीरों की विशेषता है। यह घुमक्कड जाति है, कृषि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। कृष्ण कंस के बुलाने पर जब मथुरा जाते हैं तो ग्वाल साथ नहीं जाते। इसी प्रकार के अन्य बहुत से तर्कों के आधार पर वे कृष्ण को बाहर से आयी किसी घुमक्कड जाति का देवता सिद्ध करना चाहते हैं।[1] यह जाति कौन सी है, इसकी विवेचना करते हुए उन्होंने गूजरों या गुजरों का नाम लिया है। उनका कहना है कि ब्रज में जाटों और गूजरों की प्रधानता है। इनमें से जाट कृषक हैं और गूजर गोचारण करने वाले। विष्णुपुराण में गोचारण करने वाले जिन व्यक्तियों का उल्लेख है उनकी सब विशेषताएं गूजरों में मिलती हैं।[2] ये गुजर विदेशी हैं, बाहर से आये हैं। अचानक ही छठी शती में एक शक्तिशाली जाति के रूप में चमकते हैं। इससे पहले इनका उल्लेख कहीं नहीं मिलता, इसकी व्याख्या तभी सम्भव है जब इन्हें विदेशी मान लिया जाय। उनके ही शब्दों में उनका मत इस प्रकार है—

The sudden appearance among them of a people so great and so powerful as the Gurjars can only be explained on the hypothesis of a foreign migration These Gurjars who worshipped neither

१ जे० रा० ए० सो०, पृ० ६८१-२ (सन १६०७)
२ वही, पृ० ६८३ ४ (सन १६०७)

shiva nor Buddha, could not have been of Indian origin, and their non worship their waggons and to some extent the polyandry, all point to Central Asia [1]

अर्थात उनके बीच म अचानक ही एक महान और शक्तिशाली गुजर जाति का आ जाना तभी स्पष्ट रूप म समझ म आ सकता है जब गुजरो को बाहर म आया हुआ माना जाय। यह गुजर जाति न तो शिव की उपासक थी और न बुद्ध की अत इस भारतीय मानना सम्भव नही। उनका इस प्रकार पूजा न करना सवारी म काम आनेवाला चार पहिया वाला छकडा एक पत्नी क पति होना य सभी बातें यह सूचित करती हैं कि यह जाति मध्य एशिया स आयी थी।

य गुजर अपन साथ बाहर स जिस बात दवता का लाय थ वह निश्चित रूप स ईसाई धम की देन है, ऐसा इनका मत है। श्री कनडी का कहना है कि जो जातियाँ उत्तर पश्चिम की ओर से भारत पर आक्रमण करती थी उन पर ईसाई मत का प्रभाव पर्याप्त मात्रा म था। वहाँ जो ब्राह्मण रहते थ व भी उस प्रभाव स अछूते नही थे और इस प्रकार ईसाई मत का प्रभाव भारत पर पडना अनिवाय था—

It can not be denied that the Christian community in the north west frontier were in a position to exercise a considerable influence upon the scythic tribes invading India, and on the Brahmans of the borderland [2]

अर्थात् इस बात का अस्वीकार नहा किया जा सकता कि उत्तर पश्चिम सीमा पर फला हुआ ईसाई धम भारत पर आक्रमण करन वाली सीथियन जातियो पर और वहाँ सीमा पर रहन वाले ब्राह्मणो पर अपना प्रभाव पर्याप्त मात्रा म फलान म समथ था।

श्री कनडी का यह भी कथन है कि आजकल जिस कृष्ण की पूजा होती है वह अनक दवो का एकीकृत रूप है। उनक अनुसार अनक देवो क एकीकरण के उदाहरण सभी दशो से मिल जाते हैं। भारत म इसका उदाहरण कृष्ण है। कृष्ण के बाल रूप क अतिरिक्त अन्य तीन रूप हैं—(१) द्वारकाधिपति जो अपनी राजनीतिक सूझ-बूझ क लिए प्रसिद्ध हैं। इस कृष्ण को यद्यपि महाभारत म यादव जाति का बताया है पर यह अनाय है कृष्ण वण है और सिंधु घाटी का है जहाँ उस समय अनार्यों की भर मार थी। (२) कृषि क दवता—य बलराम के अनुज हैं। जब व शाल्व को मारन जाते हैं तब इन्द्र के वज्र का प्रयोग करते हैं। यहाँ उनक पास न तो विष्णु का सुदशन चक्र है और न शाङ्ग धनुष ही। यहा यह सूय देवता है। यहाँ शाल्व द्वारा द्वारका

१ ज० रा० ए० सो०, पृ० ६८८ (सन १६०७)
२ वही, पृ० ६६० (सन् १६११)

के घेरे जाने और दुग क अन्दर अपनी रक्षा करन के सार वणन ईरानी (परशियन) प्रभाव को सूचित करते हैं। यह वणन ४थ शताब्दी (ईसवी पश्चात) से पूव का नही है। या ता इस वणन को प्रक्षिप्त माना जाय या फिर स्वीकार किया जाय कि उस समय तक विष्णु और कृष्ण की एकता स्थापित नही हो पायी थी। उनके ये तक उन्ही के शब्दो मे इस प्रकार है—

The fortification of Dwarika, as imagined by the Indian poet, can not well be earlier than the 4th century A D , and it follows either that the pasage is interpolated, or that, in some of the parts of Hindustan at any rate, the identification with Vishnu was not complete by 300 A D [1]

अर्थात द्वारका की यह किलेबन्दी, जिसका वणन भारतीय कवि ने किया है, ईसवी पूव चतुथ शताब्दी की नही हा सकती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि या तो यह अश प्रक्षिप्त है या फिर भारत के कुछ भागो म कृष्ण के साथ विष्णु के एकीकरण की प्रक्रिया पूरी नही हो पायी थी।

सर चार्ल्स इलियट तथा और भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो गुर्जरो का बाहर से आया हुआ मानते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि हूणो को यहाँ से बाहर निकालने का काम सन् ५६५ ई० (ईसवी पश्चात) तक पूरा हो गया था पर सभी हूण बाहर नहीं निकाले जा सके, कुछ इनमे से कुछ यहीं रह गये। पीछे रहनेवाले ये लोग गूजर कहलाय और राजपूतों म सम्मिलित हो गये

Though they founded no permanent states, their invasion was important for many of them together with kindered tribes such as the Gujaras (Gurjuras) remained behind when their political power broke up, and like the Sakas and Kushans before them, contributed to form the population of north western India especially the Rajput classes [2]

अर्थात् यद्यपि इन्होने किसी स्थायी राज्य की स्थापना नही की थी, फिर भी इनका यह आक्रमण कम महत्त्वपूण नही था। इनमें से कुछ जातियाँ, जसे गुजर या गूजर अपनी शक्ति के समाप्त हो जाने पर अपनी अन्य सगोत्रीय जातियो के साथ यहाँ पीछे रह गइ और अपने पूववर्ती शको तक कुषाणा के साथ उत्तर-पश्चिम की आबादी म और विशेषत राजपूतो म समा गइ।

श्री इलियट का भी झुकाव कृष्ण का किसी ऐसी घुमक्कड जाति का देवता

---

१ ज० रा० ए० सो०, पृ० ६६१ (सन् १६०७

२ हि० बुद्धि०, पृ० २५

सिद्ध करने की धार है जिसका कृषि से सम्बन्ध नहीं। कृष्ण द्वारा इन्द्र पूजा का निषेध और उसके लिए दिये गये कृष्ण के तर्क ही इनके आधार हैं। कृष्ण ने कहा है कि हम तो इधर उधर स्वच्छन्द से घूमने वाले हैं वन और पर्वत ही हमारी सम्पत्ति हैं हमें तो जंगलों और पर्वतों की पूजा करनी चाहिए।[1]

कर्नल टाड स्मिथ डा० वी० ए० स्मिथ आदि विदेशी विद्वान और डा० आर० सी० मजूमदार डा० भाण्डारकर और डा० रमाशंकर त्रिपाठी प्रभृति देशी विद्वान भी इन्हें विदेशी मानते हैं। इनका कहना है कि गुर्जर प्रतिहार राजाओं के नाम, इनके द्वारा केवल सूर्य की पूजा और इनकी आकृति इनके विदेशी होने के प्रमाण हैं।[2] इनके अनुसार राजा हरिश्चन्द्र का दूसरा नाम या उपनाम रोहिलान्द्धी था नरभट्ट का दूसरा नाम पीनापेली था और ये शिव आदि किसी भी देवता की पूजा नहीं करते थे।

इन सभी प्रश्नों को उठाकर श्री वी० वी० मिश्र ने स्वयं ही इन प्रश्नों का उत्तर भी दे दिया है। उनका कहना है कि ऊपर जिन नामों का उल्लेख हुआ है वे शुद्ध रूप से संस्कृत भाषा के हैं। रोहिलान्द्धी की व्युत्पत्ति रोह शब्द से हुई है और इस शब्द का अर्थ उठना है। पीनापेली शब्द गत्यर्थक पील धातु से बना है। जहाँ तक धर्म का प्रश्न है वे उदार थे। विष्णु शिव और भगवती इन सभी की पूजा वे करते थे। श्री देव शक्ति और भोज द्वितीय को परम वैष्णव कहा गया है। वत्सराज और महेन्द्रपाल को शिव का भक्त— परममाहेश्वर कहा गया है। बस सूर्य-पूजा भी एकदम भारतीय है वैदिक है और इसी के आधार पर इन्हें विदेशी कहना युक्ति संगत नहीं। आकृति की दृष्टि से भी ये विशुद्ध आर्य हैं।[3] जो व्यक्ति प्रतिहार शब्द के साथ गुर्जर शब्द के प्रयोग के कारण इन्हें विदेशी मानते हैं उनके तर्क का उत्तर देते हुए उन्होंने उनके प्रतिहार कहलाने के कारणों का उल्लेख इन शब्दों में किया है—

They were called Pratihars for their progenitor named Lakshman is said to have acted as a door keeper That the name of dynasty is a mere outcome of the official designation Pratihar is proved by the fact that the family continued to bear the insignia of the office of Pratihars even after the acquisition of soverignty The office of Pratihar was open to all who could win the confidence of the king and that is why there arose Pratihars of different castes[4]

अर्थात उनके प्रतिहार कहलाने का कारण यह है कि उनके पूर्वज लक्ष्मण ने

---

१ हि० वृद्धि, प० १५६

२ ए० स० आ० रि० इंस्टि० का जर्नल, वाल्यूम III (१९५४), प० ४५ ४६

३ वही प० ५२

४ वही पृ० ५० (सन १९५४)

द्वारपाल का कार्य किया था। इस वंश का यह नाम उनके सरकारी पद का ही परिणाम है। जब कभी परवर्ती काल में ये लोग स्वतन्त्र राज्य बनाने में सफल हुए तब भी इन्होंने प्रतिहार शब्द का प्रयोग नहीं छोड़ा। प्रतिहार का पद उन सब व्यक्तियों के लिए समान रूप खुला हुआ था जो राजा का विश्वास प्राप्त करने में सफल हो सकते थे। यही कारण है कि अलग-अलग जातियों में प्रतिहार मिलते हैं।

जहाँ तक कृष्ण को सीरिया से आयी हुई आभीर नामक घुमक्कड़ जाति के बाल देवता मानने का प्रश्न है, हम यही कहेंगे कि अब यह मत अत्यधिक भ्रान्त माना जाने लगा है। आभीर के जो तीन प्रमुख वंशज कहे जाते हैं—गूजर, जाट, अहीर—उनमें से कोई भी अपने को विदेशी नहीं मानता। किसी भी भारतीय साहित्यिक ग्रंथ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। पुराणों में इनकी वंशावली का वर्णन है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए डा० मुंशीराम शर्मा ने लिखा है—इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। विष्णुपुराण में आभीर वंश का उल्लेख है। वायुपुराण में भी आभीर राजाओं की वंशावली वर्णित है। यह भी लिखा है कि इन राजाओं ने शक और कुशानों से पूर्व १० पीढ़ियों तक राज्य किया था। महाभारत में यदुवंश के साथ आभीर वंश का घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है और लिखा है कि श्रीकृष्ण की एक लाख नारायणी सेना आभीर क्षत्रियों से ही निर्मित थी और युद्ध में दुर्योधन की ओर से लड़ी थी।[1]

रही ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विवेचना करने की बात यह स्वयं शोध का विषय है। सम्भवतः इस विषय में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हों, पर अब तक हम इस विषय में श्री बजनाथ पुरी एम० ए०, पी एच० डी० का शोध ग्रन्थ ही पढ़ने को मिला है। इसमें उन्होंने गुजरों के विदेशी न होने का सप्रमाण वर्णन किया है। जो लोग गुजरों को विदेशी मानते हैं उनका कथन है कि वे पंजाब से होकर समस्त देश में फैले। इस विषय में डा० पुरी का कहना है कि ऐसा कहना कल्पना मात्र है, इसमें कोई निश्चित प्रमाण नहीं। अगर ये लोग सचमुच बाहर से आये थे तो कहीं-न-कहीं इनके संघर्ष का उल्लेख अवश्य होना चाहिए। जिस जाति ने इतने बड़े-बड़े राज्य बनाये, वह रौंदती हुई आगे बढ़ी होगी, यह निश्चित है। इस उल्लेख का अभाव ही इसके बाहर से न आने का प्रबल प्रमाण है। हूणों के साथ उनका एकीकरण भी तक संगत नहीं। यदि वे एक होते तो कहीं-न-कहीं उन्हें एक कहा गया होता। हूणों की विजय का जहां जहाँ उल्लेख है वहां गुजरों का नहीं। यह भी यही सिद्ध करता है कि ये दोनों अलग अलग जातियाँ थीं। वक्सन का यह मत कि यह जाति कम महत्त्वपूर्ण थी अतः इसका उल्लेख नहीं हुआ मान्य नहीं हो सकता। यदि यह जाति इतनी नगण्य

---

१ भारतीय साधना और सूर-साहित्य, पृ० १६४

थी तो फिर चीनी यात्री ह्वेनसांग ने गुजर-साम्राज्य की स्थापना का उल्लेख कैसे किया ? बाण कवि (हर्ष चरित का प्रणेता) ने भी प्रभाकरवर्द्धन के आक्रमणों का वर्णन करते हुए गुर्जरों और हूणों के पृथक्-पृथक् अस्तित्व को स्वीकार किया है। इसलिए हूणों के साथ उनका एकीकरण कर उन्हें विदेशी सिद्ध करने का प्रयास तर्क विरुद्ध ही है।

यदि गुजर विदेशी नहीं थे तो एकाएक इतने बड़े साम्राज्य की स्थापना कैसे हो गयी ? यदि यह जाति अत्यधिक बलवती थी तो किसी साहित्यिक ग्रन्थ में इसका उल्लेख क्यों नहीं, हुआ ? इस प्रकार की शंकाओं का उत्तर देते हुए डा० पुरी ने कहा यह जाति चुपचाप अपना जीवन बिता रही थी। जब अचानक इसके मन में राज्य की पिपासा जाग्रत हुई तो यह अपने निवास स्थान से निकल कर इधर उधर फैलने लगी और इसने राज्यों की स्थापना की। नाम के उल्लेख के अभाव को विदेशी होने के प्रमाण के रूप में उपस्थित करना जान-बूझकर भ्रम फैलाना है। इन गुजरों का आदिम निवास स्थान आबू पर्वत था और वहीं से वे इधर उधर फैले। डा० पुरी का मत उनके ही शब्दों में इस प्रकार है —

We have taken into consideration the entire evidence epigraphic literary foreign ethological and linguistic with a view to suggesting the Indian origin of Gurjaras This native tribe was living in obscurity near about the Mount Abu in Rajputana which mountain figures prominently in the History of many dynasties including this one [1]

अर्थात् हमने शिलालेख सम्बन्धी साहित्यिक विदेशी नवंशविद्या सम्बन्धी और भाषा-सम्बन्धी, सभी प्रकार के साक्ष्यों पर विचार करने के पश्चात् गुजरों को भारत का ही निवासी माना है। यह जाति राजस्थान के उस आबू पर्वत के पास रहती थी जिसकी चर्चा बहुत से राज-वंशों के साथ जिनमें से एक यह भी है सम्बद्ध है।

अपने इस निवास स्थान से निकलकर वे किधर किधर फैले, इसके विषय में उन्होंने लिखा है—

The Gurjaras were very enterprising and they immigrated from the original home in Mount Abu region in two directions—in the north they went as far as the distant country of Swat and in the South West they reach Brouch and Kathiawar Though they not successful in kingdom in the north west a few towns with were Gujar prefix were founded by them [2]

---

१ दि गुजर प्रतिहार पृष्ठ १८

२ वही पृष्ठ १८

अर्थात ये गुजर बहुत साहसी थे और आबू पवत के मूल निवास स्थान से दो दिशाओ म निकले उत्तर मे स्वेत-जसे दूरवर्ती स्थान तक गय और दक्षिण पश्चिम म भड़ौंच और काठियावाड तक पहुँच। यद्यपि उत्तर पश्चिम म य अपना राज्य बनाने म सफल नही हुए फिर भी इन्होने कुछ ऐसे नगर स्थापित किय जिनके आरम्भ म 'गूजर' शब्द लगा हुआ है।

इस प्रकार आभीरो को न ता विदेशी मानना ही तकसगत है और न उस आधार पर कृष्ण को बाहर से आया हुआ देवता मानना उचित है।

भक्ति-भावना मे प्रेमोल्लास भी ईसाइयत की देन है, ऐसा बहुत-से विद्वानो का कथन है। श्री ग्रियसन ने इस मत का प्रतिपादन विशेष रूप से किया है। मध्य युग म अचानक ही इस प्रेम धारा का फूट पडना उनके सन्देह का मूल कारण है। बिजली की चमक के समान यह जो अचानक ही प्रेमोल्लास की चमक है, यह भारतीय धम की स्वाभाविक उपज नही अपितु मद्रास प्रान्त म आकर बसे हुए नेस्टोरियन सम्प्रदाय के ईसाइयो स ग्रहण की गयी है। ऐसा उनका विश्वास है। उनका यह भी कथन है कि भक्ति सम्बन्धी जो भी शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गय हैं वे ईसवी सन के बहुत बाद के लिखे हुए हैं और स्वभावत वे ईसाई धम से प्रभावित हैं। उनके ही शब्दा मे उनका मत इस प्रकार है— कोई भी मनुष्य, जिसे पन्द्रहवी और बाद की शताब्दियो का भारतीय साहित्य पढने का अवसर मिला है, उस भारी व्यवधान—गप—का लक्ष्य किय बिना नही रह सकता जा प्राचीन और नयी धार्मिक भावनाओ म विद्यमान है। हम अपने को एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन के सामने पाते हैं जो उन सब आन्दोलनो से कही अधिक विशाल है जिन्हे कभी भारतवष ने देखा है—यहाँ तक कि वह बौद्धधम के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है क्योकि इसका प्रभाव आज भी वतमान है। श्री ग्रियसन का मत उनके शब्दा म इस प्रकार है—

Suddenly, like a flsh of lightening there came upon all this darkness a new idea Now Hindu knows where it came from, and no one can date its appearance, but all the official writings which describe it and which can be dated with certainty were written long after the christian era This new idea was that of Bhakti Religion was no longer a matter of knowledge It became a matter of emotion It now notified the human craving for a supreme personality to whom prayer and adoration could be addressed in as much as Bhakti, which may be translated by 'faith' or 'devotion' requires a personal, not an impersonal God [1]

---

१ ज० रा० ए० सा०, पृष्ठ ३१४ (सन् १९१०)

अर्थात् अचानक ही बिजली की चमक के समान इस अन्धकार में एक नया भाव पैदा होता है। कोई हिन्दू नहीं जानता कि यह कहाँ से आया, इसका आगमन कब हुआ, यह भी कोई नहीं जानता। वे सभी अधिकृत लेख, जो इसका वर्णन करते हैं और जिनका काल निश्चित है, ईसा के बाद के लिखे हुए हैं। यह नया भाव भक्ति का है। इस काल (भक्ति-काल) में भक्ति का सम्बन्ध ज्ञान से नहीं रहा। अब यह एकदम भावात्मक था। यह मानव की उस इच्छा का द्योतक था जो सर्वोच्च शक्ति के पास अपनी प्रार्थना और पूजा का भाव पहुँचाना चाहती थी। भक्ति जिसे श्रद्धा और अनुरक्ति भी कहा जा सकता है साकार व्यक्ति की अपेक्षा रखती है वह अव्यक्तिगत नहीं होती।

अन्य स्थानों पर भी इस ईसाई प्रभाव को तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। उनके अनुसार यद्यपि भक्ति का अस्तित्व भारत में पहले ही से था पर फिर भी रामानन्द के भक्तिमार्ग और भगवद्गीता के भक्तिमार्ग में पर्याप्त अन्तर है यह अन्तर उतना ही स्पष्ट है कि जितना प्लेटो और सेंट पाल की शिक्षाओं में है। रामानन्द के आगमन के बाद भागवत धर्म जनसाधारण का धर्म हो गया था जनसाधारण की बोली में लिखा जा रहा था। इस समय का धर्म ज्ञान के बोझ से लदा हुआ नहीं था। इसमें हृदय की प्रधानता थी। उसकी भाषा रहस्य और आनन्द की भाषा थी। इसका सादृश्य बनारस के पण्डितों की अपेक्षा यूरोप के मध्यकालीन रहस्यवादियों के साथ अधिक था।

इन सब बातों के पीछे ईसाई मत का प्रभाव दीख पड़ता है। भारत में ईसाई पर्याप्त मात्रा में आते जाते थे। इस प्रकार से अनेक यात्रियों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

We thus see that from the first centuries of our era christianity has always been in India and that both in the North and the South Hinduism had every opportunity of becoming acquainted with its tenets.[1]

अर्थात् हम देखते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी से ही भारत के उत्तर और दक्षिण दोनों ही भागों में भक्ति विद्यमान थी और हिन्दू धर्म को इसके सिद्धान्तों से परिचित होने का पर्याप्त अवकाश था।

श्री हापकिन्स की दृष्टि में भी हिन्दू धर्म पर ईसाई धर्म का प्रभाव स्पष्ट है। उनके अनुसार महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में तीन ऋषियों द्वारा एक श्वेत द्वीप का वर्णन है जहाँ के निवासियों का वर्ण श्वेत है और जो एकान्तिक भक्ति में

१ इन० रि० ए० भाग १ पृष्ठ ५४६

लीन हैं। ऐसा द्वीप भारतवर्ष में नहीं है। यह वर्णन ईसाईयों की प्रार्थना सभा-मण्डिम का वर्णन है। यह वर्णन उन व्यक्तियों द्वारा सुनी हुई कथाओं पर आधारित है जो हिन्दुकुश के उत्तर से आये थे। कुछ अन्य स्थानों पर भी ऐसे वर्णन हैं जो बाइबल से लिए गए हैं।[1]

क्या यह प्रेमोल्लास सचमुच ईसाई धर्म का प्रभाव है? यदि ऐसा नहीं तो यह सहसा ही हिन्दी के मध्यकालीन साहित्य में कहाँ से उद्भूत हो गया? संस्कृत साहित्य इस भावना से अपरिचित है। अतः वहाँ से इसका लेना सम्भव नहीं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने सूर साहित्य में 'हिन्दी साहित्य और वैष्णव धर्म' शीर्षक में इस विषय का विस्तृत और सप्रमाण विचार किया है और सिद्ध किया है कि इसे ईसाइयत की देन मानना तथ्यों की अवहेलना करना है। उनका कथन है कि इसके बीज देशी भाषाओं के साहित्य में आसानी से ढूँढे जा सकते हैं। हिन्दी में संस्कृत-साहित्य की परम्परा के विरुद्ध रस और अलंकारों का विवेचन एक ही व्यक्ति द्वारा होने लगा। यहाँ रस राज श्रृंगार के आलम्बनों और उद्दीपनों के वर्गीकरण के उदाहरणों के बहाने भगवान की लीला गायी जाने लगी है। 'आम के आम और गुठली के दाम' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। दोनों बातें साथ साथ चल रही हैं—कविता के बहाने परम आराध्य का भजन और भजन के बहाने कविता। आपने कृपाराम (सन १५४१ ई०) द्वारा लिखित 'हिततरंगिणी' नामक ग्रंथ में से एक दोहा उद्धृत किया है। जिससे स्पष्ट पता चलता है कि इस कवि से पूर्व भी ऐसे बहुत से कवि थे जो श्रृंगार रस का वर्णन करते थे और उदाहरण के रूप में प्रेम लीला के उदाहरण उपस्थित करते थे। 'हिततरंगिणी' में राधा-कृष्ण की प्रेमलीला को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है—

आजु सवार हौं गई, नन्द लाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू, निरखे औरे हाल॥

इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि भक्तिकाल के कवियों से पूर्व ही प्रेमोल्लास का वर्णन होता था पर इससे मूल प्रश्न का समाधान नहीं हो पाता। इसके समाधान के लिए लोक मत की ओर जाना पड़ेगा। ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक उत्तर भारत के जन साधारण में जो साधना विकसित होती जा रही थी, वही पन्द्रहवीं शताब्दी में अचानक ही उठी हुई जल धारा के समान बरस पड़ी। इस साधना को बहुत सीमा तक गोरखनाथ की देन कहा जा सकता है। गोरखनाथ अपने समय के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति थे और बौद्धधर्म से अत्यधिक प्रभावित थे। किसी समय उनका मत समस्त उत्तर भारत में व्याप्त हो गया था। उनके द्वारा बौद्ध धर्म की बहुत-सी बातें अनायास ही हिन्दू-धर्म में प्रविष्ट हो गयी थीं। महायान में प्रज्ञापारमिता,

---

१ इन० रि० ए०, भाग १, पृ० ५५४

अवलोकितेश्वर, मजुश्री आदि बहुत से देव-देवियो की मूर्तिया प्रचलित थी। उनके यहाँ भक्ति भावना भी प्रचलित थी। विद्वानो के अनुसार वष्णव भक्तिवाद महायानो की भक्ति का ही विकसित रूप है।[1] यह भी ऐतिहासिक तथ्य है कि बौद्ध धम के ह्रास युग म महायान के बहुत-से मत वष्णव धम म सम्मिलित हो गय थ। जीवन की स्वाभाविक लेन देन की प्रक्रिया के अनुसार उन्होने हिन्दू धम की देव भावना को भी प्रभावित किया ही होगा। य प्रभाव बहुत समय तक जन-साधारण के जीवन म चलत रहे हैं। इन्ही प्रभावो और विश्वासो को जब आचाय शास्त्र-सम्मत रूप दे देत हैं तो व अपन अधिक प्रभावोत्पादक और व्यापक रूप म प्रकट हो जात हैं। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य म जो प्रमोल्लास दीख पडता है वह पहल स चला आ रहा था, उसे बाहर स आयी वस्तु मानना ठीक नही होगा। आचाय द्विवेदीजी के शब्दो म मध्ययुग के वष्णव धम ने इस जो रूप दिया वह महायान भक्ति का विकसित और मार्जित रूप था।[2]

बहुत अश तक इस प्रेमोल्लास को आलवार सन्तो की देन माना जा सकता है। प्रेम लक्षणा भक्ति का चरम उत्कष दाम्पत्य भावना है और दाम्पत्य भावना से भगवान को भजन के उदाहरण वेदो और उपनिषदो म भी आसानी म ढूढ जा सकते हैं पर आलवारो की भक्ति का स्वरूप तो माधुयभाव का ही है। उनकी रचनाओ म भगवान के प्रति प्रेमोल्लास की कमी नही। उनका रचना काल दूसरी शती स शुरू होता है और उन्होन जिन भावो का अपनी रचनाओ म अभिव्यक्ति प्रदान की है वे उनस भी पूव जनसाधारण म प्रचलित अवश्य रह होगे।

इस्लाम

हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल का आरम्भ सवत १३७५ वि० से माना जाता है। इस समय से पूव भारत म इस्लाम धम का प्रसार एव प्रचार हो चुका था। अत हिन्दी-साहित्य की देव भावना पर इस्लाम का पर्याप्त प्रभाव है ऐसा बहुत से विद्वानों का मत है। डा० ताराचन्द इस मत के प्रबल पोषक हैं। उन्होंने बताया है कि मसूदी नामक यात्री न १०वीं शताब्दी के आरम्भ म (ई० सन ६१६) म जब भारत की यात्रा की तो उसने सेमार Seymore (आधुनिक चौल Chaul) म सिराफ बसरा और बगदाद स आय हुए जिन मुसलमानो का देखा उनकी सख्या दस हजार से ऊपर थी। इसके अलावा उसन ऐसे भी बहुत से व्यक्तियो का देखा कि जो बाहर स आये हुए अरबो की सन्तान थ।[3] आग चलकर उन्होन कहा है कि अबुद फिदा (१२३३ १३३१) ने अपनी यात्रा म कौलम स्थान पर एक अति भव्य मस्जिद का

---

१ डा० वन का मत (सूर साहित्य पष्ठ ८६ पर उद्धृत)
२ सूर साहित्य पष्ठ ६१
३ इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम आन इण्डियन कल्चर पृष्ठ ३६

वणन किया है। १४ वी शताब्दी मे इब्नबतूता ने कैम्बे से लेकर पश्चिमी त
साथ लग सभी बन्दरगाहों की यात्रा की थी और वहाँ उसने अपने सहधर्मिय
समद्धि की दशा मे पाया।[1] उसका यह भी कथन है कि पश्चिमी तट के कि
किनारे दक्षिणी भारत म मुसलमानो का आगमन १० वी शताब्दी तक हो
था और राजनीतिक तथा सामाजिक दोनों ही क्षेत्रो म वे अपना प्रभाव स्थ
करने म सफल हो चुके थे।[2] आलवार सन्तो ने धार्मिक क्षेत्र म जो जाति पाँि
निन्दा की है, गुरु की महत्ता प्रतिपादित की है और प्रपत्ति पर जो इतना बल
है वह सब इस्लामी देन है ऐसा डा० ताराचन्द का मत है। साथ ही उन्होने य
स्पष्ट किया है कि उन दिनो बौद्ध धम का ह्रास हो रहा था, वह भी पूजा के
विधान मे रत था अत भक्ति माग की उदारता को बौद्ध धम की देन नही मान
सकता। यदि किसी प्रकार जाति-पाँति के विरुद्ध भावना को पुरानी देन मा
लिया जाय तो प्रपत्ति का और गुरु भक्ति को तो माना ही नही जा सकता।
ही शब्दो में—

They could scarcely be derived from the prevailing typ
Hindu religion, for the worship of of Visnu Siva or Sakti
ritualistic as well as that of other sects, some of them might be
liated to older and purer form of Buddhism and upnishadism
Prapatti and Gurubhakti not [3]

अर्थात विष्णु शिव और शक्ति तथा दूसरे मतो की पूजा विधि कमकाण
ही सीमित थी अत उनका (जातिपाँति की उदारता तथा प्रपत्ति से भाव है)
लित हिन्दू धम म से लिया जाना सभव नही। उनम से कुछ का यदि बौद्ध धम
उपनिषदो से सबद्ध मान भी लिया जाय तो प्रपत्ति और गुरु भक्ति को तो कि
दशा मे नही माना जा सकता।

श्री हुमायु कबीर का भी मत ऐसा ही है। उनका कथन है कि भारती
पर मुस्लिम धम के प्रभाव की चर्चा आते ही रामानन्द, कबीर, नानक और चत
नाम अचानक ही मुह पर आ जाते हैं। बगाल म वष्णव धम और महाराष्ट्र मे
सम्प्रदाय के विकास को प्रत्यक्ष रूप से इस्लाम और हिन्दू धम का मिश्रण का
सकता है। उनके ही शब्दों म—

The real history of India in the Middle ages is the reco
attempts at synthesis and co operation between Hindu and M

१ इन्फ्लुएन्स आफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पष्ठ ४३
२ वही पृष्ठ २२४
३ वही, पृष्ठ ११४

on thousand planes The name of Ramanand and Kabır of Nanak and chaitanya come easily to the mind The of Vaishnavi m in Bengal and the Bhakti-cult in Maharashtra may be directly attributed to this fusion of religious culture[1]

अथात भारत का मध्यकाल का वास्तविक इतिहास हिन्दू और मुसलमान के बीच म सहयाग और समन्वय के उन प्रयासो का इतिहास है जो शनश स्थाना पर हो रहा था । इस प्रसग म रामान द कबीर नानक और चतन्य क नामा का स्मरण आसानी स हो आता है । बगाल म वष्णव धम का और महाराष्ट्र म भक्ति का विकास धार्मिक और सास्कृतिक एकीकरण स प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित है ।

अपन वक्तव्य का स्पष्ट करत हुए आग उन्होन कहा है कि वदिक काल स सातवी शती की समाप्ति (ईसवी पश्चात) तक भारत का नतत्व उत्तरी भारत के हाथ म रहा है । आठवी शती क आरम्भ म अचानक ही भारतीय जीवन और विचार धारा का नतृत्व दक्षिण म चला जाता है । शकर रामानुज निम्बार्कादित्य वल्लभा चाय, सभी दक्षिण क रहन वाले हैं । वष्णव और शव दानो ही धम दक्षिण म ही उत्पन्न हुए और वही बढे । इसका एकमात्र कारण यह है कि सातवी सदी के मध्य म इस्लाम का आगमन दक्षिण म हो चुका था ।[2]

तथ्यो क आधार पर दानो ही विद्वानो के कथन प्रामाणिक प्रतीत नही होत । जहा तक जाति-पाति की उदारता का प्रश्न है यह यह नि सन्देह बौद्ध धम की ही देन है । अपने गय गुजर दिना म भी बौद्ध धम न जाति-पाति क विरुद्ध अपन आन्दोलन को कभी मन्द नही होन दिया । स्वय डा० ताराचन्द जाति पाति की उदारता को बौद्ध धम की देन मानन का किसी सीमा तक तयार हैं । बात रही गुरुभक्ति की उसक विषय म असदिग्ध शब्दो म कहा जा सकता है कि यह गुरु-भक्तिभावना अति प्राचीन है । यह भावना इस दश म उस समय से चली आ रही है कि जब इस्लाम का प्रादुर्भाव भी नही हुआ था ।

उपनिषदो का रचनाकाल ईसवी पूव सात सौ वष है और उनम गुरु-माहात्म्य का वणन बडे ही स्पष्ट शब्दो म किया गया है । यदि कबीर न गुर और गोविन्द दानो म गुरु की श्रेष्ठता प्रदर्शित की है तो श्वताश्वतरोपनिषद म – गुरुब्रह्मा गुरुर्देवो गुरु साक्षात महेश्वर " कहकर गुरु को साक्षात परमेश्वर ही का रूप दे दिया है । स्नातक को दीक्षान्त सस्कार म जहा और शिक्षाओ का ध्यान म रखने की बात कही जाती थी वहा — पितृदवो भव मातृदवो भव आचायदेवो भव का भी उपदेश दिया जाता था । शिष्यो के लिए गुरु इस पृथ्वी पर साक्षात परमेश्वर का ही रूप है । उपनिषदो

१ आवर हरिटेज पष्ठ ३२
२ वही, प० ३४ ३५

मे इस प्रकार की अनेक कथाएँ हैं। आयोद धौम्य ऋषि के शिष्य आरुणि खेत की कटी हुई मड के ऊपर से पानी बहता देख कर उसे रोकने के लिए जिस प्रकार रात भर पानी म लेटे रहे और सुबह गुरुजी द्वारा ढढ लिये जान पर ही निकाने जा सके। उनके दूसरे शिष्य उपम यु ने उनकी आज्ञा पाकर जिस प्रकार खाने-पीने की सभी वस्तुओं का परित्याग कर दिया, जिस प्रकार अधा होकर वह कुएँ म गिर पडा और गुरुजी के आदेश से बाहर निकल कर अश्विनी-कुमारो की स्तुति द्वारा उसने दृष्टि लाभ किया आदि अनेक कथाओ से भारतीय पाठक भलीभाति परिचित हैं। मनुस्मृति म तो आचाय का साक्षात् ब्रह्म कहा गया है आचार्यो ब्रह्मणा मूर्ति"— एक अय स्थान पर 'उत्पादक ब्रह्म दात्रा गरीयान ब्रह्मद पिता" कहकर गुरु को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। अतिप्राचीन काल से प्रयुक्त द्विज' शब्द ही भारतीय जीवन मे गुरु के उच्च स्थान का बोधक है। माता पिता बच्चे का जन्म तो देते हैं पर आचाय शिक्षा द्वारा उस दूसरा जन्म देकर द्विज बनाता है। भारतीय शास्त्रो मे कहा गया है कि गुरु की अकारण निन्दा करन वाला शिष्य गधा होता है। निन्दा करने वाला कुत्ता होता है और गुरु पत्नी के साथ भोग करने वाला कीडा होता है और उसे अनेक भयकर नरको की यातना सहनी पडती है। इसीलिए स्वय तो गुरु निन्दा करने का निषेध है ही, पर उसकी निन्दा सुनना भी अपराध कहा गया है। कहा गया है कि जहा गुरु की निन्दा हो रही हो वहाँ या तो कान बन्द कर लेन चाहिए या वहा से उठकर अन्यत्र चले जाना चाहिए।

रामायण और महाभारत दोनो ही ऐतिहासिक महाकाव्य गुरुभक्ति के ज्वलन्त उदाहरणो से भरे पडे हैं। रामायण-काल म गुरु का कथन ब्रह्म वाक्य के समान, अनुल्ल घनीय है। राजा दशरथ विश्वामित्र ऋषि के कहने से अपने प्राण प्रिय पुत्रो को उनके हाथो म सौंप देते हैं। महाभारत मे बताया गया है कि किस प्रकार एकलव्य भील द्रोण की मिट्टी की मूर्ति को ही गुरु मानकर अटल श्रद्धा के साथ अपनी साधना म जुटा रहा और गुरु दक्षिणा के रूप म उसने अपने दायें हाथ का अँगूठा भी काटकर दे दिया। कालिदास के रघुवश मे बताया गया है कि कुत्स ऋषि का शिष्य ककुत्स्थ गुरु-दक्षिणा चुकाने के लिए किस प्रकार सब कुछ करने को तयार है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्याभिमान योग या गुरु भक्ति भारत को इस्लाम की देन नही है।

प्रपत्ति का अथ है सवतोभावेन शरणापन्नता। इस्लाम का अथ है प्रपत्ति और मुस्लिम शब्द का अथ है शरणापन्न। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे प्रपत्ति का अत्य धिक महत्त्व है। रामानन्द सम्प्रदाय को एक प्रकार से प्रपत्तिमाग कह सकते हैं। इसमे भक्त अपने आपको भगवान् की शरण म छोड देता है। इस सम्प्रदाय वालो का विश्वास है कि प्रपन्न व्यक्ति के सब कम क्षीण हो जाते हैं और उसे किसी ओर से भय नही रहता। भगवान् का तो वचन ही है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचत ।
अभय सवभूतेभ्यो ददाम्येत व्रत मम ॥[१]

प्रपत्ति के इस साम्य के आधार पर डा० ताराचन्द ने भारतीय भक्ति पर इस्लाम के प्रभाव को स्वीकार किया है । इस विषय म हम यह कह देना चाहते हैं कि भारत म मुसलमानो क आगमन से पूव प्रपत्ति की भावना को आसानी स ढूँढा जा सकता है । वागम्भणी का कथन है कि मैं जिसे चाहती हू उसे ऋषि मेधावी और तेजस्वी बना देती हू । आगे चलकर यही भावना उपनिषदो म बडे ही स्पष्ट रूप म मिलती है । वहाँ ज्ञान को हेय बताकर भगवत-कृपा को ही भगवत प्राप्ति का एकमात्र उपाय बताया गया है । कहा गया है कि यह आत्मा न तो उपदेशो स प्राप्त होता है न बुद्धि स और न बहुश्रुत होने से । यह आत्मा तो उसी को मिलता है जिस पर वह स्वय प्रसन्न होकर अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन ।[२]

एक अन्य उपनिषद म कहा गया है कि जो आत्मा अणु स भी अणु है और महान से भी महान है उसको जीव भगवान की कृपा स ही जानता है अन्य प्रकार स नहीं ।[३]

इसके बाद भगवद्गीता म भी प्रपत्ति का यह भाव आदि से अन्त तक भरा पडा है । मोहवश अर्जुन जब युद्ध स विरत होना चाहता है तब कृष्ण भगवान उसे ज्ञान की सब बातें समझाने क बाद कहते हैं कि हे अर्जुन अपने सब कर्मों को मुझे सौंप दे और तू युद्ध कर—

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वर ॥[४]

आगे चलकर उन्होंने फिर अर्जुन से कहा है कि भक्त को अपने लिए कुछ भी पृथक नहीं रखना चाहिए । उसका खाना-पीना सभी कुछ भगवान को अर्पित होना चाहिए—

यत करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम ॥[५]

उनके सारे प्रवचन का केन्द्र बिन्दु है भगवान की शरण म जाना सर्वतोभावेन

---

१ रामानन्द की हिन्दी रचनाए पृष्ठ १५
२ कठ० २।२३
३ श्वेताश्वतर ३।२०
४ गीता ३।३३
५ वही, ६।२०

अपने पृथक रूप का विलीन कर देना। स्थान-स्थान पर उन्होंने अर्जुन का यही कहा है—

मत्कमकृन्मत्परमो मदभक्त सगवर्जित ।[1]

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।[2]

महाभारत म भी स्थान स्थान पर प्रपत्ति की चर्चा है। युधिष्ठिर के प्रश्न का उत्तर दते हुए भीष्म स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जा कुछ तुम जानना चाहते हो उसका उपाय ज्ञान और प्रपत्ति दो ही हैं—

ऋत देवप्रसादाद् वा राजन ! ज्ञानागमेन वा ।
गहन ह्येतदाख्यान व्याख्यातव्य तवारिहन् ॥[3]

भगवान नारायण के प्रत्यक्ष दशन न होने पर राजा उपरिचर के यज्ञ मे जब बृहस्पति क्रोध करते हैं तब देवता उन्हें समझाते हैं कि उनके दशन केवल उनको होते हैं जिन पर उनकी कृपा होती है —

न शक्य स त्वया द्रष्टुमस्माभिर्वा बृहस्पते ।
यस्य प्रसाद कुरुते स वत द्रष्टुमर्हति ॥[4]

बौद्ध धम की महायान शाखा म प्रपत्ति का तत्त्व इस्लाम के अस्तित्व से बहुत पूव विद्यमान था। हीनयान के मुकाबले म उसने अपनी जिन नवीनताओ का रखा उनम से एक यह है कि अभिताभ बुद्ध म आस्थामात्र रखन से निर्वाण की उपलब्धि हो जाती है। बुद्ध के नाम का जप भी वहाँ इसी लक्ष्य से विहित है। रही भागवत धम की बात, उसमे ये तत्त्व पूरी तरह विद्यमान थे। जहाँ तक उसकी प्राचीनता का प्रश्न है हम पिछले प्रकरण म ही इस विषयक प्रमाण दे आय हैं।

इन सबके अतिरिक्त आलवार सन्तो म यह भावना पूरी तरह पायी जाती है। यह आलवार शब्द तमिल भाषा का है और उसका अथ है अध्यात्म रूप समुद्र मे गोते लगाने वाला अनुभवी पुरुष। इन्होंने अपने आध्यात्मिक अनुभवो के आधार पर जिन पदो की रचना की थी उनका सग्रह तमिल मे 'प्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। ये आलवार भक्त सख्या मे १२ थे और समकालीन नहीं थे। इनका काल विक्रम की द्वितीय शती से लेकर दशम शती तक माना जाता है। स्पष्ट है कि इस्लाम की उत्पत्ति से बहुत पूव ही प्रपत्ति की यह भावना इस देश म विद्यमान थी।

---

१ श्वेताश्वतर, ११।५५
२ वही, १२।८
३ म० भा० शा० पव० (मोक्षधम पव), श्लाक ६
४ वही, श्लोक १२

प्रो० हुमायूं कबीर ने दक्षिण भारत के हाथ में नेतृत्व चले जाने की बात को आधार बनाकर जिस सिद्धान्त की स्थापना की है उसका खण्डन भी स्वतः ही हो जाता है। हिन्दी के वैष्णवाचार्य दक्षिण निवासी थे और स्वभावतया इन सन्तो से प्रभावित थे। यामुनाचार्य (सं० ९७३ १०९३) ने 'प्रपन्नधर्म' के सिद्धान्तो का अध्ययन बड़े मनोयोग से किया था। ये यामुनाचार्य ही रामानुजाचार्य (सं० १०८४ ११९४) के पथ प्रदर्शक बने। रामानन्द इसी परम्परा में थे। दक्षिण में भारतीय जीवन के नेतृत्व चले जाने और भक्ति धारा के वहाँ से फूट पड़ने का कारण आलवार सन्त हैं इस्लाम धर्म का प्रभाव नही। प्रसंगवश हम इस बात का भी उल्लेख कर दें कि इन प्रसिद्ध आलवारो मे अनेक तथाकथित नीच जाति के पुरुष थे। सबसे अधिक प्रसिद्ध नम्मालवार (शठकोपाचार्य) अछूत जाति के थे। तिरुमंग जाति से नीच और कर्म से भारी डाकू थे। गोदा या अन्दाल नारी थी। हिन्दी में कबीर (जुलाहा), धन्ना (जाट) और रैदास (मोची) को आलवारो की परम्परा मे ही रखना ठीक है। समाज में इनकी प्रतिष्ठा ही जाति पाँति के खण्डन का सबसे बड़ा प्रमाण था। विश्वबन्धुता की भावना से भारत अपरिचित था और यह इस्लाम की देन है, ऐसा मानना एकदम भ्रान्तिपूर्ण है।

माधुर्यभाव की उपासना को भी बहुत से व्यक्तियो ने इस्लाम की देन माना है। वेदो में ज्ञान की प्रधानता है और परवर्ती ब्राह्मणग्रन्थो में कर्मकाण्ड की। ज्ञान और कर्मकाण्ड दोनो ही नीरस है और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य मे अचानक जो माधुर्यभाव की प्रधानता मिलती है वह सूफियो का प्रभाव है। सूफी साधना में दाम्पत्य भाव की प्रधानता है। बसरा में रहने वाली राबिया नामक साध्वी अपने को अल्लाह की पत्नी मानती थी और अल्लाह को अपना पति। कबीर इत्यादि ने भी अपने को राम की बहुरिया कहा है और यह परम्परा फिर अनवच्छिन्न रूप से चलती रही है। इन विद्वानों के अनुसार यह इस्लाम का स्पष्ट प्रभाव है। पर तथ्यों के आधार पर यह धारणा एकदम निर्मूल सिद्ध होती है। वेदों में जहाँ भगवान से माता, पिता और सख्य आदि सम्बन्धों की स्थापना की गयी है वहीं दाम्पत्य भाव से भगवान को भजने का भी विधान है। एक मन्त्र में कहा गया है कि सुख का ज्ञान रखने वाली, एक ही मार्ग में बढ़ने वाली, प्रभु प्राप्ति की कामना से संयुक्त मेरी समस्त बुद्धियाँ आज प्रभु की सेवा में लगी हुई हैं। जैसे स्त्रियाँ अपने पति का भली भाँति आलिंगन करती हैं वैसे ही मेरी बुद्धियाँ प्रभु की ओर धावित हो रही हैं।[1] उपनिषदों में भी यह भावना विद्यमान है। वहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार पत्नी के प्रगाढ़ परिरम्भण में पुरुष थोड़ी देर के लिए समस्त संसार को भूल जाता है, बाहर भीतर का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता ठीक उसी प्रकार परम प्रिय परमात्मा के सायुज्य द्वारा सदा के लिए संसार का विस्मृत कर बैठता है। विश्वात्मा के संयोग के समय जीव को अन्य कुछ

---

१ ऋक् १०।४३।१

दिखायी नही पडता, उसकी सभी इच्छाओ और कामनाओ की पूर्ति हो जाती है।[1] दक्षिण की अदाल नामक साधिका तो भगवान् को पति रूप म ही मानती थी।

कुछ लोगो के अनुसार अद्वत भावना भी इस्लाम की ही देन है। इनके तक का आधार यह है कि वेदो म अनेक देवताओ की स्तुति है, सूत्रग्र थो म अनेक दवताओ की पूजा का विधान है और आज भी हिन्दू घरो म अनक दवी दवताओ की पूजा प्रचलित है। अत शकराचाय और उनके परवर्ती साधको तथा कवियो म जो अद्वतभावना मिलती है वह इस्लाम का ही स्पष्ट प्रभाव है। पर थोडी सी भी गहराई मे जाकर सोचने से इस मत की सारहीनता सिद्ध हो जाती है। एकदेववाद तथा अनेकदेववाद प्रकरण मे हम दिखा आये हैं कि वेदो के अ तिम काल म ही एकदेववाद की ओर ऋषियो का ध्यान जा चुका था। वहा जहा अनक देवो की सत्ता स्वीकृत है वही इन सबको एक ही व्यापक सत्ता के अश मानने की भावना भी स्पष्ट रूप मे विद्यमान है। उपनिषदो मे तो स्पष्ट रूप से अद्वत की सत्ता है। छह दशनो म से एक प्रसिद्ध दर्शन का आधार ही अद्व तवाद है।

जो एक बात सबसे अधिक ध्यान देने योग्य है वह यह है कि इस्लामी अद्वैतवाद को एकेश्वरवाद कहना अधिक ठीक होगा, भारतीय अद्व तवाद को आत्मवाद या ब्रह्मवाद। एकेश्वरवाद का मतलब यह है कि एक सवशक्तिमान सबसे बडा देवता है जो सष्टि का उत्पादक पालक और सहारक सब कुछ है। इस एकेश्वरवाद म बाह्य जगत की स्वीकृति है, निषेध नही। इसम जड जगत, जीव और परमात्मा, तीनो की सत्ता है। य तीनो अलग-अलग हैं एक नही, और इनम परमात्मा की सत्ता सर्वोपरि है। न कोई उससे अधिक शक्तिशाली है और न उसके बराबर ही है। भारतीय अद्व तवाद म दश्य जगत की कोई स्वत त्र सत्ता है ही नहीं। यह दश्यमान् जगत् उसका प्रतिबिम्ब मात्र है। इसम आत्मा और परमात्मा म कोई भेद नही, तत्त्वमसि' इसका प्रमुख सिद्धा त है। इस्लाम मे इसके विपरीत आत्मा और परमात्मा की एकता की बात करना कुफ्र है। मसूरूफ हल्लाज को इस अद्व तवाद की भावना के कारण ही अपने प्राणो से हाथ धोना पडा था। भारतीय साहित्य मे जिस अद्व तवाद की चर्चा है वह विशुद्ध रूप से भारतीय है। उसम तदाकार होने की भावना इस्लाम धम के विरुद्ध जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अद्व तवाद को इस्लाम धम का प्रभाव मानना एकदम निराधार और तक के विरुद्ध है।

हमारे इस कथन का यह भाव कदापि नही कि इस्लाम का भारतीय देव भावना पर कोई प्रभाव पडा ही नहीं। अपने इष्टदेव के प्रति आत्मनिवेदन म जो उद्वेग पाया जाता है वह इस्लाम के सूफी मत की देन है। उनका इश्क उद्वेग म ही

---

१ बृहदाण्यक, ४।३।२१

रह जाता है। मध्यकाल के हिन्दी कवियों में मग्न और लीन के बीच जो तड़पन है वह इस्लाम का ही प्रभाव है।

बौद्धमत का उत्तरकालीन तान्त्रिक विकास और उसका देव भावना पर प्रभाव

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की देव भावना पर तान्त्रिक प्रभाव का उल्लेख करने से पूर्व हमें तन्त्र शब्द के अर्थ को समझ लेना चाहिए। तन्त्र का एक अर्थ है विधि Injuction और नियम Regulation। इसी कारण शंकराचार्य ने सांख्यशास्त्र को सांख्यतन्त्र कहकर पुकारा है। काशिकावृत्ति (७ ६) में तन् शब्द की व्युत्पत्ति (विस्तार अर्थ में) औणादिक नियमानुसार ष्ट्रन् प्रत्यय लगाकर की गयी है। वाचस्पति, आनन्दगिरि और गोविन्दानन्द इसकी व्युत्पत्ति तन्त्र या तन्त्री धातु से व्युत्पन्न के अर्थ में मानते हैं। गणपाठ के अनुसार तन् और तन्त्री धातुओं का प्रयोग विस्तार के अर्थ में होता है।[1] विस्तारार्थक 'तन्' धातु से व्युत्पत्ति मानने से तन्त्र उस विद्या का नाम ठहरता है जो ज्ञान का विस्तार करती है—

तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्।

'त्र' का अर्थ रक्षा भी है। इस प्रकार इसका अर्थ धार्मिक विद्या भी है—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥[2]

तन् का एक अर्थ विश्वास करना भी है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार तन्त्र का अर्थ उपासकों के उन पवित्र शास्त्रों से है जिनमें देवी की पूजा की विधियों आदि का वर्णन किया गया है।[3] ये सभी अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार ठीक हैं। इन सभी अर्थों में व्युत्पत्तिगत अर्थ पर विचार कर लिया गया है पर व्यवहार में तन्त्र शब्द का अर्थ वेदों से भिन्न उन शास्त्रों से लिया जाता है जिनमें शक्तितत्त्व अथवा पुरुष व स्त्री शक्ति की पूजा का वर्णन हो। इनमें पुरुषशक्ति व स्त्रीशक्ति की एकता के द्वारा सिद्धि व मुक्ति प्राप्त करने की विधि वर्णित है। इन तन्त्रों में देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का वर्णन मिलता है। इनमें देवता विषयक मन्त्र मिलते हैं। उपासना के पाँचों अंग पटल, पद्धति, कवच, सहस्रनाम और स्तोत्र की व्यवस्था मिलती है।

इस प्रकार तन्त्र एक ऐसी पद्धति का नाम है जिसमें साधना की महत्ता है। यह न तो केवल उपासना है और न प्रार्थना ही है। इसमें साधना के द्वारा पुरुष और

---

१ शक्ति एण्ड शाक्ताज पृ० ५४
२ शक्ति एण्ड शाक्ताज, पृ० ५५
३ सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ० १
४ वही, पृ० २

प्रकृति मे एकता पदा करने का कार्य किया जाता है। यह काय शरीर स्थित शक्तियो को जगाकर ही किया जा सकता है। इसीलिए इस साधना पद्धति मे कुण्डलिनी को जगाने और षट्चक्र भेदन पर इतना अधिक बल दिया जाता है। तन्त्रो मे साधना के लिए मन्त्रो का विधान है। इन मन्त्रो की उत्पत्ति या सष्टि धरणिया से हुइ है। धरणी का अथ है जिसके द्वारा कुछ धारण किया जाय—ध्रियते अनया इति। इसके अक्षर रहस्यात्मक होते है और मनुष्य म धार्मिक बुद्धि जाग्रत करते हैं। साधारण व्यक्ति बौद्ध सिद्धान्ता की परिभाषाओ को याद नही रख सकते थे, उनके लिए उनके छोटे रूपवाली धरणिया बनायी गयी। धार्मिक व्यक्ति उन्हें बडी श्रद्धा के साथ याद करते थे। यह विश्वास किया जाता था कि इन धरणियो का पाठ उनके अन्दर अपार शक्ति पदा करने का सामथ्य रखता था। कालान्तर म जब धरणिया का कण्ठाग्र करना कठिन प्रतीत हाने लगा तो उनका भी सक्षेप किया गया। यह सक्षिप्त रूप 'मन्त्र' कहलाया। ये मन्त्र एकाक्षर हाते थे और इन अक्षरो का अपना विशेष महत्त्व हाता था। इन मन्त्रो के पहले 'ओम' और बाद मे 'स्वाहा' लगाकर उन्हे रक्षा, उपासना और सिद्धि का साधन मान लिया गया। इन मन्त्रो के साथ-साथ इनकी रेखात्मक अभिव्यक्तियाँ यन्त्र और कवच रूप मे प्रचलित हो गइ।

तान्त्रिक पद्धति का एक नाम अभिचार भी है। इसमे मारण (मारना), मोहन (आकषण), स्तम्भन (रोकना), विद्वेषण (शत्रुता), उच्चाटन (बाहर भेजना) और वशीकरण का प्रयोग होता था। इस पूजा पद्धति मे इन वस्तुओ का उल्लेख है—

(१) सुगन्धित द्रव्य (२) दीपक (३) शख (४) घटा (५) पुष्प (६) माला (७) तिल (८) यव-जौ (९) आसन (१०) ध्वजा (११) कलश (१२) वस्त्र (१३) आभूषण (१४) लाजा खील (१५) अक्षत—बिना उबला चावल (१६) अध्य और अजलि (१७) हास्य (१८) लास्य (१९) सगीत (२०) नत्य (२१) पचगव्य।[1]

प्रज्ञा और उपाय

इन दोनो शब्दो का प्रयाग इस सम्प्रदाय मे स्थान स्थान पर हुआ है। इनमे पहला नारी के प्रतीक के रूप म है और दूसरा पुरुष के प्रतीक रूप म। बौद्ध तन्त्र ग्रन्था मे प्रज्ञा का चित्रण भगवती देवी, मुद्रा (साधना मे स्वीकृत नारी) महाभद्रा, पचकाया या युवती या योनि के प्रतीक रूप म किया गया है। 'हे वज्र सत्त्व' म प्रज्ञा को जननी (माता) भगिनी, रजकी, नतकी, दुहिता, डोम्बी (डोम की लडकी) आदि कहा गया है। जननी कहे जाने का कारण यह है कि वह समस्त ससार को जन्म देती है, विभाग के कारण उसे भगिनी कहा है, रजकी इसलिए है कि वह सब को प्रसन्न करती है—रजनात् रजकी—, दुहिता, अपने म सब गुणा का समावेश

१ इण्ड्रो० ता० बुद्धि०, पृ० ८१

करने से, रूप या चरित्र के परिवर्तन के कारण नर्तकी, स्पर्श न की जा सकने के कारण डाम्बी कहलाती है।[1]

तन्त्र का उद्गम और प्रसार

तन्त्र का उद्गम कब हुआ इस विषय में बहुत से मत हैं। सादृश्य और सम्पर्क के सिद्धान्तों के अनुसार बहुत से विद्वान तन्त्र का अस्तित्व अथर्ववेद में भी मानते हैं।[2] श्री भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र का मत भी ऐसा ही है। उनके अनुसार जितना पुराना वेद है उतना ही तन्त्र है। तन्त्र की जनप्रियता का कारण उसका व्यावहारिक पक्ष है।[3] डा० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार ईसा के जन्म के आस-पास बौद्ध धर्म में तान्त्रिक सिद्धान्तों का समावेश हो गया था। एक अन्य विद्वान के अनुसार पाँचवीं या छठी शताब्दी (ईसवी-पश्चात्) में जब बौद्ध धर्म का ह्रास हो गया तो तान्त्रिक धर्म पुनः जीवित हो उठा था। श्री धर्मवीर भारती के अनुसार ४०० ई० सन् तक बौद्ध धर्म में पूजा विधान और मन्त्र विधान की प्रधानता हो चुकी थी और छठी शताब्दी तक बौद्ध धर्म की परिणति तान्त्रिक रूप में हो चुकी थी।[5] इन मतों की प्रामाणिकता की गहराई में गये बिना हमारे लिए इतना ही मान लेना पर्याप्त है कि हिन्दी के मध्यकाल में बहुत पूर्व समाज में तान्त्रिक साधना का प्रसार हो चुका था। हिन्दी के सभी कवियों पर यह प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, किसी-न-किसी ढंग से, अवश्य पड़ा है।

भक्तिकालीन साहित्य में सन्तनाम से अभिहित होने वाले कवि परम्परावाद में कम विश्वास रखते थे और सारग्राहिता में अधिक। परम्परावादिता में आग्रह न होने के कारण इन्होंने मुक्तहस्त होकर सब ओर से ग्रहण किया है अतः इनमें तान्त्रिक प्रभाव अधिक मात्रा में पाया जाता है। इन कवियों की अभिव्यंजना-पद्धति नाथपंथियों की अभिपद्धति है और इसका प्रभाव इनकी देव भावना पर भी पड़ा है। परम्परावादी हिन्दुओं का ब्रह्म या तो निर्गुण था या सगुण परन्तु कबीर, दादू आदि सन्तों के ब्रह्म और जीव की एकता के प्रतिपादन पर भी बहुत सीमा तक तान्त्रिक प्रभाव है। परम्परावादी वैष्णव कवि मुक्ति की अवस्था में भी जीव का स्वतन्त्र एवं पृथक अस्तित्व मानते हैं। परमात्मा के साथ क्रीड़ा में लीन होना ही उनकी भक्ति का लक्ष्य है और जीव के पृथक अस्तित्व को माने बिना यह लक्ष्य पूरा नहीं होता। इसके विपरीत सन्त मत के कवि शराब और पानी की तरह ब्रह्म और जीव के एका-

---

१ इण्टा० ता० बुद्धि० पृ० ११३ ४

२ सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव पृ० १२

३ धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० ५५

४ दि कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया पृ० ४८६

५ सिद्ध-साहित्य पृ० ११३

कार होने मे विश्वास रखते हैं। कबीर के शब्दो मे पानी से ही हिम होता है और पिघलकर वही फिर पानी हो जाता है, यही दशा भगवान और जीव की है। यही भाव व्यक्त करने के लिए उन्होंने स्वर्ण और उससे निर्मित आभूषण का उदाहरण दिया है। स्वर्ण और उससे बने आभूषण म कोई वास्तविक अन्तर नहीं। पिघला दिये जाने पर जिस प्रकार वह आभूषण फिर स्वर्ण ही बन जाता है उसी प्रकार जीव का विलीनीकरण परमात्मा मे हो जाता है। तान्त्रिक मत म भी उपासक को कहा गया है कि वह अपने म और ब्रह्म म ऐक्यभाव का ध्यान करे—

अहं देवी न चान्योऽस्मि, ब्रह्मैवाहं न शोकभाक।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥
गुरु नत्वा विधानेन, सोऽहमिति पुरोधसा।
ऐक्यं सभावयेत धीमान जीवस्य ब्रह्मणोऽपि च॥

यह तान्त्रिक प्रभाव देव भावना पर तो है ही, देव भावना के मार्ग पर भी है। भगवान् या ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जो नाद, बिन्दु, इडा पिंगला और सुषुम्णा, षट्चक्रभेदन और कुण्डलिनी चक्र की चर्चा इस मार्ग के कवियों ने की है वह भी तान्त्रिक प्रभाव ही है। गुरु रामानन्द से कबीर को—"रा रामाय नम" जो षडक्षर मन्त्र मिला था और परवर्ती काल म जो सम्पूर्ण सन्तमत मे समादृत मन्त्र के रूप स्वीकृत हुआ, वह भी तान्त्रिक परम्परा का प्रभाव है ऐसा बहुत से विद्वानो का मत है। इनका कथन है कि ओ३म् या प्रणव को हीन दिखाने के लिए रामाय नम के पूर्व रा जोड़ा गया है। कहा गया है कि ओ३म् प्रणव है तो रा प्रणवी है और रा मे ओ३म स्वत निहित है।[1] शक्ति जागरण मे ध्यान के समान मन्त्र-जप की परम्परा है।

तन्त्र पद्धति मे पचमकारो पर बडा बल दिया जाता है पर इन पचमकारो के गुह्य अर्थ भी हैं। वहा मदिरा मास, मत्स्य मुद्रा और मैथुन के प्रतीक गृहीत हुए हैं। सहस्रारचक्र से स्रवित होने वाला अमृत ही मदिरा है, द्वैतभाव मास है, इन्द्रिय चाचल्य मत्स्य है कुडलिनी शक्ति और परमशिव की एकता मैथुन है। इनके सेवन से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। कबीर ने भी इस पद्धति का आश्रय लिया है और वे गोमास भक्षण व मदिरापान का उपदेश देते दिखायी देते हैं। हा, यह अवश्य है कि जहाँ तान्त्रिको की शब्दावली म कामवासनापरक शब्दावली का प्रयोग अधिक हुआ है वहाँ सन्तो ने चारित्रिक दृढता पर बहुत बल दिया है। कुल मिलाकर सन्त मत पर बौद्ध मत तथा तान्त्रिक मत का इतना स्पष्ट प्रभाव है कि उससे आँखें बचा सकना सभव नहीं। श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने इस प्रभाव को इन शब्दो म स्वीकार किया है—

"सन्तमत एक वृक्ष के समान है जिसका मूल बौद्ध तथा शाक्तो म अवस्थित

---

१ सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ० २४४

है। इस वृक्ष का तना नाथसिद्ध मत है जो बौद्ध शैव परम्परा से पुष्ट हुआ है। इस तने के ऊपर सन्त मत की अनेक शाखाएं हैं अनेक पल्लव और पुष्प हैं। इस वृक्ष पर ऊपर से भक्ति की वर्षा होने से उसे एक नया जीवन मिला है। इस वृक्ष के फल के स्वाद में और तान्त्रिक साधना के आस्वादन में अन्तर का आना स्वाभाविक ही है, परन्तु इस स्वाद में अन्तर होने पर भी सादृश्य इतना अधिक है कि सन्त मत को मूलतः तान्त्रिक मत ही मानना पड़ता है।"[1]

वैष्णव या भक्त कवि शास्त्रीय परम्परा के अनुयायी थे। उन्होंने बार बार अपने मत को वेदों द्वारा प्रतिपादित होने की बात कही है। फिर भी उनके काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव पर्याप्त मात्रा में है। भक्त कवियों की युगल उपासना तान्त्रिक प्रभाव ही है। शैव प्रभाव के कारण संस्कृत-साहित्य में जो स्थान शिव और शक्ति का था, वही स्थान हिन्दी में तान्त्रिक प्रभाव के कारण सीताराम और राधाकृष्ण का हुआ। बौद्ध व हिन्दू दोनों ही तन्त्रों में युगल उपासना का प्राबल्य था। शक्ति और शक्तिमान—प्रकृति और पुरुष—की पूजा के लिए नारी और पुरुष की युगल उपासना प्रचलन थी। इन कवियों ने समाज से उस प्रभाव को यदि ग्रहण किया तो यह स्वाभाविक ही है। मर्यादावादी तुलसीदास ने भी अपनी आराध्या सीता को साक्षात शक्ति कहकर पुकारा है—

आदि सक्ति जेहि जग उपजाया। सोई अवतरिहि मोरि यह माया॥

नारद बचन सत्य सब करिहउँ। परम सक्ति समेत अवतरिहउ॥

तुलसीदास ने बालखण्ड के आरम्भ में सर्वश्रेयस्करी रामवल्लभा सीता को 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणी' और 'क्लेश हारिणी' कहकर उसके शक्ति रूप की ओर संकेत किया है। तान्त्रिक मत में जिस प्रकार शक्ति और शिव का अभिन्नत्व स्वीकार किया गया है उसी प्रकार तुलसी ने सीता और राम में अभिन्नत्व स्वीकार किया है—

गिरा अर्थ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥[2]

तन्त्र मत में जिस प्रकार शक्ति की मातृरूप में पूजा की जाती है बहुत-कुछ वैसी ही भावना तुलसी के इन शब्दों में दीख पड़ती है—

कबहुँक अम्ब अवसर पाइ।
मेरियौ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ।[3]

---

१ मध्य वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव पृ० २०६
२ रा० च० मा० बा० का० दोहा १८
३ विनयपत्रिका, पद ४१

तुलसीदास मर्यादावादी थे अत उन पर जो तान्त्रिक प्रभाव पडा वह शक्ति की स्वीकृति तक ही रहा उन्होने युगल की काम केलि का वणन नहीं किया। जहाँ तक रामभक्ति शाखा के रसिक सम्प्रदाय पर तान्त्रिक प्रभाव का प्रश्न है वह एकदम स्पष्ट है। डा० भगवतीसिंह के अनुसार इस सम्प्रदाय की प्रेरणा म तान्त्रिक सूत्रो का भी हाथ है।[1]

कृष्ण भक्ति शाखा म आरम्भ से ही माधुयभाव की उपासना है अत उसम युगल की काम केलि का वणन खुलकर किया गया है। इसम सभी गोपिया कृष्ण को पति रूप म भजती हैं और अपने को शक्ति रूप म। जिस प्रकार तान्त्रिक पद्धति म लौकिक प्रेम के वर्णन द्वारा अलौकिक प्रेम का वणन अभीष्ट है उसी प्रकार इस माग मे भी प्रेम का जो वणन लौकिक कामकला के रूप म हुआ है उसका लक्ष्य भी प्रेम के अलौकिक रूप को चित्रित करना है। इनके सभी वणन तान्त्रिक पद्धति से प्रभावित हैं, यह दिखाते हुए श्री विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने अपने विचारो का इन शब्दो म व्यक्त किया है—

चीर-हरण, गोदोहन कुजविहार, दधि दान तथा गाम्डी वप बनाकर राधा से मिलन आदि अवसरो पर भगवान् का जो कामकेलिमय रूप दिखायी पडता है, वह शक्ति-शक्तिमान के सिद्धान्त का ही प्रतिफल है। इन कवियो ने होली खेलन, हिंडोला झूलन तथा फूल मण्डली रचन आदि लोक उत्सवो का उपयोग भी उक्त सिद्धान्त का रूपायित करने म किया है। नाना मौलिक उद्भावनाओ द्वारा इस प्रकार उक्त सिद्धान्त को कवित्व के रूप म प्रस्तुत किया है।[2]

रही बात राधावल्लभ सम्प्रदाय की उसम तो यह प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट है। जिन लोगो के मत म राधा ह्लादिनी शक्ति है उनके अनुसार तो स्पष्टत ही यह तान्त्रिक प्रभाव है। बस भी इस मत मे कृष्ण की अपेक्षा राधा का जो इतना अधिक माहात्म्य प्रदर्शित किया गया है वह तान्त्रिक पद्धति के अनुसार है। वहाँ भी शक्ति ही सक्रिय है, वही गतिशील है और उसके बिना शिव शव के समान हैं। दोनो म अन्तर केवल इतना है कि तान्त्रिक मत म रति क्रिया का साक्षात्कार किया जाता है पर इस सम्प्रदाय म सखीभाव से लीला का दशन मात्र ही अभीष्ट है। श्री विश्वम्भर-नाथ उपाध्याय के शब्दो म कहा जा सकता है कि—

"राधावल्लभ सम्प्रदाय म वल्लभ मत से भी अधिक शक्ति व शक्तिमान की शृगारिक लीला का अद्भुत विस्तार मिलता है। आगमो का रति विधान भी इसके सम्मुख फीका पड जाता है। युगल-लीला म लौकिक प्रेम का ही दिव्य स्तरो पर वणन किया गया है। कृष्ण मे प्रेम की तृषा तथा राधा मे अनगकेलि की प्रमुखता मानकर

१ रामभक्ति म रसिक भावना, पृ० ६०

२ सन्त वष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव पृ० २७२ ७३

रति रहस्य का पूर्ण उद्घाटन इस सम्प्रदाय में किया गया है। रूपदर्शन, उरोजस्पर्श, परिरम्भण से लेकर विपरीत रति विवरण तक कामशास्त्र के सभी विधि विधान दिव्य लीला में स्वीकृत हैं। रसमय धाम की रसमय लीला का गुह्यतम रूप इस सम्प्रदाय में मिलता है। किन्तु सखीभाव से इस लीला का दर्शन किया जाता है, तान्त्रिकों की तरह स्वयं रतिक्रिया द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार यहाँ उद्देश्य नहीं है।'[1]

वज्रयान

इसे भलीभाँति समझने के लिए बौद्ध धर्म के इतिहास पर विहगम दृष्टिपात करना आवश्यक है। किसी भी धर्म का विकास जब शीघ्रता के साथ होता है और उसके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होने लगती है तो उन अनुयायियों में मूल विचार-धारा की व्यवस्था के सम्बन्ध में मतभेदों का होना स्वाभाविक ही है। बौद्ध धर्म के साथ भी यही हुआ। बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् हुई वैशाली की द्वितीय संगीति में वात्सीपुत्रीय (वज्जिपुत्रीय) भिक्षुओं ने आचार तथा अध्यात्म विषयक सिद्धान्तों के विरोध में अपना झंडा ऊंचा किया। उसी समय से बौद्ध संघ में दो वादों का जन्म हुआ। एक वे जो प्राचीन विषयों में किसी प्रकार का भी संशोधन करने को तैयार न थे और दूसरे वे जो आवश्यक संशोधनों के पक्ष में थे। इनमें पहले स्थविरवादी कहलाये और दूसरे महासंघिक। यह स्थविरवाद ही आगे चलकर हीनयान कहलाया और महासंघिक का परिवर्तित रूप महायान के नाम से अभिहित हुआ।

बौद्ध धर्म का विकास आगे भी होता रहा। महायान में धीरे धीरे मन्त्र-तन्त्र का समावेश हुआ। तान्त्रिक आचार्य नागार्जुन की गुह्यशिक्षाओं ने तन्त्र मन्त्र के प्रवेश को त्वरा प्रदान की। मन्त्र को समझने के लिए इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि मारण मोहन उच्चाटन आदि की शक्ति जिनमें हो उन्हें मन्त्र कहते हैं। मन्त्रों में और जादू-टोना में विश्वास उस समय खूब प्रचलित था। इनकी क्रियाएँ गुप्त रहती थीं। इस काल (छठी शती) तक आते आते बौद्ध धर्म ने काम की तृप्ति के लिए विशेष अभिप्राय से उसकी अनुमति भिक्षुओं और भिक्षुणियों को दे दी थी। उनके अनुसार मैथुन का प्रयोग 'सम्यक् संबुद्ध' वचन के लिए विहित था काम-तृप्ति करने का उद्देश्य न था। इसी विशेष अभिप्राय के लिए भैरवी और चक्र की सृष्टि हुई और उनकी आड में मैथुन का व्यापक प्रचार हो गया। धीरे धीरे इनमें गुह्य सिद्धियाँ भी *आ गयीं। बहुत से साधक अपने को लोकोत्तर सिद्ध करने के लिए* सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगे। मदिरा का उपयोग चल पड़ा। आगे चलकर इसी मन्त्रयान से वज्रयान की उत्पत्ति हुई जिसमें मद्य मन्त्र और हठयोग आदि को प्रमुखता मिली।

---

१ सन्त वैष्णव काव्य पर तान्त्रिक प्रभाव, पृ० २६०

वज्र दढता के प्रतीक के रूप म गहीत हुआ अत इस मत का नाम वज्रयान कहलाया। वज्रयान कोई नवीन मत नही अपितु मन्त्रयान का ही परिवर्तित रूप है। डा० धम वीर भारती ने यही मन इन शब्दो म व्यक्त किया है—

"वज्रयान मन्त्रयान का उत्तराधिकारी कोई नवीन तान्त्रिक सम्प्रदाय नही था केवल वज्र की नवीन कल्पना के आधार पर मन्त्रयान का नया नामकरण था और उसम कई नवीन तत्त्व जोड दिए गए थे जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध वज्र से था। किन्तु इस वज्र का प्रयोग सिद्ध,लोग शून्य के अथ मे करत थ। दढता अच्छेद्यता, अभेद्यता आदि वज्र के लक्षण शून्यता म हैं अत वही वज्र है। इसी शून्यता तथा नरात्म्य-दशन को वज्रयानियो ने वज्रयान की सज्ञा दी और उसी को प्राप्त करने के लिए माग को वज्रयान कहा। किन्तु यह वज्रयान महायान या मन्त्रयान से अलग नही था, केवल अनुत्तर सम्यक सबोधि को प्राप्त करने का वज्र प्रधान माग था।"[1]

बौद्ध धम निवत्ति प्रधान धम था। विश्व का दुखमय मानकर उसस दूर हट जाना, सन्यासी या भिक्षु बन जाना, ही उनकी दृष्टि म सर्वोत्तम माग था। इनके यहाँ शून्य की महत्ता थी और शून्य का अधिकाशत गहीत अथ निषेधात्मक था। पर वज्र यानियो ने इसकी व्याख्या प्रवत्तिपरक की। इस दृष्टिकोण के बदल जान स महान् परिवतन आ गया। वज्रयान के प्रवत्ति-परक होने से इसम सभी लौकिक धर्मो का समावेश हो गया। इन्ही बातो को लक्ष्य मे रखत हुए डा० धमवीर भारती ने एक स्थान पर कहा है—

"माध्यमिको ने जगत को शून्यता-स्वभाव का बताया है। इन्होंने शून्य को नकारात्मक और रहस्यात्मक न रखकर उसकी वज्रपरक व्याख्या की वज्र जो दढ है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, सुखदायक है। अत उसकी साधना केवल नकारात्मक साधना न रहकर सक्रिय, भोगमयी, सब प्रवत्तियो को सन्तुष्ट कर चलने वाली साधना हो गई। इस प्रकार शून्य को वज्र म बदलकर इन्होंने अपने धम को केवल त्याग और सयमपरक न बनाकर भोग और सुख से समन्वित कर दिया। निवत्तिमूलक धम न रहकर वज्रयान म बौद्ध धम प्रवत्तिमूलक बन गया।"[2]

प्रवत्तिपरक दृष्टिकोण हो जाने से निवत्तिवादिता के सभी बन्धन ढीले पड गये। अवरुद्ध जल प्रवाह के एकदम मुक्त हो जान स जैसे बाढ सी आ जाती है वसी ही कुछ स्थिति वज्रयान की हुई। उसम ऐन्द्रियता का अधिकाधिक समावेश होता गया। परिणामस्वरूप इसकी लोकप्रियता भी अधिकाधिक बढती गई। म० म० श्री हरप्रसाद शास्त्री ने 'आधुनिक बौद्ध धम की भूमिका' म इसी ओर सकेत करत हुए कहा है—

---

१ सिद्ध साहित्य, पृ० १४१

२ वही, पृ० १४४

मचत हैं। जब तक माता पिता का दिया हुआ धातुमय शरीर मिटा नहीं दिया जाता, तब तक नाथ पद तक पहुँचना असम्भव है।[1]

ईश्वर-सम्बन्धी मान्यता

जीव का उससे चाहे जैसा सम्बन्ध माना जाय, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसमें सम्मिलन ही कैवल्य या मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति किसी दूसरे लोक में होती है ऐसा वे नहीं मानते। इसी जन्म में इसकी अनुभूति करना इस मत का लक्ष्य है। योगासन नाडीज्ञान षट्चक्र निरूपण तथा प्राणायाम द्वारा समाधि की प्राप्ति ही इस पथ के मुख्य अंग हैं। शरीर शुद्धि के लिए धौति बस्ति नेति, त्राटक, नौली और कपालभाति इन षट्कर्मों पर बड़ा जोर दिया जाता है। इनके सतत अभ्यास से शरीर पर विजय मिलती है। इसके पश्चात् ब्रह्मचर्य द्वारा बिन्दु अर्थात् शुक्र को ऊर्ध्व-मुख किया जाता है। परमात्मा की प्राप्ति के लिए उर्ध्वरेता या ब्रह्मचारी होना अनिवार्य है। इस प्रकार प्रबुद्ध हुई कुण्डलिनी सहस्रारचक्र में स्थित शिव के साथ स्थित हो जाती है और योगी अपना परम प्राप्तव्य पा जाता है।

नाथपन्थी योगी अलख (अलक्ष्य) जगाते हुए कहते हैं "अलख खोल द कनक, देख ल भजन।" इसी शब्द से वे इष्टदेव का ध्यान करते हैं और यही कहकर मधुकरी माँगते हैं। नाथपन्थ के सबसे प्राचीन हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थ घेरण्ड संहिता', शिवसंहिता और हठयोगप्रदीपिका आदि हैं।[2]

इस मत में पुस्तकों की प्रामाणिकता नहीं दी जाती। शास्त्र शब्दों की अपेक्षा वे अनुभव में अधिक विश्वास करते हैं। तीर्थ व्रत रोजा और नमाज के साधक होने में उन्हें विश्वास नहीं। अगर मन शुद्ध है तो कहीं इधर उधर भटकने की जरूरत नहीं। गोरखनाथ का कहना है कि अगर मन चंगा है तो कठौती में गंगा है। गंगा के सेवन के जो फल बताये गये हैं वे मन के शुद्ध होने पर स्वयं मिल जाते हैं।[3] एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है कि सब तीर्थ घट के भीतर हैं हे भाई तुम कहाँ भटकते हो।[4] मनुष्यमात्र की एकता में उनका विश्वास है। मनुष्य मनुष्य बराबर हैं। हिन्दू मुस्लिम का भेद कृत्रिम है। योगी के लिए मन्दिर और मस्जिद में कोई भेद नहीं। गोरखनाथ का कथन है हिंदू देवालय में ध्यान करते हैं, मुसलमान मस्जिद में, किंतु योगी परमपद का ध्यान करते हैं। वहाँ न मंदिर है न मस्जिद।[5] एक अन्य स्थान

१ नाथ सम्प्रदाय पृ० १८६
२ नाथ सम्प्रदाय पृ० १८६ ८६
३ गोरखबानी (पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल) दोहा १५३
४ गोरखबानी (उपर्युक्त) सब्दी ६३
५ वही, सब्दी ६८,

पर परमात्मा के सर्वोपरि रूप को समझाते हुए उन्होंने इसी भाव का इन शब्दों में व्यक्त किया है। हिंदू कहते हैं कि वह राम है, मुसलमान कहते हैं कि वह खुदा है, किन्तु योगी जिस अलक्ष्य का आख्यान करते है, वहाँ न राम है न खुदा।[१]

मन की शुद्धि के बाद सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात आचरण की शुद्धि की है। अततोगत्वा शास्त्रों के अध्ययन और तज्जन्य ज्ञान का उद्देश्य चारित्रिक उन्नति है। यदि ज्ञान को चरित्र में नहीं ढाला जा सकता तो वह भार ही है। निरक्त में कहा गया है कि जो व्यक्ति जानता तो सब कुछ है पर उस पर अमल नहीं करता, वह उस गधे के समान है जिसकी पीठ पर ग्रन्थों का बोझ-ही-बोझ लदा है। मनुस्मृति में भी कहा गया है कि आचारहीन व्यक्ति को कोई भी पवित्र नहीं कर सकता। अकेला ज्ञान पगु है और जीवन की उन्नति करने में असमर्थ है। इसीलिए इस मत में कहनी और रहनी अर्थात कथनी और करनी में एकता पर बल दिया गया है। कहते सब हैं, करता कोई बिरला ही है। तुलसीदास ने भी—पर उपदेश कुसल बहुतेर—व्यक्तियों की चर्चा की है। गोरखनाथ ने यह भाव इस प्रकार व्यक्त किया है "कहना आसान है किन्तु उसके अनुसार रहना कठिन है। बिना रहनी के तो कथनी से कोई लाभ नहीं। वह तोतारटन्त है, अनुभवहीन पढ़ लिखे के हाथ में पोथी ही-पोथी रह जाती है। अन्त में वह काल का ग्रास बन जाता है।"[२]

सिद्ध साहित्य

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की देव भावना पर सिद्ध सम्प्रदाय का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है अतः उनके सिद्धान्तों के विषय में कुछ थोड़ा सा ज्ञान लेना आवश्यक है। यों तो एक साधारण रूप से ऐसे किसी भी व्यक्ति को सिद्ध कहा जा सकता है जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली हो पर फिर भी इस शब्द का प्रयोग सीमित अर्थों में ही होता था। जो शवयोगी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेते थे वे नाथ कहलाते थे और बौद्ध-तान्त्रिक परम्परा के उच्च साधक सिद्ध नाम से पुकारे जाते थे। हिन्दी साहित्य में ये दोनों शब्द इसी रूप में प्रयुक्त हुए हैं। डा० धर्मवीर भारती ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है। सिद्ध साधारण मानव न होकर अर्द्ध देवों की श्रेणी में माने जाते थे।[३] जन साधारण के विश्वास के अनुसार ये सिद्ध अतिप्राकृतिक शक्तियों से सम्पन्न होते थे और अजर तथा अमर होते थे। इन्हें अष्ट महासिद्धियाँ खड्ग अजन, पादलेप, अन्तर्धान रस रसायन, खेचर, भूधर और पाताल प्राप्त होती थीं और यक्षिणी तथा डाकिनी आदि शक्तियों के ये स्वामी होते थे। यद्यपि आदिसिद्ध कौन था, इस विषय

---

१ गोरखबानी, दा० १६३

२ गोरखबानी, प० १३३

३ सिद्ध साहित्य—पृ० २४

में इनमें पर्याप्त भेद हैं तथापि इनका ८४ होना प्रायः सर्वसम्मत है। हाँ, यह अवश्य है कि इन ८४ नामों में भी भेद हैं। किसी सम्प्रदाय में कुछ नाम हैं तो अन्य में कुछ और।

प्रवृत्ति की प्रधानता

यद्यपि ये सिद्ध अपने मूल रूप में बौद्ध ही थे पर कालान्तर में बहुत-सी बातों में बौद्ध धर्म से बहुत दूर जा पड़े थे। बौद्ध सम्प्रदाय संसार को दुःखमय मानता है और उसमें निवृत्ति या वैराग्य की प्रधानता है यह हम पीछे कह आये हैं। इन सिद्धों का उद्देश्य बौद्धों के निवृत्तिमूलक दुःखवाद के स्थान पर सुख, आनन्द और भोग की प्रतिष्ठा करना था। उनके अनुसार स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन अस्वास्थ्यकर था। कोरे दमन से विषय वासनाओं को दबाया जाना सम्भव नहीं। उनका विश्वास था कि स्वस्थ कामोपभोग के द्वारा ही जीवन को सामान्य बनाया जा सकता है। यही कारण है कि महामुद्रा के रूप में नारी की स्वीकृति इस सम्प्रदाय में विहित थी। यह कामोपभोग अनिष्टकारी हो सकता है ऐसा मानने वालों को समझाते हुए ही तिलोपा ने एक स्थान पर कहा है—जैसे विष का विधानपूर्वक उपयोग करने वाला फिर विष के प्रभाव से मुक्त हो जाता है उसी प्रकार भव का विधानपूर्वक उपभोग करने वाला फिर भव में लिप्त नहीं होता।[1] काँटे से काँटा जिस प्रकार निकाला जा सकता है और लोहे से लोहा जैसे काटा जा सकता है इस भाव को आदिदेव ने इन शब्दों में बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त किया है जैसे कान में जाकर कष्ट पहुँचाने वाला जल, जल के ही आघात से बाहर निकलता है जैसे काँटे से काँटा निकलता है उसी प्रकार राग से राग निवृत्ति या निराकरण होता है। जैसे धोबी कपड़ा का मैल छुड़ाने के लिए मैली सज्जी मिट्टी का ही प्रयोग करता है उसी प्रकार मन से विषयासक्ति दूर करने के लिए विषयों की ही साधना अनिवार्य है। जैसे लोहा पानी में डालने से डूब जाता है किन्तु वही लोहा वरन रूप में गठित होने पर जल फन बनकर यान के रूप में न केवल स्वयं तरता है वरन दूसरों को भी तार देता है उसी प्रकार प्रज्ञोपाय विधान से इस चित्त को पाशीकृत कर साधक भवभोग करता हुआ स्वयं भी मुक्त हो जाता है और दूसरों को भी मुक्त करता है। जैसे अग्नि दाहक होती है किन्तु स्नेह से सिक्त होकर वर्तिका में प्रतिष्ठित होकर वह निष्कम्प दीप शिखा के समान तिमिर का नाश करती है उसी प्रकार राग भी संस्कृत होकर ज्योति विकीर्ण करता है, अन्धकार का नाश करता है।[2]

---

१ सिद्ध साहित्य पृ० २३३

२ वही, पृ० २३३

जगत् की स्थिति

इस सम्प्रदाय म जगत म अस्तित्व की स्वीकृति नही है। यह जगत् मानव के चित्त का प्रक्षेपण मात्र है, यह उसकी अपनी कल्पना स निर्मित है। जसे कोई स्वय निर्मित चित्र को देखकर डर उठे, उसी तरह नासमझ व्यक्ति अपनी ही कल्पना से निर्मित इस ससार स डरने लगते हैं। इस जगत को भ्रममात्र बताते हुए भुसकुपा ने अपने एक पद म कहा है---'इस जगत् का आदि अन्त नहीं है, अत इस भ्रान्ति जानो। जो रस्सी म साँप देखकर डरता है उसे यह भय खा जाता है। इस हाथ म स्थित लवणवत जानकर आश्चय मत करो। यदि इसी प्रकार इस जगत का ज्ञान लोग तो तुम्हारी वासना का क्षय हो जायगा। यह ससार मरु-मरीचिका है गन्धव नगरी है। दपण म पडने वाले प्रतिबिम्ब क समान है। वन्ध्यासुत जस क्रीडा करे वसे ही यह ससार है, बालुका स नि सृत तल की भाँति, शश शृग की भाँति, आकाश पुष्प की भाँति।'[1]

चित्त का महत्त्व

इनके यहाँ चित्त का महत्त्व अत्यधिक है। इनके अनुसार सब कुछ चित्त ही का प्रसार है। जिसने चित्त को पहचान लिया उसने सब-कुछ जान लिया। ससार की सापेक्षता म इस चित्त के दो रूप माने गय हैं (१) बद्ध और (२) मुक्त। जब अपने ही सकल्पो द्वारा निर्मित इस ससार रूपी मोहजाल म मन आबद्ध रहता है तब तक उसे परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति नही होती क्योकि वह अपने स्वभाव को भूला रहता है। इस प्रकार यह बद्धचित्त ही सारे बन्धनो का कारण है। इसीलिए इनके यहाँ चित्त के मुक्त रूप को पहचानने पर इतना अधिक बल दिया गया है। यह मुक्त रूप ही चित्त का वास्तविक रूप है जिसे पहचानने पर इन सिद्धो ने इतना बल दिया है। सरहपा ने समझाते हुए कहा है—"हे मूर्ख! अपने को जान। ध्यान ध्येय, धारणा, जप से क्या होता है? जब तक तू अपने और पर (ससार) म भेद मानता है तब तक तुझे अनुत्तर की प्राप्ति भला कस होगी? तू अपने चित्त के द्वारा ही अपने को जान।"[2] यह मन जब अपने स्वरूप को पहचान लेता है तो इसकी सभी प्रकार की आसक्तियाँ छूट जाती हैं। यह निश्चल एव शान्त हो जाता है। इस तरह यह स्वय तो प्रकाशमान हो ही जाता है साथ ही दूसरो को भी प्रकाशित करता है। सच्चा सिद्ध वही है जो अपने को ही सवत्र व्याप्त देखता है। मैं ही जगत हूँ, तीनो भुवन मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं। सभी दृश्यमान जगत म मैं ही व्याप्त हूँ, ऐसा जानने वाला निश्चय ही सिद्ध हो जाता है।[3]

---

१ सिद्ध-साहित्य, पृ० १६६
२ वही पृ० १३६
३ वही, पृ० १७०

निर्वाण का रूप

मुक्त चित्त ही निर्वाण है अन्य बुद्ध नहीं, ऐसा इन सिद्धों का मत है। मुक्त चित्त भ्रान्ति और मोह-जाल से छुटकारा पाकर जब अपने निर्लिप्त स्वभाव को प्राप्त कर लेता है तब वह निर्वाण या मोक्ष में अधिष्ठित हो जाता है। मन की निर्लिप्त स्थिति ही निर्वाण की स्थिति है। कण्हपा ने इसी भाव को इन शब्दों में स्वीकार किया है जो चित्त स्थिति निश्चय है निर्विकल्प है निर्विकार है उदयास्त रहित है ऐसी स्थिति को निर्वाण कहते हैं जिसमें चित्त कुछ भी नहीं करता है।[1]

मन की यह निर्लिप्त अवस्था ही निर्वाण का स्वरूप है। ऐसा अन्य बहुत-से विद्वानों का मत है 'यह क्लेशों का अभावस्वरूप तथा कषायों का नाश-स्वरूप है। दीपक के निर्वाण के समान ही यह भी निर्वाण है। इसमें धर्मों का अनुत्पाद रहता है। इस पद पर पहुँचकर साधक उस आश्रय की प्राप्ति करता है जिसमें न कोई क्लेश हो और न कोई नवीन धर्म की प्राप्ति हो— निर्विषया चित्तसन्तति सौत्रान्तिका मुक्तिमाहु।"

इन सिद्धों की एक विशेषता यह भी है कि इन्होंने जीवन को सहजरूप में देखने का आग्रह किया। आगे चलकर जो सहज शब्द इतना अधिक प्रचलित हुआ और इसकी जो विविध व्याख्याएँ सामने आयीं उन्हें प्रचलित करने का श्रेय इन्हीं को है। इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में पूर्व प्रचलित मार्गों की अपेक्षा यह मार्ग सहज भी रहा। एकदम सस्ता न हो जाय और लोग इसे महत्त्वहीन हो न समझ बैठें शायद इस भावना ने धीरे धीरे इस सम्प्रदाय ने भी कठिन साधनाओं को प्रश्रय देना शुरू किया। इन सिद्धों ने सभी प्रकार के पाखण्डों का विरोध कर अधिक-से-अधिक सरल और सहज रूप में उसे प्रस्तुत किया था।

इस चित्त को स्वच्छ रखने के लिए इस पर पड़े मल के आवरण को दूर करने के लिए गुरु और योग पर अत्यधिक बल दिया गया है। तान्त्रिक क्रियाएँ और दुरूह योग की साधना गुरु के बिना सम्भव नहीं।

इनके सिद्धान्तों के इस संक्षिप्त वर्णन के बाद इतना कह देना आवश्यक है कि यद्यपि कामोपभोग की आज्ञा इनके यहाँ एक निश्चित उद्देश्य से ही दी गयी थी और स्वतन्त्र रूप से कामोपासना का इन्होंने निषेध किया है तो भी कामोपासना कामुकता का रूप ले चुकी थी इसमें सन्देह नहीं। प्रज्ञापारमिताओं के सम्पादक श्री राजेन्द्रलाल मित्र तथा बौद्धतन्त्रों पर सर्वप्रथम विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करने वाले डा० विनयतोष भट्टाचार्य दोनों ही इन बौद्ध तान्त्रिक आचार्यों की साधनाओं को विकृत रागग्रस्त अस्वस्थ और पतनोन्मुखी बताते हैं श्रीअरविन्द प्रभृति विद्वानों ने इन सिद्धान्तों में गहन आध्यात्मिकता स्वीकार करते हुए भी यह स्वीकार किया है कि कालान्तर में

१ भारतीय दर्शन पृ० १६२

म इनमे ऐसे बहुत से तत्व आकर जुड गये थे जिनके कारण अनियन्त्रित कामाचार, असयत सामाजिक व्यभिचार, दुराचार का मानो एक पन्थ ही चल गया।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत भी कुछ इसी प्रकार का है।[2] इनके परवर्ती कबीर आदि साधको ने नारी की जो इतनी निन्दा की है उसका कारण सिद्ध-साधको द्वारा प्रवर्तित कामुकता के प्रश्रय को रोकने की तीव्र इच्छा ही थी। कबीर के ही कथन से यह भी पता लगता है कि बहुत से सिद्धो को माया बडी प्यारी थी।

सभी सम्प्रदायों की सीमा—भारतीय देव भावना का शाश्वत रूप और उसकी प्रमुख विशेषताएँ।

हमने इससे पूर्व जिन देशो की देव भावना का विवरण दिया है उमस यह स्पष्ट है कि वहाँ की देव भावना और यहा की देव भावना म पर्याप्त सादृश्य है। अवेस्ता और वेद के अदभुत साम्य के विषय मे तो कुछ कहना ही व्यथ है। यह साम्य सब विदित है। न केवल इन दोनो की देव भावना ही एक-दूसरे के निकट है अपितु भाषा मे भी अदभुत साम्य है। उसके विषय मे अपनी ओर से कुछ न कहकर श्री एच० डी० ग्रिसवाल्ड के शब्दो म इतना ही कहेंगे कि इनम से एक का दूसरे की व्याख्या कहा जा सकता है—

As a matter of fact Veda and Avesta are so closely related that each is a good commentary on the other ?"[3]

अथात तथ्य यह है कि वेद और अवेस्ता एक दूसरे के साथ इतने घनिष्ठ रूप से सबद्ध हैं कि एक को दूसरे की व्याख्या मात्र कहा जा सकता है।

जिस प्रकार यहाँ आकाश, पृथ्वी और वायु स्थानीय देवता मिलते हैं वसे ही ही यूनान आदि देशो मे मिलत हैं। यदि हमारे यहा पुरुष और स्त्री देवता हैं तो अन्य देशा मे भी दोना ही प्रकार के देवता हैं। जिस प्रकार अन्य देशो म सौन्दय, कला और सगीत के देवता हैं उसी प्रकार हमारे यहाँ भी हैं। सरस्वती विद्या की अधिष्ठात्री देवी है तो लक्ष्मी सम्पत्ति की। जिस प्रकार हमारे यहा नतिकता के रक्षक वरुण हैं युद्ध के देवता इन्द्र हैं उसी प्रकार अन्य देशा के देवता हैं। हमारे यहाँ महादेव का त्रिशूल है तो यूनान मे पासिडान का शस्त्र त्रिशूलाकार है। यूनान म आर्टेमिस देवी के रथ म शेर जुतते थ और वह जगली जानवरो की अधिष्ठात्री देवी थी तो हमारे यहाँ चण्डी का वाहन शेर है और रुद्र तथा शिव का पशुओ के साथ विशेष सम्बन्ध है। हमारे देश के देवो से मिलते जुलते देव अन्य देशा म भी आसानी से ढूढे जा सकते हैं।

---

१ सिद्ध साहित्य, पृ० ७५

२ हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १३

३ The Religious Quest of India, P 20

क्रीट के धर्म में और भारत के धर्म में बहुत बातों में आश्चर्यजनक साम्य पाया जाता है। क्रीट निवासी भी उसी प्रकार धार्मिक थे जिस प्रकार भारतीय थे। वहाँ पर्वतों, गुफाओं, नागों और वृक्षों की पूजा होती थी। सूर्य और चन्द्रमा भी पूजा के अधिकारी थे। बकरी, साँप और वृषभ की पूजा भी वहाँ होती थी। वहाँ प्रार्थना और बलि की प्रथा थी। धूपबत्ती जलाना और शंख बजाना भी वहाँ प्रचलित था।

To appease the deties the Cretan uses a lavish rite of Prayer and scarifice symbol and ceremony administered u ually by women priests sometimes by the officials of the state to ward off demons he burnsincense he arouses a negligent divinity he sourds the counch plays the flute or the lyre and signs in chorus hymns of adoration[1]

अर्थात् देवताओं को प्रसन्न करने के लिए क्रीट निवासी बहुमूल्य-साध्य—खर्चीला और भड़कीला—प्रार्थना, बलि और प्रतीक विधि विधान किया करते थे। ये विधि विधान कभी स्त्री-पुरोहितों द्वारा हुआ करते थे और कभी राज्य के अधिकारियों द्वारा। दुरात्माओं को दूर भगाने के लिए क्रीट निवासी धूपबत्ती जलाता था, कभी असावधान (लापरवाह) देवता को जगाता था, कभी शंख और बाँसुरी बजाता था और कभी कभी वहाँ देवताओं के सम्मानार्थ सामूहिक गान भी हुआ करते थे।

मिस्र में भी सबसे पुराना देवता सूर्य है जैसा कि भारत में था। जिस प्रकार वहाँ पशु रूप में और अर्द्ध पशु—अर्द्ध मानव के रूप में भगवान के अवतारों की पूजा होती थी, उसी प्रकार बेबीलोनिया और असीरिया, साइप्रस में भी होती थी।[2] मिस्र में भी किसी-न-किसी रूप में शक्ति की पूजा प्रचलित थी।

इन सब देवताओं का स्वभाव भी प्रायः एक-सा है। जिस प्रकार मनुष्य एक दूसरे की सहायता करते हैं उसी तरह देवता भी करते हैं। भारत में वरुण सूर्य का मार्ग तैयार करता है, सूर्य मानवों के सम्बन्ध में मित्र और वरुण को सूचना देता है, अग्नि इन्द्र की सहायता करता है। और इन्द्र अग्नि की जिह्वा से सोम का पान करता है। मरुत सैनिक रूप में इन्द्र की सहायता करते हैं, त्वष्टा इन्द्र के वज्र का निर्माण करता है और बृहस्पति के कुल्हाड़े को तेज करता है, विष्णु वृत्र से युद्ध करते हुए इन्द्र की सहायता करता है। दूसरे देशों के देवता भी परस्पर एक-दूसरे की सहायता करते हैं। ये देवता भारत में जिस प्रकार मर्त्य नारियों के साथ नियोग कर सन्तानोत्पत्ति किया

---

१ लाइफ आफ ग्रीस, पृ० १४

२ वही, पृ० १३

करते थे उसी प्रकार दूसरे देशो म भी ये देवता मानवियो के साथ ववाहिक सम्बध स्थापित किया करते थे ।

ऐसी स्थिति म स्वभावत प्रश्न उठता है कि क्या उन देशो की दव भावना ने यहाँ की देव-भावना को प्रभावित नही किया है ? यदि किया है तो किस सीमा तक ? प्रश्न सचमुच जटिल है । इनम कौनसी सम्यता प्राचीनतम है यह कह सकना सरल नही है । यह विषय स्वतत्र रूप से शाध का विषय बन सकता है । प्रत्यक दश अपनी सम्यता के प्राचीन हान का दावा करता है । जहाँ तक अय देव भावनाओ द्वारा भारतीय देव भावना के प्रभावित हान का प्रश्न है, इस पर बाहरी प्रभाव कही नही दीख पडता । वदिक साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान आलोचक श्री ए० बी० कीथ ने इस प्रश्न पर सविस्तार विवेचन किया है । ऋग्वदकालीन देव भावना पर अय राष्ट्रो और विशेषत बेबीलोनिया की सस्कृति या देव वाद का प्रभाव पडा है या नही, इस प्रश्न को उठाकर उन्होंने इसका उत्तर नकारात्मक दिया है । उनका कहना है कि ऋग्वेद और परवर्ती साहित्य मे इस तरह का एक भी प्रमाण उपलब्ध नही होता जिससे किसी दवता के उधार लेने या उस पर विदेशी प्रभाव के सकत मिलते हो—

In the case of Rigved and the later Vedic Taxts no such ins tance of borrowing is hinted at, and no case is known in which the similarity of name even suggests that a God has been taken over from another people[1]

अर्थात ऋग्वेद तथा अय वेद ग्रथो मे उधार लेने का सकेत मात्र भी नहीं मिलता । वहाँ कोई ऐसी भी घटना नही मिलती जिसमे नाम के साम्य के आधार पर भी यह पता लगता हो कि एक भी देवता किसी दूसरी जाति से लिया गया है ।

ईरान ने यहाँ की देव भावना को कहा तक प्रभावित किया है, इसकी चर्चा करते हुए उन्होने कहा है कि यद्यपि अग्नि-पूजा म, असुर शब्द के अथ के विकास और एकाध अय स्थल पर कुछ सादृश्य दीख पडता है तथापि इसे किसी प्रकार का निकट सम्बध मानना भ्रान्तिपूण हागा—

No specially close relation to Iran can be definitely traced in this period, though the fire cult may have been influenced by that of Iran, and Iranian influence can be seen in the development of the meaning af Asura, and in the names of individual Asuras as in the reference to incestuous union in the Aitraiya Brahman[2]

भाव यह है कि यद्यपि अग्नि-पूजा म ईरान का प्रभाव सभव हो सकता है,

---

१ रि० फि० वेद० उप०, प० १३

२ वही, पृ० २६

असुर शब्द के अर्थ विकास मे भी इस प्रभाव की सभावना है। असुरो के व्यक्तिगत नामो म भी यह सभावना है जसा कि ऐतरेय ब्राह्मण म आये हुए समानगोत्र म मैथुन-सबध रखने वाले मिथुन (जोडा) के प्रकरण मे पर फिर भी इस काल म ईरान के साथ किसी घनिष्ठ सबध का नहीं ढूढा जा सकता।

कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो मिस्र और सुमेरिया की सस्कृति का भारतीय सस्कृति से प्राचीन मानते हैं। उनका कहना है कि अपनी इस प्राचीनता के कारण मिस्र न भारतीय देव भावना को प्रभावित किया है। दोना म जा साम्य दीख पडता है वह इसी कारण है। इस विषय म इतना ही कह देना पर्याप्त है कि मिस्र की सस्कृति को प्राचीनतर मानने की धारणा अब भ्रात मानी जान लगी है। इस विषय म बहुत से मत न उद्ध त कर हम श्री सावलिया बिहारीमल का ही मत उद्ध त करना पर्याप्त समझत हैं—

कतिपय विद्वाना का यह भी मत है कि आय-सम्यता मिश्र निवासियो और सुमेरियना की देन है। किंतु तुलनात्मक दृष्टि से दखने पर यह प्रमाणित हागा कि हिंदू सम्यता मिस्र और सुमेरियनो की सम्यता से भी पुरानी है। सिधु-सम्यता म बला द्वारा गाडी खीची जाती थी किन्तु सुमरिया म गदहा द्वारा। वर्छे भाले या त्रिशूल की तुलना स पता चलता है कि सुमेरियना का बर्छा अधिक सुन्दर और सुनिर्मित था। इन सब बातो स भी सिधु-सम्यता पुरानी जान पडती है। मोहनजादडो म खुदाई के बाद दवालय या मदिर नहीं मिल किन्तु मिस्र, सुमरिया बबीलोन, यूनान आदि देशा म हम मन्दिर अधिक सख्या म पाते है। इसस भी स्पष्ट है कि इन सब देशो की सम्यता सिधु सम्यता के बाद की है।[1]

इसी प्रश्न की विवचना करते हुए उन्हाने आगे कहा है कि ईस्वी-पूव १४वी शती म यहा के देवता दूसर देशा द्वारा गृहीत हो चुके थे—ह्यूगो विक्लर ने १६०७ ई० म एशिया माइनर के बागज नामक स्थान म खत्ती राज्य सम्ब धी कुछ इटें खोद निकाली थी। इन पर मितनी जातिया के बीच युद्ध-समाप्ति के फलस्वरूप हुई सधि का उल्लेख है। सधि म साक्षी रूप से चार वदिक देवताआ के नाम आय है। जस—मित्र, अरुण इद्र नासत्य। ये नाम अवेस्ता के नामा क साथ पूणतया नहीं मिलत। किन्तु ऋग्वद म आय हुए नामो क अक्षरश अनुकूल हैं। इसस यह निष्कष निकलता है कि ऋग्वेद बनन क बहुत काल बाद आर्यों की एक शाखा उत्तर पश्चिम की ओर निकल गई और वहाँ उसन विजातिया क बीच अपन दवताओ की पूजा प्रचलित की।

वह विश्व की प्राचीनतम देव भावनाआ म स एक है। कालक्रम क स्वाभाविक रूप म उसने सम्भवत अप्रत्यक्ष रूप से थाडा-बहुत वाह्य प्रभाव ग्रहण किया हा, पर उसने कहीं कुछ प्रत्यक्ष रूप स लिया है इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। वस भी

१ विश्व धम-दशन पृ० ६

उसकी देव भावना का अपना एक विशेष क्रम है। कुछ विशेष सम्प्रदायों को छोड़कर सभी सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए वेदों को मूल स्रोत के रूप मे स्वीकार करते हैं। इनमे पग पग पर वेदों की दुहाई है। अपने प्रत्येक सिद्धान्त को वेदानुकूल सिद्ध करने का यह आग्रह दुराग्रह तक भले ही पहुँच गया हो तो भी इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस देश मे अवदिक सिद्धान्तों को मान्यता कम ही मिली है।

शिव और गणेश अनार्य देवता अवश्य हैं पर अभारतीय नही। वे यहीं की उपज हैं और बाद मे वदिक देवताओं म उनका अन्तर्भाव हो गया है। लिंग पूजा भी वेद बाह्य तो है, पर वह भी अभारतीय नही। आर्यों के भारत मे आगमन से पूर्व यह सिन्धु घाटी मे प्रचलित थी। जब वदिक आर्यों का इन वदिकेतर जातियों के साथ सम्पर्क हुआ तो यह लिंग पूजा इन वदिक आर्यों म भी आ गई। ईसाई मत की देन के प्रकरण मे हम कह आए हैं कि कृष्ण क्राइस्ट के रूपान्तर नही और उनकी पूजा पर ईसाई मत का कोई प्रभाव नही। आभीर जाति भी अभारतीय नहीं। वे लोग यहीं के निवासी हैं अत बालकृष्ण की पूजा भी अभारतीय नही कही जा सकती। कान्ताभाव से भगवान की आराधना भी इस्लाम धर्म की देन नही कही जा सकती इसकी चर्चा पीछे सविस्तार हो चुकी है। प्रपत्ति के बीज वेदों और उपनिषदों म हैं तथा गीता मे भगवान ने स्वयं अपने मुखारविन्द से अर्जुन को सर्वतोभावेन शरण मे आने का उपदेश दिया है, यह भी पीछे कहा जा चुका है। रही बात वज्रयान, सिद्ध परम्परा और नाथ सम्प्रदाय की, उन पर पड़े हुए अवदिक प्रभाव का स्वीकार करते हुए भी उन्हे भारतीय ही कहा जायगा। जन और बौद्ध धर्म की जड़ें भारतीय भूमि म ही हैं और इनसे निकले सम्प्रदाय विशाल भारतीय वृक्ष की अनेक शाखाओं प्रशाखाओं के समान उसके ही अंग हैं, उससे भिन्न नही।

जहा तक सादृश्य का प्रश्न है, हम समझते हैं कि ज्ञान पर किसी एक ही देश का अधिकार नहीं होता। ज्ञान के प्रकाश की किरणें भगवान भुवन भास्कर की किरणों के समान सभी स्थानों पर अपना प्रसार करती हैं। जब कभी आध्यात्मिकता की लहर फली थी तो उससे कोई भी देश अछूता नही रहा था। आज यदि भौतिकता परक विचारधारा का प्राबल्य है तो उसस भी समस्त विश्व एक साथ प्रभावित हुआ है। यही कारण है कि सभी देशों की संस्कृतियों म कुछ सर्वसामान्य तत्त्वों के दर्शन समान रूप से होते हैं। किसी समय देव भावना की भागीरथी ने विश्व के सभी किनारों को समान रूप से स्पर्श किया था।

भारतीय देव-भावना की कुछ प्रमुख विशेषताएं-ईश्वरवाद

इसका अर्थ है कि विश्व म जो कुछ दीख पड़ता है वह ईश्वर का ही रूप है उसस पृथक कुछ नही। भगवान कृष्ण ने इसी भाव को समझाते हुए अर्जुन से कहा है

असुर शब्द के अर्थ विकास में भी इस प्रभाव की सभावना है। असुरो के व्यक्तिगत नामो में भी यह सभावना है जैसा कि एतरेय ब्राह्मण में आये हुए समानगोत्र में मैथुन-सबध रखने वाले मिथुन (जोडा) के प्रकरण में पर फिर भी इस काल में ईरान के साथ किसी घनिष्ठ सबध को नहीं ढूढा जा सकता।

कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो मिस्र और सुमरिया की सस्कृति को भारतीय सस्कृति से प्राचीन मानते हैं। उनका कहना है कि अपनी इस प्राचीनता के कारण मिस्र ने भारतीय देव भावना को प्रभावित किया है। दोनो में जो साम्य दीख पडता है वह इसी कारण है। इस विषय में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि मिस्र की सस्कृति को प्राचीनतर मानने की धारणा अब भ्रात मानी जाने लगी है। इस विषय में बहुत से मत न उद्धृत कर हम श्री सावलिया बिहारीलाल का ही मत उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं—

कतिपय विद्वानो का यह भी मत है कि आर्य-सभ्यता मिश्र निवासियो और सुमरियनो की देन है। किंतु तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह प्रमाणित होगा कि हिन्दू सभ्यता मिस्र और सुमरियनो की सभ्यता से भी पुरानी है। सिन्धु-सभ्यता में बैलों द्वारा गाडी खीची जाती थी किन्तु सुमरिया में गदहा द्वारा। वर्छे भाल या त्रिशूल की तुलना से पता चलता है कि सुमरियनो का वर्छा अधिक सुन्दर और सुनिर्मित था। इन सब बातों से भी सिन्धु-सभ्यता पुरानी जान पडती है। मोहनजोदडो में खुदाई के बाद देवालय या मन्दिर नहीं मिले किन्तु मिस्र, सुमरिया बबीलोन, यूनान आदि देशों में हम मन्दिर अधिक सख्या में पाते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि इन सब देशो की सभ्यता सिन्धु सभ्यता के बाद की है।[1]

इसी प्रश्न की विवेचना करते हुए उन्होंने आगे कहा है कि ईस्वी-पूर्व १४वी शती में यहा के देवता दूसरे देशो द्वारा गृहीत हो चुके थे—ह्यूगो विकलर ने १९०७ ई० में एशिया माइनर के बोगज नामक स्थान में खत्ती राज्य-सम्बन्धी कुछ इटें खोद निकाली थी। इन पर मितन्नी जातियो के बीच युद्ध-समाप्ति के फलस्वरूप हुई सधि का उल्लेख है। सधि में साक्षी रूप से चार वैदिक देवताओ के नाम आये हैं। जैसे—मित्र अरुण इन्द्र नासत्य। ये नाम अवस्ता के नामो के साथ पूर्णतया नहीं मिलते। किन्तु ऋग्वेद में आये हुए नामो के अक्षरश अनुकूल हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वेद बनने के बहुत काल बाद आर्यों की एक शाखा उत्तर पश्चिम की ओर निकल गई और वहा उसने विजातियो के बीच अपने देवताओ की पूजा प्रचलित की।

वह विश्व की प्राचीनतम देव भावनाओ में से एक है। कालक्रम के स्वाभाविक रूप में उसने सम्भवत अप्रत्यक्ष रूप से थोडा-बहुत बाह्य प्रभाव ग्रहण किया हो, पर उसने कहीं कुछ प्रत्यक्ष रूप से लिया है इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। वैसे भी

१ विश्व धर्म-दर्शन, पृ० ६

उसकी देव भावना का अपना एक विशेष क्रम है। कुछ विशेष सम्प्रदायों को छोड़कर सभी सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए वेदों को मूल स्रोत के रूप में स्वीकार करते हैं। इनमें पग-पग पर वेदों की दुहाई है। अपने प्रत्येक सिद्धान्त को वेदानुकूल सिद्ध करने का यह आग्रह दुराग्रह तक भले ही पहुँच गया हो तो भी इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इस देश में अवैदिक सिद्धान्तों को मान्यता कम ही मिली है।

शिव और गणेश अनार्य देवता अवश्य हैं पर अभारतीय नहीं। वे यहीं की उपज हैं और बाद में वैदिक देवताओं में उनका अन्तर्भाव हो गया है। लिंग पूजा भी वेद बाह्य तो है, पर वह भी अभारतीय नहीं। आर्यों के भारत में आगमन से पूर्व यह सिन्धु घाटी में प्रचलित थी। जब वैदिक आर्यों का इन वैदिकेतर जातियों के साथ सम्पर्क हुआ तो यह लिंग-पूजा इन वैदिक आर्यों में भी आ गई। ईसाई मत की देन के प्रकरण में हम कह आए हैं कि कृष्ण क्राइस्ट के रूपान्तर नहीं और उनकी पूजा पर ईसाई मत का कोई प्रभाव नहीं। आभीर जाति भी अभारतीय नहीं। वे लोग यहीं के निवासी हैं अतः बालकृष्ण की पूजा भी अभारतीय नहीं कही जा सकती। कान्ताभाव से भगवान की आराधना भी इस्लाम धर्म की देन नहीं कही जा सकती, इसकी चर्चा पीछे सविस्तार हो चुकी है। प्रपत्ति के बीज वेदों और उपनिषदों में हैं तथा गीता में भगवान् ने स्वयं अपने मुखारविन्द से अर्जुन को सर्वतोभावेन शरण में आने का उपदेश दिया है यह भी पीछे कहा जा चुका है। रही बात वज्रयान सिद्ध परम्परा और नाथ-सम्प्रदाय की, उन पर पड़े हुए अवैदिक प्रभाव का स्वीकार करते हुए भी उन्हें भारतीय ही कहा जायगा। जैन और बौद्ध धर्म की जड़ें भारतीय भूमि में ही हैं और इनसे निकले सम्प्रदाय विशाल भारतीय वृक्ष की अनेक शाखाओं प्रशाखाओं के समान उसके ही अंग हैं उससे भिन्न नहीं।

जहाँ तक सादृश्य का प्रश्न है, हम समझते हैं कि ज्ञान पर किसी एक ही देश का अधिकार नहीं होता। ज्ञान के प्रकाश की किरणें भगवान भुवन भास्कर की किरणों के समान सभी स्थानों पर अपना प्रसार करती हैं। जब कभी आध्यात्मिकता की लहर फैली थी तो उससे कोई भी देश अछूता नहीं रहा था। आज यदि भौतिकता परक विचारधारा का प्राबल्य है तो उससे भी समस्त विश्व एक साथ प्रभावित हुआ है। यही कारण है कि सभी देशों की संस्कृतियों में कुछ सर्वसामान्य तत्वों के दर्शन समान रूप से होते हैं। किसी समय देव भावना की भागीरथी ने विश्व के सभी किनारों का समान रूप से स्पर्श किया था।

भारतीय देव-भावना की कुछ प्रमुख विशेषताएँ ईश्वरवाद

इसका अर्थ है कि विश्व में जो कुछ दीख पड़ता है वह ईश्वर का ही रूप है, उससे पृथक कुछ नहीं। भगवान कृष्ण ने इसी भाव को समझाते हुए अर्जुन से कहा है

कि जल में मैं रस हूँ सूर्य और चन्द्रमा में मैं प्रभा हूँ और पृथ्वी में मैं गन्ध हूँ। अग्नि में तेज हूँ सब प्राणियों में मैं जीव हूँ—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥[1]

विभिन्न उदाहरणों द्वारा अपनी बात स्पष्ट कर चुकने के बाद वे कहते हैं कि मेरे सिवाय संसार में अन्य कुछ नहीं है। जिस प्रकार धागे में मणियाँ पिरोयी हुई होती हैं उसी प्रकार यह निखिल विश्व मुझमें ही समाया हुआ है—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥[2]

इसलिए कोई मानव चाहे जिस देवता की पूजा करता रहे अन्त में उसकी पूजा भगवान को ही पहुँच जाती है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥[3]

सारा पानी बहकर अन्तत समुद्र में ही चला जाता है। जब उस एक के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं तब जिस विधि से जिस देव की पूजा क्यों न करो वह उसी तक पहुँच जायगी। जायसी में यह ईश्वरवाद मिलता है यद्यपि उनकी रचनाओं में मुस्लिम एकेश्वरवाद का भी प्रभाव है—

आपुहि आप जो देखै चहा। आपनी प्रभुता आप सों कहा।
सबै जगत दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन आपुहि देखा।
आपुहि बन और आपु पखेरू आपुहि सौजा आप अहेरू।
आपुहि पुहुप फूलि बन फूलै आपुहि भँवर बास रस भूलै।
आपुहि घट घट महँ मुख चाहै आपुहि आपन रूप सराहै।
दरपन बालक हाथ मुख देखै दूसर गनै।
तस भा दुइ इक साथ मुहम्मद एकै जानिये।

अद्वैतवाद

ईश्वरवाद की स्थिति से भारत अद्वैतवाद की स्थिति तक पहुँचा। आरम्भ में जगत को ईश्वर की सत्ता से प्रभावित मानकर धीरे धीरे उसने जगत को क्रम परब्रह्म के रूप में ही देखना आरम्भ कर दिया। इस बात में प्रकृति और जीव की पृथक सत्ता का लोप हो जाता है। इसके अनुसार जो कुछ दीख पड़ता है वह वास्तव में

१ गीता ७।८
२ वही ७।७
३ वही ९।२३

प्रतिबिम्ब मात्र है। वस्तुत न तो कोई दृष्ट है और न द्रष्टा। सब स्थानों पर एक ही तत्त्व रमा हुआ है। भारतीय दशन म अधिकाश मे यह अद्वत ही मान्य है और यह अद्वत विशुद्ध रूप से भारतीय देन है।

कबीर को यह अद्वत मान्य है। उनके अनुसार ब्रह्म ही से सब कुछ बना है और उसी मे विलीन हो जाता है। यह सब वही है, उससे भिन्न नही। पानी जमकर हिम हो जाता है और पिघल कर पानी बन जाता है। मूलत उसका रूप वही है, यह अन्तर तो वसे ही दीख पडता है—

पानी ही से हिम भया, हिम ह्व गया विलाय।
जो कुछ था साई भया, अब कुछ कहा न जाय ॥

इसी भाव का उन्होने जल और कुम्भ के दृष्टात से भी समझाया है। जिस प्रकार जल म कुम्भ है और कुम्भ म जल है। बाहर भी पानी है और भीतर भी पानी है। उसी प्रकार ब्रह्म अन्दर भी है बाहर भी है, वही सब कुछ है—

जल म कुम्भ कुम्भ मे जल है बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ कियौ गियानी ॥

असल म जितने रूप दिखायी देते हैं उनम वही है। वही अपने विभिन्न रूपो से खेल रहा है—

इनमे आप आप सबहिन म, आप आप सू खेल।
नाना भाति घडे सब भाडे रूप धर धरि मेल ॥

सूरदास के अनुसार सब कुछ भगवान ही है और जीव भी उससे पृथक नही। उसके ही अश हैं—

सकल तत्त्व ब्रह्माड देव पुनि, माया सब बिधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अश गुपाल ॥

तुलसी को भी भगवान का अद्वत रूप ही पसन्द है। व भगवान से प्राथना करते हैं कि किसी प्रकार वे द्वत रूप तम कूप मे बाहर निकल सकें—

द्वत रूप तम-कूप परौं नहि अस कछु जतन बिचारि।

उनका कहना है कि यद्यपि यह ससार मिथ्या है पर भगवान की माया के कारण सत्य प्रतीत हाता है। जिस प्रकार स्वप्न म किसी को अनेक प्रकार के रोग हो जायें और वद्य के यत्न करन पर भी उनका दूर होना सम्भव न दीखता हा तो वे रोग जागते ही दूर हा जात है, इसी प्रकार माया के हटते ही जीव को अपने स्वरूप का बाध हो जाता है—

जदपि मषा सत्य भास जब लगि नहि कृपा तुम्हारी।

सपन व्याधि बिबिध बाधा जनु मृत्यु उपस्थित आई।
बद अनेक उपाय कर जागे बिनु पीर न जाई ॥

हिन्दी के भक्ति-काल के आरम्भ में या उससे कुछ काल पूर्व जिन विशिष्टाद्वैतवाद आदि मतों की स्थापना हुई उनमें अद्वैतवाद का एकदम प्रत्याख्यान नहीं हुआ। भक्ति के लिए जितने द्वैत की आवश्यकता थी उसे स्वीकार कर लिया गया। यही कारण है कि तुलसी में यदि विशिष्टाद्वैतवाद भी मान लिया जाय तो भी कोई अन्तर न होगा।

अध्यात्मवाद

इसका साधारण और सरल अर्थ है भौतिक शरीर से परे आत्मा की नित्य सत्ता में विश्वास। आत्मा की नित्यता में विश्वास रखने के कारण अध्यात्मवादी साधक इन लौकिक सुखों में न फँसकर परलोक की चिन्ता में ही निरत रहता है। इसमें इस लोक का प्रत्याख्यान तो नहीं है पर इस लोक के मुकाबले में परलोक की प्रमुखता अवश्य है। इस प्रकार के साधक की दृष्टि प्रत्यक्ष जगत को तो देखती ही है कुछ और आगे भी देखती है। यह अध्यात्मवाद दूसरी संस्कृतियों में एकदम न हो, यह बात नहीं। किसी मात्रा में यह वहाँ भी है पर हमारे यहाँ तो अध्यात्मवाद का प्रभाव बहुत अधिक है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि हमारे साहित्य में पवित्र भावनाओं और जीवन-सम्बन्धी गहन तथा गम्भीर विचारों की प्रचुरता दीख पड़ती है। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य तक में यह बात पायी जाती है। कबीर, सूर, तुलसी और जायसी में जो ब्रह्म, जीव और आत्मा का साहित्यिक और दार्शनिक विवेचन मिलता है उसका कारण यही है।

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि हमारे साहित्य में उच्च शृंगार के दर्शन ही नहीं होते। सूर और तुलसी में राधा और सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया गया है। सूर में तो नख से लेकर शिख तक नारी के सभी अंगों पर बहुत सुन्दर और अनूठी उपमाएँ तथा उत्प्रेक्षाएँ देखने को मिलती हैं। कबीर और जायसी में मिलन और वियोग-सम्बन्धी ऐसी मर्मस्पर्शिनी उक्तियाँ हैं कि लौकिक शृंगार के वर्णन में उससे अधिक कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रहती। पर इतना होते हुए भी उसमें कहीं अश्लीलता नहीं, कामुकता को स्थान नहीं। बीच-बीच में ये कवि ऐसे संकेत करते चलते हैं कि पाठक उस रस में सिक्त होकर भी भौतिक धरातल से ऊपर उठा रहता है। कबीर जब मिलन के लिए घूँघट उठाने की बात कहते हैं, प्रिय से एकान्त में मिलने की इच्छा व्यक्त करते हैं— का जाना वा पीव सों कस रहनी रंग।' जायसी बारहमासा-वर्णन में कहीं-कहीं शृंगार की सीमा पार करते दीख पड़ते हैं, सूर रास के वर्णन में कृष्ण की विचित्र विचित्र लीलाओं का वर्णन करते हैं तब उसमें वासना की गंध न आने का कारण यह अध्यात्मवाद ही है।

विरति या वैराग्य

प्रवृत्ति और निवृत्ति की दो धाराएँ समानान्तर रूप से बहती आ रही हैं। वैदिक युग मे प्रवृत्ति की प्रधानता थी। जीवन म आनन्द की बहुलता थी। वहाँ ईश्वर से सौ वर्ष तक देखने और सुनने तथा जीने की प्रार्थना की गयी है। पर कालान्तर मे ससार को अनित्य समझने की भावना बलवती होती गयी। उपनिषदो मे सासारिक पदार्थों को तुच्छ कहा गया है। बौद्ध धर्म के आगमन के साथ विरति की भावना और प्रबल हो गयी। बौद्ध धर्म ससार को दु खमय बताता है। उसके अनुसार दु ख से निवृत्ति का उपाय ससार का त्याग है। उनके यहा भिक्षु बनकर ही निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। स्वभावत सब वस्तुओ को क्षणिक और बन्धना का मूल मानने के कारण निवृत्ति की भावना भारतीय जीवन का अग बन गयी थी। भारतीय देव भावना मे निवृत्ति का यह पक्ष बहुत प्रबल है। यहा सासारिक जीवन के प्रति कोई लगाव नही। उसकी स्थिति तो यहाँ काँटा पर पडी उस आस की बूद के समान है जो क्षण भर बाद ही लुढक जायेगी या प्रभातकालीन उन तारा की सी है जो सूर्य के प्रकाशित होन ही छिप जायेंगे।

आप किसी भी कवि की रचना को ले लें, विरति का यह भाव कही-न-कही अवश्य दीख पडेगा। कबीर ने "पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात" कहकर मानव-जीवन की क्षणिकता की ओर सकेत किया है। काल को अग म उनका कहना है कि मनुष्य काल के मुख का चबना है और वह झूठे सुख को सुख समझ कर मन म फूला नही समाता। उनका यह भी कहना है कि काल रूपी बाज मानव रूपी चिडिया पर किसी भी समय झपट्टा मार कर उसे समाप्त कर सकता है।[1] सूरदास म भी वैराग्य की यह भावना पायी जाती है उनका कहना है कि मनुष्य इस शरीर को पाकर धन-यौवन के नशे म चूर हुआ गर्व से भर जाता है। अपने को बडा समझ कर वह किसी से सीधे मुह बात भी नही करता। न ध्यान म मन लगाता है और न पूजा करता है। किसी को बडा मानने म वह हेठी समझता है। चचला लक्ष्मी को पाकर टेढा मेढा चलता है। जब वृद्धावस्था आती है तब इतराना बन्द हो जाता है, उसके मुख से राल टपकनी है। वाणी स स्पष्ट नही बाला जाता कमर झुक गयी है और सीधा नही चला जाता है। यदि यौवन म ही इन बाता का ध्यान किया हाता तो कितना अच्छा था। खर, जब भी समझ आ जाय तो अच्छा ही है। शरीर का अभिमान गया किसी को अपने से बडा माना, नयी बुद्धि आयी।[2]

तुलसी के अनुसार भी भगवान की प्राप्ति के लिए विरति की भावना आवश्यक है। उनका कहना है कि दु ख रूप गहस्थ आश्रम म फँस और काम क्रोध मद एव लोभ म रत व्यक्ति रघुवीर को कसे जान सकते हैं ?

---

१ क० ग्र० पृ० ७१ ७२

२ सूरसागर, पद ३०८ और ३६६

काम क्रोध मद लोभ रत गहासक्त दुख रूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ परे तम-कूप ॥[1]

उन्होने यह भी कहा है कि मोह को काटने के लिए दो ही साधन हैं— ज्ञान और विराग। यह मोह उन्ही को सताता है जिनके हृदय में ज्ञान और (विरति) नही है—

सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ज्ञान बिराग हृदय नहिं जाके ॥[2]

जायसी भी इसी मार्ग के पथिक हैं। जब रतनसेन के हृदय मे पदमावती का अनुराग जाग्रत हो जाता है और नागमती उसे घर न छोडने के लिए अनुरोध करती है तो रतनसेन ससार की अनित्यता की बात कहकर उसके अनुरोध को टाल देता है।

अवतारवाद

वैदिक काल की देव भावना के प्रकरण में हम कह आये हैं कि वेदों में मानवीकरण की प्रक्रिया के होते हुए भी देव को निराकार ही माना गया है। वेदों की मान्यता का निषेध करने वाले या उसे किसी तरह का चैलेंज देने वाले सुधारक हमारे देश में कम ही हुए हैं। और इस प्रकार वेदों में वर्णित निराकार की भावना किसी-न किसी रूप में चलती ही रही है। पर ब्राह्मण काल में ही अवतारवाद की भूमिका आसानी से ढूंढी जा सकती है। वहाँ विष्णु के जिन तीन पदों की चर्चा है उसे आधार बना कर साकार भावना लगातार बलवती होती गयी। यह बीज अनुकूल धरती पाकर जब एक बार पल्लवित और पुष्प हो गया तो अवतारवाद की धारा ऐसी वेगवती हो उठी कि निराकार का पक्ष दब सा गया। पुराणों में और तदनन्तर हिन्दी साहित्य में अवतारवाद की प्रतिष्ठा एकदम स्पष्ट है। इस अवतारवाद का प्रभाव इतना अधिक व्यापक था कि इसका खंडन करने वाले कबीर नानक दादू और रैदास भी इससे एकदम अछूते नहीं रह सके। पंचम अध्याय में निर्गुण मत पर साकार रूप या पौराणिक प्रभाव की चर्चा में इस विषय पर पर्याप्त उदाहरण दिये गये हैं।

अवतारवाद का अर्थ है कि इस सृष्टि का निर्माता अव्यक्त और अगोचर रह कर सचालन नहीं करता। जब कभी आवश्यकता होती है भू पर असुरों का भार बढ़ता है या भक्तो पर विपत्ति आती है तो भगवान स्वयं इस भू पर अवतरित होते हैं। वह ऐसे कृपालु हैं कि भक्त पर भीड पडते ही वह नंगे पैर दौडे चले आते हैं। प्रह्लाद की रक्षा के लिए उन्होंने नृसिंह का रूप धारण किया था, द्रौपदी का चीर हरण होते देखकर उन्होंने उसके चीर को अनन्त कर दिया था और गज को ग्राह के मुह मे फसा देख वह गरुड को छोड दौडे चले आये थे। इस प्रकार के सहस्रश उदाहरण साहित्य

---

१ रामचरितमानस उत्तरकांड पृ० ११००
२ वही, बालकांड पृ० १४२

मे से आसानी से ढूढे जा सकते है । भक्तो के समीप रहने के लिए उन्होने इसी भू पर अपने लोक स्थापित कर लिये हैं और उनमे वे इतने रम गये है कि अब इस लोक को छोडकर जाना उन्हे पसन्द नही। अपने इस रूप मे अवतारवाद इसी देव भावना की विशेषता है । अन्य देशो की देव भावना मे ईश्वर दूर रहकर ही सृष्टि का सचालन करता है । जब कभी उसे बहुत करुणा आती है तब वह अपने सदेश-वाहक को भेज देता है। ईसाइयो मे ईसामसीह ईश्वर के परम प्रिय पुत्र हैं, स्वय ईश्वर नही । इस्लाम मे भी हजरत मुहम्मद की स्थिति यही है। यह ठीक है कि श्रद्धातिरेक के कारण उनकी जो स्तुति की गयी है वह उन्हे अतिमानवीय पद तक पहुँचा देती है पर फिर भी सिद्धान्त रूप से उनके यहा एक अल्लाह के सिवाय किसी अन्य की आराधना कुफ्र हैं । षष्ठ अध्याय मे 'अन्य देवी देवता' प्रकरण मे हमने इस पर सविस्तार विवेचन किया है । इसके विपरीत भारतीय साहित्य मे ईश्वर के अवतार को शास्त्रानुमोदित सिद्ध करने के लिए अधिक प्रयत्न किये गये हैं । भारतीय देव भावना मे राम, कृष्ण और शिव साक्षात भगवान् हैं । यह अवतार मानवाकार तो होते ही हैं, कभी-कभी पशु और अर्द्ध पशु मानव के रूप मे भी उनका अवतार होता है । आरभ मे इन अवतारो की सख्या दस थी । और अन्त मे २४ तक पहुच गई । २३ अवतार हो चुके हैं और कल्कि रूप मे अभी एक अवतार का होना शेष है ।

प्रपत्तिवाद

अभी हम यह दिखा आये हैं कि प्रपत्ति अर्थात सर्वतोभावेन भगवान की शरण मे जाना भारतीय देव भावना की अपनी विशेषता है । इसके बीज वेदो मे और उपनिषदो मे विद्यमान हैं । गीता मे यह भावना एकदम स्पष्ट है । आलवार सन्तो मे यह भावना विद्यमान है । वास्तविकता तो यह है कि प्रपत्ति की यह सरिता कभी मन्दगति से तो कभी तीव्र गति से, भारतीय जीवन को आप्लावित करती रही है । कबीर मे प्रपत्ति की यह भावना पूरी तरह विद्यमान है । जिस ज्ञान की उन्होने इतनी प्रशसा की है वह भी राम-ज्ञान के सामने झूठा है व्यर्थ है—

> बेद न जानू भेद न जानूं, जानूं एकहि रामा ।[1]

बात यह है कि ज्ञान हो या तप हो इनकी महत्ता साधन भर की है, इससे अधिक कुछ नही —

> झूठ जप तप झूठा ज्ञान, राम नाम बिन झूठा ध्यान ।[2]

कबीर का विश्वास है कि जीव तो अल्पशक्तिवान है वह कर ही क्या सकता है ? जो कुछ जीव करता है वह सब ईश्वर की कृपा के द्वारा ही ।

---

१ कबीर ग्रथावली, पद १२२
२ वही, पद २५२

ना कुछ किया न करि सक्या, ना करणें जाग सरीर ।
जा कुछ किया सु हरि क्या, तायें भया कबीर कबीर ॥[1]

उनका यह भी कहना है कि प्राणी के करन स कुछ नहीं हाता । जा होना हाता है वह उसक किय बिना भी हो जाता है—

साईं सू सब हात है, बद थ कुछ नाहिं ।
राई थें परवत कर परवत राई माहिं ॥[2]

जायसी का भी विश्वास है कि जीव को सुख की प्राप्ति प्रभु की कृपा से ही होती है । कोई चाह जितना बडा हा चाह जितना छाटा हा भला तो उसी का होता है जिस पर प्रभु की कृपा हा—

का रानी का चेरी कोई । जा कह भया करहु भलि सोई ॥

आदमी यों तो सहारे के लिए इधर-उधर सभी स्थाना पर हाथ फलाता है, लोभ का चश्मा लगा लेन पर उसे छोट-स छोटा भी बडा ही दिखायी देता है । पर सहारा तो भगवान् ही है । जब व्यक्ति चारा ओर स निराश हा जाता है ता अन्त में उसी की शरण म जान स काम बनता है । चित्तौड का व्यापारी ब्राह्मण सब ओर से एकाकी होकर प्रभु की ही शरण म जाकर विपत्तिया स बचता है—

साथ चला सत बिचला भय बिच समुद पहार ।
आस निरासा हौं फिरौं तू बिधि दहि अधार ॥[3]

सूरदास म ता प्रपत्ति की भावना सर्वविदित है । उन्हाने ता स्पष्ट घाषणा की है कि जो आदमी अपन पुरुषाथ म विश्वास रखता है वह महामूख है हाना ता वही है जा राम को पसन्द है—

करी गापाल के हाई ।
जा अपनो पुरुषारथ मानत अति झूठा है सोई ॥

बडे-बडे ऋषि मुनि तपस्या करत-करत थक गय पर उनका किया कुछ नहीं हुआ । सूरदास का विश्वास है कि जो प्रभु न रच दिया है वही हागा । फिर सोच करके मरने से क्या लाभ है—

होन सा जा रघुनाथ ठट ।
पचि पचि रहे सिद्ध साधक मुनि तऊ न बढ न घटे ।

---

१ कबीर-ग्रथावली दाहा (१) पृ० ६१
२ वही पृ० ६२ दोहा १२
३ पद्मावत बनिजारा खड, दा० २

सूरदास प्रभु रचि सु ह्व है, का करि सोच मर ॥[1]

तुलसी का भी विश्वास है कि भगवान की माया दुस्तर है, कोई कितने भी उपाय क्यो न करे भगवान की कृपा के बिना इससे छुटकारा नही होता। ज्ञान, वैराग्य भक्ति, ये अनेक साधन है पर हरि कृपा के बिना कुछ नहीं बनता—

माधव अस तुम्हारि यह माया !
करि उपाय पचिमरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया ॥

ग्यान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाही।
तुलसिदास हरि कृपा मिटे भ्रम, यह भरोस मन माही ॥[2]

साध्य और साधन में अभेद

आरम्भ मे भारतीय मनीषा का लक्ष्य मोक्ष, निर्माण या स्वग की प्राप्ति थी। यज्ञ और तप का लक्ष्य इही म से एक था। भक्ति ता परलोक बनाने या सुधारन का साधनन भर थी पर बाद म वह साधन न रहकर साध्य बन गयी। इन कविया और भक्ता ने स्वग-अपवग सब-कुछ छोडकर अपने आराध्य देवता के चरणा म स्थान पाना ही अपना साध्य बना लिया। सभवत इसी से प्रभावित हाकर इसी पथ्वी पर साकेत और गोलोक की सत्ता स्वीकृत की गयी। आप चाहे जिस कवि को ले लीजिये, भक्त का लक्ष्य भक्ति ही दीख पडेगी। यहा यदि कोई अभिलाषा है तो अनन्यता की, अपने आराध्य से एकाकार हो जाने की। साध्य और साधन का यह अभेद भारतीय देव भावना की बडी भारी विशेषता है।

समन्वयवाद

भारतीय जीवन और देव भावना की यह सवप्रमुख विशेषता है। वैदिक काल से मुगलों तक के इस दीघकाल म यहा अनक जातिया आयी, उनके साथ उनकी सभ्यताएँ भी आयी पर यहाँ क विशाल जन-जीवन म मिलकर वे एक हो गयीं। एकीकरण की यह प्रक्रिया विचारा के एस स्वाभाविक आदान प्रदान के सिद्धान्त पर हुई कि उनके घुल मिलकर एक हो जाने की बात भी सामान्य जन की दष्टि से ओझल हो गयी। ये बातें हिन्दू धर्म के अविभाज्य अग के रूप म स्वीकृत हा गयी और यही कारण है कि इतिहास का साधारण विद्यार्थी इन्हे वदिक समझ कर सतुष्ट हो जाता है। विचारो

---

१ सूरसागर पद, २६३ (स्कन्ध १)
२ विनयपत्रिका, पद ११६

ना कुछ किया न करि सक्या ना करणें जाग सरीर।
जा कुछ किया सु हरि किया, तार्थें भया कबीर कबीर ॥[१]

उनका यह भी कहना है कि प्राणी के करने से कुछ नहीं होता। जो होना होता है वह उसके किये बिना भी हो जाता है—

माईं सूं सब होत है बंदे थैं कुछ नांहि।
राईं थैं परवत करै परवत राई मांहि ॥[२]

जायसी का भी विश्वास है कि जीव का मुख की प्राप्ति प्रभु की कृपा से ही होती है। कोइ चाहे जितना बड़ा हो चाहे जितना छोटा हो भला तो उसी का होता है जिस पर प्रभु की कृपा हो—

का रानी का चेरी कोई। जा कहँ भया करहु भलि सोई ॥

आदमी या तो सहारे के लिए इधर-उधर सभी स्थानों पर हाथ फैलाता है, लोभ का चश्मा लगा लेने पर उसे छोटे से छोटा भी बड़ा ही दिखायी देता है। पर सहारा तो भगवान ही है। जब व्यक्ति चारों ओर से निराश हो जाता है तो अन्त में उसी की शरण में जाने से काम बनता है। चित्तौड़ का व्यापारी ब्राह्मण सब ओर से एकाकी होकर प्रभु की ही शरण में जाकर विपत्तियों से बचता है—

साथ चला सब बिचला भय बिच समुद पहार।
आस निरासा हौं फिरौं तू बिधि देहि अधार ॥[३]

सूरदास में तो प्रपत्ति की भावना सर्वविदित है। उन्होंने तो स्पष्ट घोषणा की है कि जो आदमी अपने पुरुषार्थ में विश्वास रखता है वह महामूर्ख है, होता तो वही है जो राम को पसन्द है—

करी गोपाल की होई।
जो अपनो पुरुषारथ मानत अति झूठो है सोई ॥

बड़े-बड़े ऋषि मुनि तपस्या करते-करते थक गये पर उनका किया कुछ नहीं हुआ। सूरदास का विश्वास है कि जो प्रभु ने रच दिया है वही होगा। फिर सोच करके मरने से क्या लाभ है—

होनी सो जो रघुनाथ ठटै।
पचि पचि रहे सिद्ध साधक मुनि तऊ न बढ़ै न घटै।

१ कबीर-ग्रंथावली दोहा (१) पृ० ६१
२ वही पृ० ६२ दोहा १२
३ पद्मावत बनिजारा खंड, दो० २

सूरदास प्रभु रचि सु ह्व है, को करि सोच मर ॥[1]

तुलसी का भी विश्वास है कि भगवान की माया दुस्तर है, कोई कितने भी उपाय क्यो न करे भगवान की कृपा के बिना इससे छुटकारा नही होता। ज्ञान, वराग्य भक्ति, ये अनेक साधन हैं पर हरि कृपा के बिना कुछ नही बनता—

माधव अस तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचिमरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया ॥

ग्यान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाही।
तुलसिदास हरि कृपा मिटे भ्रम, यह भरोस मन माही ॥[2]

साध्य और साधन में अभेद

आरम्भ म भारतीय मनीषा का लक्ष्य मोक्ष, निर्माण या स्वग की प्राप्ति थी। यज्ञ और तप का लक्ष्य इन्ही म से एक था। भक्ति तो परलोक बनाने या सुधारने का साधनन भर थी, पर बाद म वह साधन न रहकर साध्य बन गयी। इन कवियो और भक्ता ने स्वग-अपवग सब कुछ छोडकर अपने आराध्य देवता के चरणा म स्थान पाना ही अपना साध्य बना लिया। सभवत इसी से प्रभावित होकर इसी पथ्वी पर साकेत और गोलोक की सत्ता स्वीकृत की गयी। आप चाहे जिस कवि को ले लीजिये, भक्त का लक्ष्य भक्ति ही दीख पडेगी। यहाँ यदि कोई अभिलाषा है तो अनन्यता की, अपने आराध्य से एकाकार हो जाने की। साध्य और साधन का यह अभेद भारतीय देव भावना की बडी भारी विशेषता है।

समन्वयवाद

भारतीय जीवन और देव भावना की यह सवप्रमुख विशेषता है। वदिक काल से मुगलो तक के इस दीघकाल म यहा अनक जातिया आयी, उनके साथ उनकी सभ्यताएँ भी आयी पर यहाँ के विशाल जन-जीवन म मिलकर वे एक हो गयी। एकीकरण की यह प्रक्रिया विचारो के एसे स्वाभाविक आदान प्रदान के सिद्धान्त पर हुई कि उनके घुल मिलकर एक हो जाने की बात भी सामान्य जन की दष्टि से ओझल हो गयी। ये बातें हिन्दू धर्म के अविभाज्य अग के रूप म स्वीकृत हो गयी और यही कारण है कि इतिहास का साधारण विद्यार्थी इन्हे वदिक समझ कर सतुष्ट हो जाता है। विचारो

---

१ सूरसागर पद, २६३ (स्कन्ध १)
२ विनयपत्रिका, पद ११६

की अनेकता में एकता ढूंढना ही समन्वयवाद है। वर्तमान हिन्दू धर्म वैदिक वैदिकेतर धर्मों का मिश्रित रूप है। इसे सभी समान रूप से स्वीकार करते हैं। समन्वय की इस प्रक्रिया ने जिस प्रकार सामाजिक जीवन में वर्णाश्रम की व्यवस्था चलायी उसी प्रकार देव भावना के क्षेत्र में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों में समन्वय स्थापित किया।

वेदों में ज्ञान है, उपासना है और आयुर्वेद में कर्म-काण्ड (यज्ञ की प्रक्रिया) है इसके साथ ही वेदों में भक्ति की भावना भी है। ब्राह्मणग्रन्थों में कर्मकाण्ड की बहुलता है। इन ग्रन्थों का निर्माण ही कर्मकाण्ड की व्याख्या के उद्देश्य से हुआ है। उपनिषदों में कर्मकाण्ड की इस बहुलता के प्रति विद्रोह है उसकी प्रतिक्रिया है। साथ ही श्वेता श्वतरोपनिषद् में भक्ति की भावना एकदम स्पष्ट रूप में है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म, भक्ति तीनों धाराएँ समानान्तर रूप से प्रभावित होती दीख पड़ती है। गीता में इन तीनों का समन्वय है। ज्ञानपूर्वक कर्म करने और तदनन्तर उन कर्मों का भगवदर्पण करने के आदेश का अर्थ तीनों में एकीकरण का प्रयास है। भगवान ने किसी एक का खण्डन किये बिना तीनों में अविरोध उपस्थित किया है।

पुराणों में भक्ति का स्वर कुछ ऊँचा है इसमें सन्देह नहीं, पर वहाँ भी ज्ञान और कर्म का एकदम प्रत्याख्यान नहीं। कबीर में तो ज्ञान और भक्ति का अद्भुत समन्वय है। *उनमें जिस कर्मकाण्ड का खण्डन है वह प्रदर्शनकारी कर्मकाण्ड का खण्डन* है। अज्ञानपूर्ण और केवल प्रदर्शन के लिए किये जाने वाले कर्मों के खण्डन का अभिप्राय वास्तविक कर्मों का खण्डन नहीं। कबीर स्वयं जीवन भर कर्म करते रहे अपने पैतृक व्यवसाय में निरत रहे। उनमें हम ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय ही पाते हैं। सूर इत्यादि अष्टछाप के अनुयायियों में ज्ञान का खण्डन अवश्य मिलता है और उसका उद्देश्य भी भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना है पर स्वयं सूर की रचनाओं में ज्ञान की महत्ता के कुछ उदाहरण आसानी से ढूंढे जा सकते हैं—

सूरदास तबही तम नासै ज्ञान अगिनि भर फूटै ॥

× × ×

सूर मिटै अज्ञान मूरछा ज्ञान सुभेषज खाये ॥

जहाँ तक तुलसीदास का प्रश्न है उनके काव्य को आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी-जैसे विद्वानों ने समन्वय की विराट चेष्टा के नाम से अभिहित किया है। उनके आराध्य देव राम में ही सब गुणों का समन्वय है। इसीलिए तुलसी ने ज्ञान, कर्म और भक्ति के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी समन्वय का सफल प्रयास किया है।

किसी काल विशेष में या किसी कवि विशेष की रचना में ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों में से किसी एक का स्वर थोड़ी देर के लिए भले ही कुछ ऊँचा हो उठा हो, पर कुल मिलाकर इन तीनों की समन्वित स्थिति ही हमारे यहाँ की देव भावना में मान्य रही है।

पंचम अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की विविध धाराएँ और उनमें देव-भावना का रूप

देव भावना के अध्ययन के दृष्टिकोण से हिंदी साहित्य के आदिकाल का सिंहावलोकन

हिंदी के आदिकाल म जो बीज बोये गये थे वे ही भक्तिकाल म पल्लवित एवं पुष्पित हुए। स्वभावतः मध्यकालीन देव भावना के अध्ययन के लिए आदिकाल का अध्ययन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। आदिकाल की चर्चा आते ही जो प्रश्न हमारे सामने आता है वह है भाषा का। बहुत से व्यक्ति उस काल की भाषा को आज की भाषा से एकदम अलग समझकर उसे हिन्दी-परिवार म सम्मिलित ही नहीं करते, पर वास्तव म वह हिन्दी ही है। जिन अनेक कारणों से इस काल की भाषा को हिन्दी से पृथक समझने का भ्रम हुआ है उसम प्रमुख कारण है कि उस काल की भाषा की विभक्तियाँ और कारक चिह्न। क्रियाओं के रूप आदि भी बहुत कुछ अपने समय से कई सौ वर्ष पुराने रखे हैं। बोलचाल की भाषा घिसघिसाकर बिलकुल जिस रूप म आ गयी थी सारा वही रूप न लेकर कवि और चारण आदि भाषा का बहुत-कुछ वही रूप व्यवहार म लाते थे जो उनसे कई सौ वर्ष पहले स कवि-परम्परा करती चली जाती थी। यही कारण है कि हिन्दी के सभी विद्वान अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी को हिन्दी ही समझते आये हैं। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इस भाषा को प्राचीन हिन्दी कहा करते थे। गुलेरीजी का कथन है कि—यदि यह भाषा (साहित्यिक अपभ्रंश) हिन्दी नहीं है तो व्रज भाषा भी हिन्दी नहीं—और तुलसीदास की उक्तियां भी हिन्दी नहीं।[1] श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी कथन है कि—दीर्घकाल से हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक अपभ्रंश भाषा के साहित्य को भी हिन्दी साहित्य के पूर्वरूप म ही ग्रहण करते आये हैं। मिश्र-बन्धुओं ने अपनी पुस्तक म अनेक अपभ्रंश रचनाओं को स्थान दिया

१ हिन्दी साहित्य, पृ० १७

है।[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में आदिकाल के अन्दर अपभ्रंश रचनाओं की गणना की है। अपभ्रंश को हिन्दी के अन्तर्गत मानने से आदिकाल का आरम्भ सातवीं शती तक चला जाता है। स्वर्गीय श्री राहुल सांकृत्यायन के विचार में भी अपभ्रंश और हिन्दी दोनों एक ही हैं। उनके अनुसार इस युग (७६० १३००) की भाषा में प्रतीयमान अन्तर केवल हमारे ही मूलतः एकरूप है। उनके अपने सम्पादन में—इस संग्रह में इन पुरानी कवियों की कविताओं को जो नमूने दिए गए हैं उनको एक बार देखने ही पाठक समझने में असमर्थ होकर यह पढ़ेंगे कि यह तो हिन्दी भाषा है ही नहीं। इसलिए यहाँ यह बताने की आवश्यकता है कि वह उससे भी कहीं अधिक हिन्दी भाषा है जितनी कि आज की मालवी मारवाड़ी मल्ला (भोजपुरी) और मैथिली। आपको जो भ्रम हो रहा है वह दोनों (पालि) की इस प्रतिमा के ही कारण कि उसके पास कोई शुद्ध संस्कृत तत्सम शब्द पकड़ नहीं सकता।[2]

हम एक बात और स्पष्ट कर दें कि आचार्य शुक्ल ने खुमान रासो, बीसलदेव रासो पृथ्वीराज रासो और आल्हा नामक जिन चार काव्य ग्रन्थों की गणना वीर गाथा-काल में की थी हमने उनमें से तीन को सर्वथा अप्रामाणिक मानकर एकदम छोड़ दिया है। श्री अगरचन्द नाहटा ने खुमानरासो को नागरी प्रचारिणी पत्रिका में परवर्ती सिद्ध किया है। श्री मोतीलाल मनारिया ने अपनी पुस्तक राजस्थानी भाषा और साहित्य के पृष्ठ ८७ पर लिखा है कि—हिन्दी के विद्वानों ने इनको मेवाड़ के रावल खुम्माण का समकालीन होना अनुमानित किया है जो गलत है। वास्तव में इनका रचनाकाल संवत १७३० और १७६० के मध्य में है।[3] इसमें महाराणा प्रताप सिंह तक का वर्णन देखकर स्वयं आचार्य शुक्ल तक ने इसकी प्रामाणिकता के विषय में सन्देह प्रगट किया था। बीसलदेव रासो के विषय में भी आचार्य शुक्ल को पर्याप्त सन्देह था। उन्हीं के शब्दों में नाल्ह के बीसलदेवरासो में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा (बीसलदेव) की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठ कर जाने का (प्रोषित पतिका के वर्णन के लिए)। मनमाना वर्णन है अतः इस छोटी-सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का रासो काव्य कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्य ग्रन्थ नहीं है केवल गाने के लिए रचा गया था तो बहुत-कुछ समाधान हो जाता है।[4] मनारियाजी ने भी इन्हें १६वीं शताब्दी के कवि नरपति से अभिन्न माना है और

१ हिन्दी साहित्य पृ० २
२ हिन्दी-काव्य धारा पृ० ४
३ हिन्दी-साहित्य का आदिकाल पृ० १३
४ हिन्दी-साहित्य का इतिहास पृ० ३५ ३६

दोनो कवियों की एकरूपता दिखाने के लिए उद्धरण दिये हैं। रही आल्हा की बात, उसके वतमान रूप की आधुनिकता म किसी को रत्ती भर भी सन्देह नही।

पृथ्वीराजरासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता की चर्चा हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थो म बहुत हो चुकी है। इस विषय मे पक्ष और विपक्ष म बहुत-कुछ प्रमाण दिये जा चुके है। सन १८६३ म रॉयल एशियाटिक सोसायटी बगाल के जनल मे प्रो० बुलर ने इसे एक वार जो जाली ठहराया तो फिर इसकी प्रामाणिकता म सन्देह बना ही रहा। सन १८८६ म इसी पत्र म कविराज श्री श्यामलदास ने इस ग्रथ की प्रामाणिकता मे सन्देह प्रकट किया था। इसकी प्रामाणिकता को स्वीकार करने वालो की भी कमी नही। कुल मिलाकर उसमे प्रक्षिप्त अश को स्वीकार करते हुए भी उसे एकदम परवर्ती सिद्ध नही किया जा सकता। अन्य बहुत से विद्वानो के साथ श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी इसे एकदम अप्रामाणिक नही मानते। "अब यह मान लने मे किसी को आपत्ति नही है कि रासो एकदम जाली नही है। इसमे बहुत अधिक प्रक्षेप होने से इसका रूप विकृत जरूर हो गया है पर इस विशाल ग्रन्थ मे सार अवश्य है।"[१] इसलिए हमने इसे आदिकाल की रचनाओ म सम्मिलित किया है और इसमे से उदाहरण भी दिये हैं। हाँ, प्रसगवश यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि ऊपर जिन ग्रन्थो को अप्रामाणिक मानकर हमने छोड दिया है, उनकी देव भावना और पृथ्वीराज रासो की देव भावना मे कोई अन्तर नही। दव भावना का जा सामान्य रूप तत्कालीन समाज म प्रचलित था, उसी की अभिव्यक्ति उन ग्रन्थो म भी हुई है। अत उन काव्यो की देव भावना के चित्रण के अभाव म भी कोई विशेष अन्तर नही पडता।

अपभ्रश-साहित्य मे देव भावना को ढूढने के लिए विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नही, वह तो वहा स्थान स्थान पर उपलब्ध है। बात यह है कि इसके निर्माण म जनियो और बौद्धा का हाथ अधिक था। उनका दृष्टिकोण धार्मिक अधिक था, राजनीतिक या सामाजिक कम। धम भावना की प्रधानता हाने से उसम देव भावना की प्रचुरता का होना स्वाभाविक ही है। सस्कृत और प्राकृत म किसी महापुरुष का, देवी देवता का वणन होता था उसी परम्परा का निर्वाह प्राकृत मे हुआ। इन कवियो ने जन तीथकरो को काव्य का विषय बनाया। पृष्ठभूमि के धम प्रधान होने से ये धम प्रचारक पहले बने, कवि बाद म। इन सभी कृतियो के आरम्भ म मगलाचरण हैं और जिना की स्तुति है। नीचे हम उस काल के कुछ प्रबन्ध काव्या की सक्षिप्त रूप म चर्चा करेंगे। यह चर्चा डा० हरिवश कोछड के शोध प्रबन्ध 'अपभ्रश साहित्य' के आधार पर है।

भविसयत्त कहा (भविष्यदत्त-कथा —ले० धनपाल) याकोबी के अनुसार १०वी सदी से पूर्व की रचना नही। इस महाकाव्य की कथा को तीन अगो या खण्डा म

१ हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ० ५०

विभाजित किया जा सकता है। इसमें भविष्यदत्त को एक जिन मंदिर में चन्द्रप्रभ जिन की पूजा करते हुए दिखलाया गया है। फिर उल्लेख है कि पूजा के लिए गये हुए भविष्यदत्त को छोड़कर बंधुदत्त उसकी पत्नी और धन को लेकर चल पड़ता है।

रिट्ठणेमि चरिउ (रिष्टनेमि चरित) यह ग्रंथ अप्रकाशित है। श्री हरिवंश कोछड़ ने इसका विस्तृत वर्णन किया है। इसका लेखक स्वयम्भू है। विषय की महत्ता और अपनी अल्पज्ञता से चिंतित कवि को सरस्वती देवी सान्त्वना और धैर्य देती हुई कहती है कि हे कवि काव्य करो मैं तुम्हें विमल मति दूँगी। उपमा के प्रयोग में भी देव भावना की चर्चा है। कहा है कि द्रुपद-सुता के साथ आहूत ये पाँचों पांडव भी प्रविष्ट हुए जैसे जीवदया के साथ पंच-परमेष्ठी—अर्हत्, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु—प्रविष्ट हुए हों।

पद्मपुराण—यह ग्रंथ भी अप्रकाशित है। श्री कोछड़ के विवरण के अनुसार इसकी दो प्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डार में विद्यमान हैं। ग्रंथ के आरम्भ में सिद्धों को नमस्कार किया गया है और तदनन्तर जिन-स्तवन।

णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित)—लेखक का नाम पुष्पदन्त है। ग्रंथ का आरम्भ सरस्वती की वन्दना से हुआ है यहाँ पृथ्वी देवी द्वारा जिन मन्दिर में जाना और पूजा करना दिखलाया गया है।

जसहर चरिउ (यशोधर चरित)— इसके लेखक का नाम पुष्पदन्त है। इसमें बताया गया है कि मारिदत्त राजा को भैरवाचार्य चण्डमारी देवी की पूजा का आदेश देता है। दुःस्वप्न के प्रभाव को दूर करने के लिए यशोधर नामक राजा की माता द्वारा देवी को पशु-बलि देने और राजा के विरोध पर आटे के बने मुर्गे की बलि देने का भी उल्लेख है।

करकंड-चरिउ—इस ग्रंथ का समय १०३५ ई० के लगभग है और यह प्रो० हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित है। इसमें जैन देवताओं के अलावा हिन्दुओं के देवताओं का भी उल्लेख है विद्याधरों की भी चर्चा है।

पउमश्री चरिउ (पद्मश्री चरित)—रचनाकाल १०वीं और १२वीं सदी के बीच है। काव्य का आरम्भ इसमें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ और सरस्वती की वन्दना के साथ हुआ है।

ग्रंथारम्भ में ही शारदा के चरणों की वन्दना की गयी है। इसके साथ साथ ब्रह्मा, पृथ्वी को धारण करने वाले शेषनाग, लक्ष्मीपति और शिव को नमस्कार किया गया है।[1] थोड़ी ही दूर आगे चलकर शिव के सिर पर गंगाजल के ठहरने की बात

---

१ प्रथम खण्ड, आदिकथा, छ० १

का उल्लेख है।[1] बारहवें छद म देवी की पूजा करने तथा जगदाधार को प्रसन्न करने की बात कही गयी है। चौहन्वें छद म गणेश की स्तुति करत हुए कहा गया है कि भ्रमरगण जिसके मदगध युक्त भालस्थल और भृकुटि को अनुराग एव रुचि-पूवक आच्छादित किए हुय हैं, जिसके गले मे गुजाओ का हार पडा हुआ है एव जो अपने गुणो द्वारा गुणियो पर विजय पाने वाला है जिनके पैरा म झभा है, काना म कुडल हैं, हाथी की सूड के सदश जिसकी उन्नत सूड है वे गणेशजी मेरे काव्य की रचना मे सहायक बने हैं। शकर से प्रार्थना की गयी है कि वे कविके छन्दा को सुयुक्ति युक्त कर दें। यह भी कहा गया है कि जिसने शिव के चरणो मे सिर झुका लिया, उसकी बुद्धि सरस हो गयी। सती स्त्रियो (अहल्या और गुरुपत्नी तारा) के साथ लम्पटपन करने वाला कामी मूढ चन्द्रमा भी शिव को नमन करके अक्षुण्ण बालरूप को प्राप्त कर पाया। अगले पद मे फिर शिव की स्तुति करते हुए कहा है कि जो भोग, योग और ऐश्वय के दाता हैं, जो पावती के हृदय के आभूषण हैं जटाजूट से सुशोभित हैं ऐसे शकर का कवि का नमस्कार हो। प्रथम खण्ड क १८वें पद मे कवि शकर और विष्णु म एकता स्थापित करते हुए कहता है कि मैंन जिस हार्दिक भाव से शकर की प्राथना की है उसी भाव से मैं विष्णु को भी जपता हू क्योकि जो शकर और विष्णु को अलग कहता है वह नरक मे गिरता है।

दशावतार कथा म कच्छपरूपधारी भगवान की स्तुति करते हुए कहा है कि जिसने दानव-पति का सहार किया, समुद्र-मन्थन कर लक्ष्मी की प्राप्ति की, ऋषियो के शाप को स्वीकार किया, राहु के सिर को खण्ड-खण्ड कर दिया दानवा का मदन कर उनका नाश किया, देवासुर-सग्राम म शक्ति प्रदर्शित कर दुष्टा को नष्ट किया, ऐसे कच्छपरूपधारी हे प्रभो! मैं कवि चन्द आपकी शरण हूँ।[2] इससे अगले तीन पदो म भगवान विष्णु का ही वणन है और हिरण्याक्ष के वध तथा प्रह्लाद को राज्य देने का उल्लेख है। दसवें पद मे रामावतार की चर्चा की गयी है तथा ताडका युवती के नाश, सीता के पाणिग्रहण और कवेयी द्वारा वर मागने का उल्लेख है। हुस्सन कथा के पतीसवें दोहे मे विष्णु के वामनावतार का उल्लेख करते हुए कहा है कि शहाबुद्दीन के मन म चौहान राजा इस प्रकार चुभता था जिस प्रकार दत्यराज विरोचन वशज बलि को वामन। कृष्णावतार की कथा का भी विस्तार से उल्लेख है। दशावतार कथा म कवित्त ३० से १०२ तक गोपियों की साधना और गोपियों के साथ कृष्ण के विहार का वणन है। ७०वें कवित्त म कृष्ण के लिए कहा गया है कि वे लक्ष्मीपति हैं उनका शरीर श्याम है, वे पील रग के वस्त्र पहनत हैं दवताओ के स्वामी हैं धूम्र ध्वज जलद के समान उनकी कान्ति है कोटि रतिया म कामोद्दीपन करने की शक्ति उनम

१ प्रथम खण्ड, आदि कथा, छ० १०
२ दशावतार कथा, छन्द ४

है विकसित कमल के समान उनके नेत्र हैं, और उनके शरीर पर गुजाओ का हार है। एक अन्य स्थान पर उनके अन्य कार्यों का उल्लेख करते हुए कहा है कि जिसने अश्वत्थामा द्वारा विक्षत उत्तरा के गर्भ का बचाकर गर्भ में परीक्षित की रक्षा की और दावानल का पान किया अपने मातुल (कंस) को निंदित कर उसका वध किया, पर्वत को उठाया, उस गोकुलेश्वर की जय हो।[1]

इन्द्र का भी अनेक स्थानो पर जिक्र है। धन कथा के १६वें पद पर चित्तौड के अधिपति से पृथ्वीराज का दूत कहता है कि पृथ्वीराज ऐसा वीर है कि वह शस्त्र के बल से असम्भव को सम्भव कर सकता है। वह इन्द्र और शेषनाग से भी नहीं डरता। कुछ अन्य स्थलो पर ऐश्वर्यशालिता के प्रसंग में इन्द्र का उल्लेख है। धीर पुण्डीर मोहम्मद गोरी से कहता है कि मेरी दूसरी इच्छा यह है कि तुझे जीवित पकड़कर इन्द्र के समान वैभव प्राप्त करूँ।[2] दशावतार प्रसंग में ही पवन-पुत्र हनुमान की चर्चा है। कहा गया है कि महायोगी हनुमान लंका को जीतने सीता को लाने तथा विभीषण को राज्य दिलाने में अग्रगण्य हुए। गौरी और चंडी का उल्लेख है।

आदिकाल का एक और काव्य है— जिनदत्त चौपई, जिसकी रचना वि० सं० १३५४ में हुई है। कवि ने ग्रन्थारम्भ में इस तिथि का उल्लेख स्वयं किया है और अपना परिचय भी दिया है। इसमें जैन-श्रावक जिनदत्त के जीवन का वर्णन है। कहा गया है कि मगध देशान्तर्गत वसन्तपुर नगर के सेठ जीवदेव ने भगवान जिन की पूजा से इसे प्राप्त किया है। स्पष्ट है कि जिन की पूजा इस काल में प्रचलित थी।[3]

मध्यकालीन हिंदी साहित्य की विविध धाराओं का संक्षिप्त परिचय

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल का आरम्भ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विक्रम संवत १३७५ से माना है। सामान्यतया यही मत अधिकांश विद्वानो द्वारा समादृत रहा है। यदि इसमें दस बीस वर्षों का अन्तर भी मान लिया जाय तो भी साहित्य की प्रमुख धाराओ की स्थिति लगभग वैसी ही रहेगी। प्राग्वैदिक, वैदिक, जैन बौद्ध और पौराणिक युगों में देवी देवताओ की सत्ता जिन रूपो में स्वीकृत थी, उसका उल्लेख पिछले अध्यायो में हो चुका है। हम यह भी कह चुके हैं कि पौराणिक युग में निराकार देव के स्थान पर साकार देव की प्रधानता स्थापित हो चुकी थी। सिद्धान्त रूप में निराकार की सत्ता स्वीकृत थी पर व्यावहारिक रूप में विभिन्न देवी-देवताओ के साकार रूप की ही पूजा होती थी। ठीक ऐसे समय इस देश के साथ मुस्लिम धर्म का सम्पर्क स्थापित हुआ। ये आक्रान्ता थे और इनका उद्देश्य धन बटोरना तो था

---

१ भोलाराम समय पद १२।

२ धीरपुण्डीर समय, पद ४८।

३ सा० सा०, सितम्बर अंक पृ० (१६६ श्री कस्तूरीचन्द्र कासलीवाल का लेख)।

ही, दीन का प्रचार करना भी था। यह धम एकेश्वरवाद का समथक है और इसकी दृष्टि मे मूर्ति-पूजा भारी कुफ है। यही कारण है कि वि० स० १०८१ मे जब सोमनाथ के मन्दिर पर महमूद गजनवी ने आक्रमण किया तो मन्दिर की सम्पत्ति को लूटकर ही सन्तोष नहीं कर लिया, उसने एकलिंग की मूर्ति पर भी गदा का आघात किया और उसे चूर-चूर कर दिया। इसके बाद भी अनेक विदेशी आक्रान्ता यहाँ आकर मन्दिरो का ध्वस करते रहे और उनके स्थान पर मस्जिदें बनाते रहे। धीरे धीरे वे यहीं स्थायी रूप से रहने लगे और यहाँ के शासक बन गये। शासको के धम का प्रभाव शासित प्रजा पर न पडता, भला यह कसे सम्भव था ? फिर ईश्वर के निराकार रूप की सत्ता तो हिन्दू धम मे भी स्वीकृत थी ही। इनके अतिरिक्त सिद्ध और नाथ पथी साधक स्वतन्त्र रूप से निगुण ईश्वर का ही प्रतिपादन करते आ रहे थे। गजेन्द्र की एक ही टेर सुनकर पदल दौड आने और ग्राह से रक्षा करने वाले साकार भगवान् जनता के घोर सकट में भी जब आन दिखायी नही पडे तो खम्भे को चीरकर नृसिंह रूप म भगवान का अवतरित होना और प्रह्लाद की रक्षा करना कल्पना की उडान मात्र प्रतीत होने लगा। जिस भगवान ने पाचाली की रक्षा के लिए दु शासन के गव को चूर चूर कर दिया था, वही भगवान अब सहस्रश पाचालियो की लाज लुटते देखकर भी अनन्खी कर रहे थे, ऐसी स्थिति म जनसाधारण के मन मे भगवान् के साकार रूप के विरुद्ध शका के भाव उत्पन्न होने लगे थे।

इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र म दो विचारधाराएँ समानान्तर रूप से प्रवाहित हो रही थीं। साहित्य पर भी इन विचारों का प्रभाव पडना अनिवार्य था। इस प्रकार उस काल की रचनाओ को आसानी से दो भागो म विभाजित किया जा सकता है—निर्गुण और सगुण। आगे चलकर इनके भी दो-दो भेद हुए। निर्गुण भाग की एक शाखा मे ज्ञान की प्रधानता रही और दूसरी म प्रेम की। पहली निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा के नाम से अभिहित हुई और दूसरी निर्गुण प्रेमाश्रयी के नाम से। सगुण के भी दो भेद हुए—राम को प्रमुखता देने वाली शाखा रामभक्ति शाखा के नाम से अभिहित हुई और कृष्ण को प्रमुखता देने वाली शाखा कृष्णभक्ति शाखा के नाम से पुकारी गयी।

देव भावना के दृष्टिकोण से हमने जिन प्रधान चार मार्गों पर शाखाओ का उल्लेख किया है उनके विषय मे थोडा सा स्पष्टीकरण आवश्यक है। वह युग नवीन मार्गों का युग था। प्राय प्रत्येक प्रसिद्ध सत के नाम पर नवीन पन्थ का निर्माण हो जाता था। निगुण भक्ति शाखा म दादूपन्थ, निरजनी सम्प्रदाय और बावरी पन्थ आदि न जाने कितने पन्थ चल निकले थ। नानक द्वारा दिये गये उपदेशो को आधार बनाकर सिख-सम्प्रदाय का आविर्भाव हो गया था। धीरे धीरे इस सिख सम्प्रदाय मे भी उदासी, निर्मला, नामधारी, सुथराशाही, सेवापन्थी, अकाली, गुलाबदासी और निरकारी आदि पन्थ चल निकले थे, पर हमन इनका पृथक से उल्लेख नहीं किया है।

इन्हें निगुण मतरूपी वक्ष से निकलन वाली शाखाए मात्र समभकर हमने इनका समावेश निगु ण मत म ही कर दिया है। इनम जो अन्तर है वह महत्वपूण नहीं।

रामभक्ति शाखा म हमन मर्यादावादी और रसिक सम्प्रदाय दो का ही उल्लख किया है। इन दो प्रमुख धाराओ म अन्य प्राय सभी छोटी मोटी धाराओ का अन्तर्भाव हो जाता है। कृष्ण का लकर न जान कितनी छोटी मोटी उपधाराएँ वह निकलीं, पर हमन यहाँ उन्ही को चित्रित किया है जिन्होन मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य को अधिक मात्रा म प्रभावित किया है।

निर्गुण शब्द का अथ

भक्ति-काल की ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी नामक दो भक्ति शाखाओ के साथ तो निगु ण शब्द जुडा हुआ है ही, पर इनक अतिरिक्त भी इस शब्द का प्रयोग शतश एव सहस्रश स्थानो पर हुआ है अत इस शब्द क अथ पर कुछ विचार कर लना आवश्यक है। निगुण शब्द का सामान्य अथ है मानवीय गुणो स रहित होना। आरम्भ म महाभारत और गीता म इसका प्रयोग इसी अथ म हुआ है।[1] पर धीर धीर इसके अर्थों म परिवतन होता गया। आचाय शकर के अनुसार यह यौगिक ब्रह्म स विलक्षण सत्य सकल्पादि गुणो से विनिमुक्त आत्मतत्त्व का वाचक है। रामानुज और रामानन्द प्रभति आचार्यों क अनुसार यह शब्द जन्म मरण आदि गुणो स रहित ब्रह्म का वाचक है। इनके अनुसार परब्रह्म म गुणो का नितान्त अभाव नहीं है। इनके अनुसार निगुण का अथ है—प्राकृत हय गुणो से रहित होना।[2] आनन्द भाष्य के मत स निगुण और सगुण शब्द स एक ही ब्रह्म का निर्देश होता है। प्राकृत हय गुणो स रहित होना निगुणत्व और असख्य दिव्य कल्याणकारी मुख्य गुणों स युक्त होना ही सगुणत्व है। पर हमने यहाँ निगु ण शब्द का अत्यधिक प्रचलित और व्यापक अथ ही स्वीकार किया है। सामान्य तया निगु ण ब्रह्म स उस ब्रह्म का अथ लिया जाता है जो निराकार है और किसी भी कारणवश अवतार नहीं लता। इसी व्यापक अथ को स्वीकार करत हुए हमने निगु ण के अन्दर ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी दोनो ही भक्ति मार्गों का समावेश किया है।

सगुण से अन्तर

सगुणवादी ईश्वर म सभी मानवीय गुणो का आरोप करत हैं। उनके अनुसार उनका ब्रह्म भू भार उतारन और लीला के लिए विविध रूपो म पथ्वी पर अवतरित होता है। आवश्यकता होन पर मानवीय रूप के अतिरिक्त वह वराह मत्स्य और नसिंह (अधपुरुष और अधमानव) रूप भी धारण करता है। साकारवादी ईश्वर के निराकार

१ हिन्दी निगुण काव्यधारा और उसकी दाशनिक पष्ठभूमि प० ८
२, रा० स० हि० सा० उ० प्र० पृष्ठ ३५

रूप को यद्यपि सिद्धान्त रूप से स्वीकार अवश्य करते हैं पर उनका विशेष आग्रह साकार के प्रति है। इनकी दृष्टि में 'अन्तरजामी' की अपेक्षा 'बाहर जामी' बडे हैं। यही कारण है कि इनके ईश्वर शक्ति शील और सौन्दर्य के आगार होने से प्रेम और श्रद्धा के पात्र हैं। वे इन्द्रियातीत न होकर इन्द्रियगम्य हैं। हम उन्हें नेत्रो से देख सकते हैं करो से उनका स्पर्श कर सकते हैं। इन सब बातों के विपरीत निर्गुणवादियो का ईश्वर केवल अनुभूति का विषय है। उन्ही के शब्दो मे, वह 'गूँगे केरी शक्करा' है जिस शब्दो की सीमा म नही बाँधा जा सकता।

इस मुख्य अन्तर के अलावा दोनो के दृष्टिकोण म अन्य भी अन्तर हैं। निर्गुण वादी शास्त्रों की अपेक्षा अनुभूति को अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होने स्थान स्थान पर जो 'वेदकतव' की निन्दा की है उसका कारण यही है कि इन पुस्तको का कथन अनुभव से मेल नही खाता। पुस्तकीय ज्ञान अन्धकूप है, उसका आकार सीमित है। ये कवि इसीलिए साधक को उस अन्ध-कूप से बाहर निकालकर अनुभव के विस्तृत प्रागण म झाँकने की सलाह देते हैं। कबीर ने "सस्कीरत है कूप जल भाषा बहता नीर" कह कर भी यही भाव व्यक्त किया है कि सस्कृत का ज्ञान शास्त्र ग्रथो तक ही सीमित है और उसमें लोक मत की अवहेलना है। भाषा लोक-मत की अभिव्यक्ति होने से नवीन प्रकार की स्फूर्ति देने वाली है, उसम कितने ही अप्रसिद्ध पर पहुँचे हुए साधको के अनुभव छिपे हुए हैं।

ज्ञानाश्रयी शाखा

इस शाखा म सर्वोपरि महत्ता ज्ञान की है और इस महत्ता के कारण ही इस का नाम ज्ञान-भक्ति शाखा पडा है। भगवान् कृष्ण ने गीता म यद्यपि अनासक्त भाव से कर्म करते रहने को सर्वश्रेष्ठ बताया है तथापि उन्होने ज्ञान पर बडा भारी बल दिया है। सही बात तो यह है, कि ज्ञान के बिना 'पदमपत्रमिवाम्भसा' वाली स्थिति आ ही नही सकती। अर्जुन को समझाते हुए उन्होने बताया है कि काम और क्रोध ही मानव के सबसे बडे शत्रु हैं और इन दोनो म भी काम अधिक शक्तिशाली है। जिस प्रकार धूम अग्नि को ढक लेता है, मल जैसे दर्पण की स्वच्छता का अपहरण कर लेता है और उल्व (जेर) जैसे गर्भ को ढक लेती है वैसे ही काम ज्ञान को आच्छादित कर लेता है। यह काम मन, बुद्धि और इन्द्रियो का अपने वश म कर मानव को कहीं-का कही ला पटक देता है। इस प्रबल शत्रु पर विजय पाने का सर्वश्रेष्ठ और एकमात्र उपाय ज्ञान की उपलब्धि है।

जब तक हृदय प्रदेश म अज्ञान का निबिड अन्धकार छाया हुआ है तब तक भगवान के दर्शनो की आशा दुराशामात्र है। माया के दुस्तर प्रलोभन बीच बीच मे जीव को इधर उधर भटका देते हैं। यद्यपि कस्तूरी मृग की नाभि म ही रहती है पर वह अज्ञानवश उसे ढूढने के लिए इधर-उधर दौडता फिरता है, थककर चकनाचूर हो जाता

है पर उसे कस्तूरी का पता नहीं चलता। यही स्थिति मानव की है। अपने हृदय में स्थित भगवान का न देख पाने के कारण वह इधर उधर चक्कर काटता है पर उसे उसके दर्शन उसी समय होते हैं जब किसी तरह सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए गीता में कहा गया है कि बड़े-से बड़ा पापी भी ज्ञानरूपी नौका का सहारा पाकर पाप सागर के पार उतर जाता है। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि सारे ईंधन को जला देती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सारे कर्मों को जलाकर भस्मसात कर देती है। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ज्ञान के समान पवित्र तत्त्व विश्व में अन्य कोई नहीं है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥ (गीता, ४।३८)

ज्ञान को सर्वोपरि माननेवाले इन संत कवियों ने ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में किया है। उनका यह ज्ञान शास्त्रों पर आधारित नहीं, सुनी-सुनायी बातें भी उसकी बुनियाद नहीं। यह ज्ञान अनुभूति के द्वारा उपलब्ध होता है। गुरु की महत्ता का इतना प्रतिपादन भी इसीलिए है कि वह भटकते हुए शिष्य को ज्ञान के ऐसे प्रकाश में लाकर खड़ा कर देता है कि वहाँ सब कुछ स्पष्टतः दीख पड़ने लगता है। ज्ञान आँधी के समान है जिसके आने पर एकबार तो उथल-पुथल भले ही मच जाय, पर अन्त में वातावरण में शान्ति और मधुरता छा जाती है। कबीर के ही शब्दों में इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार है—

संतो भाई, आई ग्यान की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सब उडाणी माया रहै न बाँधी ॥
हित चित की द्वै थूँनी गिरानी मोह बलींडा टूटा।
त्रिस्ना छाँनि परी घर ऊपरि कुबुधि का भाँडा फूटा ॥
जाग जुगति करि संतौं बाँधी निरचू चुवै न पाणी।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जाँणी ॥
आँधी पीछे जो जल बूठा प्रेम हरी जन भींना।
कहै कबीर भान के प्रगटे, उदित भया तम षीना ॥[1]

गुरु नानक का कथन है कि सच्चे ज्ञान के बिना सारे प्राणी अज्ञान में भटकते रहते हैं और वे इस बात को नहीं जानते कि सत्य परमात्मा सभी में रम रहा है—

गियान विहूणी भव सबाई।
साचा रवि रहिआ लिवलाई ॥[2]

उनका यह भी कहना है कि जिसने ज्ञान द्वारा ब्रह्म के सच्चे स्वरूप को पहचान लिया उसके लिए बाह्य कर्मों का कोई भी महत्त्व नहीं रहता—

---

१ कबीर-ग्रंथावली परिशिष्ट, पद १६
२ नानक-वाणी, मास सालहे १४

जो जाणसि ब्रह्म मे करम । स्वमि फोक्ट निसचउ करम ।[1]

अजुनदेव का भी यही विश्वास है कि ज्ञान रूपी अजन से अज्ञान-रूपी अधकार का नाश हो जाता है—

गिआन अजनु गुरि दीआ, अगियान अधेर बिनासु।
हरि किरण ते सत भेटिआ, नानक मनि परगासु ।।[2]

सुदरदास का कहना है कि ससार की सारी उलझनें ज्ञान की कमी के कारण होती हैं। जब तक अन्दर के नेत्र नही खुलते तब तक अतर्यामी के दर्शन नही होते। हरि ही वह सच्ची कामधेनु है जिसे पा लेने पर सब-कुछ मिल जाता है।

ज्ञान बिन अधिक अरुझत है रे !
नन भये तो कौन काम के, नेंक न सूझत है रे !
सब मैं व्यापक अतरजामी, ताहि न बूझत है रे !

सुदर घट मे कामधेनु हरि, निशि दिन दूझत है रे ।।[3]

ज्ञान का महत्त्व बताते हुए उन्होंने कहा है कि ज्ञान को कर्म के बन्धन नही बाँधते, यह उस अग्नि के समान है जिससे मक्खियाँ दूर भागती हैं, यह पहरेदार है जिसके रहते हुए चोर नही आता, यह बिल्ली है जिसे देखकर चूहे दूर भाग जाते हैं—

जाके हिरदै ज्ञान है, ताहि कर्म न लागे।
सब परि बैठे मक्षिका, पावक ते भागे।
जहाँ पाहरू जागही, तहाँ चोर न जाही।
आखिन देखत सिंह का, पशु दूरि पलाही।
जा घर माहि मजारि है तहाँ मूषक नास।
शब्द सुनत ही मोर का अहि रहै न पास।
ज्यो रवि निकट न देखिये कबहूँ अधियारा।
सुदर सदा प्रकास में, सबही त न्यारा ।।[4]

दरियासाहब के यहाँ भी सर्वाधिक महत्त्व ज्ञान का है। उनका कहना है कि ज्ञान के बिना सच्ची दृष्टि नही आती—

ज्ञान बिना नहि दीठ दिखाई ।[5]

---

१ नानक वाणी आसा की बार
२ स० मु० सा०, पृ० ३६६
३ वही, पृ० ६५४
४ स० मु० सा०, प० ६५६
५ हि० वि० का० औ० उ० दा०, पृ० मू० ४६६

देव भावना के दृष्टिकोण से हमने साहित्य का जो वर्गीकरण किया है उसके विषय मे इतना कह देना आवश्यक है कि साहित्य म कि्ही सुनिश्चित विभाजक रेखाओ का खींच सकना दु साध्य काय है । देव भावना की निगु ण और सगुण दोना धाराएँ एक-दूसरे से प्रभावित हैं। सिद्धा ततं परब्रह्म का निगु ण और निराकार मानते हुए भी निगु ण धारा के कवि अपने को साकार ईश्वर के प्रभाव से दूर नहीं कर सके । हमने पौराणिकता या माकार रूप का प्रभाव नामक प्रकरण म इस विषय की सविस्तार चचा की है। भावावेश म अमूत का मूत रूप दने की निया इतनी स्वाभाविक है कि उससे किसी का बच सकना सम्भव नही। सगुणवादियो ने यद्यपि अपना विशष आग्रह सगुण के प्रति ही दिखाया है और स्थान-स्थान पर उन्होंने साकार रूप की स्थापना के लिए निराकार का खडन भी किया है पर फिर भी उनके इष्टदेव अज मा अनादि सवव्यापक और सवशक्तिमान परब्रह्म ही हैं। उनके अनु सार उनका ज म न होकर प्राकट्य हाता है। सूर और तुलसी उनके लौकिक कृत्यो का वणन करत हुए भी स्थान-स्थान पर उनके अविनाशी और जगदाधार रूप की ओर सकेत करत चलते हैं। बिहारी ने यद्यपि अपनी सतसई का आरम्भ राधा नागरी की स्तुति से किया है और कृष्ण के पौराणिक और साकार रूप पर कितने ही दाहे लिखे हैं पर उनकी रचना मे निगु ण का प्रभाव भी एकदम स्पष्ट है। कितने ही दोहो म तो स्वर भी वही है। कशव की रचनाए भी निगु ण सम्प्रदाय के प्रभाव से मुक्त नहीं कही जा सकती।

यही बात कृष्ण भक्ति और राम भक्ति शाखाओ के सम्ब ध म कही जा सकती है। कृष्ण भक्ति के सर्वाधिक प्रमुख कवि सूरदास न राम के सम्ब ध म पर्याप्त पद लिखे हैं। तुलसी ने कृष्ण को लेकर पर्याप्त मात्रा म लिखा है। इन दोना ही कवियो की दृष्टि म राम और कृष्ण मूलत अभिन्न हैं अत दोना के द्वारा दोनो का वणन स्वा भाविक ही है। किसी समय समाज म शवा तथा वष्णवो म तीव्र विरोध था तुलसी के समय मे भी यह विरोध एकदम समाप्त नही हा गया था पर फिर भी वष्णव तुलसी ने शिव की स्तुति आराध्य दवता के रूप म की है। राम भक्ति शाखा का सम्भवत काई ही कवि ऐसा होगा जिसने शिव के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित न किया हो। कृष्ण भक्ति शाखा मे दास्य भाव की उपासना निषिद्ध भले ही न हा, पर उसे वे हीन काटि की उपासना मानत हैं। आचाय वल्लभ से प्रथम बार भेंट हाने पर सूरदास न जब उ ह दास्यभाव का पद गाकर सुनाया तो उन्हाने कहा था कि सूर हाकर ऐसे घिघियाते क्यो हो ? उनके यहा भगवान स बराबरी का सम्ब ध माना जाता है। उनके यहाँ जो सख्य और माधुय भाव से उपासना होती है वह इसी कारण से है। पर फिर भी इस शाखा म दास्य और विनयभाव के पदो की कमी नहीं। साम्प्रदायिकता के आग्रह के बावजूद भी व पद सदव आदर एव प्रेम के साथ सुने और पढे गय हैं। असली बात यह है कि हृदय को साम्प्रदायिकता की सकीण परिधि म

बाँधकर रख सकना आसान कार्य नहीं। तुलसी राम भक्ति की मर्यादावादी शाखा के सर्वाधिक प्रमुख कवि हैं पर उन पर भी रसिक सम्प्रदाय का प्रभाव आसानी से ढूंढा जा सकता है ऐसा बहुत से विद्वानों का मत है।

जन-जीवन में सामंजस्य की जो प्रक्रिया चल रही थी, उससे एकदम अप्रभावित रह सकना किसी के लिए भी न तो सम्भव था और न वांछनीय ही। किसी समय श्रमणों और ब्राह्मणों में जन्म-जात बैर समझा जाता था। "येषां च विरोधः शाश्वतिक —" पाणिनि के इस सूत्र के उदाहरण के लिए जहाँ नकुल और सर्प का नाम लिया जाता था वहीं श्रमणों और ब्राह्मणों का भी। पर जिस समन्वयात्मिका प्रवृत्ति के द्वारा गौतम बुद्ध की गणना चौबीस अवतारों में होने लगी थी, उसी के कारण इस शाश्वतो विरोध का भी अन्त हो गया था। पुराणों में यह प्रवृत्ति अपने प्रबलतम रूप में है। इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण ही शास्त्रवादी तुलसी भी 'नानापुराण निगमागम-सम्मतम" तथा 'क्वचिदन्यतोऽपि" की घोषणा करने के बाद ही रामचरितमानस लिखने चले थे। हिन्दी के मध्यकाल तक भक्ति की विभिन्न धाराओं का एक-दूसरे में समावेश बहुत सीमा तक हो चुका था। ऐसी स्थिति में किसी भी धारा का एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना बह सकना सम्भव नहीं था। यही कारण है कि मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की देव-भावना सम्बन्धी सभी धाराएं एक-दूसरे से प्रभावित हैं। ऊपर जो वर्गीकरण किया गया है वह रचनाओं के अनुपात के आधार पर सामान्य पाठक की सुविधा के लिए है।

ज्ञानाश्रयी शाखा का देववाद और विशेषताएँ

आराध्य का रूप—देव शब्द की व्युत्पत्ति और उससे गृहीत अर्थ को समझाते हुए हम पीछे कह आये हैं कि जो शक्तियाँ मानवोत्तर हों और मानव-जीवन के लिए शुभदा उन्हें हम देव कहते हैं। यह देव साकार भी हो सकता है और निराकार भी। कबीर और ज्ञानाश्रयी शाखा के अनुयायी अन्य सन्त कवि उस लोकोत्तर सत्ता में विश्वास रखते हैं। उनका भक्ति प्रासाद इस सत्ता की स्वीकृति पर ही टिका है "खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यो समाई", और 'जहँ देखा तहँ एक ही साहब का दीदार"—में यही भाव निहित है। पर उनका देव निराकार है, वे उसमें मानवीय गुणों का आरोप नहीं करते इसलिए उसे निर्गुण भी कहा जा सकता है। कबीर के ही शब्दों में वह परब्रह्म निर्गुण है और उसकी गति को कोई देख नहीं पाता—

निरगुन राम निरगुन राम जपहु रे भाई,
अविगति की गति लखी न जाई॥[1]

इसी कारण वे पण्डित से उस ईश्वर का विचार करने के लिए कहते हैं कि कि जिसका न कोई रूप है न रेखा है और न वर्ण ही। इन्हीं कारणों से उसकी कोई

---

१ क० ग्र०, पद ४६, पृ० १०४

भौतिक इन्द्रियाँ भी नहीं। स्थूल रूप के अभाव में उसे हर व्यक्ति देख ही नहीं पाता—

अगम निरंजन लखै न कोई निरभै निराकार है सोई।
सुनि असथूल रूप नहिं रेखा द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यौ नहीं पेखा।
बरन अबरन कथ्यौ नहीं जाई सकल अतीत घट रह्यौ समाई॥
आदि अंति ताहि नहीं मधे कथ्यौ न जाई आहि अकथ।
अपरंपार उपजै नहीं बिनसै, जुगति न जानिय कथिये कथ।[1]

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अन्य स्थानों पर कहा है कि उसका मुख नहीं फिर भी वह खाता है उसके चरण नहीं फिर भी वह चलता है। वह शब्द और स्वाद से परे है न उसकी माँ है, न पिता और न सास-ससुर ही। इन्हीं कारणों से वह मोह की सीमा से भी परे है—

(क) बिन मुख खाई चरन बिन चालै।
बिन जिह्वा गुन गावै॥
(ख) ना तिहि सबद न स्वाद न सोहा।
ना तिहि मात पिता नहिं मोहा।
ना तिहि सास ससुर नहिं सारा।
ना तिहि रोज न रोवन हारा॥[2]

नानक का आराध्य भी निराकार ही है। उनकी दृष्टि में वह सदैव विद्यमान रहता है और कभी वानवनिन नहीं होता—

ऊंकार सतिनामु करता पुरखु निरभऊ।
निरवैर अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।[3]

उस आराध्य के विषय में किसी प्रकार का सन्देह न रहा जाय इसीलिए उन्होंने एक अन्य स्थान पर फिर उसे अनादि और सदैव एक वेश रखने वाला कहकर पुकारा है—

आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगुजुगु एको वेसु।[4]

सुन्दरदास की दृष्टि में भी आराध्य देव निराकार ही है। उसमें किसी भी प्रकार के मानवीय गुणों का आरोप नहीं किया जा सकता—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुण नित्य निरंजन और न भास।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध बाहर भीतर ब्रह्म प्रकास॥

---

१ कबीर ग्रन्थावली, पृ० २३० ३१
२ स० सु० सा०, पृ० २०८
३ वही पृ० २३१
४ स० द०, पृ० १५१

सु दरदास को अपने आराध्य का निगुण रूप इतना अधिक पस द है कि
स्थान-स्थान पर उनके निगुणत्व का ही प्रतिपादन करत है—

> जो उपज्यौ कछु आइ जहाँ लग सो सब नास निरतर होई।
> रूप धरयो सु रहै नहि निश्चय तीनहु लोक गन कहा कोई।
> राजस तामस सात्विक जो गुन देखत काल ग्रस पुनि कोई।
> आपहु एक रहै जु निरतर सुन्दर वे मन भावत सोई ॥[1]

गुलालसाहब (जन्म सवत १७५० वि०) को भी अपने आराध्य का वही
पस द है जो एक सा रहता है, उत्पत्ति और विनाश की सीमा से बाहर है तथा जि
न कोई माँ है और न पिता—

> ना वह उपज ना वह बिनस ना भरम चौरासी।
> है सतगुरु सतपुरुष अकेला, अजर अमर अविनासी ॥
> ना वाके बाप नहीं वाके माता, वाके मोह न माया।
> ना वाके जोग योग वाके नाही, ना कहुँ गया न आया ॥[2]

जो ईश्वर निराकार है उसे ढूढने के लिए इधर उधर मारे फिरना मूखत
जो आराध्य दव घट म ही विद्यमान है उसके लिए सिंहलद्वीप जान से क्या ल
इस प्रकार व्यथ परिश्रम करनवाले और समय गवाने वाले व्यक्ति की उपमा इन क
ने कस्तूरी मग से दी है। जिस प्रकार कस्तूरी मग अपने पेट म रखी हुई कस्तूर
न जानकर उसे ढूढने के लिए वन-वन भटकता फिरता है, ऐसी ही दशा भगवान
बाहर ढूँढने वालों की है। वह तो हम म इस तरह समाया हुआ है जिस तरह ने
पुतली—

> ज्यू नैनू मे पूतली त्यू खालिक घट माँहि।
> मूरिख लोग न जार्णहि, बाहर ढूढण जाँहि ॥[3]

इस शाखा के किसी भी कवि को ले लीजिये, वह भगवान को हृदय
ढूढने का परामश देगा। मलूकदास भी उस हृत्तन्त्री के वादक को हृत्य मे ही
की बात कहते हैं—

> सब बाजे हिरद बज, प्रेम पखावज तार।
> मदिर ढूढत का फिर, मिल्यो बजावनहार ॥[4]

दादूदयाल का भी आरा ध्यदेव निराकार तो है ही, साथ ही वह सब स

---

१ सु० द०, प० १५२
२ स० सु० सा०, प० १५२
३ क० ग्र०, पृ० ८२
४ स० सु० सा०, प० ३७

म व्याप्त है। जिस प्रकार कबीर को अपने लाल की लाली के सिवाय कुछ और नहीं दीखता, उसी प्रकार दादू को भी सब स्थानों में अपने आराध्य के ही दर्शन होते हैं। जिस प्रकार घी दूध में रमा रहता है पर मिलता उसी को है जो मथता है उसी प्रकार उस भगवान का साक्षात्कार विरले अध्यवसायी को ही मिलता है। उनका पक्का विचार है कि इस सर्वव्यापक देव की आराधना के लिए इधर उधर भटकने की जरूरत नहीं। वह न तो मंदिर में है और न मस्जिद में। वह हृदय में है, उसे वहीं देखा जा सकता है और वहीं उसकी सेवा की जा सकती है—

यहु मसीत यहु देहुरा सतगुर दिया दिखाइ।
भीतरि सेवा बन्दगी, बाहिर काहे जाइ॥[1]

घट में ही देव दर्शन की सुलभता के कारण उन्हें तीर्थ और व्रत भी व्यर्थ लगते हैं। ये सब बाह्य विधान हैं। इनमें फंसा हुआ आदमी बाहर ही भटका रह जाता है सार तक नहीं पहुंच पाता। इनका साध्य तो दूर रह जाता है साधन ही साध्य बन जाता है। भगवान के दर्शनों के लिए काशी और द्वारका तक दौड़ना इन्हें पसन्द नहीं—

दादू कोई दौड़े द्वारका, कोई काशी जाइ।
कोई मथुरा को चले साहब घट ही माँहि॥[2]

नानक का कहना है कि घट घट में व्यापक उस अविनाशी को खोजने के लिए वन-वन में भटकना व्यर्थ है। वह तो सब स्थानों पर एक सा ही है फिर उसे हृदय में ही क्यों न ढूंढा जाय?

काहे रे वन खोजन जाई।
सर्वनिवासी सदा अलेपा, तोहे संग समाई॥
बाहर भीतर एके जानो यह गुरु ज्ञान बताई।
जन नानक बिन आपा चीन्हे मिटे न भ्रम की काई॥[3]

पलटू साहब को भी अपने आराध्य देव का वही रूप पसन्द है जो हृदय में बसता है। निराकार की पूजा या आराधना में विश्वास के कारण ये ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पूजा नहीं करना चाहते—

ब्रह्मा विष्णु महेश न पूजिहौं ना मूरत चित लइहौं।
जो प्यारा मोरे घट माँ बसत है वाही को माथ नवइहौं॥

---

१ स० सा० पृ० २७१
२ स० सु० सा०, पृ० २४५
३ स० सु० सा०, पृ० २४४

साकार रूप का खण्डन

अपने मत के प्रतिपादन के लिए कभी कभी विरोधी मत का खण्डन आवश्यक हो जाता है। इनकी दृष्टि म निराकार और साकार म परस्पर विरोधी भावना है। इन साधको के समय म ईश्वर के साकार रूप की प्रबलता थी। निराकार रूप की न केवल उपेक्षा ही थी अपितु सगुणोपासक उसका खण्डन करने मे भी नही झिझकते थे। ऐसी स्थिति म इन कवियो ने ईश्वर के सच्च रूप के प्रतिपादन के लिए उस रूप का खण्डन किया जो इनकी दृष्टि मे भ्रामक एव असत्य था। उनका राम (ईश्वर) अनादि एव अनन्त है, उसकी रचना अन्य किसी ने नही की। उसे अपने आधार के लिए किसी अन्य आधार की आवश्यकता नही। वह स्वय मे परिपूर्ण है। वह लोक से तो परे है ही, वेद से भी परे है। यह समस्त ससार उसी से आच्छादित है। उसका न गाँव है न ठाँव है और न कोई खेडा है इसलिए वह वणनातीत है। अजन्मा होने से वह न युवा है और न वद्ध है और न बालक है। न वह दूर है, न समीप है, न उष्ण है और न शीत है। लिंग भेद से भी वह ऊपर है। न उसे पुरुष कहा जा सकता है और न स्त्री। उसका रग भी कोई नही न वह श्वेत है और न श्याम, न उसका विवाह होता है और न उसकी बारात चढती है। वह न पीताम्बर धारण करता है और न किसी भी कारण उसे अवतार लेने की आवश्यकता होती है—

> ना जसरथ घरि औतरि आवा, ना लका का राव सतावा।
> देवै कूख न औतरि आवा, ना जसवे ल गोद खिलावा।।
> ना वो ग्वालन के सग फिरिया, गोबरधन ले ना कर धरिया।
> बावन होय नही बलि छलिया, धरनी वद लेन उधरिया।।
> गडक सालिगराम न काला, मच्छ कच्छ ह्व जलहि न डोला।
> बदरी वस्य ध्यान नहि लावा, परसराम ह्व खत्री न सतावा।।
> द्वारामती सरीर न छाडा, ले जगनाथ प्यड न गाडा।।[1]

उनका स्पष्ट कथन है कि राम का अथ दशरथ सुत (दाशरथि राम) राम नही है। जो लोग ऐसा समझते है वे भ्रम म हैं। जो राम ज म धारण करते है, सीता के कहने से स्वण मग के पीछे दौडते हैं छिपकर बालि का वध करते हैं सीता के वियोग मे वन के वक्षो, लताओ और मगो से सीता का पता पूछते फिरते हैं, वे हमारे भगवान नहीं हो सकते। जो भगवान् सवशक्तिसम्पन्न है, जिनके सकेत मात्र से सब कुछ चल रहा है, जो सष्टि के उत्पादक, पालक और सहारक हैं, वे साधारण से राक्षसो के नाश के लिए पृथ्वी पर उतर कर आयेंगे—यह बात समझ मे नही आती।

कबीर ने राम के अवतार का तो कथन किया ही है, साथ ही कृष्ण के अवतार का भी खण्डन किया है। उनका कथन है कि जिस समय न तो यह पृथ्वी थी, न

---

१ क० ग्र०, प० २४३

यह आकाश था उस समय नन्द-नन्दन कहाँ थे ? अनादि और अविनाशी तो निरंजन है। सगुणोपासकों का नंद-नंदन चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते करते थक गया है।[1] उन्होंने यह भी कहा है कि कृष्ण भी मर जाते हैं और दूसरे लोग भी मर जाते हैं। जो कभी नहीं मरता, वह सृष्टि का सर्जन करने वाला है—

मूए कृष्ण मूए करतारा। एक न मुआ जो सिरजनहारा।[2]

× × ×

केतिक कान्ह भये मुरलीधर तिन भी अंत न पाया।[3]

सुन्दरदास का स्पष्ट मत है कि कि ब्रह्म निरीह है निरामय है, निर्गुण है और अखण्डित है नीचे ऊपर सब स्थानों पर स्वयं ही व्याप्त है अतः अवतार के रूप में उसके साकार होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो उत्पन्न होता है वह ब्रह्म नहीं, कुछ और है—

(क) जो उपजै बिनसै गुन धारत सो यह जानहु अंजन माया।
आवै जाइ मरै नहिं जीवन अच्युत एक निरंजन राया।।[4]

(ख) पूरन ब्रह्म निरंजन राया जिनि यहु नख सिख साज बनाया।
ताकहुँ भूलि गये बिभचारी, अइया मनुषहुँ बूझि तुम्हारी।।[5]

रैदास भी साकार ईश्वर के आराधक नहीं। वे भी ऐसे ईश्वर की पूजा करते हैं जिसका न कोई स्थान है और न कोई नाम है—

जोई जोइ पूजिय सोइ सोइ काँची सहज भाव सति होई।
कहि रैदास मैं ताहि को पूजूं जाके ठाँव नाँव नहिं कोई।।[6]

गुरु अमरदास का आराध्य भी निराकार है वह भौतिक इन्द्रियों की पहुँच से बाहर होने के कारण अगम और अगोचर है—

अगम अगोचर तेरा अंतु न पाइया।[7]

गुरु रामदास के आराध्य भी अनादि हैं अपरम्पार हैं और युग-युगान्तर में एक-से रहने वाले हैं—

---

१ क० ग्र० पृ० १०३
२ कबीर-बीजक पृ० ४५
३ वही पृ० ३५
४ सु० द० पृ० १५२
५ स० सु० सा०, भाग २ पृ० ६०१
६ वही, पृ० १४
७ वही पृ० २८६

तू आदि पुरखु अपरम्पार करता जी तुधु जो वडु अवर न कोई।
तूँ जुगु जुगु एको सदा तु एको जी तूँ निहचलु करता सोई ॥[1]

दरिया साहब ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि उस पुराण पुरुष का अवतार कभी नही होता—

पुरुष पुरान न होइ अवतारा, गाढ ज्योति कर उजियारा।
ज्योतिरूप जगत सब धरई, जहाँ जहाँ दुष्टन सब दरई ॥[2]

गुलाल साहब के आराध्यदेव का भी न कभी जन्म होता है और न विनाश। उसके न कोई माँ है और न पिता, न वह कही जाता है और न आता है—

ना वह उपज ना वह बिनस ना भरमै चौरासी।
है सतगुरु सत पुरुष अकेला अजर अमर अविनासी॥
ना वाके बाप नही वाके माता, वाके मोह न माया।
ना वाके जोग भोग वाके नाही, ना कहूँ गया न आया॥

मूर्ति पूजा का खण्डन

ईश्वर के साकार या सगुण रूप में विश्वास मूर्ति पूजा की ओर परिचालित करता है और निराकार या निर्गुण मे आस्था मूर्ति पूजा के खण्डन की ओर प्रवृत्त करती है। इन सबका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि इन कवियो ने मूर्ति पूजा का खण्डन बडे ही तीव्र शब्दा मे किया है। पाषाण की पूजा करते देखकर कबीर को उनकी बुद्धि पर आश्चय होता है। उनका कहना है कि पत्थर के पूजन से यदि भगवान की प्राप्ति हो जाया करती तो मैं पहाड की पूजा शुरू कर देता। पत्थर की पूजा से भगवान की प्राप्ति का माग यदि इतना सरल है तो लोग घर मे रखी चक्की की पूजा क्यो नही करत ? जब पुजारी लडडू को मूर्ति के सामने करके भट स्वय खा लेता है, कबीर को लगता है माना वह मूर्ति को चिढा रहा है। इनका विश्वास है कि पाहन-पूजा से मन की शान्ति कभी नही मिली—

सवें सालिगराम कूं मन की भ्रान्ति न जाइ।
सीतलता सुपिन नही दिन दिन अधकी लाइ ॥

उन्हें प्रसन्नता है कि वे गुरु कृपा से सन्मार्ग पर आ गये और इस चक्र से निकल गये। अब उनका बोझ हलका हो गया—

हम भी पाहन पूजत, होते वन के रोझ।
सतगुर की किरपा भयी, डार्‌या सिर थे बोझ॥

---

१ स० सु० सा०, पृ० ३१८
२ हि० वि० का० ओ० उ० दा०, पृ० ४३

गुरु नानक भी मूर्ति-पूजा को निस्सार समझते हैं। उनका कहना है कि वे एक प्रकार से अंधे और गूंगे हैं। उनके अनुसार 'हिन्दू बिल्कुल भूले हुए कुमार्ग पर जा रहे हैं। जो नारद ने कहा है वही पूजा करते हैं। उन अंधों और गूंगों के लिए घन घोर अंधकार है। वे मूर्ख और गंवार पत्थर लेकर पूज रहे हैं। हे भाई जिन पत्थरों की तुम पूजा करते हो, यदि वे स्वयं ही पानी में डूब जाते हैं तो उन्हें पूजकर संसार सागर से किस प्रकार तर सकते हो?'[1]

दादू को भी पत्थर की पूजा व्यर्थ ही लगती है। हृदय में स्थित देव को छोड़कर अन्य की पूजा क्यों की जाए? पत्थर तो वैसे ही निष्प्राण है उसे पूजनेवाला अन्त में पत्थर ही हो जायगा—

(क) दादू जिन कंकर पत्थर सविया सो अपना मूल गंवाइ।
अलख देव अंतरि बसै क्या दूजी जगह जाइ॥
(ख) पत्थर पीवे धोइ करि, पत्थर पूजे प्राण।
अन्तिकाल पत्थर भये बहु बूडे इहि ग्यान॥

दादू का कहना है कि भगवान चिंतामणि हैं उनसे मांगने से सभी मनोरथ पूरे होते हैं। जो भगवान का ध्यान न कर मूर्ति की पूजा करते हैं वे उस व्यक्ति के समान हैं जिसने पत्थर के बदले चिंतामणि बेच दी है। स्फटिकमणि सुंदर है पर क्या उससे सूर्य का काम लिया जा सकता है? अंधकार का नाश तो उसी समय होगा जब असली सूर्य उदित होगा। पाषाण की मूर्ति में भगवान को बन्द करने वाले संसार-सागर में डूब जाते हैं—

चिंतामणि कांकर किया मांगे कछू न देइ।
दादू कंकर डारि दे चिंतामणि कर लेइ॥
सूरिज फटिक पषाण का तासो तिमिर न जाइ।
साचा सूरिज परगट दादू तिमिर नसाइ॥
मूरति घड़ी पषाण की, कीया सिरजनहार।
दादू साच सूझै नहीं यूं डूबा संसार॥

मलूकदास की दृष्टि में भी सजीव को छोड़कर निर्जीव की पूजा से क्या लाभ है—

जेती देखे आतमा, तेते सालिगराम।
बोलनहारा पूजिये पत्थर से क्या काम॥[2]

कबीर के ही समान इनका भी कहना है कि जब पत्थर की ही पूजा करनी है तो फिर उस चक्की की पूजा क्या न की जाय जिसका पिसा आटा संसार खाता है।

---

१ नानक-वाणी बिहागड़ की वार सलोक २

२, सं० सु० पृष्ठ ३७

देवल पूजे कि देवता, की पूजे पाहाड़।
पूजन को जांचा भला, जो पीस खाय ससार॥[1]

दरिया साहब (बिहार वाले) का भी विचार है कि भगवान् के निमल रूप की पूजा करनी चाहिए। जो लोग पत्थर की पूजा करते हैं वे यम के शिकार बनते हैं—

परमातम के पूजते, निमल नाम अधार।
पडित पत्थर पूजते, भटके जम के द्वार॥[2]

बाह्याचार का विरोध

मूर्ति-पूजा तो भक्त को भगवान् के असली रूप से दूर रखती ही है पर समाज म प्रचलित अनेक प्रकार के बाह्याचार भी भक्त के लिए उलझन बनकर रह जाते हैं। यदि पथिक पडाव को ही गतव्य समझकर रुका रह जाय तो वह गतव्य तक पहुँच कसे सकेगा? इस प्रकार के बाह्य आचारो म व्रत राजा, नमाज और तीर्थाटन प्रभति को लिया जा सकता है। व्रत शारीरिक शुद्धि के लिए किसी सीमा तक सभवत ठीक हैं, पर व्रतो के द्वारा शरीर को कृश बना देना ही जिनकी दृष्टि मे आराध्य देव को प्रसन्न करने का उपाय है ऐसे व्यक्तियो को इन निर्गुणियो ने आडे हाथो लिया है। शरीर की कृशता को व्यथ समझकर ही भगवान् बुद्ध ने उसका परित्याग कर सुजाता की खीर को ग्रहण किया था। दिन भर अनशन रखना और फिर पेट को कोठी के समान भर लेना अपने को भ्रम म रखना है। मुसलमानो का रोजा भी इसी कारण इन कवियो को पसन्द नही आया। उनका दिन भर अन्न जल के बिना रहना और रात्रि मे गाय को मारकर अल्लाह को खुश रखने या करने की भावना उपहासास्पद ही है। कबीर ने इसीलिए उन्हें फटकारते हुए लिखा है—

दिन भर राजा रहत हैं, रात हनत हैं गाय।
कसा खून यह बन्दगी, कसी खुसी खुदाय॥

इसी प्रकार मस्जिद मे बठकर मुल्ला का जोर-जोर से बाँग देना और खुदा को प्रसन्न करने का काय इन साधको को कभी नही जँचा। उन्हें तो यह ढोंग ही प्रतीत हुआ—

काँकर पाथर जोरिकै, मस्जिद लई चुनाय।
ता चढि मुल्ला बाँग दे, बहिरा हुआ खुदाय॥

इन कवियो की दृष्टि मे जोर-जोर से बाँग देने का अथ खुदा को बहिरा समझना है। जो घट घट मे व्यापक है वह क्या नहीं सुनता? रोजा-नमाज और कलमा, इनसे आराध्य देव को प्रसन्न नही किया जा सकता—

---

१ स० सु०, पृष्ठ ३८

२ वही, भाग २, पृष्ठ ६७

रोजा धर निवाजु गुजार कलमा भिस्त न हाई ।
सत्तरि काबा घट ही भीतर, ज करि जान कोई ॥
निवाजु साइ जा न्याय बिचारे कलमा अक्लहि जान ।
पाँचहुँ मुसि मुसला बिछाय तब तो दीन पछान ॥[1]

इसी प्रकार तीर्थाटन, गंगा-स्नान वेद-मन्त्रों का पाठ केशों का कटाना इन सब बातों से इष्टदेव के सामीप्य की प्राप्ति की बात सोचना मूर्खता ही है । यदि तीर्थ-यात्रा से मुक्ति हो जाती भगवान के दर्शन मिल जाते तो वहाँ रहने वाले सभी भगवान के प्रिय हो जाते । गंगा-स्नान ही यदि भगवत प्राप्ति में सहायक होता तो वहाँ की मछलियाँ भी भगवान में मिल जातीं । केशों को कटवाने से यदि भगवान् प्रसन्न हो जाते तो भगवत प्राप्ति का मार्ग बहुत आसान हो जाता । कबीर का सीधा सा परामर्श मन को शुद्ध करने का है—

केसन कहा बिगारिया जो मूडो सौ बार ।
मन को क्यों नहीं मूडिये जामे विष बिकार ॥

बहुत से व्यक्ति नागा बनकर नंगे फिरने लगते हैं और बहुत से सिर मुंडा लेते हैं । ऐसे व्यक्तियों का समभान हुए कबीर ने कहा है कि यदि ऐसा करने से मुक्ति मिल जाया करती तो वन के मृग और भेड़ कभी के मुक्त हो चुके होते—

नागे फिरे जोग जा होई वन का मृग मुकति गया कोई ।
मूड मुडाय जो सिधि होई स्वर्ग ही भेड न पहुँची काई ॥[2]

यों तो कबीर स्वतन्त्र विचारक थे पर फिर भी वैष्णव धर्म की ओर उनका काफी झुकाव था । इन वैष्णवों में भी जहाँ-जहाँ उन्हें आडम्बर दीख पड़ा है उन्होंने उसका खण्डन किया है । छापे और तिलक को सब कुछ मानने वालों के लिए उन्होंने कहा है—

बसनो भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक ।
छापा तिलक बनाइ करि दाध्या लोक अनेक ॥[3]

उन्होंने यह भी कहा है कि यदि केवल स्नान से ही ईश्वर प्राप्ति हो जाया करती सिद्धि मिल जाती तो सबसे पहले मछलियों को सिद्धि मिलनी चाहिए थी—

जल के मजन जो गति होई, मीना नितही न्हाव ।
जसा मीन तसा नरा, फिरि फिरि जोगी आव ॥

---

१ क० ग्र० पष्ठ ३३३
२ वही, पष्ठ १३०
३ वही पष्ठ ५६
४ वही, पृ० २०४

इसी कारण कबीर ने बडे ही स्पष्ट शब्दो म हृदय की शुद्धि पर बल दिया है फिर चाहे केश रखो या न रखो —

(क) साई सेही साच चल, औरो सो सुध भाय।
भावै लम्बे केस कर, भावै घुरडि मुडाय ॥[1]

(ख) हरि न मिल बिन हिरदे सूध ॥

वेद मन्त्रो के पढने से यदि भगवान प्रसन्न हो जाते तो जप, तप और यम-नियमो का पालन करने का कष्ट कौन उठाता ? यदि गधे की पीठ पर कुरान शरीफ या वेद लाद दिया जाय तो क्या वह गधा भगवान को प्रिय हो जायेगा ? निरुक्तकार यास्क ने भी ऐसे मन्त्रपाठियो को भारवाही गधा ही कहा है। इन सब कवियो न इस बाह्याचार और कर्मकाण्ड का भी समर्थन नही किया। धर्मदास का कहना है कि वेद पढने वाले पण्डित झूठे हैं। यदि वेद मन्त्रो के पठन मात्र स इतनी शक्ति मिल जाती है तो वे उस शक्ति से अपने पूर्वजो को क्यो नही जिला देते—

झूठे पडित वेद पढि पढि जग भरमाई।
उसके पुरखा मरि गये उन काहू न जिवाई ॥[2]

गुरु नानक भी धर्म का बाह्याडम्बरो और रूढियो स मुक्त कराना चाहते थे। उनका सारा बल आन्तरिक भावो का ग्रहण करने पर है। बाहर के जनेऊ धारण करने से ही लाभ नही होता। सच्चे जनेऊ का अर्थ समझाते हुए उन्होंने कहा है ' वह जनेऊ जिसकी कपास दया हो, जिसका सूत सन्तोष हो, जिसकी गाठ सयम हो, जिसकी पूरन सत्त्वगुण हो, हे पडित, यदि तुम्हारे पास इस प्रकार का जनेऊ हो तो मेरे गले मे पहना दो। ऐसा जनेऊ न तो टूटता है, न गन्दा होता है न जलता है और न कभी नष्ट होता है। हे नानक, वे ही मनुष्य धन्य हैं जो अपने गले मे ऐसा जनेऊ पहनकर (परलोक) जाते हैं।'"[3]

इसी प्रकार मुसलमानो को भी समझाते हुए उन्होंने कहा है कि रोजा और सुन्नत वह नही जिसे वे समझते हैं। केवल तसबीह (माला) खुदा के पास नही पहुँचा देती। इनके असली रूप का समझाते हुए वे कहते हैं—

"प्राणियो के ऊपर दया भावना की मस्जिद बनाओ और श्रद्धा को मुसल्ला। हक की कमाई को कुरान और बुरे कर्मों के प्रति लज्जा का सुन्नत मानो। शान्त स्वभाव को रोजा बनाओ, हे भाई, इस विधि से मुसलमान बनो। शुभ कर्मों का रोजा सच्चाई को पीर सुन्दर और दयापूर्ण कर्म, को कलमा और नमाज बनाओ।

---

१ क० ग्र०, पृ० ४

२ सु० दा० ग्र०, पृ० ३०१

३ नानक-वाणी, आसा की वार, सलोक २

जो बात खुदा को अच्छी लगे, उसी को मानना तुम्हारी तसबीह हो। हे नानक, खुदा ऐसे ही मुसलमान की लज्जा रखता है।'[1]

गुलाल साहब का भी कहना है कि लोग बाहरी बातों में उलझ गये हैं, मर्म को नहीं समझते। वे सात्विकता तथा वेद में लीन हो गये हैं यही दुख का कारण है।[2] सुन्दरदास ने भी सभी प्रकार के बाह्याचार का खण्डन करते हुए कहा है—तू क्या परिश्रम करता है क्या व्यर्थ तीर्थ के लिए भटकता है सत्य तो घर-बैठे ही आता है। कोई दूध पीता है, कोई सिद्धि के लिए पागल हो गया है केवल संत ही गाय के ऐसे बछड़े हैं जो नित्य ही बिना परिश्रम के जल पीते हैं और मस्त रहते हैं। यन्त्र, मन्त्र और झाड़ फूंक करना व्यर्थ है, रसायन क्रिया भी व्यर्थ है इन सब बाह्य क्रियावादियों के सिर पर रज पड़ती है।[3] गुरु तेगबहादुर भी कहते हैं कि यदि सच्चे हृदय से भगवान की शरण में नहीं गये तो तीर्थ व्रत योग, यज्ञ सभी उसके लिए व्यर्थ हैं। जिस प्रकार पानी में पड़ा हुआ पत्थर पत्थर ही रहता है, उसमें कोमलता नहीं आती, उसी तरह तीर्थ में रहने पर भी हृदय की शुद्धि के बिना कोई लाभ नहीं—

कहा भइउ तीरथ व्रत कीए　राम सरनि नहिं आव।
जोग जग्य निहफल तिह मानौ　जो प्रभु-जसु बिसराव॥

तीरथ कर बिरत मुनि राखै, नहि मनुवा बसि जाको।
निहफल धरम ताहि तुम मानो साँचु कहत मैं याको॥
जस पाहन जल महिं राखिउ भेद नहिं तिहि पानी।
वैसे ही तुम ताहि पछानो भगति हीन जो प्रानी॥[4]

दादू का कहना है कि यदि भगवान के सिवाय अन्य किसी का ध्यान न किया जाय, तो वही सच्ची नमाज है और यदि मन में यह समाया हुआ है तो तसबीह (माला) फेरने की कोई जरूरत नहीं—

दादू काया महल में निमाज गुजारूँ, तहँ और न आने पाव।
मन मणके करि तसबी फेरूँ तब साहिब के मन भाव॥[5]

बाहरी वेशभूषा और रोजा नमाज से ही कोई मुसलमान नहीं हो जाता। ये तो सब बाहरी निशान हैं सच्चा मुसलमान होने के लिए अल्लाह का कहना मानना जरूरी है—

---

१ नानक वाणी माझ की वार सलोक १०
२ सु० दा० ग्र०
३ वही, पृ० ७३३
४ वही पृ० ३६२
५ वही पृ० ४७६

मुसलमान जो राख मान, साईं का मान फुरमान।
सारो वा सुखदाई होई, मुसलमान करि जानू सोई ॥[1]

सुन्दरदास का भी कहना है कि जो लोग कृत्रिम पूजा और तीर्थ व्रत मे लगे रहते हैं और गुरु की शरण म नही जाते, वे सच्ची राह कभी नहीं पाते—

तो भक्त न भावै, दूरि बतावै, तीरथ जाव फिरि आवैं।
जो कृत्रिम गावै पूजी लाय, झूठ दिढाय बहिकावै ॥
अरु माला नाव, तिलक बनावै, क्यो पाव गुरु विन गेला।
दादू का चेला, भरग पछेला सुन्दर न्यारा ह्वै खेला ॥[2]

बहुत से व्यक्ति बालो को नोचने और कान फुडवाने मे ही सिद्धि का अनुभव करते हैं, सुन्दरदास का कहना है कि ये ढोगी लोगो का व्यर्थ ही हँसने का मौका देते हैं—

केस लुचाइ न ह्वै जती, कान पराइन जोग।
सुन्दर सिद्धि कहा भई, बादि हँसाये लोग ॥

जाति-पाँति का खण्डन

इस भक्ति शाखा म ज्ञान की महत्ता सर्वोपरि है, यह पीछे कहा जा चुका है। उच्चता और नीचता का मापक यन्त्र ज्ञान होने से जन्मगत जातिपाँति का महत्त्व इनके यहा बिल्कुल नही है। भगवान सबके पिता हैं, फिर पिता की दृष्टि मे कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र ? भगवान का जो भजन करता है वही हरि का जन है, यहाँ जातिपाँति नही पूछी जाती। यदि कुछ पूछना ही है तो ज्ञान को पूछना चाहिए—

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ग्यान।
मोल करो तलवार का, पडा रहन दो म्यान ॥

ब्राह्मण होने से ही कोई आराध्य देव को प्रिय होता हो और शूद्र होने से ही अप्रिय, यह बात समझ म नही आती। भगवान ज्ञान से प्राप्त होते हैं और ज्ञान किसी वर्ण विशेष की बपौती नही। यदि कबीर जुलाहे के घर पैदा हुए थे तो क्या वे इसी कारण छोटे हो गये ? काशी के ब्राह्मण को ललकारते हुए वे कहते हैं—

तूँ बाम्हन मैं कासी का जुलहा, बूझहु मोर गियाना।
तुमतो पाचे भूपति राजे हरि सो मोर धियाना ॥[3]

उनका दृढ विश्वास है कि हिन्दू और मुसलमान तथा ब्राह्मण और शूद्र का

---

१ स० सु० सा०, पृ० ४७८
२ वही, पृ० ५६१
३, क० ग्र०, पृ० ३३०

अन्तर कृत्रिम है। यह अपने को बड़ा मानने वालो का दम्भ है। यदि भगवान् को यह अन्तर पसन्द होता तो वे हिन्दू और मुसलमान म तथा ब्राह्मण और शूद्र म अपने हाथ से अन्तर करके भेजते। इसी कारण व्यर्थाभिमानी तुर्क और पण्डित को फटकारते हुए वे कहते हैं —

नहि को ऊँचा नहि को नीचा।
जाका प्यड ताही का सीचा॥
जा तू बाभन बभनि जाया॥
तो आन बाट ह्वे क्यू नहि आया।
जो तू तुरक तुरकिनी जाया
तौ भीतरि खतना क्यू न कराया॥
कहै कबीर मधिम नही कोई।
सो मधिम जा मुखि राम न होई॥[1]

इसी भाव को दुहराते हुए उन्होंने एक अन्य स्थान पर मानव मात्र की समता पर बल दिया है—

एक बूद एक मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक जोति थे सब उत्पना को बाम्हन कोन सूदा॥

कहै कबीर एक राम जपहु रे हिन्दू तुरक न कोई।[1]

कबीर का यह भी कहना है कि परम्परागत हिन्दू और मुसलमान घरा म जन्म लेने से कोई हिन्दू और मुसलमान नही हो जाता। जिस आदमी का ईमान बना हुआ है जिसने ब्रह्म की अनुभूति कर ली है वही ब्राह्मण और काजी कहलाने का अधिकारी है—

सो हिन्दू सो मुसलमान जाका दुरस्त रहे ईमान।
सा बाम्हन कथ ब्रह्म गिआन काजी सा जा जान रहिमान॥

मुसलमान समझते है कि खुदा मस्जिद म ही रहता है और हिन्दू समझते हैं कि उसका निवास मूर्ति म ही है। कबीर का कहना है कि य दानो ही भ्रम मे हैं। दोनो ही तत्त्व ज्ञान से शून्य हैं—

जो रे खुदाय मसीत बसतु है, अबर मुलुक किहि केरा।
हिंदु खुरत्ति नाम बिसरी, दुहू मति तत्तु न हेरा॥

प्रसगवश यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि कबीर और तत्कालीन

१ क० ग्र० प० १०२
२ क० ग्र०, पृ० १०६

अन्य सन्तो के समय मे ज्ञान के द्वार सबके लिए नही खुले थे। सूत्रकाल मे 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्'' का जो सिद्धान्त प्रचलित हुआ था वह अपनी चरम सीमा पर था। वेदो के अध्ययन का मार्ग तो शूद्रो के लिए अवरुद्ध था ही, उन्हें देव मन्दिर मे जाने का भी अधिकार न था। जनऊ पहनने का अधिकार न होने से ये लोग कण्ठी पहनते थे। स्वय कबीर को रामानन्द का शिष्य बनने के लिए अधेरे मे गगा के घाट की सीढियो पर लेटना पडा था। समाज के अन्याय को इन्होने स्वय सहा था। भगवत प्राप्ति के मार्ग की सब बाधाओ को दूर करने निकले थे। सिद्धान्तत और मुक्त भोगी होने के नाते भी इन्हें जाति-पाति से घृणा थी। हिन्दू और मुसलमान के झगडो ने उनकी दृष्टि मे जाति-पाति की व्यर्थता सिद्ध कर दी थी।

गुरु नानक भी जाति पाँति के बन्धनो को व्यर्थ मानते हैं। यह भेद मानव-मानव के बीच भारी खाई को खोद रहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य और शूद्र के भेद मानव-कृत हैं। उनका कहना है कि जीव-मात्र मे परमात्मा की ज्योति समझो। जाति के सम्बन्ध मे प्रश्न न करो, क्योकि आगे भी किसी प्रकार की जाति नही थी—

जोगीहु जाति न पूछहु जाति आगे न थी जाति न ह्व है।[1]

दादू का भी विश्वास है कि भगवान् के दरबार मे मानव मात्र एक है। वहा न कोई हिन्दू है और न कोई मुसलमान। ये भेद तो कृत्रिम है। मानव का कल्याण तो इसी मे है कि उसके बीच की यह जाति की दीवार दूर हो जाय। इसीलिए वे अपने को न हिन्दू कहते हैं और न मुसलमान—

दादू ना हम हिन्दू होहिंगे, ना हम मुसलमान।
षट दर्शन मे हम नही, हम रात रहिमान॥[2]

यही कारण है कि वे न मन्दिर के पक्ष मे हैं और न मस्जिद के। उन्हे तो इन दोनो से ऊपर उठकर उस अलख से भेंट की लगन है—

दादू हिन्दू लागे देहुरे, मुसलमान मसीति।
हम लागे एक अलख सो, सदा निरन्तर प्रीति॥[3]

सुन्दरदास भी इन कृत्रिम भेदो मे विश्वास नही करते। ब्राह्मण और शूद्र का भेद तो उनकी दृष्टि मे व्यर्थ है ही, वे अन्य सन्तो के समान मानवमात्र को एक मानते हुए हिन्दू और मुसलमान के भेद से ऊपर उठने की सलाह देते हैं—

चिन्ह बिना सब कोई आए। इहा भए दोइ पन्थ चलाए।
हिन्दू तुरक उठ्यो यह भर्मा, हम दोऊ को छाड्यो धर्मा॥

---

१ नानक-वाणी, आसा, सबद ३

२ स० सु० सा०, पष्ठ ४८६

३ वही प० ५६७

× × ×

हिंदू की हद छाडिक तजी तुरक की राह।
सुन्दर सहजे चीन्हियाँ एक राम अलाह ॥[1]

पौराणिकता या साकार रूप का प्रभाव

ऊपर निगुण सम्प्रदाय की नानाश्रयी शाखा के प्राय सभी प्रमुख कवियो की रचनाओ म जो उदाहरण दिय गये हैं वे स्पष्टरूप स सिद्ध करत हैं कि य सभी कवि सिद्धान्तत ईश्वर को निराकार मानत हैं। जिस देव सत्ता म इनका विश्वास है वह अलख और अरूप है पर फिर भी साकार देव के दशन न होते हो ऐसी बात नही। सगुणोपासक कवियो द्वारा प्रयुक्त शब्दावली ही इन कवियो ने अपनायी हो इतनी ही बात नही सगुण लीला का वणन भी इन कवियो न विस्तारपूवक किया है। ऐसा होने के अनेक कारण हो सकत हैं। कबीर रामानन्द के शिष्य थे और अपने गुरु की साकारोपासना का उन पर यदि कुछ प्रभाव रह गया हो तो स्वाभाविक ही है। इस शाखा के प्राय सभी कवि किसी-न किसी रूप म कबीर स प्रभावित हैं अत साकारोपासना का थोडा बहुत प्रभाव कबीर के ही माध्यम से उनकी रचनाओ म भी मिल ही जाता है। दूसरा कारण पौराणिक शैली की प्रभविष्णुता कहा जा सकता है। वष्णव कवियो न अवतारवाद म कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति भर दी थी और अपनी शैली को इन्होंने कुछ इतना अधिक आकषक बना लिया था कि जनता बलात उधर खिची आती थी। य पौराणिक कथाकार दाशनिक सिद्धान्तो की व्याख्या पर कम बल दते थ और कथा-कहानियों पर अधिक। कथा-कहानी क माध्यम स कही हुई बात हृदय को अधिक सुगमता स स्पर्श करती है। जनता को भगवान के प्रति उन्मुख करने के लिए इन सब कवियो न साकार ईश्वर क नामो भक्तो की कथाओ और भगवान की अवतार-लीलाओ को ज्यो-का-त्यो स्वीकार कर लिया है।

कबीर का देव पुहुप-बास स पातला और पाणी ही त भीन है सही पर स्थान-स्थान पर वह साकार भी हो उठा है। व गोविन्द गोपीनाथ मुरारी और बनवारी-जसे साकार भावपरक विशेषणो का प्रयोग करत हैं ब्रह्मा और महेश का उल्लेख करत हैं और इन्द्र तथा शिव के लोको की चर्चा करत हैं। पौराणिक कथाशास्त्र का शायद ही कोई ऐसा विशेषण है जिसका प्रयोग कबीर की रचनाओ म न हुआ हो पर बात इतनी ही नहीं है। व स्पष्ट रूप स कहत हैं कि नाम क प्रताप से पाषाण जल म तर जाते हैं और अधम भील और गणिका विमान पर चढकर स्वग चले जाते हैं—

है हरि भजन को प्रवाँन।
नीच पाव ऊँच पदवी बाजत नीसान ॥

---

१ सं० सु० सा०, पृ० ५६७

भजन को परताप ऐसो, तिरे जल पाखान।
अधम भील कुजाति गनिका, चढे जात बिमान ॥[1]

एक अन्य पद म प्रह्लाद की पूरी कथा दी गयी है। कहा गया है कि जब राम-नाम न छोड़ने पर हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को खम्भे से बाँधकर मारना चाहा, तो देवाधिदेव नृसिंह रूप म प्रगट हुए और उन्होंने प्रह्लाद की रक्षा की—

तब काढि खड्ग काप्यो रिसाइ, कहँ राखनहारो माहि बताइ।
तब खम्भा फारि प्रगट्यो गिलारि, हरनाकुस मार्यो नख बिदारि॥
हे महापुरुष देवाधिदेव, नरस्यध प्रगट कियो भगति भेव।
कहँ कबीर कोई लहै न पार, प्रहिलाद उबार्यो अनेक बार॥[2]

विष्णु की नाभि के कमल स ब्रह्मा के और चरणो से गगा के उत्पन्न होने की बात भी कबीर ने कही है—

वाक नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गगा तरग रे॥[3]

भगवान् कृष्ण न दुर्योधन के राजकीय सम्मान का तिरस्कार कर निर्धन विदुर के घर जो साग पात का भोजन किया उससे भी कबीर का भावुक हृदय अत्यधिक प्रभावित हुआ है और उन्होंने इसका वर्णन इन शब्दो म किया है—

राजन, कौन तुम्हारे आव।
ऐसो भाव विदुर का देख्यो वह गरीब मोहि भाव।[4]

राधा-कृष्ण के पौराणिक रूप का वर्णन भी दर्शनीय है—

इहि बनि बाजे मदन भेरि रे, उह बनि बाजे तूरा रे।
इहि बनि खेलै राही रुक्मनि, उहि बन कान्ह अहीरा रे॥
आमि पासि तुरसी को बिरवा, माहि द्वारिका गाउँ रे।
तहा मेरो ठाकुर राम राइ है, भगत कबीरा नाउँ रे॥

यही नही शार्ङ्गपाणि भगवान का उनका चित्रण भी उनके पौराणिक ढग से ही हुआ है—

राजा अम्बरीष के कारणि चक्र सुदरसन जोरे।
दास कबीर का ठाकुर ऐसो भगतन की सर न उबारी॥[5]

एक अन्य पद म प्राय सभी पौराणिक देवी देवताओ के नाम इकट्ठे ही आ

---

१ क० ग्र०, पृष्ठ १६०
२ वही, पृष्ठ २१४
३ वही, पृष्ठ २१८
४ वही, पृष्ठ ३१६
५ वही, पृष्ठ १२६

गये हैं। वे कहते हैं कि मैं केवल भगवान राम से याचना करता हूँ अन्य देवों से मेरा कुछ भी प्रयोजन नहीं है। राम के यहाँ करोड़ों सूर्य प्रकाश करते हैं करोड़ों महादेव कैलाश पर्वत हैं। करोड़ों ब्रह्मा वेदपाठ करते हैं करोड़ों दुर्गा पर स्वामी हैं करोड़ों चन्द्रमा दीपक का कार्य करते हैं। तैंतीस करोड़ देवता जिनके यहाँ भोजन करते हैं, करोड़ों नवग्रह जिनके दरबार में खड़े हैं धर्मराज जिसकी ड्योढ़ी पर प्रतिहार बने हुए हैं, करोड़ों कुबेर जिनके कोष के भण्डारी हैं करोड़ों लक्ष्मी जिनका शृंगार करती हैं करोड़ों गन्धर्व जिनका जय जयकार कर रहे हैं करोड़ों विद्याएँ जिनके गुणों का वर्णन नहीं कर पातीं करोड़ों वासुकि जिनकी शय्या तैयार करते हैं करोड़ों पवन परिक्रमा करते हैं करोड़ों समुद्र जिनका पानी भरते हैं ५२ करोड़ कोतवाल जिनके नगर के क्षेत्रपाल बने हुए हैं जिनकी लटें बिखरी हुई हैं उस नटवर गोपाल की कलाएँ अनन्त हैं। करोड़ों कन्दर्प जिनका लावण्य बखानते हैं उस शार्ङ्गपाणि भगवान् का भजन करना चाहिए—

> जो जाँचौ तौ केवल राम, आन देव सूँ नाहीं काम।
> जाकै सूरिज कोटि करैं परकास, कोटि महादेव गिरिकविलास॥
> ब्रह्मा कोटि वेद उचरै, दुर्गा कोटि जाकै मरदन करै।
> कोटि चन्द्रमा गहै चिराक, सुर तेतीसूँ जीमैं पाक॥
> नौ ग्रह कोटि ठाढ़े दरबार, धरमराइ पौलि प्रतिहार।
> कोटि कुबेर जाकै भण्डार, लक्ष्मी कोटि करै सिंगार॥
> कोटि पाप पुनि ब्यौहरै, इन्द्र कोटि जाकी सेवा करैं॥
> जगी कोटि जाकै दरबार, गंध्रप कोटि करैं जैकार।
> विद्या कोटि सबै गुण कहै, पारब्रह्म कौ पार न लहै॥
> बासिग कोटि सेज बिसतरैं, पवन कोटि चौबारैं फिरैं।
> कोटि समुद्र जाकै पणिहारा, रोमावलि अठारह भारा॥
> असंखि कोटि जाकै जमावली, रावण सैन्या जाथैं चली।
> सहसबाहु के हरे परांण, जरजोधन घाल्यौ खै मांन॥
> बावन कोटि जाकै कुटवाल, नगरी नगरी खेत्रपाल।
> लट छूटी खेलै बिकराल, अनंत कला नटवर गोपाल॥
> कंद्रप कोटि जाकै लांवन करैं, घट घट भीतरि मनसा हरैं।
> दास कबीर भजि सारंगपान, देहु अभै पद मांगौ दान॥[1]

दादू की स्थिति भी ऐसी ही है। पौराणिक शब्दावली के अतिरिक्त उन्होंने उनके गो चारण, वंशी-वादन और रास का भी उल्लेख किया है—

---

१ क० ग्र० पद ३४०

प्रभु बोलि स्वामी अन्तरवाणी, तेरा सबद सुहावै राम जी।
धेनु चरावन, बनु बजावन, दस दिखावन कामिनी॥
विरह उपावन, तपन बुझावन, अगि लगावन भामिनी।
सग खिलावन, रास बनावन, गोपी भावन भूधरा॥
दादूतारन, दुतनिवारन, सन्त सुधारण राम जी॥

नानक भी साकार रूप से आकृष्ट हुए हैं। भगवान का असुर सहारक रूप उन्हे बडा पसन्द है—

असुर सहारण गमु हमारा। घटि रमहवाँ राम पिआरा।[1]

एक अन्य पद म इन्द्र, ब्रह्मा और कृष्ण की चर्चा है—

(क) आखहि वेद पाठ पुराण। आखहि पढे करहि वखिआन।
आखहि बरमै आखहि इन्द्र। आखहि गोपी ते गाविन्द॥
आखहि ईसर आखहि सिद्ध। आखहि कत कीते बुद्ध।
आखहि दानव आखहि देव। आखहि सुरि नर मुनि जन सेव॥[2]

(ख) गावहि ईसरु बरमा देवी साहनि सदा सवासे।
गावहि इन्द इन्दासणि बठे दवतिआ दरि नाले॥[3]

जा रदास वण, नाम और स्थान की सीमा म न बधने वाले देव की पूजा करते हैं वही गणिका को पार उतारने वाले साकार विष्णु की भी पूजा करते हैं—

ऐसे जानि जपो रे, जीव जपिल्यो राम न भरमो जीव।
गनिका थी किस करमा जोग, पर पुरुष से रमती भोग॥
निसिबासर दुष्करम कसाई, राम कहत बकुण्ठे जाई।
मोर जाति कुचिल म बासी, भगत चरन हरि चरन निवास॥

एक अन्य पद म वे अपने दव से कहत है कि यदि तुमन अजामिल, गणिका और कुजर को पार उतार दिया है तो मेरी बारी आने पर ढील क्या करते हो?—

लाग वाकी कहा जान तीन लोक पयन्तरे।
अजामील गजगणिका तारी, तारी कुजर की बात रे।
ऐसे दुरगत मुक्त किए तो क्यो न तरे रदास रे।[4]

जिस शिव के शरीर म भस्म लगी रहती है, छाती पर सप लटके रहते हैं और जिसके तीन नेत्र हैं, उस शिव के विषय म भी रदास का यह पद दशनीय है—

---

१ गु० ग्र० सा० प० १०२८
२ स० सु० सा०, प० २२७
३ वही, पृ० ४२८
४ स० वा० कल्याण २१६

गावि दे तुम्हार से समाधि लागी।
उह भुजग भस्म अग सतत वरागी॥
तीन नन, अमत बन सीस जटाधारी।
कोटि-कल्प, ध्यान अलप मदन प्रतकारी॥

सु दरदास भी साकार की मोहिनी से बच नही सके। उन्होने गौरी, शकर और प्रह्लाद की चर्चा किस प्रकार की है यह निम्नलिखित पद म देखिय—

राम नाम शकर करयो गौरी को उपदस।
सु दर ताही राम का, सदा जपुन है सेस॥
राम नाम नारद करयो मोर्अहि ध्रुव के ध्यान।
प्रगट भये प्रह्लाद पुनि सु दर के भगवान॥

मलूकदास के राम कहीं-कहीं रावण क मारन वाले रघुवशी राम भी हैं—

गव न कीज बावरे हरि गव प्रहारी।
गर्वहि ते रावन गया, पाया दुख भारी॥[1]

गुरु अर्जुनदेव ने एक पद म विष्णु के पौराणिक रूप का वणन करने के अतिरिक्त उनके अवतारो एव अवतारी कार्यों का भी वणन किया है—

(क) धरणी धर हँस नरसिंह नारायण। दाढा धन प्रथमि धारण।
बावन रूप कीना॥[2]

(ख) मुकुन्द मनोहर लक्ष्मी नारायण द्रौपदी लाज निवारि उधारण।
कमला कान्त करहि कुतूहल ॥[3]

गुरु तेगबहादुर को भी भगवान का वह रूप पसन्द है जिसन अजामिल और गणिका का उद्धार किया था भरी सभा म पाचाली की लाज बचायी थी—

हरि का नामु सदा सुखदाई
जाका सिमिरि अजामिल उधरयो गनकाहू गति पाई॥
पचाली का राजसभा म रामनाम सुधि आई।
ताका दुक्ख ह्रयो करुनामय अपनी पज पढाई॥[4]
मन रे प्रभु की सरनि बिचारो।
× × ×
जिह सिमिरत गनिका सी उधरी ताको जसु उर धारो॥

---

१ स० वा० कल्याण प० २३७
२ गु० ग्र० सा० पष्ठ १०८५
३ वही प० १०८५
४ स० सु० सा०, पष्ठ ३८८ ८९

अटल भयो ध्रुव जाके सिमिरत अरु निरभ पदु पाइआ ।
दुखहरता इह बिधि का स्वामी त काहे विसराइआ ।।
जब ही सरनि गही किरपानिधि, गज गराह ल छूटा ।
महिमा नाम कहाँ लगि बरनउ, राम कहत बघन तिह छूटा ।।
अजामेलु पापी जगु जाने, निगम माँहि निसतारा ।
नानक कहत चेत चितामनि, ते मो उतरहि पारा ।।

रही बात गुरु गोविन्दसिंह की, उनके भावुक हृदय से देवी चण्डी की स्तुति मे जो पद निकले हैं वे साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति हैं । शुम्भ और निशुम्भ का वध करने वाली देवी चण्डी की स्तुति कर अन्त म वे उससे यही वर माँगन हैं—

देइ सिवा वर मोहि इहै सुभ करमन से कबहू न टरौं ।
न डरौं अरि सों जब जाइ लरौं निसच कर अपनी जीत करौं ।।[1]

उनकी ही लेखनी से लिखा गया रासलीला का यह वणन भी पठनीय है—

जब आई है कातक की रत शीतल कान्ह तब अतिही रसिया ।
संग गोपिन खेल विचार करयो, जो हुतो भगवान महारसिया ।।
अपवित्रन लोगन के जिह के पग लागत पाप सबै नसिया ।
तिह को सुनि तिरियन के सग खेल, निबारहु काम इहै बसिया ।।[2]

इस प्रकार हम देखने हैं कि निगुण सम्प्रदाय की शाखा के ऊपर पौराणिकता का पर्याप्त प्रभाव है ।

एक बात हम फिर स्पष्ट कर दें कि जहा कही यह पौराणिक प्रभाव है उसे साकार रूप की सैद्धातिक स्वीकृति के रूप म नहीं समझना चाहिए । अपने सिद्धात के विषय मे इन कवियो के मन म अणु मात्र भी सन्देह नही है । उनका देव निराकार है, अजन्मा, अनादि और सव-व्यापक है । पौराणिक शली का ग्रहण इन कविया ने जन मन को आकृष्ट करने के लिए ही किया है, सिद्धात रूप म उसे स्वीकृत नही किया ।

विविध सम्बन्धो की स्थापना

यद्यपि ये कवि निराकार और निगुण ईश्वर म विश्वास रखते थे, पर अमूत को मूत बनाने की स्वाभाविक प्रक्रिया मे ये बच नही सके । वेदा म भी ईश्वर निराकार है, वहाँ उसे अकाय और अव्रण कहा गया है, पर वदिक ऋषि का भावुक हृदय अपने आराध्य के अमूत रूप से ही सन्तुष्ट नही रह सका । उन्हान किस प्रकार ईश्वर को माता पिता, मित्र और पति रूप म सबोधित किया है, यह पीछे कहा जा चुका है ।

---

१ च० च०, प० २३१
२ स० वा० अक 'कल्याण', पृ० ३८८

इन कवियों का भावुक हृदय भी अपने देव से विविध सबन्ध स्थापित करने के लिए व्याकुल हो उठा है। कबीर एक स्थान पर अपने को पुत्र कहते हैं और भगवान् को माता। जिस प्रकार माता अपने पुत्र के सारे अवगुणों को भुलाकर हृदय का सम्पूर्ण प्यार देती है उसी प्रकार कबीर भगवान के प्यार की आशा करते हैं—

हरि जननी मैं बालिक तेरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी कै चित रहै न तेते ॥
कर गहि केस करे जो घाता तऊ न हेत उतारै माता।
कहै कबीर एक बुद्धि बिचारी बालक दुखी दुखी महतारी ॥[1]

माता और पुत्र का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है पर फिर भी इसमें व्यवधान है। ज्यों-ज्यों पुत्र बढ़ता जाता है, यह व्यवधान बढ़ता जाता है। अभेद के स्थान पर यह भेद किसी अपूर्णता का पता करता है इस दृष्टि से पति-पत्नी का सम्बन्ध अधिक स्पृहणीय है। इसमें शरीरों का पार्थक्य होते हुए भी एकात्मता आ जाती है किसी भी प्रकार का अन्तर दोनों के बीच में नहीं रहता। इसीलिए कबीर अपने को राम की बहुरिया कहते हैं और राम को अपना भरतार। उनका अपने प्रिय के साथ मिलन होता है और सखियाँ मंगलाचार गाती हैं—

दुलहिनि गाओ मंगलाचार हमारे घर आए राजा राम भरतार।
तन रति कर मैं मन रति करिहौं पाँच तत्व बराती।
राम देव मोहि ब्याहन आये मैं जोवन मदमाती ॥
सरीर सरोवर बेदी करिहौं ब्रह्मा वेद उचारा।
राम देव संग भाँवरि लेहौं धनि धनि भाग हमारा ॥[2]

इस पद के अलावा भी न जाने कितने स्थलों पर उन्होंने अपने को राम की बहुरिया और राम को अपना पीव कहा है।

हरि मेरा पीव भाइ हरि मेरा पीव।
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।
किया स्यंगार मिलन के ताइ
काहे न मिलो राजा राम गुसाइं।
अबकी बेर मिलन जो पाऊँ
कहैं कबीर भौ जलि नहीं आऊँ ॥[3]

रैदास भी अपने देव से तरह-तरह के सबन्ध जोड़ते हैं। वे राम-रूपी घन के

---

१ क० ग्र० पृ० ८७

२ वही ८७

३ वही, पृ० ८७

लिए मोर, चद के लिए चकोर, दीपक के लिए बाती और मोती के लिए धागा बनने का तयार हैं—

प्रभु जी ! तुम चदन हम पानी,
जाकी अँग अँग बास समानी !

प्रभु जी ! तुम घन हम बन मोरा, जैसे चितवत चद चकोरा।
प्रभु जी ! तुम दीपक हम बाती, जाकी जाति बर दिन राती ॥
प्रभु जी ! तुम मोती हम धागा, जैसे सोनहिं मिलत सुहागा।
प्रभु जी ! तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भगति कर रदासा ॥[1]

सुन्दरदास अपने का पत्नी और भगवान को पति मानकर विरह की दशा का वणन इन शब्दो म करते हैं—

बिरहिन है तुम दरस पियासी।
क्यो न मिल मेरे पिय अविनासी !

मने दिन हा काहि त्रिसारी निसिदिन मरत है नारी।
बिभिचारिन ही हाती नाही, ते पतिव्रतहि रही मन माही।
तुम तो बहुत त्रियन सग कीनो, मैं तो एक तुमहि चित दीनो ॥

दादू भी एक ही सांस मे अपने देव से न जाने कितने प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं—

तू ही तू आधार हमारे, सेवग सुत हम राम तुम्हारे।
माई बाप तू साहिब मेरा भगतिहीन मैं सेवग तेरा ॥
मात पिता तू बाधव भाई, तुम ही मेरे सजन सहाई।
तुम ही तात और तुम ही मात, तुम ही जात तुम ही तात।
कुल कुटुम्ब तू सब परिवार, दादू का तू कारणहार ॥

गुलाल साहब भी कभी भगवान को मा और कभी पति कहकर पुकारते हैं—

आठ पहर तहँ सुरति निहारी। जस बालक पालैं महतारी।[2]

लागलि नेह हमारी पिया मोर।
चुनि चुनि कलियाँ सेज बिछावों, करों मैं मगलाचार ॥
एको घरी पिया नही सइले, हाइया मोहि धिरकार।
आठो याम रन दिन जोहा, नेक न हृदय बिसार ॥

कहै गुलाल पावों भरि पूरन मोजो मौज हमार ॥[3]

---

१ स० वा० अक (कल्याण) पृ० २१६
२ स० सु० सा०, पृष्ठ १२६
३. वही, पृष्ठ १२४

गुरु अर्जुनदेव भी उस निराकार से तरह-तरह के संबंध स्थापित करते हैं। उनके आराध्य उनके सखा हैं प्रियतम हैं। जिस तरह वे रखें उन्हें रहना स्वीकार है

तू मेरा सखा तू ही मेरा मीतु। तू मेरा प्रीतम तुम संग हीतु।
तू मेरा पति तू है मेरा गहणा। तुम बितु निमस न जाइ रहणा।
तू मेरे लालन तू मेरे प्राण, तू मेरे साहब तू मेरे ज्ञान॥[1]

धर्मदास अपने देव को माँ तथा पिता मानकर अनुग्रह की कामना करते हैं—

साहिब दीन बन्धु हितकारी।
कोटिक औगुन बालक करई मात पिता चित एक न धरई।
तुम गुरु मात पिता जीवन के मैं अति दीन दुखारी॥[2]

प्रेम का महत्त्व

ज्ञानाश्रयी शाखा में ज्ञान की महत्ता है। ज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, हृदय से उसका कोई लगाव नहीं। इस कारण इस शाखा में प्रेम का कोई महत्त्व नहीं ऐसा मानना इस शाखा के साथ अन्याय करना होगा। इस शाखा के प्रवर्तक कबीर हैं और उन्होंने ही उत्तरी भारत में भक्ति को प्रवाहित किया। किंवदन्ती है—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्तदीप नवखण्ड॥

भक्ति की उत्पत्ति द्रविड़ों की देन है या उसका मूल वेदों में है, यह हमारी चर्चा का विषय नहीं है। हम तो इतना ही कहना चाहते हैं कि जन-जीवन में ज्ञान और भक्ति के अनूठे समन्वय का श्रेय कबीर को ही प्राप्त है। ज्ञान और भक्ति के सम्मिश्रण से उन्होंने जिस सुरसरि को प्रवाहित किया उससे जनता का नैराश्य-कल्मष दूर हुआ और एक नवीन आशा के आलोक से जन-जीवन जाग उठा। जिस व्यक्ति को सातों द्वीपों और नवों खण्डों में भक्ति को प्रसारित करने का श्रेय प्राप्त हो वह प्रेम से शून्य कैसे हो सकता है? प्रेम जब लौकिक ईश्वरोन्मुख हो जाता है तो वही भक्ति की संज्ञा पा लेता है। इसीलिए कबीर ने शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा प्रेम पर अधिक बल दिया है। उनका कहना है कि सच्चा पंडित वही है जिसने प्रेम को पा लिया है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोइ।
एकै आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होइ॥[3]

---

१ स० वा०सं० (कल्याण) पृ० ३६३
२ वही पृ० २१५
३ क० ग्र० पृ० ३६

जीवन का महत्त्व प्रेम से ही है। प्रेम रहित मानव का जीवन न होने के बराबर है। जिस व्यक्ति ने इस अमृत का स्वाद नही चखा, उसका जीवन व्यर्थ हो गया—

जिहि घट प्रीत न प्रेम रस, पुनि रसना नहिं राम।
ते नर इस ससार म, उपजि भये बेकाम॥[1]

जो मानव सच्चे हृदय से भगवान के साथ प्रेम करते हैं उनका जीवन धन्य हो जाता है। उनका प्राप्य उन्ह मिल जाता है। प्रेम की शीतल एव मधुर फुहारो से शरीर रोमाचित हो उठता है, ऐसा लगता है मानो अमत की वर्षा हो रही हो—

प्रेम भगति ऐसी कीजिये मुख अमत बरसे चद।

पर यह प्रेम दुलभ वस्तु है। इसे पाने के लिए बहुत खोना पडता है। इसका मूल्य भारी है, हर व्यक्ति इसे चुका नही सकता। जो व्यक्ति अपने प्राणो से खेलने का साहस रखता हो, वही इस माग पर चलने का अधिकारी है—

कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे हाथ धरि, सो पठे घर माहिं॥
कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि धर, तब निर्वहि प्रेम का स्वाद॥

दादू की दृष्टि म भी जीवन मे सबसे अधिक महत्त्व प्रेम का ही है। केवल पुस्तकीय ज्ञान हमे कही नही पहुचाता—

दादू पाती प्रेम की बिरला बाच कोइ।
वेद पुरान पुस्तक पढे, प्रेम बिना क्या होइ॥[2]

दादू का यह भी कहना है कि जो कोई बिरला साधक इस माग पर चलता है फिर उसे पाने के लिए कुछ बचा नही रहता। इस प्रेम रस को पीने के बाद उसे भगवान की प्राप्ति हो जाती है और वह सारी दुनिया को भूल जाता है—

आतम चेतनि कीजिए, प्रेमरस पीव।
दादू भूले देहगुण, ऐसे जन जीव॥

अह का नाश

अह के नाश के ऊपर इन सभी कविया ने बडा बल दिया है। जब तक जीव अपने अह म फसा रहेगा तब तक उसे सच्चे प्रेम की अनुभूति नही होगी, भगवान उससे दूर ही रहेंगे। इनके रहत हुए जीव मे वह विनम्रता नही आ सकती जिससे भगवान प्रसन्न होते हैं। भगवान को रिझाने की पहली शत है आपे को मेटना। या तो भक्त

---

१ स० सु० सा०, प० ६५
२ वही, प० ४८०
३ वही, पृ० ४५४

भगवान का ध्यान कर सकता है या आप का। एक म्यान म दो तलवारों के लिए स्थान कहाँ ? इस दोह म यही बात कही है—

पीया चाह प्रेमरस राखा चाह मान।
एक म्यान म दो खड्ग दखा सुना न कान ॥

यह मेरे का भाव भक्त को आग नहीं बढ़न देता, उसके पर की बेड़ी बनकर उसे वहीं रोक लेता है—

मैं मैं मेरी जिनि कर मेरी मूल विनास।
मेरी पग का पखरा मेरी गल की फाँस ॥[1]

दादू ने भी अहं को भगवत्प्राप्ति म विघ्नरूप ही माना है और उन्होंने जीव को परामर्श दिया है सजनहार के सामने गर्व करना व्यर्थ है—

गर्व न कीजिए रे गर्वे होई विनास।
गर्वे गोविन्द ना मिले गर्वे नरक निवास ॥

गर्वे बहुत विनास है गर्वे बहुत विकार।
दादू गर्व न कीजिए सन्मुख सिरजनहार ॥[2]

उन्होंने कहा है कि संसार म जीव का यदि सबसे बड़ा कोई वैरी है तो वह उसका मैं ही है। जिसम मैं नहीं उसे कोई नहीं मार सकता और जिसम मैं है उसे मारने की जरूरत नहीं वह तो मरा हुआ ही है।

दादू मेरा वैरी मैं मुआ मुझे न मारे कोई।
मैं ही मुझ को मारता मैं मर जीवा होइ ॥[1]

यह अहं द्वैत भावना पैदा करता है। इसम भक्त अपने महत्त्व को अधिक समझता है। उसम अकड़ बनी रहती है। इस अहं के कारण वह पूरी तरह आत्म-समर्पण नहीं कर पाता। कबीर का कथन है कि जब तक मैं का भाव बना हुआ है तब तक हरि का मिलन असम्भव है और जब हरि मिल जाते तो मैं का टिकना सम्भव नहीं—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाहिं।

इसीलिए कबीर भक्त को अधिक-से अधिक विनम्र होने का परामर्श देते हैं। जिस प्रकार सेवक परम स्वामिभक्त होता है और अपने स्वामी की सब प्रकार से सेवा करना कर्त्तव्य समझता है उसी प्रकार भक्त को भगवान का आज्ञाकारी होना चाहिए। कबीर इससे भी अधिक आगे बढ़कर कुत्ते के समान स्वामी के वशवर्ती होने को तैयार हैं—

---

१ कबीर-ग्रन्थावली पृष्ठ २७
२ संत सुधा-सार पृष्ठ ४३१

कबीर कुतिया राम की, मुतिया मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवडी, जित खैचें तित जाऊँ ॥[1]

पर विनीत कवि को इतने से ही सतोष नही होता। कुत्ता स्वामी का वश वर्ती होकर भी बदले मे कुछ न कुछ पाता अवश्य है। कबीर इसीलिए भक्त को माग का रोडा होने की सलाह देते हैं। राडा माग म चुपचाप पडा रहता है और किसी से कुछ नही चाहता। पर कुछ और सोचने पर कबीर का असतोष फिर जाग्रत हो जाता है। रोडा कभी-कभी पथिक के लिए दु खदायी हो उठता है। उससे ठोकर खाकर पथिक का पर लहूलुहान हो उठता है। यह रूप भी सेवा और विनम्रता के लिए बाधक है। कबीर इसीलिए भक्त को धूल बनने का परामश देते हैं—

रोडा ह्वै रहु बाट का, तजि पाखड अभिमान।
ऐसा जो जन ह्वै रहै, ताहि मिल भगवान ॥
रोडा हुआ तो क्या हुआ, पथी को दुख देइ।
ऐसा तेरा दासु है, जिमि धरनी महि खेइ ॥

शरणागत-वत्सलता

इनके मत मे भगवान निराकार भले ही हो पर वे भक्तवत्सल हैं और शरणागत के भय का दूर करने वाले हैं। इन कवियो मे जहाँ जहाँ साकार रूप का प्रभाव आया है वहाँ प्राय भगवान् की भक्त वत्सलता का ही उल्लेख है। इस प्रकार के उदाहरणो का कुछ का उल्लेख दूसरे स्थान पर हो चुका है। विस्तार मे न जाकर हम इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि कबीर तथा अन्य कवियो ने भगवान् के प्रह्लाद अजामिल और गणिका के उद्धार करने वाले रूप का वणन पर्याप्त मात्रा मे किया है।

कबीर को अपने भगवान पर विश्वास है। उनका कहना है कि राम शरणागत के रक्षक हैं—"जिस दिन किसी की भी सहायता नही मिलती उस दिन राम ही सदा सहायक होते हैं। मुझे तन्त्र मन्त्र का ज्ञान नही है न मुझे वेद मालूम है न भेद, राम ने पडितो की ओर मन्दिर का पिछवाडा कर दिया और मुख उधर जिधर नामदेव थे। राजा अम्बरीप के लिए भी चक्र सुदर्शन उन्होंने ही चलाया था, कबीर का ठाकुर भक्ता का हितकारी है।"[2]

भगवान के इस रूप को समझाने के लिए कहा है, कि भगवान् गाय है और भक्त बछडा। जहाँ जहाँ बछडा जाता है वही-वही भगवान् भी जाते हैं—

---

१ क० ग्र०, प० २०
२ वही, पृ० १८७

जहाँ जहाँ बच्छा फिरे तहाँ तहाँ फिर गाय।
कहँ मलूक हज सत जन, तहाँ रमया जाय ॥[1]

उनका यह भी कहना है कि जिस किसी न भगवान की ओट ल ली वह चन की नींद सोता है उसे अपनी रक्षा की चिन्ता नहीं रहती उसकी रक्षा तो भगवान स्वय करत हैं। एसे शरणागत का माला जपने की भी जररत नहीं, यह सब काम तो स्वत भगवान ही अपन ऊपर ल लत हैं—

कह मलूक हम जबहि त, लीन्ही हरि की ओट।
सोवत हैं सुख नीद भरि, डारि भरम की पोट॥
माला जपों न कर जपों जिभ्या रटौं न राम।
सुमिरन मरा हरि कर मैं पाया बिसराम ॥[2]

रदास क अनुसार गरीब पर दया करन वाले कवल भगवान ही हैं। जिस दलन स भी ससार को पाप लगन का डर लगता है भगवान उस पर भी कृपा करत हैं—

ऐसी लाल तुझ बिन कौन करै।
गरीब निवाजु गुसयाँ मेरे माथे छत्र धरै॥
जाकी योति जगत को लागै तापर तुही ढरै।
नीचहि ऊँच कर मेरा गोविन्द काहू त न डरै॥
नामदेव कबीर त्रिलोचन, सदना सनु तरै।
कहै रविदास सुनहु रे सता हरि जीउ ते सभै सरै॥[3]

गुरु अमरदास का कहना है कि भगवान बडे दयालु हैं माता के गर्भ में बच्चे को वे ही आहार पहुँचाते हैं एस दाता को बिसारना भारी गलती है—

माता के उदर महि प्रतिपाल सो किउ मनहु विसारिए।
मनहु किउ विसारिए एवडु दाता जि अगनि महि आहार पहुचावए॥
ओसनो किहु पोहि न सकी जिसनउ आपणा लिव लावए।
कहै नानकु एवडु दाता सो किउ मनहु विसारिए॥

गुरु अर्जुनदेव को भी भगवान क शरण-वत्सल होन पर पूरा विश्वास है। उनका ब्रह्म पतितपावन है और समर्थ है—

पतित उधारण पार ब्रह्मु समरथ पुरखु अपारु।
जिसहि उधार नानका सो सिमर सिरजणहारु॥[5]

---

१ सतसुधासार, भाग २ पृष्ठ ३६
२ वही पृष्ठ ८७
३ वही भाग १, पृष्ठ १६३
४ वही पृष्ठ २६२
५ वही, भाग १ पृ० ३८०

दादूदयाल का कहना है कि जो सुख प्रभु की शरण मे मिलता है और कही नहीं मिलता। उसकी शरण म जाते ही सारे भवब धन कट जाते हैं और भ्रम की निशा कट जाती है। भगवान पारस की उस मणि के समान हैं जिसका स्पश पाकर लोहा भी सोना बन जाता है—

> सरनि तुम्हारी केसवा मैं अनन्त सुख पाया।
> भाग बडे तू भेटिया, हौं चरनौं आया॥
> मेरी तपति मिटी तुम्ह देखतां, शीतल भयो भारी।
> भव बन्धन मुकता भया जब मिल्या मुरारी॥
> भरम भेद सब भूलिया, चेतनि चित लाया।
> पारस सू परचा भया, उनि सहज लखाया॥[1]

आगे वे फिर कहते हैं कि प्रभु के समान गरीबनिवाज दूसरा कोई नही है। वे नीच को ऊँच कर सकते हैं और जिसे वे एक बार ऊँचे आसन पर बठा देते हैं उसे फिर वहाँ से उतारने वाला कोई नही। नामदेव, कबीर और रदास सब उसी की कृपा से पार उतरे हैं—

> तुम्हें बिन ऐसे कौन कर।
> गरीब निवाज गुसाइ मेरे माथे मुकुट धर॥
> नीच ऊँच ले कर गुसाइ, टार्‌यो हू न टर।
> हस्त कँवल की छाया रख काहू थ न डर॥
> जाकी छोति जगत को लाग तापरि तू ही ढर।
> अमर आप ले कर गुसाइ, मार्‌यो हू न मर॥
> नामदेव, कबीर जुलाहो, जन रदास तिर।
> दादू वेगि बार नहि लाग, हरि सो सबे सर॥[2]

तन्मयता और अनन्यता

आराध्य देव साकार हो या निराकार, एकान्त निष्ठा से उसका ध्यान एव भजन भक्त के लिए अनिवाय है। सवताभावेन समपण किए बिना भक्ति सभव ही नही। आपे को मिटाए बिना आराधना कसे सभव है? इन सभी भक्तो की वत्ति ईश्वराभिमुख है और ये अपने को अपने देव म लीन कर देने के लिए व्यग्र हैं। *अपने का उसम लीन किए बिना अपने आप को मिटाए बिना* प्रेमरस को चखा ही नही जा सकता। कबीर के ही शब्दो मे, प्रेम रस को पीन की अभिलाषा करना और पूरी तरह आत्मसमपण न करना, दानो बातें साथ ही साथ नहीं चलती। यही कारण है

1 स० सु० सा०, पृष्ठ ४३६
2 वही भाग १, पृष्ठ ४४० ४१

वि य सब कुछ भूलकर अहर्निश उस आराध्य का स्मरण करत हैं और उसी का ध्यान करत हैं। उसक आने का माग जाहते-जाहते उनकी आखों म भाइ पड़ गई है और जीभ म छाल—

अखड़ियाँ भाइ पड़ी पथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाल्या पड़या राम पुकारि पुकारि॥[1]

प्रिय स मिलन ही उनके जीवन का लक्ष्य है प्रिय क दशन ही उनका एकमात्र काम्य है। उसके बिना उन्हें बहिश्त भी पसन्द नहीं—

मिलत न मेरे चाहिए बाम पियारे तुम॥[2]

पर प्रिय का मिलन क्या उतना आसान है? हँसत-खेलत ही यदि वह मिल जाता तो कोई भी उस प्राप्त कर सकता। प्रम का घर खाला का घर नहीं। यहाँ तो वही पठ सकता है जो सिर हाथों पर रख कर मदान म आ जाए। फिर वह दव बड़ा कठोर परीक्षक है वह नापतोल कर अक दता है। अभी साधक उस स्थिति पर नहीं पहुचा साधना अभी अधूरी है उसक पूण होन म दर है परीक्षा की स्थिति अभी चल ही रही है। हृदय म मिलन की इच्छा तीव्र स तीव्रतर होती जाती है साधक का बचनी है न उस खाना अच्छा लगता है और न नींद ही आती है—

सुखिया सब ससार है खाव अरु सोव।
दुखिया दास कबीर है जाग अरु रोव॥[3]

अब सुख मिल चाह दुख मिल पर जब एक बार लौ लग गई तो लग ही गई। पतिव्रता स्त्री क समान अन्य किसी का ध्यान भी उसक लिए पाप है जिन आँखों म प्रीतम बसा हुआ है उनम अन्य किसी क लिए जगह ही कहाँ?—

कबीर रेख स्यन्दूर की, अब तो दई न जाय।
ननति प्रीतम रम रहा दूजा कहाँ समाय॥[4]

भक्त की इच्छा है कि जस भी हो अपन आराध्यदव क साथ सान्निध्य की प्राप्ति हो, बीच की दूरी और व्यवधान समाप्त हो। जिस हम चाहते हैं जिसक साथ हमार प्रम का ससार जानता है वही अगर हम न मिल तो प्रेम ही क्या? कबीर अपने और अपन आराध्य क बीच की दूरी को मिटा दने क लिए उत्सुक हैं—

सब कोई कहै तुम्हारी नारी, मोको इहै अदह रे।
एकमेक ह्व सज न सोव तब लग कसा नह र॥

---

१ क० ग्र०, पष्ठ ६
२ वही प० १६
३ वही, पष्ठ ११
४ वही, पृ० १६

आन न भाव नीद न आव, गिह बन धर न धीर रे।
ज्यूँ कामी कौं काम पियारा, ज्यूँ प्यासे कू नीर रे॥
है काई एसा पर उपगारी, हरि सूँ कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं, बिन देखे जीव जाइ र॥[1]

रदास मे भी यही अनयता है। नाम की जो रट लग गई है वह छुटाय नही छुटती। वे अपने देव से तरह तरह के सम्ब ध जाडते हैं, जिससे कि उसका सानिध्य बना रहे। मोर को जो प्रेम घन से है और चकार को चद्रमा से है वही प्रेम रदास को अपने आराध्य से है। उनकी भावना उन्हीं के शब्दो मे सुनिये—

प्रभुजी, तुम घन, हम बन मोरा,
जैसे चितवत चद चकोरा।
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती,
जाकी ज्योति बरै दिन राती।
प्रभुजी, तुम मोती, हम धागा,
जसे सोर्नाह मिलत सुहागा।
प्रभुजी, तुम स्वामी हम दासा,
ऐसी भक्ति कर रदासा॥[2]

रदास के लिए भगवान को छोडकर अय कोई गति नही। वही उनकी गति है, उनकी मति है। वे राम से ताडकर अय किसी से जोडना पसन्द नही करते। उह अपन कर्मों पर भरोसा कम है और भगवान पर अधिक। सारे ससार का परखने के बाद उहोने केवल भगवान पर ही आशा बाँधी है—

जो तुम तोरो राम मैं नही तोरौं तुम सौं तोरि कवन सौं जोरौं।
तीरथ बरतन करौं अदेसा, तुम्हरे चरण कमल का भरोसा॥
जहँ जहँ जावौं तुम्हरी पूजा, तुम सा देव और नहि दूजा।
मै अपनो मन हरि सो जोरयो हरि सौं जोरि सबन सौं तोरयो॥
सबही पहर तुम्हारी आसा, मन क्रम बचन कहै रदासा॥[3]

दादू की अनयता भी ऐसी ही है। जिस तरह नशेवाले का ध्यान नशे मे रहता है, शूरवीर का ध्यान सग्राम की ओर रहता है, निधन के मन मे घन की कामना रहती है, उसी प्रकार दादू के मन म उनका आराध्य बसा हुआ है—

ज्यू अमली कै चित्त अमल है सूरे के सग्राम।
निधन के चित घन बस, त्यौं दादू क राम॥

१ क० ग्र०, पष्ठ १६२
२ स० सु० सा०, पृष्ठ १६१
३ वही पृष्ठ ४५८
४ वही, पृष्ठ ४५८

दादू का यह भी कहना है कि प्रिय की प्रीति मेरे रोम रोम मे बसी हुई है और उसमे किसी दूसरे के बसने की गुजायश ही नही—

प्रीति जो मेरे पीव की, पठी पिंजर माहि ।
राम राम पिव पिव करे दादू दूसर नाहि ॥[1]

मलूकदास म भी अपने प्रिय के दशना के लिए यही व्याकुलता पायी जाती है । वे अपने देव के दशनो के बिना जीवन व्यय समभत हैं । वे सोचते हैं कि उन्ह जागिया स कौन मिलायेगा ? मिलन जरूरी है उसके बिना रहा ही नही जाता, दिल नही लगता, उसके बिना इन प्राणो का रहना न सभव है और न सायक है —

कौन मिलाए जागिया हो, जोगिया बिन रहा न जाइ ।
मैं जा प्यासी पीव की, रटत फिरौं पीव पीव ।
जो जागिया नहि मिलिहै हो, तो तुरत निकासूं जीव ॥[2]

सुदरदास के हृदय म भी अपने देव से मिलन की चाह बडी तीव्र है । उनकी प्यास भी चातक की प्यास है । चातक मुँह ऊपर का उठाये जिस तरह तपित एव उत्सुक नेत्रो से स्वाति नक्षत्र की ओर देखता रहता है, उसी तरह सुदरदास अपन आराध्य स लौ लगाय रहते हैं । उनका स्पष्ट मत है कि एक देव की आराधना को छोडकर जो कोई दूसरे देव की आराधना करता है वह अपनी फजीहत स्वय करता है । भक्त को ता पतिव्रता स्त्री के समान एक का भक्त होना चाहिए । जो ऐसा नही करता, उसे किसी से भी आदर मान नही मिलता—

जा हरि को तजि आन उपासत सा मतिमद फजीहति होई ।
ज्यो अपने भरतारहि छाँडि भई फिरि है बिभिचारिनि कोई ॥
सुन्दर ताहि न आदर मान फिर विमुखी अपनी पति खोई ।
बूडि भर किन कूप मभार कहा जग जीवन है सठ सोई ॥

(ख) जल का सनेही मीन बिछुरत तज प्राण,
मणि बिन अहि जसे जीवत न लहिए ।
स्वाति बूद के सनेही प्रगट जगत माहि
एक सीप दूसरा सु चातकउ कहिय ॥
रवि को सनही पुनि कवल सरोवर म,
ससि को सनेहीऊ चकोर जस रहिये ।
तसे ही सुन्दर एक प्रभु सौं सनह जोरि
और कछु देखि काहू ओर नहि कहिय ॥[3]

---

[1] स० मु० सा० पष्ठ ४६०
[2] वही भाग २ पष्ठ २६
[3] वही, पृ० ६२४ २५

गुरु अर्जुन देव ने भी अपने को सर्वात्मना भगवान के अर्पित कर दिया है। उनके लिए शरीर की सार्थकता ही इस बात म है कि उससे भगवान् का ध्यान किया जाय, उसके गुणो का गान किया जाय, अगर नेत्रो से उसके दशन न हुए तो नेत्रो से क्या लाभ ? कानो ने उसका गुणगान नही सुना और जिह्वा से उसका नाम नहीं लिया तो इनका न होना ही अच्छा था—

नन न देखहि साधसि नण बिहालिआ।
करन न सुनही नादु करन मुंदि थालिआ॥
रसना जप ना नाम तिलु तिलु करि कटिए।
हरि हाँ, जब बिसर गोविंदराह दिनों दिन घटिए॥[1]

अनन्यता और तन्मयता के उदाहरण देत हुए सुदरदास ने कहा है कि जिस प्रकार नीर के बिना मछली व्याकुल हो जाती है माँ के दूध के बिना जसे शिशु परेशान हो जाता है चातक जिस प्रकार स्वाति बूद के बिना जीवन का निरथक समझता है और चकोर जसे चन्द्रमा को ही सवस्व समझता है, ठीक उसी प्रकार की अनन्यता भक्त के हृदय में भगवान के प्रति होनी चाहिए—

नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु शिशु जसे,
पीर जाके औखद बिनु कसे रह्यो जात है।
चातक ज्यो स्वाति बूद, चद को चकोर जसे,
चदन की चाह करि सप अकुलात है।
निधन ज्यो धन चाहै कामिनी का कन्त चाहै,
ऐसी जाके चाह ताकौं कछु न सुहात है।
प्रेम का प्रभाव ऐसो प्रेम तहाँ नेम कसो,
सुदर कहत यह प्रेम ही की बात है॥

विरह—प्रिय के प्रति प्रेम और अनन्यता का सदव मिलन म ही अन्त नही होता। जीवन म पग-पग पर बाधाए हैं, यहाँ रुक रुककर चलना पडता है और कभी कभी तो गति एकदम ही अवरुद्ध हो जाती है। फिर वह देव इतनी जल्दी नही रीझ जाता। वह भक्त की बडी कठोर परीक्षा लेता है, अपनी झाँकी दिखा कर सहसा लुप्त हो जाता है और भक्त उसे ढढने के लिए इधर उधर भटकता रहता है। विरह का भुजगम अन्दर ही अन्दर उसे डसता रहता है। फिर इसका विष ऐसा तीव्र है कि किसी भी मन्त्र से नहीं उतरता। इस विष को उतारने वाला गारुडी तो चुपचाप बठा है, यह उतरे तो कसे ? इसका इलाज तो उसी के हाथ म है जिसके कारण यह विष चढ़ा है बेचारा वद्य करे तो क्या करे ? वह जानता है कि उसका काटा कभी नही जीता और यदि जीता है तो अपनी सुध-बुध खो बठता है। उसे विरह की यह स्थिति

---

१ स० सु० स०, पृष्ठ ३७८

असह्य है। उसकी इच्छा है कि या तो मृत्यु उसे अपने अंक में समेट ले या फिर उसे देव के दर्शन ही हो जायें—

के बिरहिणि कूं मीच दे क आपा बिसराय।
रात दिवस का दाभणा मोप सहा न जाय॥[1]

वियोग भी जारी है। आँखों से पानी निरंतर इस तरह बह रहा है मानो रहट द्वारा कूप का सारा जल बाहर खींचा जा रहा है। उसकी स्थिति विचित्र है, न मिलन हो रहा है और न मिलने की आशा ही समाप्त हो रही है। न हँसते ही बनता है और न रोते ही। जिस तरह काठ में लगा घुन उसे अन्दर ही अन्दर खाता रहता है उसी तरह विरही अन्दर ही-अन्दर सूखता जाता है। मिलन की आशा में प्रयत्न जारी है। मिलने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार है इसके लिए उसे कोई भी मूल्य अधिक नहीं लगता—

यह जन जारौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करौं करक की, लिखि लिखि राम पठाउँ॥[2]

दिनभर आराम न मिलने और रातभर जागते रहने में भक्त की बेचैनी बढ़ गई है। आँखों में जो प्रेम की लालिमा है उसे देखकर लोग समझने हैं कि आँखें दूखने लगी हैं। वह किसे समझाये और क्या कहें ? वह अपने प्रेमी को मनाना चाहता है, समीप जाने पर वह निर्दयी दूसरी ओर मुँह फेर लेता है। उसका यह करवट बदलना उसे आरे के चलन से भी अधिक भयानक लगता है—

करवतु भला न करवट तेरी। लागु गले सुन विनती मेरी।
हौं वारी मुख फेरि पियारे। करवट दे मोको काहे को मार॥
जो तन चीरहि अगन मारा। पिउ पर तो प्रीति न तोरौं।[3]

यहाँ यह और कह देना आवश्यक है कि यद्यपि विरह में तड़पन है और उसका दुख असह्य है तथापि उसे कहीं बुरा नहीं कहा गया है। इष्टदेव से मिलनेवाले साधन के रूप में इसे आवश्यक माना गया है—

विरहा कहै कबीर सो तू जिनि छाड़ै माहि।
पारब्रह्म के तेज में तहाँ ले राखौं तोहि॥

विरह की तड़पन दादू में भी उसी तरह की है। दादू आतुर विरहिणी के समान कहते हैं कि न जाने प्रिय के दर्शन कब होंगे ? उनके वियोग में मेरे प्राण तड़प रहे हैं दर्शनों के बिना अब बहुत दिन बीत गए हैं। उनकी प्रतीक्षा करते-करते रात्रि के बाद प्रभात आ गया और प्रभात के बाद रात्रि आ गयी। नेत्र उनकी उत्सुकता

१ क० ग्र०, पृष्ठ २०
२ वही, पृष्ठ ८
३ वही, पृ० २७५

पूर्वक उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं जितनी उत्सुकता के साथ चकोर चन्द्रमा की प्रतीक्षा करता है—

अजहूँ ना निकस प्रान कठोर ।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ।।
चारि पहर चार्यौ जुग बीते, रनि गँवाई भोर ।
अवधि गई अजहूँ नहिं आए कतहूँ रहे चित चोर ।।
कबहूँ नन निरखि नहिं दखे, मारग चितवत तोर ।
दादू ऐसे आतुर बिरहिणि, जसे चन्द चकोर ।।[1]

उनकी दृष्टि म विरह की अनुभूति परम आवश्यक है । प्रिय मिलन का यह एक अनिवार्य सोपान है । जब तक विरह की उत्पत्ति नहीं होती तब तक प्रिय के दर्शन कसे हो सकते हैं ? विरह के आने पर ही तो राम मीठा लगता है—

(क) दादू चोट न लगी बिरह की पीड न उपजी आई ।
जागि न रोव धाह दे, सोवत गई बिहाई ।।
(ख) अदरि पीड न ऊभर, बाहरि कर पुकार ।
दादू सो क्यो करि लहै साहिब का दीदार ।।
(ग) जब बिरहा आया दरद, तब मीठा लागा राम ।
काया लागी काल स, कडवे लागे काम ।।
(घ) बिरह जगाव दरद को, दरद जगाव जीव ।
जीव जगाव सुरति को, सुरति जगावै पीव ।।[2]

शृंगार और भजन सब प्रीतम को रिझाने के लिए किए जाते हैं । विरहिणि किसके लिए सुन्दर वस्त्र पहने ? विरह की व्यथा उसके सारे शरीर म व्याप्त हो रही है, घर बार की तो बात ही क्या, उसे अपनी देह की भी सुध-बुध नहीं रही । इस प्रकार के वियोग म जीवन कितने दिन चल सकता है ? मरण निश्चित है और साधक को मरण से भय भी नहीं । वह तो ऐसे मरण का स्वागत ही करेगा, कम-से-कम उसमे विरह की जलन तो नहीं रहेगी । पर मरने से पूर्व यदि एक बार प्रीतम के दर्शन हो जायँ तो मरण भी सफल है—

तौ लग जिनि मार तू मोहि, जौ लग मैं देखौं नहिं ताहि ।।[3]

कबीर के समान दादू का भी कहना है कि सारे ससार म मेरे समान दुखी कोई दूसरा नहीं है । सारा ससार सुख से है और मैंने रो रोकर ससार को भर दिया है । साथ ही उनका यह भी विश्वास है कि उनके भाग्य म सुख लिखा ही नहीं है । उनके

१ स० सु० सा० पृ० ४२६
२ स० सु० सा०, पृ० ४६० ६१
३ वही, पृ० ४६०-६१

दुख के काटने का तरीका यही है कि जिस प्रिय के वियोग मे यह पीडा हो रही है वही स्वय दशन दे और अपने हाथों से उपचार करे—

ना वह मिल न मैं सुखी कहु क्या जीवन होइ।
जिन मुझको घायल किया, मेरी दारू सोइ॥[1]

आगे फिर उनका कहना है कि मेरी इच्छा यह है कि प्रिय को देखता रहूँ और प्रिय मुझे देखते रहें—

दादू पिवजी देखें मुझ को हूँ भी देखौं पीव।
हू नैनौं देखत मिल, तौ सुख पावे जीव॥[2]

सुन्दरदास को भी मिलन मे बाधाएँ दीख पड़ रही हैं। विरह का काँटा उनके हृदय मे भी चुभ रहा है। विरह की घड़ियाँ काटे नही कट रही हैं, आँखो मे सावन भादो का सा दृश्य उपस्थित है—

(क) सुन्दर विरहिनि अति दुखी पीव मिलन की चाह।
निश दिन बठी अनमनी नैनन नीर प्रवाह॥
(ख) सुन्दर तलफ विरहिनी बिलखि तुम्हारे नेह।
नैन स्रव घन नीर ज्यों सूख गई सब देह॥

इतना होने पर भी साधक के पास एक यही माग है कि वह प्रिय की ओर निहारता रहे। कल तो उस तरह भी नहीं मिलती, इस तरह भी नहीं मिलती। प्रतीक्षा की घड़ियो मे कुछ-न-कुछ सुख तो है ही। कभी-कभी ऐसा लगता है मानो प्रिय रूठ गया है। उससे कोई-न-कोई भारी अपराध हुआ है और प्रिय कहीं बाहर चला गया है। उनके चले जाने के बाद दिल को चैन नहीं यदि वे न आए तो प्राण धारण करना ही व्यर्थ है—

मेरो पिय परदेस लुभानो री।
जानत हौं अजहूँ नहि आयो काहू सौं उरझानो री॥
ता दिन तैं माहि कल न परत है जबतैं कियो पयानो री।
भूख पियास नींद नहि आवे चितवत होत बिहानो री॥
विरह अगिनि माहि अधिक जरावे नननि मैं पहिचानो री।
बिन देखे हौं प्रान तजौंगी यह तुम साचो मानो री॥
बहुत दिनन की पथ निहारत किनहू सँदेस न आनो री।
अब माहि रह्यौ परत नहि सजनी तन तैं हँस उड़ानो री॥
भइ उदास फिरत हौं व्याकुल छूटो ठौर ठिकानो री।
सुन्दर विरहिनि का दुख दीरघ जो जानो सो जानो री॥[3]

---

१ म० सु० सा० पृ० ४५८
२ वही पृ० ४५८
३ वही पृ० ६६० ६१

धमदास को भी यह पीर लग चुकी है उनका तन मन भी उसी पीडा से व्याकुल है आठो याम वे उसी को पुकारते हैं और आँखो से पानी बहता जाता है—

भूल गई तन मन धन सारा, व्याकुल भया सरीर।
बिरह पुकार बिरहिनी ढरक्त ननन नीर॥[1]

जसा कि स्वाभाविक है, प्रिय के बिना उन्हें नीद नही आती। उनकी भाँकी तो मिलती है, पर दशन नही होते—

पिया बिन मोहि नीद न आवै।
खन गरज खन बिजुली चमक ऊपर त मोहि भाँकि दिखावै।

जोगिन ह्व मैं वन बन ढूढूं, काऊ न सुधि बतलाव।
धरमदास विनव कर जोरी कोई नेरे कोई दूर बताव॥[2]

मलूकदास भी अपने देव के दशनो के बिना जीवन को व्यथ समभते हैं। उनके सामने समस्या है कि उन्हे जागिया से कौन मिलायेगा ? मिलना जरूरी है, वही तो प्राणो का आधार है, उसके बिना रहा ही नही जाता। उसके बिना इन प्राणा का रहना न तो सम्भव है और न साथक—

कौन मिलाव जागिया हो, जोगिया बिन रह्यो न जाइ।
मैं जो प्यासी पीव की, रटत फिरौं पिव पीव।
जो जोगिया नहिं मिलिहै, ता तुरत निकासू जीव॥[3]

बिरह की चोट बडी टेढी होती है इसका अनुभव वही कर सकता है जो भुक्त भागी है। इसम न खाना अच्छा लगता है न पीना, न दिन को चन है और न रात का नीद है—

रात न आव नीन्डी, थर थर काँप जीव।
ना जानू क्या करगा, जालिम मेरा पीव॥

मिलन

लक्ष्य जितना महान हागा उसकी प्राप्ति उतनी ही देर मे होगी और बाधाएँ भी उतनी ही अधिक आयेंगी। भगवान स तदाकार हाना, एकमेक हो जाना मानव की उच्चतम एव श्रेष्ठतम कामना है। इन सभी साधका का लक्ष्य उसम विलीन हो जाना रहा है। इसक लिए उन्हें अनेक कष्ट भेलन पडे हैं।

---

१ सं० सु० सा० पृ० ७
२ वही, पृ० ६
३ वही, पृ० २६
४ वही, पृ० ३७

विरह की असह्य तपन सहनी पड़ी है। भगवान बाहर से कठोर दीखते हैं, कठिन परीक्षा भी लेते हैं पर हृदय उनका बड़ा कोमल है। भक्त साधक की अनन्यता से प्रसन्न होकर वे उसे अपना लेते हैं। कबीर बड़ी उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जिस दिन विरह का अन्त होगा और उनके जीवन की सबसे बड़ी साध पूरी होगी—

वे दिन कब आवैंगे माई।
जा कारनि हम देह धरी है मिलिबो अंग लगाई।[1]

अन्तत प्रतीक्षा की घड़ी समाप्त होती है। अंधकार के गर्भ को चीर कर जिस प्रकार ऊषा मुस्कराती हुई गगन-महल पर उदित होती है उसी प्रकार विरह-निशीथ के बाद मिलन का प्रात सामने दीख पड़ता है। भक्त की जन्म-जन्म की साधना पूरी होती दीख पड़ती है। विषाद हर्ष में परिणत होता है और साधक आनन्दातिरेक में कह उठता है—

हम न मरैं मरिहै संसारा। हमकूं मिला जियावनहारा।

हरि मरिहैं तो हमहू मरिहैं। हरि न मरैं हम काहे कूं मरिहैं॥

रात दिन का रोना कभी व्यर्थ नहीं जाता। अन्त में दादू को भी आराध्य देव के दर्शन हो ही जाते हैं—

राति दिवस का रोवणा पहर पलक का नाँहि।
रोवत रोवत मिलि गया दादू साहिब माँहि॥

सुन्दरदास को भी आशा है कि उनके देव उन्हें दर्शन देंगे। उसके स्वागत के लिए वे सेज तैयार कर रहे हैं—

सुन्दर बिगसे बिरहिनी मन में भया उछाह।
फूल बिछाऊँ सेज री आज पधारे नाह॥

आराध्य देव का रिझाना का मार्ग कुछ ऐसा ही विचित्र है। इसमें नम्रता इतनी रखनी पड़ती है कि देखने वाला रीझ जाय और आत्म विश्वास भी इतना बनाये रखना पड़ता है कि गगन के शिखर को छूता हुआ दीख पड़े। इस भक्ति शाखा के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि कबीर में नम्रता और अक्खड़पन का ऐसा ही विचित्र सम्मिश्रण है जो अन्यत्र कठिनता से ही मिलेगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के भक्तिमार्ग की विशेषता बताते हुए लिखा है— 'प्रेम भक्ति का यह पौधा भावुकता की आँच में न तो कुम्हलता ही है और न तर्क के तुषार पात से मुरझाता है। वह हृदय के पाताल भेदी अन्तस्तल से अपना रस संचय करता है। न आंधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे ढहा सकता है। इस प्रेम में मादकता नहीं है

1 क० ग्र० पृ० १६१

पर मस्ती है, ककशता नही पर कठोरता है, असयय नहीं पर मौज है, उच्छखलता नही पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नही पर विश्वास है उजड्डता नही पर अक्खडता है। इसकी प्रचडता सरसता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का फल है तीव्रता आत्मानुभूति का विवत है। यह प्रेम वज्र से भी अधिक कठोर है, कुसुम से भी कोमल है। इसम हार भी जीत है और जीत भी जीत है।[1]

ब्रह्मवाद—इसका सक्षिप्त विवेचन गत अध्यायो म हो चुका है और वहाँ जो कुछ कहा गया है उसे विना दुहराये कहा जा सकता है कि इसका अथ उस सिद्धात से है जो ब्रह्म के अतिरिक्त अय किसी वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करता। उनके अनुसार इस चराचर सष्टि म जा कुछ भी दिखाई पडता है वह ब्रह्म का ही रूप है। सब पदाथ उसी म से निकले हैं उसी के नाना रूप हैं और अत म उसी म समा जाते हैं। उपनिपदो म अनेकता का खण्डन किया है और एकता का प्रतिपादन। विभिन्न प्रकार के उदाहरणो द्वारा वहाँ इस सिद्धात की पुष्टि की गई है। आत्माओ के नानात्व का खण्डन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार शुद्ध जल को शुद्ध जल म डाल दें तो वह शुद्ध रहता है, अशुद्ध मे डाल दें तो वह अशुद्ध हो जाता है, इसी प्रकार शुद्ध आत्मा शुद्ध परमात्मा के साथ मिल जाने पर शुद्ध दीख पडती है और अशुद्ध रूप म आ जाने पर अशुद्ध—

यथादक शुद्धे शुद्धमासिक्त तादगेव भवति।
एव मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥[2]

कठोपनिपद मे बहुत से उदाहरण देते हुए समभाया गया है कि जिस प्रकार अग्नि और वायु प्रत्येक वस्तु के भीतर वतमान हैं उन्होंने अपने रूप को उन्ही वस्तुओ के अनुकूल बना लिया है, इसी प्रकार सब भूता की अन्तरात्मा एक ही है जो भीतर स और बाहर से प्रत्यक के अनुरूप बना हुआ है—

अग्निर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपा बभूव।
एकस्तथा सवभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपा बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूप रूप प्रतिरूपा बभूव।
एकस्तथा सवभूतान्तरात्मा रूप रूप प्रतिरूपा बहिश्च॥[3]

सूय का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि सूय ससार की आँख है हमारी आँखो के दोपो से उसम जिस प्रकार कोई दाप नही आता, इसी तरह भूता के दोपा का प्रभाव ब्रह्म पर नही पडता। अपने इसी आशय का और अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से उन्होंने कहा है कि सब भूतो म वही एक वशी समाया हुआ है, एक होते हुए भी

१ कबीर, पृ० १६२ ६३
२ कठोपनिपद, प० २।१।१५
३ वही प० २।२।६,१०

वह अनेक दीख पड़ता है। जो आत्मस्थ उस वशी को देख लेते हैं उन्हें ही शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है अन्यों को नहीं।[1] नित्य दीख पड़ने वाले पदार्थों में जो नित्यता है वह उसी की है, चेतना में जो चेतनता है वह भी उसकी ही है। साधारण पदार्थों और प्राणियों की तो बात ही क्या सूर्य और चन्द्रमा में भी जो प्रकाश है वह उसी का है। किं बहुना समस्त विश्व उसी की कान्ति से कान्तिमान हो रहा है।[2] मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि प्राण मन इन्द्रियाँ आकाश, वायु ज्योति, जल और विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी — ये सब उसीसे उत्पन्न हुए हैं और सब स्थानों में उसी की महिमा फैली हुई है। यजुर्वेद में कहा गया है कि वह सब भूतों का अधिष्ठाता है और सब भूत उसी में आश्रय पाते हैं।[3] इसी वेद के अन्य मन्त्र में कहा है कि वही वायु है, वही आदित्य है वही चन्द्रमा है वही शुक्र है वही आप है और वही प्रजापति है।[4] इसमें ब्रह्म और जीव की एकता स्वीकृत है। मूलतः दोनों एक हैं, जो अन्तर है वही प्रतीयमान है, वास्तविक नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव का ब्रह्म से मिलने का यत्न करना स्वाभाविक ही है।

ज्ञानमार्गी शाखा के प्रायः सभी कवियों में इस ब्रह्मवाद के दर्शन होते हैं। इनका अटूट विश्वास है कि चराचर जगत में जो कुछ भी है, सब उसी का रूप है। वह सब भूतों में समाया हुआ है और सब भूत उसमें समाये हुए हैं। इसी भाव को कबीर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है —

खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्यौ समाई।

यह नानारूपात्मक जगत उसी की लीला का विस्तार है इस भाव की अभिव्यक्ति इन शब्दों में हुई है—

इनमें आप आप सबहिन में, आप आप सूं खेल।
नाना भाँति घड़े सब भाँडे रूप धरे धरि मेल॥

इस भाव को समझाने के लिए भारतीय विद्वानों ने चिरकाल से कनककुण्डल न्याय के दृष्टान्त का सहारा लिया है। कनक से कुण्डल बनता है और वही कुण्डल फिर पिघलकर कनक बन जाता है। कबीर ने भी इसी पद्धति का आश्रय लेते हुए कनक-कुण्डल के साथ साथ जल और हिम का दृष्टान्त दिया है—

(क) जैसे बहु कंचन के भूषन ये कहि गालि तवावहिंगे।
ऐसे हम लोग वेद के बिछुरे सुन्निहि माँहि समावहिंगे॥

---

१ कठोपनिषद् ५।१२
२ वही प० ५।१५
३ यजु० प० २०।३२
४ वही प० ३२।१

(ख) पाणी ही त हिम भया, हिम ह्व गया बिलाइ।
जो कुछ था सो ही भया, अब कुछ कहा न जाइ॥[1]

(ग) जल म कुम्भ कुम्भ मे जल है, बाहरि भीतरि पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यह तत क्यों गियानी॥

रदास मे भी इसी ब्रह्मवाद के दशन होत हैं। इनका कहना है कि स्थावर और जगम, सभी म वह समाया हुआ है।

थावर जगम कीट पतगा, पूरि रह्यो हरि राई।

वे अपने को और ब्रह्म को अलग-अलग न मानकर एक ही मानते हैं। जिस प्रकार जल से उठी लहर जल मे ही समा जाती है उसी तरह ब्रह्म से निकला जीव ब्रह्म में समा जाता है—

जब हम होते तब तू नाही, अब तू है, मैं नाही।
अतल अगम जसे लहरि भइ उदधि, जल केवल जल माही॥

दादू का भी कहना है कि जिस प्रकार दूध मे घी रमा रहता है, उसी प्रकार वह ब्रह्म सारे विश्व म समाया हुआ है—

घीव दूधि मे रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर।

नानक की दृष्टि म भी ससार के सार प्रसार के भीतर वही समाया हुआ है—

काहे रे, बन खोजन जाई।
सब निवासी सदा अलेपा, ताही सग समाई।

जहा तक इस्लाम के एकेश्वरवाद का प्रश्न है उसका प्रभाव इन कवियो पर नहीं के बराबर है। इस्लाम के एकेश्वरवाद म स्थूलता है, उनका भगवान किसी-न-किसी रूप म साकार है और वह शासक अधिक है, दयालु कम। इन कवियो की दृष्टि म जो कुछ है वह ब्रह्ममय ही है, सिद्धान्तत वह ही निखिल सृष्टि मे समाया हुआ है। य बातें इस्लाम के एकेश्वरवाद के विरुद्ध हैं, इसका विवेचन अयत्र भी हो चुका है।

---

१ क० ग्र०, पृ० १३

षष्ठ अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में देव-भावना का रूप

निर्गुण प्रेममार्गी शाखा उसकी देव भावना का स्वरूप और विशेषताएँ सीमित रचनाओं का अध्ययन

प्रेम-मार्गी शाखा म हमन जिन कवियो की रचनाआ का अपने अध्ययन का विषय बनाया है वे जन्मना मुसलमान हैं। पर ऐसा करन म हमारा यह भाव कदापि नहीं कि प्रेम मार्गी आख्याना की परम्परा पर मुसलमाना का ही एकाधिपत्य है। एस बहुत स हिन्दू कवि हैं जिन्हान इस विषय पर सुन्दर रचनाएँ की हैं। डा० हरिकान्त श्रीवास्तव क इस कथन स कि 'इस दिशा म भारतीय प्रेमाख्याना की सूचिया स इतर परम्परा सास्कृतिक और साहित्यिक दाना ही विचारा स महत्त्वपूर्ण है' हम भी पूर्णतया सहमत हैं। भारतीय प्रेमाख्याना की अपनी एक परम्परा है और इसम हिन्दू कविया का सहयाग किसी भी प्रकार स नगण्य नहीं। पर उनक महत्त्व का स्वीकार करत हुए भी हमन यदि यहा उनकी चचा नहीं की ता इसका कारण यह है कि इन कविया की रचनाएँ विशुद्ध लौकिक प्रेम तक ही सीमित रही हैं। इन कविया का लक्ष्य भी दाम्पत्य-सुख क लाभ का चित्रण ही है। इन कविया न कहीं भी अलौकिक सत्ता क प्रेम की आर इगित नही किया। इनके वणन चुम्बन आलिंगन और रति क वणना तक ही सीमित रह। इस प्रकार क वणन जायसी आदि म न मिलत हों ऐसी बात नहा। वहा भी य वणन प्रचुर मात्रा म हैं पर फिर भी वहा लौकिक प्रेम के वणन द्वारा अलौकिक प्रेम का वणन ही उनका अभीष्ट रहा है। स्थान-स्थान पर वहा उस अलौकिक सत्ता की आर सकत है ना घट घट म व्याप्त है और अन्ततागत्वा जा हमारी आत्मा का लक्ष्य है। हमारा लक्ष्य मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य म प्राप्त दव भावना का चित्रण है अत हमन यहाँ विशुद्ध लौकिक प्रेम का वणन करन वाली रचनाआ की चचा नहा की है।

रही कवल सीमित रचनाओं के अध्ययन की बात उनके विषय म इतना ही निवेदन और स्पष्टीकरण पर्याप्त हागा कि य सभी सूफी कवि विशष विचारधारा म दीक्षित थ। सबकी विचारधारा प्राय मिलती-जुलती है। हमारा लक्ष्य ता बानगी

मर उपस्थित करना है। वस तो सूफी काव्य पर अनेक विशालकाय ग्र थ लिखे गए हैं और लिखे जा सकते हैं पर विस्तार के भय स हमने विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत न करके इ ही कवियो की रचनाओ तक सीमित रहना उचित समभा है।

प्रेममार्गी शाखा

भक्तिमाग की जो शाखा प्रेम को एकमात्र साधन मानकर चली वह प्रेममार्गी शाखा के नाम से अभिहित हाती है। इस माग के अधिकाश प्रमुख कवि मुसलमान सूफी थे, अत यह सूफी माग या सूफी शाखा भी कहलाती है। सूफी कवियो की इस प्रमुखता के कारण यहाँ सूफी शब्द पर थोडा सा विचार कर लेना अप्रासगिक न होगा। कुछ की धारणा है कि मदीना म मस्जिद के सामने सुफ्फा (चबूतरा) था उस पर बठने वाल फकीर सूफी कहलाय। अ य व्यक्तियो के अनुसार सूफी के मूल म सफ (पक्ति) है। निणय के दिन जो लोग अपने सदाचार एव व्यवहार के कारण औरा से अलग एक पक्ति म खडे किय जायेंगे, वे सूफी कहलाते हैं। तीसरे मत के अनुसार सूफी की व्युत्पत्ति सफा है। सफा का अथ है पवित्रता। जो व्यक्ति आचरण-सम्ब घी पवित्रता म विश्वास रखत हैं वे सूफी कहलाये। पर य तीनो ही व्युत्पत्तिया इतनी अधिक मा य नहीं। अधिक मा य मत के अनुसार सूफ शब्द का अथ ऊन है और उसे धारण करने वाले सूफी कहलाये। इनके अनुसार पगम्बर तथा उनके बाद के अनुयायी सादगी के लिए ऊन का प्रयोग करत थे। शब्दगत व्युत्पत्ति के फेर मे न पडकर हम कह सकत हैं कि सूफी का भाव उस व्यक्ति से है जो परमात्मा के सत्य को जानता हो और सासारिक वस्तुओ का त्याग करता हो। सूफी स त आन्तरिक और बाह्य दानो प्रकार की शुद्धियो पर बल देता है। सूफीमत के लिए एक अ य शब्द का भी प्रयोग हाता है और वह है तसव्वुफ। इस शब्द का अथ है परम सत्य का नान प्राप्त करना।

सूफी धर्म की उत्पत्ति

हजरत मुहम्मद के निधन के पश्चात उत्तराधिकार को लेकर जो भगडे उठ खडे हुए और उनम जो भयकर रक्तपात हुआ, उसने कितन ही समभदार व्यक्तियो का साचने के लिए विवश किया होगा। इस नरमेघ से तग आकर, उन व्यक्तिया ने धम के इस विकृत रूप के स्थान पर उसके सच्चे स्वरूप को समभने की चेष्टा की होगी। कुरान के भी एक से अधिक अथ लगाये गए हैं। मुसलमानी धम उस समय फारस तक पहुँच चुका था। फारस म ही यह नया सुधारवादी आन्दोलन सलमन पारसी द्वारा आरम्भ किया गया। इसम ईश्वर के निराकार रूप पर अत्यधिक बल दिया गया और उसके तथा मानव के बीच मे प्रेम-सम्बध पर बल दिया गया। इसे सूफी धम का अकुर कहा जा सकता है। इस प्रकार सातवी शती म इसका

आरम्भ माना जा सकता है। डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने इसी विचार का प्रतिपादन किया है।[1]

मुस्लिम मत या सूफी भारतीय अवतारवाद से साम्य

शिया मत के कुछ सम्प्रदायों में प्रचलित अवतारवाद और पुनर्जन्म के सिद्धांत भारतीय अवतारवाद से बहुत साम्य रखते हैं। विशेषकर शिया सम्प्रदाय के फारस निवासी गुलाम नामक विचारक के कतिपय सिद्धान्त हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित प्रतीत होते हैं। इनके दो शब्द विशेषरूप से मानव्य हैं उनमें पहला है गुलुव और दूसरा है तक्सीर। गुलुव से इनका तात्पर्य है कि मनुष्य उत्क्रमण करते-करते ईश्वर की अवस्था तक पहुँच जाए और तक्सीर के अनुसार ईश्वर संकुचित होते-होते मनुष्य की अवस्था तक पहुँच जाए।

सूफी मार्ग के प्रमुख सम्प्रदाय

सूफी सम्प्रदाय यद्यपि हिन्दी पाठकों के लिए एकदम नवीन वस्तु नहीं तथापि उसके विषय में यहाँ उसके प्रमुख सम्प्रदायों का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा। यों तो इसके बहुत से भेद हैं पर प्रमुख सम्प्रदाय चार हैं और वे निम्नलिखित हैं—

(१) चिश्ती सम्प्रदाय—सूफी सम्प्रदायों में सर्वाधिक प्रमुख सम्प्रदाय यही है। भारतवर्ष में इसके प्रवर्तक ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती हैं। सूफी साधकों में इनका बड़ा सम्मान था। ये अपने समय में आफ्ताब हिन्द (भारत भास्कर) के नाम से पुकारे जाते थे। इस सम्प्रदाय में संगीत को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इनके अनुसार संगीत सुनते-सुनते साधक भावाविष्टावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। ख्वाजा मुईनुद्दीन का कहना था कि संगीत आत्मा का भोजन है।

(२) सुहरावर्दी—चिश्ती सम्प्रदाय के बाद यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय है। भारत में इसके सर्वप्रथम प्रचार का श्रेय बहाउद्दीन जकरिया मुलतानी को है। ये शिहाबउद्दीन के शिष्य थे। इस मत की एक विशेषता यह है कि इसकी नियमावली कट्टर इस्लाम धर्म की स्वीकृत बातों के विपरीत है। इसीलिए ये लोग किसी समय मलामती (निन्दनीय) कहलाते थे।

(३) कादिरी—यह कट्टर पन्थ इस्लाम के अधिक निकट रहा और इसका प्रचार भी स्वभावतः कुछ अधिक आसानी के साथ हुआ। भारत में इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुहम्मद गौस थे। इनका दूसरा नाम बालापीर भी था। भारत में आने के बाद इन्होंने अपने रहने के लिए सिन्ध में उच्च नामक स्थान को चुना था। ये फारस निवासी और इस मत के मूल प्रवर्तक अब्दुल कादिरमल जीलानी के वंशज थे। इस

---

१ हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य, पृ० १०१

सम्प्रदाय म सगीत को कोई स्थान नहीं है। इस सम्प्रदाय के लोग अपनी टोपी म गुलाब का फूल लगाए रहते हैं। यह फूल इस सम्प्रदाय म अत्यधिक पवित्र माना जाता है।

(४) नक्शबन्दी—इस सम्प्रदाय के मूल प्रवतक ख्वाजा बहाउद्दीन कपडा पर चित्र बनाकर जीविकोपाजन किया करत थे अत इस सम्प्रदाय का नाम नक्शबन्दी पडा, ऐमा बहुत से व्यक्तिया का मत है। अयो के अनुमार वे आध्यात्मिक चित्र (नक्शे) बनाकर उसम रग भरा करत थे अत उनके अनुयायी नक्शबन्दी कहलाए। भारत म इनका प्रसार ख्वाजा बाकी बिल्लाह बरग के इस देश म प्रवेश के साथ माना जाता है।

सूफी मत और कट्टर इस्लाम में अतर

सूफी भी कुरान और हदीसो के अनुसार चलते हैं पर वे व्याख्या अपने ढग से करत हैं। हजरत मुहम्मद के समय मे भी ऐसे कितने ही व्यक्ति विद्यमान थे जो अपने को कट्टर मुमलमान तो कहने थे पर वे कुरान के वचना का अथ अपने ढग से करते थे। इस अपनी व्याख्या का ही यह परिणाम हुआ कि कट्टरपन्थी इस्लाम और सूफियो म अन्तर बढता गया। य सूफी साधक बाह्याचार की अपक्षा आन्तरिक शुद्धता पर बल देते थे। इनम से कुछ को बाह्याचार की प्रतीक मस्जिदें भी नापसन्द थी। ईरान के एक बडे प्रसिद्ध सूफी अबू सईद इब्न अबी अलसर की प्रसिद्ध घोषणा मे यह अन्तर पूरी तरह व्यक्त हुआ है। उनकी घोषणा थी कि सूय के नीचे जितनी मस्जिदें हैं जब तक वे ढह नही जाती तब तक हमारा धार्मिक अनुष्ठान पूरा नही हो सकता *और जब तक ईमान और कुफ्र एक नहीं समझे जाते, तब तक कहीं भी सच्चा मुसल* मान नही दीख पडता।[1]

इस स्वर म कुछ प्रखरता हो सकती है और यह भी ठीक है कि परवर्ती सभी सूफी साधका का स्वर इतना तीव्र नही रहा और उन्होंने खुलकर इस्लाम का विरोध नही किया, पर दोनो के दष्टिकोण म अन्तर सदव ही बना रहा। हिन्दी साहित्य की प्रेम मार्गी शाखा के कवियो मे यह अन्तर एकदम स्पष्ट है। य सभी कवि निष्ठा सम्पन्न मुसलमान थे। उन्हाने खुदा की स्तुति कुरान के अनुसार की है। ये सभी अपन व्यक्तिगत जीवन म इस्लाम के कट्टर अनुयायी थे। इन सभी ने मुहम्मद, खलीफाओ और मुहम्मद पथ की प्रशसा जी खोलकर की है। इनक बहिश्त और दोजख *(स्वग और नरक) के वणन भी कुरान के अनुसार है।* कुरान के सभी सिद्धान्त उन्ह उसी प्रकार माय हैं जिस प्रकार कट्टर मुल्लाओ का। नमाज के पढनेवालो को वे भी गुणी मानते हैं पर फिर भी इनम और कट्टर मुसलमानो म अन्तर है। सूफी सन्त दूसर

१ सूफी मत साधना और सिद्धान्त, पृ० ३

धर्मवालों के प्रति उदार और सहिष्णु हैं। स्वयं अपने धर्म का पालन करते हुए भी वे दूसरे धर्मों के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित करते हैं। बाह्य कर्मकाण्ड के प्रति भी इन का उतना आग्रह नहीं। इसके अलावा इन्होंने अल्लाह के बल और प्रताप (जलाल) के स्थान पर उसके रहीम (करुणामय) रूप पर ही अधिक बल दिया है। इसके अलावा इनके अद्वैत और इस्लाम के स्थूल एकेश्वरवाद में भी महान् अन्तर है। कट्टर मुल्लाओं के अनुसार मानव ईश्वर के साथ तदाकार नहीं हो सकता, जब कि सूफियों का लक्ष्य ही शराब और पानी की तरह मिलकर एकाकार हो जाना है। कट्टर इस्लामी पंथ में मानव और अल्लाह के बीच व्यवधान पर बड़ा बल दिया जाता है। इनके अनुसार मनुष्य परमात्मा का दास है और उसके आदर्शों का पालन कर उसका थोड़ा बहुत अनुग्रह प्राप्त कर सकता है और उसके दंड से बच सकता है। एक स्वामी है तो दूसरा सेवक है। दोनों में समता कैसी? इसके विपरीत सूफी सारे संसार में अल्लाह का ही नूर देखते हैं। वह सर्वत्र तो है ही यह दृश्यमान जगत भी उसी का अपना रूप है। यही कारण है कि उनकी उपासना माधुर्यभाव की है पति और पत्नी या प्रेमी और प्रेयसी की है।

प्रेम का महत्त्व

भक्तिमार्ग की इस शाखा में ईश्वर प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन प्रेम को माना गया है अतः स्वाभाविक रूप में सर्वाधिक महत्व प्रेम को ही दिया गया है। इनके अनुसार एक बार हृदय में सच्चे प्रेम का उदय हो जाने पर साधक का ध्यान सांसारिकता की ओर से स्वतः ही हट जाता है। प्रेम की अनन्यता की पहचान ही यह है कि प्रेमास्पद के ध्यान के सिवाय अन्य किसी के ध्यान के लिए न तो इच्छा ही होती है और न अवकाश ही मिलता है। जिस प्रकार भरी सराय देखकर पथिक स्वतः ही लौट जाता है उसी तरह हृदय को ईश्वर के प्रेम से आपूरित देखकर लौकिक भोगों की इच्छाएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं। एक स्थान में एक ही मेहमान रह सकता है, दो नहीं। प्रसिद्ध साधक अलसिबली के शब्दों में प्रेम उस प्रज्वलित अग्नि के समान है जो परम प्रियतम की इच्छा के सिवाय हृदय की समस्त वस्तुओं को जलाकर खाक कर डालती है।[1] अलसिबली ने जो कुछ कहा था वह परवर्ती साधकों का भी उसी रूप में मान्य रहा। ठीक इसी भाव की अभिव्यक्ति मंझन कवि के इन शब्दों में मिलती है—

प्रेम प्रीति जो जिय उपराइ। प्रीतम राखि और सब जरइ ॥[2]

असली बात तो यह है कि सूफी साधकों की दृष्टि में जन्म लेना तभी सफल है जब हृदय में प्रेम की अनुभूति हो—

---

१ सूफी मत साधना और साहित्य पृ० ६

२ मधुमालती पृ० ४६

जगत जन्म फल जीवन ताही । प्रेम पीर उपजी जिय जाही ।।[1]

जायसी भी कहते हैं कि प्रेम का माग कठिन भले ही हो, पर ससार को तरता वही है जो प्रेम का खेल खेल सकता है । जिस व्यक्ति ने प्रेम के रस का अनुभव नही किया, जो प्रेम के माग पर नही चला, उसका तो जन्म ही व्यथ है—

भलेहि पेम है कठिन दुहेला । दुइ जगतरा पम जेंइ खेला ।।
दुख भीतर जो पेममधु राखा । गजन भरन सहै जो चाखा ।।
जेंइ नहि सीस पेम पथ लावा । सो प्रिथिमी मह काहे को आवा ।।[2]

जिसके हृदय मे प्रेम की भावना जाग्रत हो जाती है जो उसके रस को एक बार चख लेता है वह फिर शान्त होकर नही बठा रहता । जायसी का कथन है कि प्रेम के मद से दीपक जलाकर ज्योति जलाये रखना चाहिए । साधक यदि उस रस को पीना चाहता है तो उसे प्रेम रूपी दीपक का पतगा बनना हागा, ऐसा किये बिना वह उस रस को चख नही सकता । प्रेम के महत्त्व को बताते हुए कहा गया है कि वह जीव धन्य है जो प्रेम से दग्ध हुआ है । ऐसा प्रेम दग्ध व्यक्ति ही स्ही रूपी ससार को मथकर तत्वरूपी घी निकाल सकता है । प्रेम की शक्ति भी अदभुत है । जिसके हृदय म प्रेम है उसे अग्नि चन्दन के समान शीतल लगती है पर जो प्रेम से शून्य है उसे सदव भय ही लगा रहता है । जिसने एक बार प्रेम का अनुभव किया वह जला भले ही हा, पर उसका जलना व्यथ नहीं जाता—

प्रेम की आगि जर जो कोई । ताकर दुख नहि बिरथा हाई ।।[1]

प्रेम के दोनो ही पक्ष हैं । यह अमत भी है और विष भी है । अमत उसके लिए है जो इसका निर्वाह अन्त तक कर सकता है । आरम्भ म तो इसम कष्ट ही-कष्ट हैं । इस पर चलना अपने को तिल तिल करके गलाने के समान है । अधकचरे साधक को इस पर चलने की अपेक्षा शरीर और प्राण का त्याग अधिक सुखकर लगता है । पर सच्चा साधक प्रेम के समुद्र म डुबकी लगा देता है । या तो वह मणि माणिक्य लेकर बाहर निकलता है या उसी म डूब जाता है—

धाइ प्रेम समुद महँ देखू दौरि धसि लेऊँ ।
क मानिक ल निकरौ क ओहि पथ जिउ दऊ ।।[3]

सच्चा साधक ता डूबने और उतराने की बात सोचता ही नही । यह डूबने का भय कच्चे साधक को ही है । वह तो पतिंगे के समान दीपक रूपी लक्ष्य की ओर बढ़ता रहता है । हाँ यह अवश्य है कि ऐसे साधक का विनाश कभी नही होता । वह प्रियतम

---

१ मधुमालती, प० २३
२ पदमावत राजा सुआ खण्ड पद ६७
३ पदमावत, सात समुद्र-खण्ड, पद १५२
४ मधुमालती, पद १८१

उससे रीझकर स्वय उसकी रक्षा करता है। प्रेमी प्रेम की आँच सहकर अमर हो जाता है।

प्रेम की आगि सही जेइ आँचा। सो जग जनमि काल तउ बाँचा ॥
प्रेम मरनि जोइ आपु उबारा। सो न मर काहू का मारा ॥[1]

कवि का यह भी कहना है कि जो काल से भय करता हो उसे प्रेम की शरण में आ जाना चाहिए। प्रेम में वह शक्ति है कि वह प्रेमी को काल से बचा लेता है—

जो जिउ जानहि काल सो प्रेम सरनि करि नेम।
कीट दुहु जग काल सो, सरन साल जग प्रेम ॥[2]

जो प्रेम-संसार पयोधि को लाँघने का एकमात्र उपाय है जो इतना शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण है उसकी उपलब्धि भी प्रत्येक को नहीं होती। प्रेम का संचार किसी सौभाग्यशाली के हृदय में ही होता है सब में नहीं। जो प्रेम के पथ में सिर देता है वही राजा होता है—

बिरला कोइ जाके सिर भागू। सो पाव यह प्रेम सोहागू ॥
सबद ऊँच चरिहुँ जुग बाजा। प्रेम पंथ दऊ सो राजा ॥[3]

जो प्रेम व्यक्ति को इतना ऊँचा उठाता है उसके स्वरूप के विषय में भी थोड़ा बहुत जान लेना चाहिए। यों तो प्रेम का दावा सभी करते हैं पर असली प्रेम वही है जिसका न आदि है न अन्त। ऐसा प्रेम इहलोक और परलोक दोनों ही में प्रेमी के यश को उज्ज्वल करता है—

प्रीति तो ऐसी कीजिए आदि अन्त जेहि नेह।
दुहुँ जग जो यह निरवहै तौ कहु कौन संदेह ॥

प्रेम की यह कथा एक जन्म की नहीं जन्म-जन्मान्तर की है। प्रेम तो साधना है और यह साधना एक ही जन्म में पूरी नहीं होती। मनोहर मधुमालती से कहता है कि हे राजकुमारी! तुझ में और मुझ में प्रीति विधाता ने पहले ही रच दी थी। मैं तो जन्म जन्मान्तर से तुम्हारे प्रेम का भिखारी हूँ। इसी भाव को मनोहर दूसरी बार व्यक्त करते हुए कहता है कि अब तक मैं अपने जीवन को बिना जीव के सम्हालता रहा। आज तुझे देखने के बाद ही मैंने जीव को सम्हाला है। क्षणमात्र में आज तुम्हें देखकर मैंने पहचान लिया कि यही वह रूप था जिसने पहले भी मुझे अपने वश में कर लिया था। यही रूप सब जगह समाया हुआ है यही रूप त्रिभुवन की सीमा है और यही रूप सृष्टि में बहुत वेशों में प्रगट हुआ है—

१ मधुमालती पद १४१
२ वही पद ५३८
३ वही पद २८
४ वही, पद १३०

अब लहि विभु जिव जीवन सारा। आजु देखि तोहि जीउ सँभारा ॥
दरसत खिन पहिचाना तोही। इहै रूप जेंइ छदरा माही ॥
इहै रूप तब अहेउ छपाना। इहै रूप अब सिस्टि समाना ॥
इहै रूप सक्ती औ सीऊँ। इहै रूप त्रिभुनन कर जीऊँ ॥
इहै रूप परगट बहु भेपा। इहै रूप जग रोक नरेसा ॥[1]

इस विषय म इतना और कह देना पर्याप्त होगा कि यद्यपि इन कविया और साधका का लक्ष्य परात्पर ब्रह्म की प्राप्ति है और इस प्रकार इनके प्रेम का स्तर आध्यात्मिक है पर सासारिक प्रेम को भी इन्होंने तुच्छ नही समभा। अधिक स्पष्ट शब्दा मे यह भी कहा जा सकता है कि अलौकिक प्रेम के लिए लौकिक प्रेम का होना आवश्यक है। सोपान रूप म इस लौकिक प्रेम का भी अपना महत्त्व है। प्रसिद्ध सूफी जामी ने अपनी कविता म कहा था—इस ससार म तुम सकडो उपाय कर सकते हो, लेकिन एकमात्र प्रेम ही ऐसा है जो अह से भी तुम्हारी रक्षा करेगा। सासारिक प्रेम से भी तुम मुख मत मोडो क्योकि परम सत्य तक पहुचने मे यह तुम्हारा सहायक सिद्ध होगा।[2]

प्रेम माग की कठिनाइयाँ

प्रेम के माग पर चलने वाला पथिक प्रियतम तक पहुच तो जाता है पर उस पर चलना आसान नही। पद पद पर रुकावटें हैं, माग काटो स भरा है, विषय भोग रूपी बटमार हैं, बीहड वन हैं जिसम खोय जाने या भटक जाने का भय बना रहता है, विशाल समुद्र हैं जिन्हे पार करने मे बडे बडे वीरो का साहस डगमगा जाता है। उसमान ने भी इस माग पर चलनेवालो को इन शब्दो म कठिनाइयो से परिचित कराया है—

कहेसि कुअर यह पथ दुहेला, उस जनि जानि हसी औ खेला ॥
अगम पहार विषम गढ घाटी, पखी न जाइ चढ नहि चाँटी ॥[3]

इस पर वही चल सकता है जिसे अपने प्राणा का मोह न हो और जो प्रिय के लिए सब कुछ होम देने को तयार रहता है। जायसी ने इसी भाव को इन शब्दो मे व्यक्त किया है—

कठु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया।
तहँ नहि हँसी न रोज, मुहम्मद ऐसे ठाव वह ॥[4]

---

१ मधुमालती पष्ठ ११६
२ सूफीमत साधना और साहित्य, पृ० ३१६
३ चित्रावली-खण्ड, पद ४७, पृ० ७६
४ जा० ग्र०, पृ० ३२० (पष्ठ सस्करण)

सुन्दर वस्तु को पाने की कामना कौन नहीं करता ? मणि माणिक्य किसे बुरे लगते हैं ? पर वे सड़कों पर बिखरे नहीं रहते । उनकी प्राप्ति के लिए प्राणों पर खेल कर समुद्र के गर्भ में गोते लगाने पड़ते हैं । वह प्रिय भी हृदय की उस गहराई में छिपा हुआ है जो समुद्र की गहराई से भी अधिक गहरी है। उसे पाने के लिए अपने को मिटाना जरूरी है, वह हँसी खेल में ही नहीं मिल जाता—

> देखि समुद महँ सीप, बिनु बूड़े पाव नहीं ।
> होइ पतंग जलदीप, मुहमद तेहि धारी लीजिय ॥[1]

तथा

> मरन खेल देखा सो हँसा होइ पतंग दीपक महँ धसा ।
> तन फनिग कै भिरिंग कै नाई, सिद्ध होइ सो जुग जुगताई ।
> बिनु जिउ दिए न पावै कोई जो मरजिया अमर भा सोई ॥[2]

पद्मावती ने अपने संदेश में रतनसेन से जो कुछ कहा है उसमें उसने प्रेम-मार्ग की कठिनाइयों की चर्चा करते हुए ऐसे अनेक व्यक्तियों का उल्लेख किया है जिन्होंने इस मार्ग में आने के बाद अनेक कष्ट उठाए हैं । उसने स्पष्ट रूप में कहा है कि मैं उसे ही मिल सकती हूँ जो पाने से पहले अपने को मिटा देने को तैयार हो—

> हौं रानी पद्मावति सात सरग पर बास ।
> हाथ चढ़ौं सो तेहिके प्रथम जो आपुहिं नास ॥[3]

शिव ने रतनसेन से स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जो दुःख सहता है उसे ही शिवलोक की प्राप्ति होती है । अब तूने पर्याप्त साधना करली है तुझे सिद्धि मिल गई है । और तू उस स्वच्छ दर्पण के समान हो गया है जिस पर से काई उतर गई है—

> जो दुख सहै होइ सुख ओकाँ । दुख बिनु सुख न जाइ सिवलोका ॥
> अब तू सिद्ध भया सिधि पाई । दरपन कया छूटिगी काई ॥

मझन भी प्रेम मार्ग की कठिनाइयों से अपरिचित नहीं । लक्ष्य जितना महान होगा विघ्न उतने ही अधिक होंगे । हँसते खेलते ही यदि प्रेमी को प्रेमास्पद की प्राप्ति हो जाती तो हर व्यक्ति प्रेमी बन जाया करता पर यह मार्ग उतना सरल नहीं है जितना बाहर से दीख पड़ता है । इस मार्ग में लेना बाद में है देना पहले है । जो अपने प्राणों से खेल सकता है उसे ही इस मार्ग पर पैर रखना चाहिए—

---

१ जा० ग्र० पृ० ३३२

२ जा० ग्र० पृष्ठ ३२८ (षष्ठ संस्करण)

३ पदमावत राजागढ़छेका खण्ड, पद २३३

४ वही पार्वती-महेश खण्ड, पद २१४

प्रथमहि सीस हाथ क लेई। पाछें यहि मारग पगु देई ॥[1]

इस माग की कठिनाइयो का वणन करत हुए मभन ने बताया है कि मनोहर जब मधुमालती की प्राप्ति के लिए घर से निकलता है तो उसे अनेक विघ्न-बाधाओ का सामना करना पडता है। एक बार जब नाव समुद्र मे छोड देता है तो चार मास तक पानी म चलना पडता है, फिर दुर्दिन आता है, समुद्र की लहरें अधकारमयी दिखायी देती हैं। कणधार दिशा भूल जाता है और नाव भारी भँवर म पड जाती है।[2] आगे चलकर कहा है कि वह राजकुमार वन म अकेला चल रहा है। उसका माग अगम, कठिन और कष्टपूण है। सिंह, शार्दूल और हाथी चिघाड रहे हैं, दूसरा कोई साथी नही।[3]

कवि नूरमोहम्मद भी प्रेम माग की दुरूहता और कठिनाइयो स भली भाँति परिचित हैं। उनका कहना है कि सबसे पहले प्रेम की पीर आसमान को मिली थी पर उसने इसे लेना अस्वीकार कर दिया। उसने जब इस भार को असह्य समझा तब यह भार मानव को मिला। इस भारी बोझ को सम्हालना विरले का ही काम है। जिस प्रकार मछली पानी के वियोग म (स्थल पर) छटपटाती रहती है, उसी प्रकार वियोगी तडपता रहता है। प्रेम का यह माग उस कान्तार के समान है जिसमे भयकर शेर-चीते मिलते हैं—

चतुर अकास प्रेम कहँ चीन्हा। यातें ताको भार न लीन्हा ॥
या दधि तिरब होइ सक न कासो। जल उच्छास लहर नित जासो ॥
एहि कातार नाहि को पार। केहरि बिग बहुतन कह मार ॥
तरफराइ जिमि बन सरजादू। तिमि प्रेमी को है मरजादू ॥[4]

इसी प्रकरण म कुछ और आग चलकर कवि ने कहा है कि प्रेम माग पर चलना बडा कठिन है। इसमे इतनी बाधाएँ हैं कि बस प्राणो पर आ बनती है

है सनेह क सचर गाढी। दुग समुद्र लत जिउ काढी ॥
जो सनेह मग भएउ बटोही। पथ सरम जान नही ओही ॥[5]

इस माग पर चलना तलवार की धार पर चलना है। इस पर तो वही चल सकता है जो अपना शोणित बहाने को तयार हो। जिसका कलेजा सवा मन का हो, उसे ही इधर पग रखना चाहिए। इस मैदान को जीतना हँसी खेल नही। अजुन और भीम जसे बली भी यहाँ हार जाते हैं। अगद जसा वीर अपना पर नही जमा पाता—

जो सनेह मग पर पग राख। सो करेज को सोनित चाख ॥
जिय सो गरू होइ जो कोई। सा सनेह को पथिक होई ॥

---

१ मधुमालती, पद २३४
२ वही, पद १७७
३ वही, पद १५२
४ अनुराग-बाँसुरी, पृ० १८ (दोहा २८ के बाद)
५ वही, पृ० १९ (दोहा ३२ के बाद)

यह मन्दार न जीत पार । अजुर भीम अस्त्र जह हार ॥
ह सनेह क कठिन लडाई । मरनी पाइ नयन मरि जाई ॥
प्रगट दही न राप पाऊ । वरन सहन बरन क पाऊ ॥[1]

देव भावना का स्वरूप

इस भक्ति शाखा क सूफी कवि जिस आराध्य पर म विश्वास करत हैं वह निराकार है और घट घट म समाया हुआ है । जायसी न अपन पद्मावत क आरम्भ म उस ईश्वर का स्मरण किया है जिसने ससार को बनाया है । अग्नि हवा जल स्वर्ग नरक और पाताल का रचना भी उसी न की है तरह-तरह की योनियों का भी उसी न बनाया है । और क्या कहा जाय दिन रात्रि सूय और चन्द्रमा भी उसी न बनाय हैं ।[2] आगे उन्होंने बताया है कि जो भी वस्तु जहाँ कहीं दीख पडती है उन सब का कर्ता भी वही है । उसकी शक्ति अपार है । वह जिस चाहे राजा बना सकता है जिस चाहे रंक । ससार म ऐसा दूसरा कोई प्राणी नहीं जो उसकी समता कर सक । वह सबके देखत देखत पवतो को राई म बदल सकता है और चींटी को हाथी क बराबर कर सकता है । उसके इस कर्तापन से किसी को उसके साकार होन का सन्देह न हो जाय इसलिए उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि वह अलक्ष्य है वणरहित है प्रकट और गुप्त रूप से सबम समाया हुआ है । न उसका कोई पिता है न उसकी माता है और न कोई उसका पुत्र ही है । सृष्टि के आदि म वह था अब भी है और आगे भी बना रहेगा—

अलख अरूप अवरन सो करता । वह सबसों सब ओहि सों बरता ॥
परगट गुपुत सो सरब बियापी । धरमी चीन्ह चीन्ह नहिं पापी ॥
ना ओहि पूत न पिता न माता । ना ओहि कुटुंब न कोई सँगनाता ॥

...

हुत पहिलेहूँ औ अब है सोई । पुनि सो रहा रहिहि नहिं कोई ॥[3]

इनका देव उपनिषदो क देव स मिलता जुलता है । वहाँ कहा गया है कि वह वाणी की सीमा से बाहर है पर वाणी उसी से शक्ति ग्रहण करती है, मन की पहुँच वहाँ तक नहीं पर मन की सत्ता उसी से है श्रोत्र उस तक नहीं जा पाते पर उनकी श्रवण शक्ति उसी क कारण बनी हुई है । जायसी न कहा है कि उसम जीव नहीं है पर फिर भी वह जीता है उसके हाथ नहीं हैं पर वह फिर भी सब कुछ करता है—सब भौतिक इन्द्रियो से रहित होते हुए भी वह सारे काय उसी प्रकार करता है जिस

---

१ अनुराग बासुरी पृ० २६ (दोहा १८ के बाद)
२ पदमावत स्तुति खण्ड पद १
३ वही, स्तुति-खण्ड पद ७

प्रकार हम लोग करत है। असली बात तो यह है कि न यह मिला हुआ है और न बाहर है फिर भी ससार भर म व्याप्त है, निकट भी है और दूर भी है, दीखता भी है और नहीं भी दीखता—

जीऊ नहि पर जियइ गुसाई। कर नाही प करह सवाई॥
जीभ नाहि प सब किछु बाला। तन नाहि जा डालाव सो डाला॥
स्रवन नाहि प सब किछु सुना। हिय नाही गुन ना सब गुना॥
नन नाहि प सब किछु दखा। कवन भाँति अस जाइ बिसेखा॥

ना वह मिला न बहुरा अइस रहा भरपूरि।
दिस्टिवत कहूँ नीयरे, अध पुरुप कहू दूरि॥[1]

जो ईश्वर ऐसा है उसकी स्तुति करने की इच्छा होती ता है पर चाहते हुए भी उसका वणन नही हा सकता। वह शब्दो की सीमा से पर है। जायसी का कहना है कि यदि सातो आसमाना को कागज बनाया जाय धरती के सातो समुद्रो मे स्याही भरी जाय, सारे वक्षो की टहनियों की लेखनी बनाई जाय और सारा ससार लिखने लगे, तब भी उसकी महिमा का वणन नही हो सकता।

मझन का देव भावना का स्वरूप भी लगभग ऐसा ही है। उसके अनुसार भी सारे ससार म एक ही ज्योति फली हुई है—

त्रिभुवन अपुरी पूरि के, एक जोति सब ठाउ।
जोतिहि अनवत मूरति, मूरति अनवत नाँउ॥[2]

वह देव अवणनीय है। कवि के शब्दो म वह सकल है कि जो बहुवेशो म तीना भुवना मे समाया हुआ है उसका वणन सभव नही—

जो बहु भेसन लोक समाना। सा कसे के जाइ बखाना॥[3]

वह शक्ति सभी युगो म प्रकट रहती है पर कोई विरला ही उस पहचानता है। तीनो भुवना की स्वामिनी वह शक्ति सदव विद्यमान रहती है। आदि म भी वही थी और अन्त म भा वही रहेगी—

तीनि भुवन चहूँ जुग त राजा। आदि अत जग तोहि प छाजा॥

तीनि भुअन घट घट महूँ अनवन रूप बेलास।
एक जीभि कहु ताहि क, अस्तुति कर हवास॥[4]

---

१ पदमावत स्तुतिखण्ड पद ८
२ मधुमालती, पद २ प० ४
३ वही, पद ४, पृ० ६
४ वही, पद १, प० १

तीनो भुवनो और चारा युगो म एक और अकेला होकर भी वह परमात्मा तरह-तरह के खेल रचता है। वह यद्यपि अदृश्य है और निर्लिप्त है, तथापि अनेक वेश धारण करता है। कही वह भिखारी बनता है और कही नरेश। उसम परस्पर विरोधी गुणो का समावेश है, वह गुप्त भी है और प्रकट भी। उसके समान कोई दूसरा न तो हुआ है और न होगा—

गुपुत रहै परगट जस बरस, सरब बियापक साइ।
दूजा कोइ न आहै और भवा नहिं होइ ॥[१]

वह अनादि है। सृष्टि के आदि म उससे पहले कोई नहा था इसलिए वह आदि का भी आदि है और अत म भी वह बचा रहता है अत उसे अन्त का भी अत कहा जा सकता है—

आदिहि आदि अत ही अन्ता। एहि अरथ रूप जो अनता ॥
एक अहै दोसर काइ नाही। तेहि सम सिष्टि रूप मुल जाही ॥[२]

इस निखिल ब्रह्माण्ड म एक भी शक्ति ऐसी नहो है जिसम वह न समाया हुआ हो। छोटे छोटे कण म विशालकाय पवत म समुद्र की गहराई म और अनन्त की विशालता मे वही समाया हुआ है। जो कुछ कही है वह उसी का रूप है—

कौन सो ठाउँ जहाँ प नाही, तीनि भुवन उजिआर।
निरखि देखु ते सरवस पूरे सब ठाँ तोर बेवहार ॥[३]

उसमान ने भी जिस देव भावना का चित्रण किया है वह इसी म मिलती जुलती है। उनका ईश्वर भी सवव्यापक है और उसका कोई आकार नही है। वह प्रकट भी है और गुप्त भी है अत सामान्य पुरुष की सीमा स बाहर है। वह हृदय म ही है अत दूर नही, पर किसी को दिखाई नही दता अत समीप भी नही। उसे ढूंढने के लिए घर से बाहर जाने की जरूरत नही है हम सब के रूप म वही समाया हुआ है, प्रश्न केवल उसे पहचानने का है—

सो करता सब माह समाना। परगट गुपुत जाइ नहिं जाना ॥
गुपुत कहा तो गुपुत न होई। परगट कहउ न परगट सोई ॥
दूर कहो तो दूर न लखा। नियरे कहउँ तो जाइ न देखा ॥
सब वहि भीतर वह मब माँही। सब आपु दूसर काउ नाही ॥
जो सब आपु रहा जग पूरी। तासौं कहा नर अरु दूरी ॥

---

१ मधुमालती पद ४ पृ० ६
२ वही पद ६ पृ० ७
३ वही पद ३१ पृ० २७
४ चित्रावली स्तुति खण्ड, पद १

यह ससार स्वय उत्पन्न नही हुआ इसका बनाने वाला परमात्मा है। इसमे जो तरह-तरह के रूप हैं वे सब उसी के लिए हुए हैं। वह यद्यपि निराकार है उसकी कोई मूर्ति नही, तथापि ये सब मूर्तियाँ उसी की हैं। ऐसा कोई स्थान नही जहाँ वह न हो। फिर भी विचित्र बात यह है कि इतने निकट होते हुए भी वह हमारी इद्रियो की पहुँच के बाहर है, वह इन्द्रियातीत है। जिह्वा बेचारी की तो बात ही क्या, मन की भी पहुँच वहाँ तक नही है—

करता जिन जग रूप सँवारा। तेहिक रूप को बरनै पारा॥
आपु अमूरति मुरति उपाई। मूरति माँही तहाँ समाई॥
मरन के चरन पगु जेहि ठाई। बपुरी जीभ चलइ कहँ ताई॥

परगट गुपुत विधाता सोई। दूसर और जगत नहिं कोई॥
है सब ठाउँ नाहिं कोइ ठाइ। मुनिगत लखहि कि अलख गुसाइ॥
सृष्टि अनेक लख नहिं पाई। सिरजनहार लखा केहि जाई॥
अलख अमूरत सोइ बिधि, लख न मूरति कोइ।
सो सब कीन्ह जो चाहा, कीन्ह चहै सो होइ॥[1]

नूर मोहम्मद का देव भी सवव्यापक है, उसकी दरगाह छोडकर अन्य किस दिशा मे जाया जा सकता है—

मोहि करतार भरोसा, है सब ठाउँ।
ता दरगाह छाँडि के, केहि दिसि जाउँ॥[2]

यह सवव्यापक देव निराकार है। उसकी कोई मूर्ति नही। राजकुमार अन्त करण सुए के उपदेश से मदिर (देवहरा) मे जाता है तो वहाँ अमूत का ही ध्यान करता है—

निसिदिन तहाँ अमूरत पूजा। मूरति नाहिं देवता दूजा॥
जहाँ अमूरत पूजा कर। तहाँ देवता माथा धर॥[3]

साकार रूप और पौराणिकता का अभाव

इस धारा के सभी कवि निराकार ईश्वर के मानने वाले हैं। ये सभी इस्लाम धम म दढ आस्था रखते हैं अत उनके यहाँ आराध्य देव की साकार भावना के दशन होने का तो प्रश्न ही नही पदा हाता। कबीर इत्यादि यद्यपि निराकार ईश्वर के उपा-

---

१ चित्रावली स्तुति खण्ड, पद २
२ अनुराग-बाँसुरी, दोहा ६ प० ३
३ वही पृ० ४६

(परमात्मा) की भाडी क पास पहुच कर उसकी इच्छा हुई कि मैं बहुत-स गुलाब क फूल ताड कर ल चलू जिसस कि मैं अपन साथियो को उपहार द सकूं। लकिन जब वह वहाँ या तब गुलाब की भाडी की सुगन्ध स इतना मस्त हो गया कि उसकी पोशाक की खूंट उसक हाथो स छूट गई। जिसन परमात्मा को जान लिया है उसकी जिह्वा म शक्ति नही रह जाती कि वह कुछ कह सक।[1]

जायसी न काव्य म भी आत्मा और परमात्मा क अभेद भाव को पद्मावती और रत्नसेन क अभेद भाव द्वारा स्पष्ट किया है। पदमावती की प्राप्ति के लिए रत्नसन न गधवसन के किल पर चढाई की और पकडा गया। पकडे जान पर उस शूली की आज्ञा हुई। उस शूली दन की आज्ञा स पद्मावती को जो पीडा हो रही है उसका कारण समझात हुए हीरामन तोता पद्मावती स कहता है कि ह पद्मावती! तुमम और रत्नसेन म भेद नही है। तुम जीव हो और वह काया है काया की पीडा स ही जीव को पीडा हो रही है। आग वह कहता है कि अपन जीव को तुम्हार रूप का करके रत्नसेन न दूसरा शरीर प्राप्त किया है। तुम्हार शरीर क एक भाग म उसका आपा छिपा हुआ है अत मृत्यु उस ढूढ नही पाती—

> सव ल देइ गए आहि सूरी। तहि सो अगाह बिथा तुम्ह पूरी॥
> सव तुम्ह जीव कया वह जोगी। कया क रोग जीव प रोगी॥
> रूप तुम्हार जीव क आपन पिउ कमावा फेरि।
> *आपु हेराइ रहा तहि खण्ड होइ काल न पाव हेरि॥*[2]

पदमावती द्वारा और आग पूछे जान पर तोता कहता है कि ह पदमावती! तुम गुरु हो और रत्नसेन चेला है। तुम्ह दखत ही तुम्हारा रूप उसक हृदय म भर गया और उसका जीव तुम्हार हाथो म आ गया। तब स वह शरीर है और तुम जीव हो। अब उसकी काया को जो धूप और शीत लगत हैं उनको उसकी काया नही जानती पर तुम्हारा जीव जानता है। तुम उसक घट म हो और वह तुम्हार घट म है, ऐसी दशाओ म काल उसकी छाया कस पा सकता है—

> रूप गुरूकर चेल डीठा। चित समाइ होइ चित्र पईठा॥
> जीव काढि ल तुम्ह उपसई। वह भा कया जीव तुम्ह भई॥
> कया जो लाग धूप औ सीऊ। कया न जान जान प जीऊ॥
> भाग तुम्हार मिला आहि जाई। जो आहि बिथा सो तुम्ह कहँ आई॥
> तुम्ह आहि घट वह तुम्ह घट माहा। काल कहाँ पाव आहि छाँहा॥
> अस वह जोगी अमर भा परकाया पर वस॥
> *आव काल तुम्हहि तह देखे बहुर क आदस॥*[3]

---

१ सूफी मत साधना और साहित्य पृ० २६३
२ पद्मावत गधवसन मन्त्री खण्ड, पृ० २४६
३ वही पृ० २४७

रत्नसेन की दशा सुनकर पदमावती जो कुछ कहती है भी वह भेद को मिटा कर अभेद को, द्वैत को मिटाकर अद्वैत को व्यक्त करता है। वह हीरामन से कहती है कि जाओ और रत्नसेन से कहो कि अब वह सिद्ध हो गया है। उसने मुझे प्राप्त कर लिया है। अब मैं उससे दूर नही हूँ। यदि उसे शूली लगी तो वह मेरे नेत्रा मे भी गड़ेगी। यदि उसका प्राण घटा तो मेरे प्राण भी घटेंगे, अब उसका कष्ट मेरा कष्ट है—

कहौ जाइ अब मोर सदेसू। तजौ जोग अब, होइ नरेसू॥
जिनि जानहु हौं तुम्ह सो दूरी। नयनन्हि माँझ गढी वह सूरी॥
तुम्ह परदेस घटइ घट केरा। मोहि घट जीउ घटत नहि बेरा॥
...
जौं रे जियहि मिलि गर रहहि, मरहि त एक दोउ।
तुम्ह जिउ कह जिनि होइ किछु, मोहि जिउ होउ सो होउ॥[1]

शूली दिए जाते समय राजा गन्धवसेन द्वारा पूछे जाने पर रत्नसेन कहता है कि अब तो मैं मरने को तयार हूँ। मेरे हर श्वास म उसी का स्वर समाया हुआ है। मेरी काया में रक्त की जितनी बूदें हैं उन सब म पदमावती ही समायी हुई है। मेरी नस-नस म अगर कोई ध्वनि उठ रही है तो वह पदमावती की ही है—

हाडहि हाड सबद सो होई। नस-नस माँह उठे धुनि सोई॥
लागा बिरह तहाँ का गूद माँसु क हान।
हौं पुनि साँचा होइ रहा ओहि के रूप समान॥[2]

मझन भी प्रेम की अनन्यता म उसी प्रकार का अटूट विश्वास रखत हैं जिस प्रकार का विश्वास जायसी का है। एक बार जब हृदय म प्रेम का उदय हुआ तो फिर हर स्थान पर प्रिय ही प्रिय दिखायी देता है, उसके सिवाय अन्य किसी की सत्ता उसे दीख नही पडती—

जेहि जिय पर पेम क रेखा। जहँ देख तह देख अदेखा॥[3]

यह प्रेम जो सब स्थानो पर प्रिय की ही सत्ता देखता है, एक दिन मे ही पदा नही हो जाता। प्रिय और प्रेमी का सबन्ध तो जन्म ज मान्तर का है। मनोहर मधुमालती स कहता है कि हे राजकुमारी! तुझ म और मुझ मे प्रीति विधाता ने पहले ही रच दी थी। मैं तो ज म जन्मान्तर से तुम्हारे प्रेम का भिखारी हू—

मैं न आजु तार दुख दुखारी। तोर दुख सेउ मोहि आदि भिखारी॥
अजहूँ माहि न चीन्हसि बारी। सवरि देखु चित आदि भिखारी॥

---

१ पदमावत गन्धवसेन मन्त्री खण्ड, पृ० २४७
२ वही रत्नसेन-सूली खण्ड, पृ० २५०
३ मधुमालती पद ३०

इसी भाव को राजकुमार मनोहर ने मधुमालती में कहा कि हे राजकुमारी तुम शरीर हो तो मैं छाया हूँ तुम चन्द्रमा हो तो मैं ज्योत्स्ना हूँ तुम प्राण हो तो मैं काया हूँ। मैंने अपना पृथक अस्तित्व तो उसी दिन छोड़ दिया था कि जिस दिन तुम्हारे प्रेम को हृदय में धारण किया था—

> ताहि बिनु मोहि जग जीवन नाहीं। तुम्ह शरीर मैं तुम्ह परछाईं ॥
> तुम्ह सो प्रान मैं काया तुम्हारी। तुम्ह ससि मैं तोरी उजियारी ॥
> प्रान कया कह जाउ प्रतिपार। ससि सतत उजियारी सार ॥
> मैं आपुन तहि दिन परिहरा। जहि दिन तोर पेम जिय धरा ॥
> तुइ जो समुद मैं लहरि तुम्हारी। मैं तो जो बिरिछ तुइ मूल ॥
> तेहि मोहि सपत बचा दहुँ। कसी मैं मुवास तुइ फूल ॥[1]

मंझन का जीवन दर्शन भी आत्मा और परमात्मा के अद्वैत को स्वीकार करता है। उनके अनुसार देह से भिन्न आत्मा (जीव) ही सृष्टि का केन्द्र बिन्दु है। सृष्टि रूपी गृह में वही दीपक है, संसार के समस्त सुख-दुःख उसी जीव को अनुभूत होते हैं। उनका कथन है—

> तुइ दीपक तहि सिस्टि के गहा। अबहूँ जीव जनि जानसि देहा ॥
>
> दुख सुख सम स्यमारकर जेत भाव नेत होउ ॥
> सो सम परस आइ ताहि दोसर और न कोउ ॥[2]

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए वे अगले पद में कहते हैं कि हे जीव! तेरा ही मुख त्रिभुवन की उज्ज्वलता है समस्त सृष्टि तेरे ही मुख के लिए दर्पण है तेरी ही ज्योति से त्रिभुवन में प्रकाश का विस्तार हुआ है। समस्त सृष्टि में व्यक्त तू ही है तेरे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं सर्वत्र तू ही व्याप्त है और तू ही सब कुछ है—

> त जलनिधि सर्वनिधि कर भरा। काहू परसि गरब कस परा ॥
> तोर बदन तिरभुवन अजोरा। सकल सिस्टि मुख दरपन तोरा ॥
> तोरिय जोति गवन परगासा। मितुलोक पाताल भगासा ॥
> सकल सिस्टि महँ परगट तुही। सरबस तुइ दोसर कोइ नही ॥
> जो काइ खाव सोइ पै जावा। सोको जाइ जहि नहि किछु खोवा ॥
>
> कौन सो ठाउ जहाँ त नाही तीनि भुवन उजियार।
> निरख देखु त सरबस पूर सबठाँ तोर बवहार ॥[3]

जिस प्रकार जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती दोनों को एक ही माना है इसी

---

१ मधुमालती पद १२६
२ वही पद ३०
३ वही पद ३१

प्रकार मभन ने भी मनाहर के मुख से मनोहर और मधुमालती दोनो को एक ही कह लाया है। मनोहर मधुमालती से कहता है कि तू और मैं, दोना सग सग रहने वाले थे और सदव एक ही देह मे निवास करते थे। दोना का एक ही शरीर था, दाना एक ही मिट्टी के बन थे, एक ही जल दोनो म बहता है, एक ही दीपक दा घरो म प्रकाश करता है, एक ही जीव दा शरीरा म सचरित है, एक ही अग्नि दा स्थानो पर जल रही है एक ही के दा भाग दीख पड रहे हैं, एक ही मदिर के हम दा भाग है--

तू मैं दुवौ सदा सघ वासी। औ सतत एक देह नेवासी ॥
औ मैं तुहं दुइ एक सरीरा। दुइ माटी सानी एक नीरा ॥
एक बारी दुइ बहै पनारी। एक दिया दुइ घर उजियारी ॥
एक जीउ दुइ घर सचारा। एक अगनि दुइ ठाँए बारा ॥
एक हम दुइ क औतारे। एक मदिल दुइ किए दुवारे ॥
एक जोति रूप पुनि एक इक परान इक दह ॥
आपुहि आप जो देइ कोइ चाहै तेहि कर कौन सदह ॥[१]

काव्य म आरम्भ स अन्त तक कितने ही स्थानो पर प्रेम सम्बन्ध को जन्म जन्मान्तर का कहा गया है, उसका भी भाव यही है।

विरह

उसमान का कथन है कि जहाँ रूप और प्रेम है वहाँ विरह की सष्टि स्वत ही हो जाती है। प्रेम और विरह का बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विरह का जीवन मे बडा महत्त्व है अत इसे कभी छोटा नही समभना चाहिए। जहाँ भी प्रेम की अग्नि है वही विरह वायु बनकर उस सुलगाता है, बढावा देता है ज्याहि हृदय म प्रेम का अकुर पदा हुआ त्याही विरह की उत्पत्ति हुई। इस विरहाग्नि की जलन का वही जानता है जिसे इसका सामना करना पडता है। जिस प्रकार काठ मे लगी अग्नि उसे अन्दर ही अन्दर जलाती रहती है और धुआ बाहर नहीं निकलता ठीक ऐसी ही स्थिति विरही की होती है। सारा ससार चन की नीद साता है और विरही रातभर तारे गिनता रहता है--

बिरह अगिनि उर मह बर, एहि तन जान सोइ।
सुलग काठ बिलूत ज्यो धुआ न परगट होइ ॥[२]

पिय बिनु पोठ फाट नहि छाती। तारे गनन जात सब राती ॥[३]

---

१ मधुमालती, पद ३१
२ चित्रावली चित्रावली-खण्ड पद १
३ वही, चित्रावली खण्ड, पद २

वियोगी की दशा बड़ी करुणापूर्ण होती है। न वह जीता है और न मरता है। प्रिय के अभाव म जीवन मत्यु से भी अधिक दु खदायी लगता है। और प्रिय मिलन की आशा जीने के लिए विवश करती है। चित्रावली से साक्षात्कार होने के बाद जब राजकुमार सुजान को देव मढ़ी म ले जाते हैं तब उसकी दशा दयनीय हो जाती है। तेजस्वी मुख कुम्हलाकर पीला पड़ जाता है, रक्त सूखने के कारण शरीर पीले पत्त के समान हो गया है आँखें खुल नहीं पाती और न वह किसी स अपनी बात कहता है और न किसी की पूछता है—

अरुन बदन पियरायगा सहिर सूखिगा गात।
रहा झाँपि लोचन दाऊ कहै न पूछ बात ॥[1]

कल न पर पल अति विकरारा। हाथ पाँव सिर द द मारा ॥[2]

विरह की स्थिति कुछ विचित्र स्थिति होती है। यदि किसी की आँखें आयी हुई हो तो जस उस व्यक्ति को शीतल वायु भी दु ख दन वाली होती है उसी प्रकार सुन्दर स सुन्दर वस्तुए भी विरही का काटन दोड़ती हैं। वियोग म चित्रावली का चित्रसारी ऐसी लगती है माना काली नागिन हो और फूल एस लगत हैं जस अगार हो—

चित्रावलि कहँ मो चितसारी। जानहु भई भुअगिनि कारी ॥
फूल अगार भय फुलवारी। कछु न सुहाय बिरह की मारी ॥[3]

मभन की दृष्टि म भी विरह का अत्यधिक महत्त्व है। उसके अनुसार यह प्रेम की कसौटी तो है ही पर इसकी प्राप्ति भी सौभाग्य की निशानी है। इसकी प्राप्ति सौभाग्यशाली व्यक्ति को ही होती है—

सिस्टिमूल बिरहा जग आवा। प बिनु पुन्य पुनि को पावा ॥

..

कोनो पाठ पढ़े नहि पाइअ, बिरह बुद्धि औ सिद्धि।
जा कहँ दइ दयाल करि सो पाव यह निद्धि ॥[4]

पूव पुण्यो स मिलन वाला यह विरह जिस मिलता है वह धन्य है। वह ईश्वर का विशेष कृपा पात्र है वह साधारण नहीं असाधारण है। बादला की सभी बूदें मोती नहीं बनती, सभी क घट स विरह की ज्योति नहीं निकलती रत्न प्रत्यक सागर म नहीं होत प्रत्यक गज के गडस्थल स मोती नहीं निकलत हर वन म चन्दन पदा नहीं होता—

---

१ चित्रावली, पृ० ३७
२ वही पृ० ३८
३ वही पृ० ५४
४ मधुमालती, पृ० २५

(क) धनि जीवन तेहि केरा भारी । जो जग भएउ बिरह बलिहारी ॥
सरग बुंद सभ होंहि न मोती । सभ घट बिरह देइ नहि जोती ॥
कोटि माँहि बिरला जग कोई । जाहि सरीर बिरह दुख होई ॥
रतन कि सागर सायरहिं गज मुकुता गज काइ ।
चदन कि बन बन ऊपज, बिरह कि सब तन हाइ ॥[1]

(ख) जेहि जिय दव बिरह उपजावा । निहच तीनि भुवन सो राजा ॥[2]

विरह अमूल्य हीरा है । प्रिय का प्राप्त करने की अचूक कुंजी है । यह अग्नि अवश्य है, आरम्भ म जलाती भी है पर अन्ततोगत्वा शीतलता भी इसी से मिलती है । जिसे यह मोती नही मिला उसका जन्म व्यथ ही गया । जन्म तो उसी का धन्य है जिसे इस अग्नि मे जलने का सुअवसर मिल सका—

बिरह अगिनि जिय लागि न जाही । एहि जग जनम अबिरथा ताही ॥
जेइ जिउ पेम तत नहि लावा । जीवन कर तेहि जनमि न पावा ॥
एहि जग जनमि लहा तेइँ लाहा । बिरह अगिनि महँ जोइ जिउ दाहा ॥

विरह के महत्त्व को प्रतिपादित करते-करते मभन ने बार बार इस बात को दुहराया है कि जिसने विरह का रस नही चखा, उसका जन्म व्यथ ही है—

मभन एहि जग जनमि क, बिरह न कीता चाउ ।
सूने घर का पाहुना जेउ आया तेउ जाउ ॥[3]

सर्वाधिक व्यापक तत्त्व विरह ही है । मानव म ही नही, सष्टि के कण-कण म यह फल रहा है । सूय, चन्द्र, तारागण, कुबेर भी प्रेमी के विरह म रो रहे हैं । प्रेमी ने जो रक्त के आँसू गिराये थे उनसे ही तोते का मुह लाल है और पिक और काक यदि काले पड गये हैं तो उसकी दु खाग्नि स ही । प्रकृति के अन्य पदार्थों मे भी तत्त्व फैला हुआ है ।[4]

पर इस विरह को निभा सकना बडा कठिन काम है । इसकी पहली शत त्याग है । जा व्यक्ति अपना सिर हाथ म लने को तयार हो उस ही इस माग पर बढने का साहस करना चाहिए—

प्रथमहि सीस हाथ क लेई । पाछें ओहि मारग पगु देई ॥[5]

विरह की पीर का झेलना बडी टेढी बात है । इसम ता रोना ही रोना है ।

---

१ मधुमालती, पद १३२
२ वही पद २३३
३ वही, पद २३६
४ वही पद २१८ २२०
५ वही, पद २३४

कनक के समान सुन्दर देह धूल मिट्टी म मिल जाती है। न न्नि म चन पडती है और न रात्रि म। कार्तिक की शीतल रात्रि विरही को जलाने वाली प्रतीत होती है, चन्द्रमा अगारो का पिण्ड लगता है बूँदें बाणो के समान चुभती हैं और कोई माग सूझ नही पडता। विचित्र बात तो यह है कि इस दु ख का वणन भी नही किया जा सकता, करे भी तो किसके आगे उसे तो कोई भुक्त-भागी ही समझ सकता है—

दुखिया कर दुख जान, जहि दुख होइ सरीर।
बिनु दुख करि पीरा का जान दुखदाध के पीर॥[1]

यह राग ही विचित्र है। इसकी दवा किसी बाजार म नही मिलती। इसके दद की दवा भी उसी क पास है जिसने दद पदा किया है। यदि वह नही पिघला, सन्य नहा हुआ तो फिर राग स छुटकारा मत्यु ही दिला सकती है। मनाहर ने इसी भाव को इस तरह व्यक्त किया है—

विरह अगिनि सुनु धाई, मोहि तन लागी आइ।
क मधुमालति मिलि बुझ क, मोहि मुए बुझाइ॥[2]

विरह का दु ख सचमुच अवणनीय है। यदि सातो समुद्रो की स्याही बनायी जाय, सातो आकाश कागज बनें और कोई कुशल लेखक युग-युग तक लिखता रह तो भी वह लिख नही सकेगा—

सातउ समुद जा होहि मसि कागद सात अकास।
जुग जुग लिखत न निघट, पमा बिरह उदासि॥[3]

नूर मुहम्मद न भी विरह के अपार दु ख का वणन किया है। अपने पति के वियोग म रानी महामाहिनी की दशा शाचनीय हो गयी है। वह सूखकर कुम्हलाय हुए पुष्प क समान हो गयी है। विरह की अग्नि म वह रात दिन जल रही है। व आभूषण जो किसी समय शरीर की शोभा बढाया करत थ अब चिनगारी के समान जलान वाल राग क समान हैं। शरीर को सुख देने वाला शीतल पवन बाण के समान चुभ रहा है शीतल चन्दन का अनुलपन शरीर म मदन भाव का बढावा द रहा है। क्या दिन और क्या रात उस किसी भी समय नीद नही आती। रात्रि का अधेरा और ज्योत्स्ना दोना ही समान रूप स दु खदायी हैं। वह विरहिणी सूखे पत्ते के समान एकदम रसहीन और पीली हो गयी है—

महामाहिनी सुन्दर रानी। कामल पुहुप समा कुम्हिलानी॥
जर बिरह की आगि पियारी। भूखन चुनी लगैं चिनगारी॥

१ मधुमालती, पद २३४
२ वही, पद १४८
३ वही पद २२३

सीतल पवन बान सम लाग । चदन लगत मदन तन जाग ॥
बासर बीच बियोग सताव । रन नन सा नींद न आव ॥
आइ तमिस्रा सब सुख लेई । अधिक चादनी निसि दुख देई ॥
पीयर बरन बिरहिनी भई । प्रीतम बिनु दुबल होइ गई ॥[1]

आगे चलकर कहा गया है कि विरह के कारण रानी का उन्माद और जडता ने आ घेरा है। वह चेतना खो बठी है और तरह तरह के प्रलाप कर रही है। कोकिला का सुन्दर शब्द अब उसे बाण की तरह चुभता है। पुष्प को देखकर उसे उन्माद होने लगा है। उद्वेग के कारण वह स्थिर नही रह पाती, कभी अन्दर जाती है और कभी बाहर। व्याधियो ने शरीर का एकदम कृश कर दिया है और विरह की दसा दशाए उसम दिखायी पड रही हैं। प्रिय का स्मरण करते करते वह अचेत हो जाती है। उसका वियोगजन्य दुख सचमुच अवणनीय है—

बढेउ सभिरिति अवस्था, दिन औ रन ।
सुमिर प्रीतम को मुख, रद छद बन ॥
पिय को चाल सुमिरि वह प्यारी । होइ अचेत, होइ मतवारी ।
सुमिरि नन, घायल हाइ पर । रदछद सुमिरन फाहा घर ॥
चिता कठिन परगट तासों । कहै कहीं बिछुरन दुख कासो ॥[2]

इस काव्य-धारा मे भारतीयता और वैदेशिकता

दा जातियाँ जब साथ साथ रहन लगती है तो व एक-दूसरी स इस प्रकार घुल मिल जाती है कि उनके रहन सहन और विचारधारा म काई विशेष अन्तर नही जाता। आदान प्रदान जीवन का स्वाभाविक नियम है। लन देन का यह क्रम इतनी सरलता और स्वाभाविकता के साथ होता है कि साधारण व्यक्ति का इसका अनुभव ही नही हा पाता। सूफी का य-धारा के विषय म भी यही बात लागू होती है। इस काव्यधारा का जन्म फारस म हुआ था। इसके आरम्भिक साधक भी बाहर क ही थे। सुधारवादी और उदारतावादी हात हुए भी वे इस्लाम के अनुयायी थे। हिन्दी साहित्य क सूफी कवि भी धार्मिक विश्वास के अनुसार मुस्लिम सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इस्लाम और उसक सस्थापक मुहम्मद साहब के प्रति उनकी चरम आस्था थी। सूफी सम्प्रदाय के परम्परागत सिद्धान्ता से वे भली भाँति परिचित थे। इधर भारत मे जन्म लेने के कारण इन पर यहाँ के दशन और विचारधारा का सीधा प्रभाव था। उस समय यहाँ जा अन्य धार्मिक आदालन चल रहे थे उनका प्रभाव भी उन पर किसी-न किसी रूप म अवश्य ही पडा था। एसी अवस्था म यदि उनके काव्य मे भारतीय और

१ अनुराग-बाँसुरी, प० ८७
२ वही, पृ० ८८

वदेशिक, दाना ही प्रभाव दष्टिगाचर हान हो ता यह स्वाभाविक है। कुल मिलाकर इनक काव्य पर भारतीयता की छाप अधिक है अत पहल उमी की चर्चा करना उपयुक्त हागा।

भारतीयना—मवप्रथम हम उनकी ईश्वर विषयक धारणा का लकर विचार करेंगे। इस्नाम म ईश्वर का एक माना गया है। उमकी सत्ता वहाँ सर्वोपरि है। इन कविया न भी स्थान-स्थान पर एक ही ईश्वर के गुणा का गान किया है। आपातत सामाय पाठक का यह इम्लाम की दन मालूम पडती है पर वास्तव म ईश्वर का लकर मनातनपथी इस्लाम और उदार सूफीमत म बहुत बडा भेद है। मनातनपथी इस्लाम परमात्मा और मनुष्य क बीच क यवधान पर बहुत जोर देना है। उस यह कभी भी माय नहीं कि परमात्मा क साथ एकमक हुआ जा सकता है अथवा उसके और मनुष्य के बीच प्रेमी और प्रियतमा का सबध स्थापित हो सकता है। उसके अनुसार मनुष्य परमात्मा का दाम है। वह उमक आदेशों का पालन कर उसका अनुग्रह प्राप्त कर सकता है तथा दण्ड से बच सकता है। इसम भय की प्रधानता है। सूफी भी अल्लाह को सर्वोपरि मानते हैं पर उनकी साधना म भक्त और भगवान के बीच म प्रेम का सम्बध है। यह प्रेम भावना ही इनका सवस्व है। इनक अनुसार जगत म जम लेन का फल उसी का मिलता है जिमक हृदय म प्रेम की पीर उत्पन्न हाती है।

भय क स्थान पर प्रम की प्रधानता का ही यह परिणाम है कि उनकी साधना म दाम्पत्य भाव की प्रधानता है। आरम्भ स ही इहाने प्रमी और प्रेयमी की भावना का अपनाया है। बसरा म रहन वाली राबिया नामक साधिका अपन का अल्लाह की पत्नी मानती थी और अल्लाह का अपना पति। जायसी प्रभति हिन्दी-सूफी कविया न भी दाम्पत्य भावना क माध्यम स ही आत्मा और परमात्मा क सम्बध का वणन किया है। सूफिया की यह दाम्पत्य भावना इस्लाम के स्थूल एकश्वरवाद के विराध म है और भारतीय अद्वतवाद क अधिक निकट है। प्रसगवश यदि यहाँ पगम्बरी एकेश्वरवाद और अद्वतवाद का अन्तर भी स्पष्ट कर दिया जाय ता विवच्य विषय को समझन म आसानी रहगी। एकश्वरवाद का मानन का अथ एक एसी सत्ता म विश्वास रखना है जा सष्टि का निर्माण पालन और सहार करती है। अद्वतवाद का भाव है कि दश्यमान जगत् की तह म उसका आधारस्वरूप एक ही अखण्ड, नित्य तत्त्व है और वही सत्य है। उसस स्वतन्त्र और काई अलग सत्ता नही है और न आत्मा तथा परमात्मा म काई भद है। इस प्रकार इन दाना म मोटा अन्तर यह हुआ कि एकेश्वरवाद म जीवात्मा परमात्मा और जड जगत—तीना की अलग-अलग सत्ता है पर अद्वतवाद म शुद्ध परमात्मा के अतिरिक्त अय काई सत्ता नहीं मानी जाती। अत स्थूल दृष्टि वाल पगम्बरी एकश्वरवाद म आत्मा और परमात्मा को एक मानना कुफ्र है। स्पष्ट है कि सूफिया क ऊपर भारतीय अद्वैतवाद का ही प्रभाव है।

रही दाम्पत्य भावना की बात क आधार पर उस विदशी घोषित करन की,

बात हम पीछे सविस्तार दिखा आये हैं कि माधुयभाव की उपासना भारतीय परम्परा है और उसका पूवरूप हम वदो म उपलब्ध हाता है। प्रपत्ति और गुरुभक्ति की चर्चा भी हो चुकी है, प्रपत्ति की भावना भगवद्गीता म उपलब्ध हाती है। वहा कृष्ण ने स्पष्ट शब्दा म अर्जुन से सार कर्मों का भगवद-अपण करके निश्चिन्त हो जाने की बात कही है।

गुरु भक्ति की भावना कितनी प्राचीन है और उसके लिए भारत को किसी का ऋणी होने की आवश्यकता नही, इसकी भी विस्तारपूवक चर्चा पीछे हो चुकी है। उसका फिर से दुहराना पिष्टपषण ही हागा। रही जाति पाँति की उदारता की बात, विश्वभ्रातत्व या सबको बराबर मानने की बात भी इस्लाम की दन नही। अपने मूलरूप मे यह भावना भारतीय है और किस प्रकार यह बौद्धा के माध्यम स सन्ता तक तक पहुची है, इसका भी उल्लेख पीछे हो चुका है।

ये सब बातें ता अपन मूलरूप म भारतीय हैं ही, इनके अलावा अन्य बहुत सी बाता म भी य कवि भारतीयता से प्रभावित हैं।

नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव

अन्य प्रभावो के साथ साथ सूफिया पर नाथ सप्रम्दाय का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा मे पडा है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के सूफी काव्या का नायक जब सिद्धि के लिए (नायिका प्राप्ति के लिए) घर स निकलता है तो उसकी वेशभूषा नाथपथियो की वेश भूषा हाती है। जायसी का रत्नसन जब घर स निकलता है तो उसके हाथ म किंगरी होती है सिर पर जटा है शरीर पर भभूत है मेखला है सिंगी है चक्र और धधारी है, रुद्राक्ष की माला है कथा पहने हुए है एक हाथ म डडा दूसरे म कमडलु है, कानो म मुद्रा है, कधे पर मगछाला है परो म खडाऊँ हैं सिर पर छाता है बगल मे खप्पर है, गेरुए वस्त्र हैं और मुह स वह गोरख का नाम लिय जा रहा है।[1]

मधुमालती म भी मनोहर जब घर स निकलता है तो यही नाथपथी वेप धारण करता है। जब विरहा का कठिन दुख उसको सम्हालना दुस्सह हो गया ता उसने योगिया के खप्पर दण्ड तथा अधारी माँगी। सिर पर उसन चक्र रखा मुख पर भस्म लगायी काना म मुद्रा पहनी, हाथा म कमडलु लिया, किंगरी हाथ में ले ली, गुदडी, मेखला, फटे पुरान चीथडे सम्हाले, सिर पर जटा बढायी, कौपान बाँधी और गोरखपथियो का वेप कर लिया।[2] चित्रावली म भी राजकुमार सुजान घर से निकलते समय सुन्दर वस्त्रों को उतार कर फटे-पुराने कपडे पहन लता है, मणि-कुण्डलो के स्थान पर मुद्रा पहनता है चन्दन के स्थान पर भस्म लगाता है और हाथ म किंगरी

---

१ पदमावत जागी खण्ड, पृ० १२६

२ मधुमालती, पद १७२

लेता है धधारी, सुमिरनी और चक्र लेता है, सिंगी धारण करता है, जटा बनाता है, भीख के लिए खप्पर लेता है कधे पर मगछाला डालता है, गले म रुद्राक्ष की माला है और मुह से वह श्री गोरख कह रहा है। इस वेश भूषा के साथ-साथ उसने नेत्रों म लुक्मजन लगा लिया, झोली ले ली, मुह म गुटिका और हाथ म डडा लेकर गुरु परेवा तथा चेला राजकुमार दोनो चल पडे। इन सिद्धियों के प्रभाव से व तो सब कुछ देख सकते थे, पर उन्हे कोई नही देख सकता था।[1]

इन सब बातो पर विचार करने के बाद हम इतना कहना और पसन्द करेंगे कि जिन सूफी कवियो ने भारत म रहकर रचना की थी उनपर तो भारतीय प्रभाव है ही पर उसके उदगम-काल के साधक भी भारतीय प्रभाव से मुक्त नही थ, ऐसा अधिकाश विद्वानो का मत है। सूफिया का फना (भगवान म विलीन) होने का सिद्धान्त बौद्ध धम से प्रभावित है। श्री रेनाल्ड ए० निकलसन ने इस मत की पुष्टि म अनेक तक देने के बाद अपने मत को इन शब्दो म व्यक्त किया है— कम के सिद्धान्त को, जो सूफी मत के लिए विदेशी है, छोडकर फना और निर्वाण की य परिभाषाए लगभग अक्षरश मिलती जुलती हैं। और अधिक तुलना करना व्यथ की बात होगी किन्तु मेरा विचार है कि हम यह निष्कष निकाल सकते हैं कि सूफियो का फना का सिद्धान्त किसी हद तक बौद्ध धम तथा भारतीय ईशनी विश्वात्मवाद से प्रभावित हुआ है।[2]

यह तो सवविदित ही है कि इस्लाम के उद्भव से बहुत पूव बौद्ध धम एशिया और यूरोप म फल चुका था। नव्य अफलातूनी मत भारतीय दशन से प्रभावित था

मात्र के लिए मुसलमान हैं, इस्लाम के बारे में कुछ नही जानते, उनके यहाँ मस्जिदें भी नही हैं। राजपूताना के मवात मुसलमान भी पहले शादी म हिन्दुओं के विधि विधान का पालन करत थे।"[1] हिन्दुओं के अन्य प्रभावों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि 'टाइसट ने मुसलमानों म कई प्रकार की मूर्ति पूजा की चर्चा की है जो इस्लाम धम के विरुद्ध है। यू०पी० के चूडिहार सहजामाई की पूजा करते है और हिन्दुओं की तरह ही श्राद्ध करते हैं। पजाब के मेव और सियासी मगल और ललची की पूजा करते है। मेव हिन्दुओं के व्रतों और त्योहारों को उन्ही की तरह मनाते है। वे गाँव के देवी देवताओं की पूजा करते हैं। ब्राह्मणों को अपना पुरोहित रखते हैं। अमतसर के मिरासी दुर्गा भवानी की और पूर्वी बगाल के तुकनवास लक्ष्मी की पूजा करते है।'[2]

विदेशी प्रभाव

निसदेह इन पर भारतीय प्रभाव अत्यधिक है पर विदेशी प्रभाव से ये कवि एकदम मुक्त नही। सूफी भावना का पालन पोषण ईरान मे हुआ था, अत वहाँ की सस्कृति का प्रभाव इन कवियों की रचनाओं मे पर्याप्त स्थलों पर है। भारतीय परम्परा म प्रणय का निवदन नारी की ओर से होता है और ईरानी परम्परा म पुरुष की ओर से। सूफियों ने ईरानी पद्धति का ही आश्रय लिया है। सूफियों के यहाँ चीखना, तड पना, आह भरना और इसी तरह के कष्ट उठाना पुरुषों के काय दिखाये गय हैं, नारी के नही। भारतीय परम्परा म पुरुष वियोग जन्य दुख का अनुभव एकदम न करता हो, ऐसी बात नही। कोमल भावनाओं पर चाट पहुँचते हा आदमी तडप न उठे, यह कस सम्भव है? वह न तो निमम है और न जड पाषाण। उस पर भी कुछ न-कुछ प्रभाव तो पडता है पर अपने स्वाभाविक गाम्भीर्य के कारण वह उन्हे सह जाता है। पुरुष कठोर है और नारी कामल। यदि वह (नारी) दुख की आँच मे जल्दी ही पिघल उठे तो यह स्वाभाविक ही है। इसलिए भारतीय परम्परा म नारी ही मूर्च्छित होती है, पुरुष नही। इसके अतिरिक्त विरहपक्ष म बीभत्स रस का वणन भारतीय परम्परा से गृहीत न हाकर ईरानी परम्परा से गृहीत है। प्रिया की तलाश म चले नायक के परो म छाला का पडना तथा पीव और मवाद का बहना भी भारतीय परम्परा के विरुद्ध है।

यद्यपि य सूफी सत सहिष्णु थे और उनका दृष्टिकोण भी उदार था पर फिर भी इस्लाम धम को ये सर्वोत्कृष्ट मानते थे, इसम सन्देह नही। दूसरो के धम के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित करत हुए भी इस्लाम के प्रचार म य किसी कट्टर मुसलमान से पीछे नही थे। हाँ, इनका तरीका उनसे अलग था। इन्होंने हिन्दू घरो म प्रचलित

---

१ सूफी मत साधना और साहित्य, पृष्ठ ४२२
२ वही, पृष्ठ ४२२

कहानियो को अपनी रचना का विषय बनाने के बाद भी इस्लाम व प्रचार का स्वण अवसर हाथ मे नही जाने दिया। बीच-बीच म इस्लाम की श्रेष्ठता की घोषणा उन्होंने स्पष्ट शब्दो म की है—

(क) विधना के मारग हैं तेते, सरग नखत तन रोवाँ जेते।
तेहि महँ पथ कहा मन लाई, जेहि दूनो जग छाज बडाई ।।
सो बड पथ मुहम्मद केरा, है सुदर कविलास बसेरा।
लिखि पुरान विधि पठवाँ साँचा भा परवाना दुहूँ जग बाँचा ।।[1]

(ख) वह मारग जो पाव, सो पहुँचे भव पार।
जो भूला होइ अनतही, तेहि लूटा बटमार ।।[2]

अवसर मिलने पर उन्होंने नमाज की भी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है—
ना नमाज है दीपक थूनी। पढे नमाज सोइ बडगूनी ।।[3]

यद्यपि साधारणतया इन कवियो ने हिन्दू पात्रो के मुख से हिन्दू देवी देवताओ का ही उल्लेख कराया है पर मझन ने एक स्थान पर हिन्दू पात्र के मुख से भी मुहम्मद का स्मरण कराया है—

प्रथमहि सवरौं नाउँ गोसाईं। जो भरिपूरि रहा सब ठाईं ।।
दूजे लेउँ नाउ तेहि केरा। उतरब पार लागि जेहि केरा ।।

जो बात मझन के विषय म कही गई है वही बात कुछ अधिक मात्रा म नूर माहम्मद के विषय म कही जा सकती है। उनकी रचना का तो प्रधान कारण ही दीन का प्रचार करना है। उनकी इन्द्रावती म सतप्त इन्द्रावती अपन उद्धार का माग इस्लाम के रसूल म ही पाती है—

हौं मैं पाप भरी जग माँही। आस मुकुति के है किछु नाहीं।
हैं मोहि बीच दाप जह ताईं। इस करहि कसे जग साइ ।।
साहम दत परान हमारा। अहै रसूल निवाहनहारा ।।
निसि दिन सुमिरु मोहम्मद नाउँ। जासौ मिल सरन मो ठाउँ ।।

न करूँ सोच अगम का राखू हिरदए आस।
जाके दीन बीच मैं सो दहै सुख बास ।।

देखिय इन्द्रावती सुख के लिए विष्णु या शिव का स्मरण न कर मुहम्मद का स्मरण करती है—

---

१ जायसी ग्रथावली प० ३२१ (षष्ठ सस्करण)
२ वही, पष्ठ ३२१
३ वही, पृष्ठ ३२१

मुहम्मदी बोली मे वह करामात है कि उसके सामने देवो की (दूसरे धर्म वालो की) मूर्तियाँ उलटी होकर गिर पडती हैं उससे मदिर गिर जाते है और मदिरो मे शख बजना बन्द हो जाता है—

यह मुहम्मदी जन की बोली। जामो करै न बातैं धोली॥
बहुत देवता को चित हरैं। बहु मूरति औंधी होइ परैं॥
बहु देवहरा ढाहि गिरावैं। सख बाद की रीति मिटावैं॥
जहँ इसलामी मुख सो निसरी बात।
वहाँ सकल सुख मगल, कष्ट नसात॥[1]

हिन्दी भाषा म अपनी रचना करने के कारण उनका कोई सहधर्मी उन्हें उदार विचार वाला न समझ ले, इस बात की आशका से वह स्वय ही स्पष्टीकरण देता है। उसका कहना है कि उसने हिन्दी का आश्रय तो इस्लाम के प्रचार के लिए ही लिया है, कुछ हिन्दी प्रेम के कारण नही। जिसके मन म अल्लाह और उसका रसूल बसता है उसे और किसी असुर (राक्षस, हिन्दू-देवता) से क्या प्रयोजन ?—

जानत है वह सिरजन हारा। जो किछु है मन मरम हमारा॥
हिन्दू मग पर पाँव न राखेउँ। का जो बहुत हिंदी भाखेउँ॥
जहाँ रसूल अल्लाह पियारा। उम्मत कर मुक्तावन हारा॥
तहाँ दूसरो कसे आव। जच्छ असुर सुर काज न आव॥[2]

कवि का उद्देश्य इस्लाम का प्रचार है। इस दृष्टि से यह रचना धर्म-कथा है। इसका गुप्तार्थ कुछ और है और प्रकटार्थ कुछ और। उसने पात्रो का वर्गीकरण भी इसी आधार पर किया है।[3]

स्थूलता

यद्यपि इनकी कहानियाँ हिन्दू घरो म प्रचलित कहानियाँ हैं और यही के निवासी होने के कारण इनकी रचनाओं म यहाँ की काव्य-पद्धति का भी प्रभाव है, पर साथ ही उसकी अपनी विशेषताएँ भी हैं। उनके काव्य की प्रथम विशेषता स्थूलता है। सूफियो का प्रेमास्पद व्यक्ति होता है। पाठक उनकी चेष्टाओ को अलौकिक सत्ता की चेष्टाएँ भले ही मान लें पर अन्तत उनकी पार्थिवता बनी ही रहती है। तुलसी राम और सीता के शृगार का वर्णन करते हैं पर बीच-बीच मे वे पाठक को उनके भगवान और भगवान की शक्ति होने का सकेत देते रहते हैं। सूरदास ने भी कृष्ण और राधा के प्रेम का वर्णन किया है, बीच-बीच म नख-क्षत आदि का भी

---

१ अनुराग बाँसुरी पृ० ४
२ वही पृ० ५
३ अनुराग बाँसुरी (भूमिका भाग पृ० ७ ६, 'दीन का प्रचार' शीर्षक)।

वर्णन किया है पर वे भी स्थान-स्थान पर उनके आध्यात्मिक पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट करते जाते हैं। मुसलमानों में खुदा स्वयं अवतार नहीं लेता, अतः वहां जिस व्यक्ति का वर्णन होता है वह सामान्य व्यक्ति होता है।

विरति का अभाव

इस मार्ग में लौकिक प्रेम का बड़ा महत्व है। आध्यात्मिकता के सर्वोच्च सोपान पर पहुंचने के लिए इस प्रथम सोपान का पार करना अनिवार्य है। इसी कारण रति का इतना अधिक महत्व है। पर इसके उद्यम रूप के कारण विरति का पक्ष दब सा गया है। श्रीचन्द्रबली पाण्डे के शब्दों में सूफियों के प्रकृत विभावन ने रति के व्यापार को इतना प्रबल किया कि उसके सामने विरति का सारा पक्ष निबल पड़ गया, भारतीय उपासना अथवा माधुर्यभाव में विरति का पक्ष कुछ-न-कुछ बना ही रहता है। भारतीय भक्त परमात्मा के व्यक्त स्वरूप में अनुरक्त होकर संसार से विरक्त पड़ जाते हैं। उनको किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती परन्तु सूफियों में यह बात नहीं है उनके मत में सामान्य प्रेम विशेष प्रेम का सोपान है और किसी व्यक्ति के प्रेम में पड़ कर ही परम प्रेम का अनुष्ठान भलीभाँति किया जा सकता है।[1]

यह तो रही उन पर भाव या दर्शन पक्ष के प्रभाव की बात कलापक्ष की दृष्टि से भी उनमें अपनी कुछ विशेषताएं हैं। उनकी शैली मसनवी है जो फारसी है। इसके अलावा उनके अनुभाव बड़े विकट होते हैं। प्रियतम के लिए सूफी क्या नहीं करते? उसके लिए आंखें बिछाते हैं पथ बुहारते हैं सिर के बल चलते हैं आंसुओं की नदी बहाते हैं, पहाड़ खोदते हैं व्रत रखते हैं उपवास करते हैं रण ठानते हैं आह से एक नया आसमान बनाते हैं रकीबों को कोसते हैं शरीर पर घाव करते हैं, कहाँ तक कहें, कलेजे का कलवा भी करते हैं। उनकी यह अर्चना फूल पत्ता की नहीं होती, उसमें प्राण चढ़ाये जाते हैं। कभी-कभी सूफियों के कार्य इतने भीषण और बीभत्स हो जाते हैं कि उनसे सुरुचि को धक्का लगता है, पर उन्हें तो किसी भी प्रकार रिझाकर उसमें दया उत्पन्न करनी है।[2]

भारतीय साहित्य पर प्रभाव

अभी हमने इस मत की भारतीयता और वैदेशिकता पर पर विचार किया है। हमने देखा है कि यद्यपि इसके अनेक तत्व विदेशी भी हैं। कुल मिलाकर इसकी कुछ अपनी निजी विशेषताएँ हैं और समूचे भारतीय साहित्य पर—हमारा भाव हिन्दी

---

१ तस० सूफी० पृ० १२०

२ वही पृ० १२२

साहित्य से है—इसका प्रभाव पडा है। सत सम्प्रदाय पर तो इसका प्रभाव एकदम स्पष्ट है। प्रेम का वणन तो भारतीय साहित्य म अति प्राचीन काल से चला आ रहा है पर प्रेम की मादकता नि सन्देह इन सूफियो की ही दन है। कबीर ने माया का जसा मानवीकरण किया है वह भी इनसे प्रभावित है। उसका रूप इनके शतान से मिलता जुलता है। सत-सम्प्रदाय पर जो अनेक प्रभाव पडे हैं उसकी चर्चा करते हुए डा० धीरेन्द्र वर्मा ने सूफीमत की रूपको से सम्पन्न रहस्यवाद मयी मादकता और माया के मानवीकरण को प्रमुख स्थान दिया है।[1]

डा० रामरतन भटनागर का मत भी इसी प्रकार का है। उनका कथन है कि सत साहित्य म प्रेम का जो उद्दाम रूप मिलता है वह सूफियो की ही देन है, उसे वष्णव प्रभाव कहकर टालने का यत्न करना व्यथ है। उनके ही शब्दो म उनके विचार इस प्रकार हैं—हिन्दी-सूफी काव्य की बहुत सी कडियाँ अभी ढूँढी नहीं जा सकी हैं। सत विचारधारा का ही लीजिय। इस विचार धारा पर सूफी मत का बड़ा गहरा प्रभाव है, परन्तु समालोचक इसे मानने को तयार नहीं। वे कबीर को रामानन्द से सम्बधित करेंगे, शेख तकी स नही। कबीर सत हैं, सूफी हो या न हो। बुल्लेशाह और यारी जस सूफिया को सत कहकर उन्हें आय विचाराधारा के पास रखने का यत्न बराबर हो रहा है। हिन्दू मस्तिष्क सूफियो की इस्लामी साधना और विचार धारा क प्रति बहुत अधिक सहिष्णु नही हो सका है। इसी का फल है कि सास्कृतिक पृष्ठ भूमि म सूफियो की महत्ता को हम देख भी नही सके हैं। अवध के सूफियो के अत्यन्त प्राणवान साहित्य को प्रेमाख्यानक कथाकाव्य वा प्रेमाश्रयी निगुणधारा की रचनाएँ कहकर हम किसी बड सत्य का प्रकाशन नही करते। सतो की साधना और विचार-धारा का ममस्थान प्रेम है। यह प्रेम सूफियो के इश्क से भिन्न नही है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सास्कृतिक आदान प्रदान का ही समथन करती है, परन्तु विद्वान और आलोचक साहित्य के वग बनाकर अपने कतव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। इसमे सन्देह नही कि फरीद शकरगज की रचनाओ स लकर कबीर, जायसी, यारी, बुलाकी की रचनाओ तक एक ही सूत्र दौडता दिखायी देता है। उसे वष्णव प्रभाव कहकर दृष्टि पथ से हटा देना असभव है। उसकी व्याख्या सूफी मतवाद और सूफी-साधना के माध्यम से ही हो सकती है।[2]

डा० मुशीराम शर्मा भी सूफी प्रभाव को स्वीकार करते हैं। सारे ससार को प्रभु के प्रेम के रूप मे देखना नि सन्देह सूफियों की देन है। कबीर को जो चारो ओर लाली-ही लाली दिखायी दे रही है वह सूफी प्रभाव ही है। डा० शर्मा के विचार उन्ही के शब्दो म इस प्रकार हैं—मनुष्य का प्रेम चारो ओर अभिव्यक्त हो रहा है। सूफी भक्तो के शब्दो मे—दरियाए इश्क बह रहा लहरा म बेशुमार—प्रेम का दरिया बेशु

---

१ हिन्दी साहित्य खण्ड २ पृ० १६५

२ वही पृ० २५७ ५८

भार सहरा में बह रहा है। जो भक्त हैं, साधक हैं वह इस प्रेम-पारावार में स्नान करते हैं। सूफी सन्त प्रकृति के कण-कण में उसी प्रेममयी अनन्त छवि के दर्शन करते हैं। उनकी प्रेम-प्रणाली में माशूक करीम सत्ता है और भक्त मजनूँ हैं। इस पद्धति का हमारे मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है। पुष्टि-सम्प्रदाय में ही नहीं राधावल्लभ सम्प्रदाय में भी यह प्रभाव परिलक्षित होता है और अन्त में आकर राम-सम्प्रदाय भी उससे अछूता नहीं रह सका।[1]

प्रमुख देवी-देवता

मुहम्मद, जैसा कि सर्वविदित है, इस भक्ति-धारा के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण कवि मुसलमान थे। दूसरे धर्मों के प्रति आदर की भावना और उदार दृष्टिकोण रखते हुए भी ये कवि अपनी धार्मिक निष्ठाओं में कट्टर थे। कुरान सिद्धान्तों में इनकी पूरी आस्था थी। कुरान का सिद्धान्त है कि एक ईश्वर के सिवाय अन्य कोई देवी-देवता नहीं। 'लाइलाह इल्लिल्लाह' का यही अर्थ है। इस्लाम का आधारभूत सिद्धान्त यही है कि खुदा के अलावा अन्य कोई पूजा का अधिकारी नहीं है। श्री सैयद अब्दुल लतीफ के शब्दों में हर सच्चे मुसलमान को यह कहना पड़ता है कि ईश्वर एक है और मुहम्मद उसके सन्देशवाहक भर हैं—

I affirm that there is none worthy of worship except God that He is one with none to associate with, and I affirm that Mohammad is His servant and messege-bearer[2]

अर्थात् मैं पुकार स्वर में यह कहता हूँ कि ईश्वर के सिवा कोई दूसरा पूजा का अधिकारी नहीं है। वह ईश्वर केवल एक है और उसका कोई दूसरा साथी नहीं है। मैं यह भी कहता हूँ कि मोहम्मद उसका सेवक और सन्देशवाहक है।

मुहम्मद साहब के श्वसुर अबूबकर जो प्रथम खलीफा थे ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि जो हजरत मुहम्मद की पूजा करते हैं, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि हजरत मर चुके हैं—

He who worshipth Mohammad let him know that Mohammad is dead and who worshipth God let him know the God is living and never dieth[3]

भाव यह है कि जो मुहम्मद की पूजा करता है उसे यह ज्ञात होना चाहिए

---

१ भारतीय साधना का स्वरूप पृ० १०६
२ बेसिक आफ इस्लामिक कल्चर पृ० ७
३ वही पृ० ७

मुहम्मद मर चुका है और जो ईश्वर की पूजा करता है उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि ईश्वर जीवित है और वह कभी नही मरता।

अवतारवाद का भी इनके यहाँ निषेध है, इसीलिए वहाँ मूर्ति पूजा कुफ्र है। अत उनके साहित्य मे अल्लाह के सिवाय अन्य देवी-देवताओ की खोज करना व्यर्थ का ही प्रयास होगा। पर हजरत मुहम्मद की स्तुति जिस ढग से की गयी है उससे उनके देवरूप म माने जाने की आशका होने लगती है।

इनके यहा पगम्बर मुहम्मद न तो ईश्वर है और न सामान्य पुरुष। उनका सिद्धान्त उन्हे ईश्वर का रूप मानने से रोकता है, पर श्रद्धातिरेक उन्हें सामान्य पुरुष की कोटि म नही रहने देता। अल्लाह का पगाम लाने के कारण उनका विशेष स्थान है। उनपर ईमान लाना भी अनिवार्य है। जो कोई अल्लाह का अनुग्रह चाहता है उसे मुहम्मद का अनुग्रह अवश्य प्राप्त करना होगा। जिस किसी ने उनका आश्रय नही लिया, उस समाज का कोप भाजन बनना पडता था। इसी कोप से बचने के लिए बसरा निवासिनी राबिया को कहना पडा था—हे रसूल! भला एसा कौन होगा जिसे आप प्रिय न हो। पर मेरी दशा तो कुछ और ही है। मेरे हृदय म परमेश्वर का इतना अधिक प्रसार हो गया है कि उसमे उसके अतिरिक्त किसी अन्य के लिए स्थान ही नही।[1] सभी कवियो ने अपनी रचनाओ के आरम्भ म मुहम्मद को याद किया है। मझन ने त्रिलोकी के रचयिता परमात्मा की स्तुति के पश्चात उनकी महिमा का वर्णन किया है—

नाव मुहम्मद त्रिभुवन राऊ। वोहि लागी भौ सिस्टिक चाऊ॥[2]

वाकी अगुरी करके अग्या, चाद भयो दुइ खड।
वाकी धूरि जो पाव की, अचल भयो ब्रह्माण्ड॥

उनकी दृष्टि मे मुहम्मद ही सबकुछ हैं, वे उनके नाम को गली कूचे म पुकारते फिरते हैं—

ऊँचे कहौं पुकार के जगत सुनो सब कोइ।
प्रगट नाऊ मुहम्मद, गुपुत ते जानेहु सोइ॥[3]

असली बात तो यह है कि मझन की दृष्टि म मुहम्मद त्रिलोकीनाथ ही है—

मूल मुहम्मद सब जग राखा। विविध नो लाख मुकुट सिर राखा॥
योहि पटतर दामर काउ नाही। वाह सरीर यह सब परछाही॥[4]

१ तस० सूफी, प० ३४
२ मधुमालती, पद ७ प० ५
३ वही, पद ९ पृ० ५
४ वही, (स० डॉ० शिवगोपाल सिंह), पृ० १३

जायसी की स्थिति भी ऐसी ही है। उनके अनुसार मुहम्मद रूपी नूर की रचना उस समय हुई थी जब चाँद और सूय नहीं थे और अधकार ही अधकार था। एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा है कि अल्लाह ने एक निमल पुरुष की रचना की और उसका नाम मुहम्मद रखा और उसी के प्रेम से सष्टि की रचना की। ससार को माग दिखाने और उजाला फलाने का काम उसी न किया। यदि वह ससार म न आया होता तो सब जगह अधेरा ही अधेरा रहता। अल्लाह ने अपन स दूसरे स्थान पर उसका नाम लिखा। जिन्होंने उसका उपदेश सुना व धर्मी कहलाय। वह ससार म अल्लाह का दूत बनकर आया उसका नाम लन स दोनों लाक तर गए। जिसन उसका नाम नहीं लिया वह नरक का वासी बना।[1] उसमान का कहना है कि सष्टि के सारस्प म अल्लाह न जिस पुरुष-श्रेष्ठ मुहम्मद की सष्टि की वह कोई साधारण पुरुष नहीं था, अपितु भगवान का ही रूप था और उसका नाम भगवान न मुहम्मद रखा।[2]

कहा जा सकता है कि मुहम्मद की इस प्रकार की स्तुति भी उन्हें देव-कोटि म नहीं पहुँचा सकती। भारतीय परम्परा म गुरु की अत्यधिक प्रशसा है। 'गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु गुरु र्देवो वहस्पति म गुरु को ब्रह्मा और विष्णु क समक्ष बठा दिया गया है। उपनिषदो म गुरु को देव शब्द से पुकारा गया है। कबीर न गुरु का गोविन्द स भी ऊँचा स्थान दिया है। यह तो काव्य का एक ढग है। अतिशयोक्ति म बात को बढाकर कहा ही जाता है। ये सूफी कवि तत्कालीन बादशाह की प्रशसा भी इसी भाँति अतिशयोक्तिपूण ढग म किया करत थ। इनके वणनो को अलकार रूप म लना या इन प्रशसाओ स मुहम्मद को देवता समझना इन सूफियो के सिद्धान्तो को जानबूझ कर गलत समझने का यत्न होगा।

पर हम समझते हैं कि मुहम्मद की प्रशसा अतिशयोक्तिपूण प्रणाली स कुछ भिन्न है। उसम इन श्रद्धा विगलित दश्यो के उदगारो की झलक अधिक है और काव्य की शली के निर्वाह का आग्रह कम। जायसी न तो स्पष्ट रूप स कहा है कि प्रलय के दिन जब सब प्राणियो के कर्मों का लेखा-जोखा होगा तो विधाता प्रत्यक स उसके पापो की और पुण्यो की बात पूछेंगे उस समय मुहम्मद आग बढकर अल्लाह के सामने विनती करेंगे और जगत का मोक्ष करायेंगे—

> गुन अवगुन विधि पूछब होइहि लेख भाउ जोख।
> ओइ बिनउब आग होइ करब जगत कर मोख॥[3]

हिन्दुओ म जो स्थिति अवतारो की है कुछ वसी ही स्थिति मुसलमान सूफी कवियो म मुहम्मद साहब की है। एक ओर सिद्धान्त का भय है तो दूसरी ओर हृदय का

१ पदमावत सुरनिखण्ड पद ११
२ चित्रावली पष्ठ ५
३ पदमावत सुरनिखण्ड पद ११

अनुरोध। श्रद्धातिरेक उन्हें साधारण मानव नहीं रहने देता और कुरान की आज्ञा उन्हें ईश्वर के पद या उनके अवतार तक नहीं पहुँचने देती। वे मानव होते हुए भी सामान्य मानवीय धरातल से बहुत ऊपर उठ गए हैं, इतने ऊपर कि उन्हें अंशावतार कहना ही ठीक होगा।

हिन्दू देवी-देवता

जायसी-कृत पदमावत में भी कथा के प्रसंग में स्थान स्थान पर हिन्दू देवों का उल्लेख है। तोता पदमावती के गुणों का वर्णन करते हुए कहता है कि वह ज्योतिष, व्याकरण, पिंगल और पुराणों के पाठ में साक्षात सरस्वती है।[1] शिव का उल्लेख तो अनेक स्थानों पर है। कहा गया है कि पुष्प वही है जो शिव के सिर पर चढ़े।[2] तोते द्वारा राजा से कहला कर कि वहाँ महादेव के मन्दिर का द्वार है, यह भी कहा गया है कि मन्दिर के पूर्व भाग में ही सिर नवाना चाहिए। आगे चल कर यह भी कहा गया है कि पदमावती अभीष्ट सिद्धि के लिए शिव की पूजा और कलश चढ़ाने की मानता मनाती है।[3] शिव कौन है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह न रह जाय इसी उद्देश्य से मानो शिव की पूरी वेशभूषा का वर्णन दे दिया गया है। बताया गया है कि उनका वाहन बैल है, वेश कुण्ठी का है, शरीर पर कथरी है और अस्थियों की माला है। कंधे पर हत्या है, कण्ठ मे शेषनाग की माला की तरह डाला हुआ है, शरीर में भभूत रमाये हुए हैं, हाथी की खाल ओढ़े हुए हैं, रुद्राक्ष और कमलगट्टों की पहुँची हैं, मस्तक पर चन्द्रमा है। जटाओं में गंगा है, हाथ में चँवर है, घंटा है, डमरू है और साथ में पार्वती हैं।[4] एक दूसरे स्थान पर बहुत से देवों के नाम आये हैं। पदमावती के पिता गन्धर्वसेन जब सेना को तयार होने का आदेश देते हैं तो इन्द्र डर जाता है, वासुकि मन-ही मन काँपने लगता है, पृथ्वी 'का भार सम्हालने वाला कूर्म भयातुर हो जाता है कि कहीं पीठ न टूट जाये।[5] इस युद्ध में जब रत्नसेन बन्दी बन जाता है तो भाट राजा को उसके (रत्नसेन के) वास्तविक रूप का परिचय देते हुए कहता है कि महादेव ने अपना रण-घंटा बजा दिया है जिसका शब्द सुनकर ब्रह्मा और श्रीकृष्ण चले आ रहे हैं, इन्द्रलोक में गुहार मच गई है, शेषनाग फण निकाले तयार है और तैंतीस करोड़ देवता सहायता के लिए उपस्थित हैं।[6] कुबेर के लिए कहा गया है

---

१ वही नखशिख खण्ड, दोहा १०

२ वही नखशिख राजागजपति खण्ड, पृ० १२७

३ पदमावत राजा गजपति खण्ड, पृ० १८३

४ वही, पार्वती महेश खण्ड, पृ० १९८

५ वही, गन्धर्वसेन मन्त्री खण्ड पृ० २३१

६ वही, रत्नसेन-सूली खण्ड पृ० २५१

पाण्डे कुरान के अल्लाह को साकार ही मानते हैं।[1] इस प्रकार यह एकेश्वरवाद स्थूल सिद्धान्त है।

इसमें जीव और ईश्वर में सम्बन्ध शासित और शासक का है। जीव शासित है और ईश्वर शासक। यह सम्बन्ध भय पर आश्रित है। जिस प्रकार सेवक कभी स्वामी का स्थान नहीं ले सकता उसी प्रकार जीव भी कभी ईश्वर नहीं बन सकता। एकमेक ह्वै सेज न सोवै तब तक कैसा नेह रे इनकी कल्पना से बाहर है और शरीयत के विरुद्ध होने से कुफ्र है। यहाँ ईश्वर के साथ माधुर्य भाव का सम्बन्ध तो असम्भव है ही पिता-पुत्र का सम्बन्ध भी इन्हें स्वीकृत नहीं। पुत्र के पिता से मिलने के लिए किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती पर यहाँ अल्लाह के पास जाने के लिए हजरत मुहम्मद की शरण में जाना आवश्यक है।

समन्वय का प्रयत्न

ये सब सूफी कवि अपने मुसलमानी धर्म में पूर्ण अवस्था रखने वाले साधक थे, यह हम कह आए हैं। कुरान में जिस प्रकार एक अल्लाह की सत्ता स्वीकृत है वैसे ही इन्हें भी है। हिन्दू पात्रों के मुख में देवी-देवताओं का उल्लेख इनकी रचनाओं में अवश्य हुआ है पर कथा प्रसंग में उसका होना अनिवार्य था। उसे इनका अपना विश्वास समझ बैठना भारी गलती होगी। इनके यहाँ अन्य किसी देवता की सत्ता की स्वीकृति नहीं, पर फिर भी ये कवि इस्लाम के एकेश्वरवाद की अपेक्षा भारतीय ब्रह्मवाद के अधिक निकट हैं। इनका अनलहक सिद्धान्त अहं ब्रह्मास्मि का ही सिद्धान्त है। इनके रहस्य के विश्वास के अनुसार आत्मा और परमात्मा एक हैं और यह जो द्वैत प्रतीत होता है इसे मिटाना ही जीवन का लक्ष्य है। इनका अल्लाह भय से शासन नहीं करता, वह प्रेमरूप है और उससे तदाकार होना ही जीवन का स्वाभाविक क्रम है। स्थान स्थान पर उसी ईश्वर की सत्ता को देखना और अद्वैतवाद का वर्णन उन्हें स्थूल एकेश्वरवाद से बहुत दूर ले जाते हैं। वास्तव में सूफी मत इस्लाम और भारतीय धर्म दोनों ही से प्रभावित है। श्री एम० एम० शुस्तरि ने भी यही माना है।[2] स्पष्ट है कि इस भक्ति-मार्ग में दोनों मार्गों का समन्वय स्वाभाविक रूप से ही हो गया है।

---

१ तसव्वुफ अथवा सूफीमत पृष्ठ ६४

२ आ० सा० इ० क०, पृ० ३६५

सप्तम अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में देव-भावना का रूप

रामभक्ति शाखा उसकी देव भावना का स्वरूप

हिन्दी-साहित्य की जिस परम पावन राम भक्ति-सरिता म अवगाहन कर सहस्रश सन्तप्त मानवो ने शान्ति-लाभ किया, उसके प्रवतक होने का श्रेय स्वामी रामानन्द को है। इस भक्तिधारा के सवश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि गास्वामी तुलसीदास रामानन्दजी के ही शिष्य थे। इसमे कोई स देह नही कि रामानन्द से बहुत पूव आचाय रामानुज जन-जीवन म रामभक्ति के अकुर का वपन कर चुके थे पर इन दोना के सिद्धान्तो म तात्विक भेद है। हिन्दी साहित्य म रामभक्ति का जा रूप मिलता है वह रामानन्द के सिद्धान्तो से अधिक प्रभावित है। रामानुज सम्प्रदाय के श्रीवष्णव शिव की पूजा नही करते, उनके यहा यह वर्जित है, जबकि रामभक्ति के प्राय सभी कवियो ने शिव-पूजा को रामभक्ति का एक अनिवाय अग समझा है। स्पष्टरूप से यह राम-पूजा का ही प्रभाव है। रामानुज सम्प्रदाय का मन्त्र 'ओ३म नमा भगवते वासुदेवाय' —है जो द्वादशाक्षरात्मक है। रामानन्द का मन्त्र "ओ३म रामाय नम" षडक्षरात्मक है। डा० विजयेन्द्र स्नातक न दोना सम्प्रदाया क भेद को अपने शोधग्रन्थ म इस प्रकार प्रकट किया है (१) रामानुजाचाय का मन्त्र अष्टाक्षरात्मक या द्वादशाक्षरात्मक है रामानन्द का मन्त्र षडक्षरात्मक। (२) रामानन्दी मत म ध्यान क निमित सीता तथा लक्ष्मण से युक्त श्री रामचन्द्र जी के ध्यान का आदेश है जो रामानुजाचाय की पद्धति से भिन्न है। (३) भक्ति का मुक्ति का साधक बताते हुए उसके जनक को सात उपाय बताये गये हैं वे भी भिन्न हैं। (४) रामानन्द के यहाँ वकुण्ठ के स्थान पर साकेत का महत्त्व माना गया है (५) वाह्य चिह्नो अर्थात तिलक और कण्ठी म भी भेद है। (६) रामानुज सम्प्रदाय म भगवत सेवा एव मन्त्रजपादि काल म तुलसी या कमलादि की माला धारण करने की प्रथा है किन्तु रामानन्दी सम्प्रदाय म कठी, कठा, हीरा, एकलडी, दुलडी, पदिक, रामनामी आदि भेद से सवदा तुलसी धारण करने का विधान है। (७) पूजा-अर्चा-पद्धति में भी बडा भेद है।[1]

---

१ राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ४४ ४५

पाण्डे कुरान के अल्लाह को साकार ही मानते हैं।[1] इस प्रकार यह एकेश्वरवाद स्थूल सिद्धान्त है।

इसमें जीव और ईश्वर में सम्बन्ध शासित और शासक का है। जीव शासित है और ईश्वर शासक। यह सम्बन्ध भय पर आश्रित है। जिस प्रकार सेवक कभी स्वामी का स्थान नहीं ले सकता उसी प्रकार जीव भी कभी ईश्वर नहीं बन सकता। एकमेक हो सजन सोवै तब तक वैसा नहि रे इनकी कल्पना से बाहर है और शरीयत के विरुद्ध होने से कुफ्र है। यहाँ ईश्वर के साथ माधुर्य भाव का सम्बन्ध तो असम्भव है ही, पिता-पुत्र का सम्बन्ध भी इन्हें स्वीकृत नहीं। पुत्र के पिता से मिलने के लिए किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती, पर यहाँ अल्लाह के पास जाने के लिए हजरत मुहम्मद की शरण में जाना आवश्यक है।

समन्वय का प्रयत्न

ये सब सूफी कवि अपने मुसलमानी धर्म में पूर्ण अवस्था रखने वाले साधक थे यह हम कह आए हैं। कुरान में जिस प्रकार एक अल्लाह की सत्ता स्वीकृत है वैसे ही इन्हें भी है। हिन्दू पात्रों के मुख में देवी-देवताओं का उल्लेख इनकी रचनाओं में अवश्य हुआ है पर कथा प्रसंग में उसका होना अनिवार्य था। उसे इनका अपना विश्वास समझ बैठना भारी गलती होगी। इनके यहाँ अन्य किसी देवता की सत्ता की स्वीकृति नहीं पर फिर भी ये कवि इस्लाम के एकेश्वरवाद की अपेक्षा भारतीय ब्रह्मवाद के अधिक निकट हैं। इनका अनलहक सिद्धान्त अहं ब्रह्मास्मि का ही सिद्धान्त है। इनके स्वयं के विश्वास के अनुसार आत्मा और परमात्मा एक है और यह जो द्वैत प्रतीत होता है इसे मिटाना ही जीवन का लक्ष्य है। इनका अल्लाह भय से शासन नहीं करता वह प्रेमरूप है और उससे तदाकार होना ही जीवन का स्वाभाविक क्रम है। स्थान स्थान पर उसी ईश्वर की सत्ता का देखना और अद्वैतवाद का वर्णन उन्हें स्थूल एकेश्वरवाद से बहुत दूर ले जाते हैं। वास्तव में सूफी मत इस्लाम और भारतीय धर्म दोनों ही से प्रभावित है। श्री एम० एम० शुस्टेरि ने भी यही माना है।[2] स्पष्ट है कि इस भक्ति-मार्ग में दोनों मार्गों का समन्वय स्वाभाविक रूप से हो गया है।

---

१ तसव्वुफ अथवा सूफीमत पृष्ठ ६४

२ आ० ला० इ० क०, पृ० ३६५

सप्तम अध्याय

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य मे देव-भावना का रूप

रामभक्ति शाखा उसकी देव भावना का स्वरूप

हिन्दी-साहित्य की जिस परम पावन राम भक्ति-सरिता म अवगाहन कर सहस्रश सन्तप्त मानवो ने शान्ति-लाभ किया, उसके प्रवतक होने का श्रेय स्वामी रामानन्द को है। इस भक्तिधारा के सवश्रेष्ठ और सर्वाधिक प्रसिद्ध कवि गोस्वामी तुलसीदास रामानन्दजी के ही शिष्य थे। इसम कोई सन्देह नहीं कि रामानन्द से बहुत पूव आचाय रामानुज जन-जीवन मे रामभक्ति के अकुर का वपन कर चुके थे, पर इन दोनो के सिद्धान्तो में तात्विक भेद है। हिन्दी साहित्य म रामभक्ति का जो रूप मिलता है वह रामानन्द के सिद्धान्तो स अधिक प्रभावित है। रामानुज सम्प्रदाय के श्रीवष्णव शिव की पूजा नही करते, उनके यहा यह वजित है, जबकि रामभक्ति के प्राय सभी कवियो ने शिव-पूजा को रामभक्ति का एक अनिवाय अग समझा है। स्पष्टरूप से यह राम-पूजा का ही प्रभाव है। रामानुज सम्प्रदाय का मन्त्र 'ओ३म नमो भगवत वासुदेवाय"—है जो द्वादशाक्षरात्मक है। रामानन्द का मन्त्र ओ३म रामाय नम" षडक्षरात्मक है। डा० विजयेन्द्र स्नातक न दोनो सम्प्रदायो क भेद को अपने शोधग्रन्थ म इस प्रकार प्रकट किया है (१) रामानुजाचाय का मन्त्र अष्टाक्षरात्मक या द्वादशाक्षरात्मक है, रामानन्द का मन्त्र षडक्षरात्मक। (२) रामानन्दी मत मे ध्यान के निमित सीता तथा लक्ष्मण से युक्त श्री रामचन्द्र जी के ध्यान का आदश है जो रामानुजाचाय की पद्धति से भिन्न है। (३) भक्ति को मुक्ति का साधक बताते हुए उसके जनक जो सात उपाय बताये गये हैं वे भी भिन्न हैं। (४) रामानन्द के यहाँ वकुण्ठ के स्थान पर साकेत का महत्त्व माना गया है (५) वाह्य चिह्नो अथात तिलक और कण्ठी म भी भेद है। (६) रामानुज सम्प्रदाय म भगवत सेवा एव मन्त्रजपादि काल म तुलसी या कमलादि की माला धारण करने की प्रथा है किन्तु रामानन्दी सम्प्रदाय म कठी, कठा, हीरा, एकनडी, दुलडी पदिक, रामनामी आदि भेद स सवदा तुलसी धारण करने का विधान है। (७) पूजा-अर्चा-पद्धति में भी बडा भेद है।[1]——

---

१ राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, पृ० ४४५

सब बातो का ध्यान म रखत हुए यही मानना उचित होगा कि रामानन्द न रामानुजाचाय क तात्विक सिद्धान्तो का ग्रहण कर राम भक्ति का स्वतन्त्र मत स्थापित किया। डा० दीनदयालु गुप्त का मत भी ऐसा ही है।[1] श्री रामनिरजन पाण्डेय का मत भी इसी स मिलता जुलता है।[2] यह भी जनश्रुति है कि रामानुज सम्प्रदाय म प्रचलित जाति भेद की मान्यता स ऊबकर रामानन्दजी दक्षिण से काशी चल आय। यह भी स्पष्ट है कि भक्ति माग म जाति पाति की उदारता के प्रसार का श्रेय भी रामानन्द का ही है। यह घटना भी उनके स्वतन्त्र चिन्तन और मत-स्थापन की ओर ही सकत करती है। रामभक्ति शाखा के प्रवतक इन रामानन्द क शिष्यो म स कुछ निराकार रूप का लेकर चल और कुछ साकार रूप को। साकार रूप को लेकर चलने वाल गोस्वामी तुलसीदास न रामभक्ति को इतना व्यापक रूप दिया।

रामभक्ति शाखा म क्षीरसागर निवासी और शेष पयक शायी वकुण्ठ विहारी विष्णु के स्वरूप के स्थान पर नररूप म लीला करने वाले दाशरथि राम के रूप का स्वीकार किया गया। इनके इष्टदेव राम हुए और उनका नाम राम इनका मूल मन्त्र बना। जसा कि सवविदित है राम भक्ति शाखा की स्थापना दो मार्गों के विरोध क लिए हुई थी (१) आचाय शकर द्वारा प्रवर्तित अद्वतवाद और (२) हठयोगियो का सम्प्रदाय जो बाद म कबीर द्वारा परिवर्द्धित और परिमार्जित होकर निगुण सम्प्रदाय के रूप म प्रचलित हुआ। तात्विक दृष्टि स इस निखिल जगत को कवल भ्रम माननवाले शकर क माग म भक्ति का समावेश सभव नही था। जब सभी कुछ मिथ्या है ब्रह्म क अतिरिक्त कुछ और है ही नही तो कौन किसकी भक्ति करे? स्वामी रामानन्द न आचाय रामानुज की भाति चिदचिद विशिष्ट मानकर ईश्वर को अशी और जीव को उसका अश कहा है। उनके अनुसार जीव ईश्वर का अश भी है और उसस पथक भी है। यह माग विशिष्टाद्वतवाद क नाम स अभिहित किया जाता है। इसम ईश्वर तथा जीव का पार्थक्य मान लेने स भक्ति का समावेश आसानी से हो जाता है। हठयोगी ईश्वर को निराकार मानकर उस घट क भीतर ही ढूढने का उपदेश दिया करते थ बाह्य जगत स उनका लगाव नही क बराबर ही था। इस माग म बाह्य कर्मो का भी प्रत्याख्यान ही था। इन दोनो के विरोध म स्वामी रामानन्द न भगवान क उस रूप को जनता क सामन प्रस्तुत किया जिसम अज मा अनादि एव सवशक्तिमान निराकार ईश्वर भक्तो की करुण पुकार पर राम क रूप म मानव शरीर धारण कर लीलाओ क लिए अवतरित हुआ।

साकार रूप की प्रधानता

अभी पीछे यह कहा जा चुका है कि भक्तो के लिए साक्षात परब्रह्म ने ही

---

१ राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य भूमिका भाग

२ रामभक्ति शाखा पृष्ठ ४३ तथा ४७

राम के रूप में अवतार लिया है। जो ब्रह्म स्वभावत अज अनादि, अरूप और अनन्त है वही भक्ता के कारण मानव-तनु धारण कर इस लोक म प्रकट होता है। इस प्रकार निराकार और साकार मे कोई मौलिक अन्तर नही। जो निराकार है वही साकार भी बनता है। एक उसका स्वभाव है तो दूसरा उसकी लीला का रूप है। राम रूप का परिचय देने हुए काकभुशुडि ने गरुड से कहा है—

सोई सच्चिदानद घन रामा। अज बिग्यान राम बल धामा ॥
ब्यापक व्याप्य अखड अनता। अखिल अमोघ सक्ति भगवता ॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता ॥
निमम निराकार निरमोहा। नित्य निरजन सुख सदोहा ॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी ॥

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप ॥[1]

पर फिर भी इस भक्ति शाखा मे प्रधान रूप से साकार रूप की ही स्वीकृति है। कबीर ने सगुणवाद का खण्डन करते हुए—"दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना"—कहकर राम को जो निर्गुण और निराकार का प्रतीक माना था, उसी का खण्डन रामचरितमानस म शिव-पार्वती-सवाद म कराया है। पार्वती पूछती है—"रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखा गति कोई।" शकर समाधान भी करते है और फटकार भी देते हैं। वे कहते हैं—हे भवानी। यद्यपि तुमने यह सब कुछ मोह-वश ही कहा है पर मुझे यह बात अच्छी नही लगी। तुमने जो यह कहा है कि दशरथ-सुत राम और वेदा म वर्णित भगवान पृथक पृथक हैं, यह कथन उन्ही का शोभा देता है जो पाखण्डी हैं हरिपद से विमुख हैं और जो झूठ-सच को नही जानते—

एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहहु भवानी ॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥
कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखण्डी हरि पद विमुख जानहिं झूठ न साच ॥[2]

सही बात तो यह है कि साकार ईश्वर के प्रतिपादन और निराकार के खण्डन म इन कवियो ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। कही तो यह काय "ज्ञान को पथ कृपान की धारा" और सगुण भक्ति के माग को 'नीको मोहि लागत राज डगर सो"—कहकर किया गया है और कही साखी सबदी कहन वालो की निन्दा करके। श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दो मे भारत म निर्गुण का उपदेश देने वाले दो प्रकार

१ रा० च० मा०, उत्तरकाण्ड, पृ० १०६८ (गी० प्रे० स०)
२ वही, बालकाण्ड, पृ० १२७

वे सन्त फकीर उस समय दिखाई देते हैं जब वे जो मुक्तक पद, दोहा अथवा साखियों के माध्यम से उसके उपदेश देते थे और दूसरे वे जो कहानी उपाख्यान या प्रबंध काव्य के माध्यम से उसका प्रसार करते थे। तुलसी ने—

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगत निरूपहिं भगति कलि निंदहिं बेद पुरान॥

में दोनों सन्तों का खण्डन किया है। तुलसी अनरसहिं का तरत राम नाम जपु नीच में भी उनका व्यंग्य और आक्रोश एकदम स्पष्ट है। कृष्ण भक्ति शाखा में निर्गुण रूप का खण्डन 'भ्रमरगीत' द्वारा किया गया है और रामचरितमानस में काकभुशुण्डि द्वारा 'ग्यानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा' —कहने के तुरत बाद ही भक्ति का प्रतिपादन स्पष्टतः साकार रूप की ओर झुकाव होने का द्योतक है। साथ ही यह कह देना भी अप्रासंगिक न होगा कि इन्होंने 'मन वाणी का अगम अगोचर' कहकर निराकार का प्रत्याख्यान नहीं किया। ऐसा कहना शायद इनकी दृष्टि में निराकारवादियों की श्रेष्ठता और अपरगामिता का परिचायक होता। इनकी दृष्टि में निर्गुण रूप सुलभ है और सगुण रूप अगम। इसी भाव को इन्होंने—

निर्गुण रूप सुलभ अति सगुण न जानै कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥[1]

इन शब्दों में व्यक्त किया है। इसी प्रकार के भाव उन्होंने अन्य स्थानों पर भी व्यक्त किये हैं।

सगुण की स्थापना के साथ-साथ तुलसी ने निर्गुण-सगुण का भी वर्णन किया है—

निर्गुन सगुन विषम सम रूप। ग्यान गिरा गोतीतमनूप॥

जद्यपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सब के हृदय निरंतर बासी॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी॥
जो जानहिं ते जानहुँ स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥
जो कोसलपति राजिवनयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥[2]
जेहि श्रुति निरंजन ब्रह्म ब्यापक बिरज अज कहि गावहीं।
करि ध्यान ग्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं॥
सो प्रकट करुना कंद सोभा बृंद अग जग मोहई।

जो अगम सुगम सुभाव निर्मल असम सम सीतल सदा।

---

१ रा० च० मा० अरण्यकाण्ड पृ० १००० (गी० प्रे० संस्करण)
२ वही अ० का० पृ० ७०१ २ (गी० प्रे० सं०)

पर्स्या त ज जोगी जतन करि करत मन गो वस सदा ।।
सो राम रमा निवास सतत दास बस त्रिभुवन धनी ।।[1]

कवि केशव का भी विश्वास है कि जो राम पुराणपुरुष हैं, सब प्रकार से परिपूर्ण हैं, वेद जिनका नेति नेति करके वणन करते हैं, वे ही भक्तो के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए भू पर अवतरित हुए हैं—

सोइ परब्रह्म श्रीराम हैं, अवतारी अवतार-मणि ।[2]

सेनापति ने यद्यपि तुलसीदास के समान निगुण का प्रत्याख्यान कर सगुण की स्थापना पर बल नहीं दिया है तथापि साकार के प्रति उनका झुकाव स्पष्ट है । उन्होने रघुवश मणि राम का साक्षात परब्रह्म मानकर उनके अवतार रूप का वणन रस लेकर किया है । एक कवित्त देखिये—

बीर महाबली, धीर, धरम धुरधर है,
धरा में धरया एक सारग धनुष को ।
दानो दलमलन, मथन कलि मलन को,
दलन है देव द्विज दीनन के दुख को ।
जग अभिराम, लोक बेद जाको नाम, महा
राज मनि राम, धाम सेनापति सुख को ।
तज पुज करो चद सूरो न समान जाक,
पूरो अवतार भयो पूरन पुरुख को ।।[3]

परात्पर ब्रह्म का अवतरित मानने वाले सगुणोपासको की भी दो शाखाएँ की गयी एक तो वे जिन्हे मर्यादावादी कहा जाता है और दूसरे वे जिन्हे सुविधा के लिए रसिक भक्त कहा जाता है। भक्त दोनो ही हैं पर दोनो के दृष्टिकोण म महान अन्तर है । रसिक भक्तो की उपासना पद्धति सामान्य पाठको के लिए अब भी अपरिचित सी ही है अत आरम्भ म उसी का वणन दिया जायगा ।

रामभक्ति शाखा (रसिक भावना)

हिन्दी-साहित्य पर तुलसी के महान व्यक्तित्व का प्रभाव इतनी अधिक व्यापक मात्रा मे पड़ा है कि हिन्दी-साहित्य का सामान्य से कुछ अधिक परिचय रखने वाले महानुभाव भी तुलसी का ही राम भक्ति शाखा का एकमात्र प्रतिनिधि मान बैठे हैं । तुलसी ने भक्ति भावना मे दास्य भाव या सेवक-सेव्य भाव को प्रधानता दी है अत

१ रा० च० मा०, अ० का०, पृष्ठ ७३६ (गी० प्रे० स०)
२ रा० च०, १।१७
३ कवित्तरत्नाकर, ४।७

इनकी धारणा बन गई है कि साहित्य में राम के किसी दूसरे रूप का चित्रण हुआ ही नहीं। परन्तु वस्तुस्थिति कुछ और ही है। तुलसी से पूर्व और पश्चात भी राम की रसिक या माधुर्य भाव से उपासना करने वाले साहित्य का निर्माण प्रचुरता में हुआ है। डा० भगवतीसिंह के शब्दों में अनुसंधान स्थिति का एक दूसरा ही रूप प्रस्तुत करता है। इधर इस माधुर्य भाव का जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उससे विदित होता है कि गोस्वामी तुलसीदास की पूर्ववर्ती समकालीन और परवर्ती रामोपासना इसी से ओतप्रोत थी। वास्तव में इस साधना पद्धति के कवियों की संख्या इतनी अधिक है कि तुलसीदास अपने समकालीन भक्ति क्षेत्र में प्रसूत शृंगारी रामभक्ति के एक अपवाद-से प्रतीत होते हैं। यह बात दूसरी है कि इस सम्प्रदाय में इतनी प्रखर प्रतिभा का कोई कवि अवतरित नहीं हुआ जो सूर और मीरा की तरह जन-सामान्य को भी इस दिव्य रस का आस्वादन करा सकता।[1]

राम की व्युत्पत्ति भी इस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अपने ढंग से मानी है। इनके अनुरूप क्रीडा के अर्थ में प्रयुक्त रम धातु से राम शब्द की निष्पत्ति होती है। रसिक भक्तों का विचार है कि राम के अलौकिक सौन्दर्य में जीवमात्र को रमाने की जो अद्भुत क्षमता है उसी के कारण उनका नाम राम पड़ा है। रम् विहार-बोधक है साकेत लोक में जो नित्य शृंगार क्रीडाओं में मग्न रहते हैं उनका नाम राम होना उचित ही है। डा० भगवतीसिंह के अनुसार राम नाम के इस अर्थ के समर्थक रसिकों ने अनेक प्राचीन ग्रंथों से प्रमाण एकत्रित किये हैं। इस सम्प्रदाय वालों में सीता का अर्थ भी अपनी मधुर चेष्टाओं से (प्रियतम) को वश में करने वाली दिया गया है। कहा गया है कि सीता शब्द में सकार विष्णु का है ईकार माया का है तकार मोक्ष प्रद सत्य का तथा अकार अमृत का प्रतीक है। यह नाम अव्यक्तरूपिणी महामाया का व्यक्त विग्रह है। इसमें युगल सरकार श्री सीतराम की पूजा होती है। इनकी मधुर लीलाओं के ध्याता ये संत रसिक अथवा भाविक नाम से पुकारे जाते हैं। इस वर्ग के भक्तों की अपनी एक अलग साधना पद्धति और पृथक भक्तमाल भी है।

रसिक-सम्प्रदाय की पृष्ठभूमि

डा० भगवतीसिंह ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ ७१ से ७६ तक रघुवंश, उत्तरराम चरित, जानकीहरण और हनुमन्नाटक के शृंगार रस सम्बन्धी श्लोकों का सविस्तार उद्धरण दिया है और इनमें ही आगामी रसिक भावना के बीज को सन्निहित माना है। हनुमन्नाटक में शृंगार की यह भावना अत्यधिक मात्रा में है। उसमें आयी हुई सीता हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल की कामासक्ता साधारण नायिका और राम कामुक नायक से अधिक कुछ नहीं मालूम पड़ते। शृंगार का वर्णन वाल्मीकि रामायण में भी

---

१ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय पृष्ठ ६६ ६७

है पर फिर भी वहाँ राम और सीता का जीवन मर्यादा मे बँधा हुआ है, उनमे अत्यधिक आत्म सयम है जब कि इस नाटक (हनुम नाटक) मे कामुकता का चित्रण ही नही अपितु नग्न प्रदशन भी है। स्वयवर के बाद अयोध्या जाते समय राम एकदम कामपीडित हो जाते हैं। अयोध्या पहुँचने तक का समय बिताना उनके वश में नही और व्यग्र होकर वे घोडों को दण्ड से मारने लगत हैं।[1] सीता और राम के चुम्बनो का बडा ही स्पष्ट वणन है।[2] प्रेम प्रदशन के लिए सीता राम के मुख म से पान का टुकडा या ग्रश निकालती हैं और दोनो एक दूसरे के अधरो का पान करते हैं।[3] स्तनो की लीला को प्रदर्शित करने वाली सीता व्याज निद्रा से राम को आनन्द देती हैं।[4] राम व्याज निद्रा मे सोयी हुई सीता के मुख को, स्तनो को, भुजमूलो को और रोम राशि को बार बार चूमते हैं।[5] आगे इसी अक के श्लोको (२३, २५) मे राम सीता के सौन्दय का बडे ही भावुक ढग से वणन करते हैं। राम और सीता का यह शृगारिक वणन परवर्ती रसिको के वणना का आधार बन गया। ये कवि उस काल के हैं जब राम देव रूप म स्वीकृत हो चुके थ, पर फिर भी उनम वही उनके आराध्यरूप के दशन नही होते। बात यह है कि ये कवि थे साधक नही। कवि होने के नाते स्वाभावत मधुर भावना के समथक थे। अत इनकी रचनाए परवर्ती रसिक भावना के लिए पष्ठभूमि बन गइ।[6]

रसिक साधना का प्रवतन

इसका विधिवत् प्रवतन कृष्णदास पयहारी के समय से माना जाता है। जो रसिक-परम्परा सदियो से भिन्न भिन्न स्थानो पर विकसित हो रही थी उसे व्यवस्थित रूप देने का काय कृष्णदास जी ने किया। पहले यह साधना व्यष्टि प्रधान थी। इसके साधक इसे गुह्य मानकर साधारण रूप से किसी पर प्रगट नही करत थे। इसके अधिकारी गिने चुने व्यक्ति ही समझे जात थे। अनुयायियो की बढती हुई सख्या देखकर अग्रदास जी ने 'ध्यान मजरी' द्वारा इसे व्यावहारिक रूप दिया।

अविच्छिन्न परम्परा

जसा कि आरम्भ म कहा गया है विगत कई सौ वर्षों से इस प्रकार की रचना अबाध गति से होती जा रही थी। तुलसी के समकालीन महात्मा मुक्तामणि और

---

१ अक २ श्लोक १
२ वही श्लोक ११
३ वही, श्लोक १३ १४
४ वही श्लोक १७
५ वही श्लोक १८
६ रामभक्ति म रसिक भावना, पृ० ७६

आनन्द माधव रसिक भावना के ही उपासक थे। तुलसी के बाद भी आज तक इस प्रकार की कविता सतत रूप से लिखी जा रही है। वह सब की सब प्रकाशित भले ही न हुई हो, पर उसका प्रचलन अपने पूर्ण वेग के साथ आज भी विद्यमान है। लक्ष्य करने की बात यह है कि आज अयोध्या में अधिकांश मन्दिर, कुंज और वन नाम से अभिहित हैं और श्री कनक भवन के अतिरिक्त भी जितने मुख्य स्थान हैं, वहाँ भी युगलमूर्ति की मधुर उपासना चल रही है। "यहाँ के अधिकांश साधु सन्त एवं साधक या तो कोई लता हैं, या प्रिया या अली या सखी।"[1]

राम भक्तिशाखा में मधुर भावना का समावेश कृष्ण भक्ति शाखा के प्रभाव से हुआ या वह स्वतः ही प्रवाहित हुआ, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। इस शाखा के अनुयायी इस पर किसी बाह्य प्रभाव को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार गीतावली में तुलसीदास ने राम की उपासना मधुर भाव से ही की है पर अन्य विद्वानों के मत में यह कृष्ण भक्ति की देन भले ही न हो, पर उससे प्रभावित अवश्य है। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने स्वामी अग्रदास और स्वामी कीलदास को मधुर भक्ति भावना का साधक मानते हुए कहा है कि इसके पूर्व ही वृन्दावन में श्रीकृष्ण भक्तों में मधुर रस की उपासना प्रचलित हो चुकी थी। श्री रूप गोस्वामी सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी के भक्ति ग्रन्थ विद्वज्जन का चित्तहरण कर चुके थे। इन गोस्वामियों ने गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय के भक्ति सिद्धान्त को शास्त्रीय प्रतिपादन योग्य गम्भीर विषय बना लिया था। जब तक रामोपासक मधुर भक्तों का कोई पुराना साहित्य उपलब्ध नहीं होता तब तक यही मत ठीक जान पड़ता है कि मधुर भाव की साधना श्रीकृष्णोपासक भक्तों से श्रीरामोपासक भक्तों में आयी है।[2]

रसिक भावना या मधुरोपासना

रसिक शब्द का अर्थ है रस का आस्वादन करने वाला। इस शब्द का प्रयोग साधारण रूप से उन व्यक्तियों के लिए होता है कि जिनकी भावुकता उन्हें प्रेमानन्द में आचूड़ मग्न किये रहती है। अग्रदास जी ने रसिक शब्द का प्रयोग उन अनुयायियों के लिए किया है जो भगवान राम की रसमयी लीलाओं का ध्यान करते हैं तथा जो उनकी अन्तरंग सेवा के आश्रित रहते हैं।[3] इसमें प्रेम का वर्णन लौकिक ढंग से होता है। इस प्रकार इस धारणा के अनुसार प्रत्येक ऐसे भक्त का सम्बन्ध अपने इष्टदेव श्रीराम के साथ पति एवं पत्नी के जैसा हो जाता है। इसीलिए इनका परम कर्तव्य उन्हें रिझाने के लिए स्त्रीवत शृंगार करने आदि तक हो जाता है। ये अपने को उनके सान्निध्य में रखना चाहते हैं और इस प्रकार का व्यवहार करना चाहते हैं

---

१ रामभक्ति में रसिक भावना, पृष्ठ ११८

२ मधुराचार्य और उनका मणि सन्दर्भ ('कल्पना' १९५५), पृ० ६

३ रा० र० म० पृ० १४०

जिससे शृगारिक आनन्द का अनुभव कर सुखी बने रहें। रसिक सम्प्रदाय की इस शाखा को इसी कारण स्व सुखी नाम भी दिया गया है जिसका तात्पय यह हो सकता है कि इसके भक्ता का इष्टदेव के साथ सीधा सम्बन्ध है। उसे ये अपना पतिवत मानकर तदनुसार व्यवहार करने मे सुखी रहा करते हैं तथा ये अपने को श्री सीता तक की श्रेणी का कहते हैं।[1]

जो रसपूण सम्बन्ध कृष्ण और गोपियो के बीच मे था, वसा ही सम्बन्ध राम का सीता की सखियों के साथ था। उनका काय तरह तरह के हावो भावो से सीता और उसकी सखिया को रिझाना है। 'श्री हनुमत सहिता' म प्रेमामत महोत्सव का वणन इस प्रकार है—जानकी प्रेमलम्पट रामचन्द्र अपनी प्राणप्रिया तथा असख्य रूप यौवन शालिनी सखियों के साथ सरयू-तट पर पधारते हैं और प्रेमामत रसवेश म हास्य, लास्य, कटाक्ष तथा मनोहर चाटूक्तिया से परस्पर प्रसन्न करते हुए, कदब वन मे माध्वीक रस का पान करते हैं और फिर माधवी कुज मे पधारते हैं तत्पश्चात हरि चन्द वन म और तब अशोक वन म। यह अशोक वन पुरुषो को दिखाई नहीं देता, केवल स्त्री भावापन्न साधको का ही उपलब्ध होता है।

ऐसी कमनीय किशोर मूर्ति को देखकर उन रमणियो के मन मे रमण की अभिलाषा जाग्रत होती है और भगवान उन्ह नाना प्रकार से तप्त करते हैं। जसे नक्षत्रो मे घिरा चन्द्रमा शाभा पाता है वसे ही सखियो से घिरे रामचन्द्र नाना प्रकार के लास्य-नृत्यादि से सखियो के चित को आह्लादादि प्रदान करते हुए उनके अधरामत का पान करते हैं। इसके पश्चात जल क्रीडा होती है।[2] राम की सोलह प्रमुख सखियाँ हैं और बहुत सी साधारण सखियाँ हैं। श्री भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र ने बृहत् कौशलखड' का हवाला दते हुए बताया है कि रामावत सम्प्रदाय म भी पूरे रास का विधान था।[3]

गुह्य साधना का लक्ष्य

इस साधना का लक्ष्य भी उस सहज माग की प्राप्ति है जिसे अन्य बहुत से साधको ने प्राप्त करने की चेष्टा की है। काम जीवन के प्रबलतम भावा मे से एक है। इसका वेग बडा उद्दाम है। बडे बडे ज्ञानी ध्यानी इसके सामने परास्त हो जाते हैं। पानी और हवा मात्र का सहारा लेकर तप म लीन रहनेवाले ऋषि-मुनि भी अपने माग से किस प्रकार विरत हा गये इसके उदाहरणो से इतिहास भरा पडा है। यह काम

---

१ भ० सा० म०, प० १२६ ३०
२ 'रामभक्ति म मधुरोपासना प० ११२ ११३
३ वही प० ११४

वासना प्रभु की प्राप्ति म सबस बडा रोडा है। उसके प्रत्याख्यान मात्र स काम नहीं चलगा यह सोचसमझकर इस माग के साधको न उस भगवदभिमुख करन का परामश दिया है। हृदय की समस्त मधुर भावनाओ को यदि भगवान म ही लगा दिया जाय तो इसस इद्रियो की स्वाभाविक वत्ति भी बनी रहगी और भावों का उदात्तीकरण भी होगा। इस लक्ष्य क लिए योगियो न योग की प्रक्रिया पर बल दिया था तो इन साधको न प्रेम की प्रक्रिया पर। इनका विश्वास है कि काटे को काँटे से ही निकाला जा सकता है और विष को उतारन क लिए सबस अच्छी औषधि विष ही है।

भ्रमों का परिहार

इन भक्तो क सम्बध म जन-साधारण म बहुत स भ्रम फल हुए हैं। कुछ क अनुसार इन साधको क कारण समाज म आचारहीनता फली है और राम का रूप भी विकृत हुआ है। इस विषय म यह कह दना आवश्यक है कि इस साधना म उन्ही व्यक्तियो को दीक्षित किया जाता था जो इसक अधिकारी समझे जात थ अत उनस समाज म किसी प्रकार क बुर प्रभाव की आशका कम ही है। रही राम क रूप क विकृत होन की बात, यह भी निराधार ही है। राम क एकपत्नीव्रत की रक्षा की ओर इन भक्त साधको का ध्यान बराबर रहा है। डा० भगवतीसिंह न इस पर विस्तारपूवक विचार किया है। उनका कथन है कि भक्तजनो म स्त्री-वश बनान की प्रथा का एकदम अभाव है। श्रीरामप्रसाद रामचरणदास तथा रूपकला जी अपन आराध्य के समक्ष जो सखी रूप म कीतन किया करत थे उनका यह वश अन्तरग था। बाहर स व लोग साधारण साधुओ के समान रहत थ। जहा तक इन भक्तो द्वारा अपन को सीताजी की सपत्नी मानन का प्रश्न है उनका कहना है कि सीता की सपत्नी मानन की बात भी भ्रमपूण है। इसम सखियाँ अपन को सीताजी की अगजा अथात्भवा अथवा सगोत्रा मानती हैं। रामचद्र स उनका सम्बध सीता के माध्यम स ही है। उनका सुख तत्सुखापलब्ध है। उनका भाव भोक्ता का न होकर द्रष्टा का है। भुशुण्डी रामायण म सीता को नि सपत्नी कहा है और राम के एकपत्नीव्रत का उल्लख है।[1] इसी भाव को उन्होंने आग चलकर इस प्रकार व्यक्त किया है—सखीभाव क उपासक मानो न अपन आचार्यों को युगल सरकार की उन षोडश मुख्य सखियो का अवतार माना है जो सीताजी की बाल सखियाँ और महाराज जनक तथा उनक सामन्तो की पुत्रियाँ थीं। व अपन आत्मस्वरूप को यूथेश्वरियो की बहिनें अथवा मिथिला की कुमारियो स अभिन्न मानत हैं और सीता जी क साथ ही राम को परिणीता समझत हैं किन्तु स्वामी स उनका सम्बध सीधा न होकर सीताजी के माध्यम स होता है।[2]

---

१ रामभक्ति म रसिक सम्प्रदाय पृ० १५ १६

२ वही पृ० १५१

इस सम्प्रदाय के सत केवल सजातीय साधको से ही मेल रखते हैं, विजातिया अथवा अय सतो स इनके कोई प्रयोजन नही। अत इनकी वेशभूषा आदि का वणन साधारण पाठक के लिए ज्ञानवद्धक एव रुचिकर होगा।

वेश भूषा—गले म तुलसी की माला, मस्तक पर तिलक, दोना भुजाओ मे रामायुध की छाप, कमर मे लँगोटी, हाथ म कमण्डल, और शरीर मे पीले रग का एक वस्त्र।

इनमे **पच सस्कारों** की दीक्षा का बडा महत्त्व है। ये पच सस्कार निम्न लिखित हैं—

(१) **मुद्रा सस्कार**—मुद्राएँ पाँच हैं—धनुष, बाण नाम (सीताराम), चद्रिका और मुद्रिका। आचाय दीक्षा के अवसर पर सवप्रथम शिष्य के बाए हाथ म धनुष, दाहिने मे बाण, वक्ष स्थल पर युगल नाम तथा मुद्रिका और ललाट पर चद्रिका की छाप देते हैं। धनुष बाण रामच द्र जी के प्रतीक हैं चद्रिका और मुद्रिका सीता जी के और नाम युगलविग्रह के।

(२) **तिलक**—इसका इन भक्तो के लिए इतना ही महत्त्व है जितना सधवा स्त्रियो के लिए सिंदूर का। उनकी दृष्टि म तिलक युगलरूप का प्रतिनिधि है। तिलक का स्वरूप यह है कि मध्य म चरणाकृति का ऊध्वपुण्ड्र, उसके बीच म श्रीबिदु अथवा श्री रेखातिलक।

(३) **नाम-सस्कार**—इनके सभी नाम भगवत्सबधी होते हैं। उनका कथन है कि प्राकृतिक देहविषयक नाम, ग्राम आदि को भुलाये बिना भगवत् कृपा की प्राप्ति सभव नही। इनके नामो के अत म दास नही लगता, क्योकि दास से नरत्व का बोध होता है। इनके नाम शरणात होते हैं। सख्य भाव के उपासको के नाम मणि एव 'सखा' शब्दात होते हैं।

(४) **मन्त्र सस्कार**—षडक्षर राममन्त्र शिष्य (साधक) के दाहिने कान मे कहा जाता है।

(५) **माला (कठी)**—का भी सस्कार होता है। इस कठी का सतो म वही महत्व होता है जो द्विजातियो म यज्ञोपवीत का। गुरु साधक को तुलसी काष्ठ की युगल घटी धारण कराते हैं। उनका विश्वास है कि इस कठी के स्पश से गल के अन्दर आने वाली सभी वस्तुएँ पवित्र हो जाती हैं।

सम्प्रदाय के नाम

इस सम्प्रदाय के नाम दो प्रकार के हैं, एक वे जो सावजनिक रूप म प्रयुक्त होते हैं और दूसरे व जो साधना के क्षेत्र म प्रयुक्त होते हैं। ये सभी नाम स्त्रीत्व परक हैं। अब तक जितने प्रसिद्ध साधक हुए हैं उनके साम्प्रदायिक नाम इस प्रकार हैं—

१	श्री हनुमान जी	श्री चारुशीला जी
२	श्री ब्रह्मा जी	श्री विश्वमोहिनी जी
३	श्री वसिष्ठ जी	श्री ब्रह्मचारिणी जी
४	श्री पराशर जी	श्री पापमोचना जी
५	श्री व्यासदेव जी	श्री व्यासेश्वरी जी
६	श्री शुकदेव जी	श्री सुनीता जी
७	श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी	श्री पुनीता जी
८	श्री गंगाधराचार्य जी	श्री गायत्री जी
९	श्री सदाचार्य जी	श्री सुदर्शना जी
१०	श्री रामेश्वराचार्य जी	श्री रामअली जी
११	श्री दारानन्द जी	श्री दाराअली जी
१२	श्री देवानन्द जी	श्री देवअली जी
१३	श्री श्यामानन्द जी	श्री श्यामाअली जी
१४	श्री श्रुतानन्द जी	श्री श्रुताअली जी
१५	श्री चिदानन्द जी	श्री चिदाअली जी
१६	श्री पूर्णानन्द जी	श्री पूर्णाअली जी
१७	श्री श्रियानन्द जी	श्री श्रियाअली जी
१८	श्री हरियानन्द जी	श्री हरिसहचरी जी
१९	श्री राघवानन्द जी	श्री राघवअली जी
२०	श्री रामानन्द जी	श्री रामानन्ददायिनी जी
२१	श्री सुरसुरानन्द जी	श्री सुरेश्वरी जी
२२	श्री माधवानन्द जी	श्री माधवीअली जी
२३	श्री गरीबानन्द जी	श्री गर्वहारिणी जी
२४	श्री लक्ष्मीदास जी	श्री सुलक्षणा जी
२५	श्री गोपालदास जी	श्री गोपालअली जी
२६	श्री नरहरिदास जी	श्री नारायणी जी
२७	श्री अग्रदास जी	श्री अग्रअली जी
२८	श्री तुलसीदास जी	श्री तुलसी सहचरी जी
२९	श्री वानानन्द जी	श्री वानअली जी
३०	श्री केवल कूबाराम जी	श्री कृपाअली जी
३१	श्री चिन्तामणिदास जी	श्री चिन्तामणि जी
३२	श्री दामोदरदास जी	श्री मोददायिका जी
३३	श्री हृदयराम जी	श्री उल्लासिनी जी
३४	श्री मौजीराम जी	श्री हरिमना जी
३५	श्री हरिभजनदास जी	श्री हरिलता जी

३६	श्री कृपागम जी	श्री करुणाअली जी
३७	श्री रतनदास जी	श्री रतनाअली जी
३८	श्री नृपतिदास जी	श्री नीतिलता जी
३९	श्री शंकरदास जी	श्री सुशीला जी
४०	श्री जीवाराम जी	श्री युगलप्रिया जी
४१	श्री युगलानन्दशरण जी	श्री हेमलता जी
४२	श्री जानकीशरण जी	श्री जानकीशरण जी
४३	श्री रामवल्लभशरण जी	श्री युगलविहारिणी जी
४४	श्री सियालालशरण जी	श्री प्रेमलता जी

मर्यादावादी मार्ग

रसिक मार्ग मे भगवान् को रस रूप मानकर उनसे जो सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं उनम प्रेमी और प्रियतमा के भाव की प्रधानता होती है। भक्त प्रेयसी बनकर प्रेमी भगवान को रिझाने की चेष्टा करता है। स्वभावत उसम शृगार रस की प्रधानता रहती है, हाव भाव का वर्णन रहता है। यह स्थिति कुछ पहुँचे हुए साधकों के लिए तो उपयुक्त हो सकती है पर जनसाधारण मे इसका प्रसार एव प्रचार भ्रष्टाचार की ही सृष्टि करता है। मर्यादारूपी कगारो को तोडकर बहनेवाली नदी अपने लक्ष्य तक न पहुँच कर बीच म ही नष्ट न हो जाय, इस बात की आशका बनी ही रहती है। जीवन-सरिता ठीक-ठीक रूप से आगे को प्रवाहित होती रहे, इसलिए दूरदर्शी एव अनुभवी व्यक्तियो ने कुछ नियमो की स्थापना कर दी है विधि और निषेध बना दिये हैं। इनके अनुसार काय करने वाले मर्यादावादी माग के अनुयायी कहलात हैं। राम भक्ति माग में मर्यादा के पालन पर जोर है। 'श्रुति सेतु-पालक राम तुम'—मे उनके इसी रूप पर बल है। इस माग म इष्ट देव का पूजन मर्यादा में रह कर ही किया जाना है। इसमे स्थान स्थान पर वेदो के अनुकूल चलने का उल्लेख है उनका प्रत्याख्यान नही।

इष्टदेव का रूप

इनके इष्टदेव सामान्य नर नहीं, देवाधिदेव साक्षात ब्रह्म हैं। अपने वास्तविक रूप म वे अरूप और अनाम हैं, अजन्मा और अनादि हैं, सच्चिदानन्द हैं और सब जगह व्यापक हैं। भक्तों के हित के लिए वे राम रूप म अवतरित हुए हैं—

> एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानद पर धामा॥
> व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥[1]

---

१ रा० च० मा०, बालकाड पृ० २१

१	श्री हनुमान जी	श्री चारुशीला जी
२	श्री ब्रह्मा जी	श्री विश्वमोहिनी जी
३	श्री वसिष्ठ जी	श्री ब्रह्मचारिणी जी
४	श्री पराशर जी	श्री पापमोचना जी
५	श्री व्यासदेव जी	श्री व्यासेश्वरी जी
६	श्री शुकदेव जी	श्री सुनीता जी
७	श्री पुरुषोत्तमाचार्य जी	श्री पुनीता जी
८	श्री गंगाधराचार्य जी	श्री गांधर्वी जी
९	श्री सदाचार्य जी	श्री सुदर्शना जी
१०	श्री रामेश्वराचार्य जी	श्री रामअली जी
११	श्री द्वारानन्द जी	श्री द्वाराअली जी
१२	श्री देवानन्द जी	श्री देवअली जी
१३	श्री श्यामानन्द जी	श्री श्यामाअली जी
१४	श्री श्रुतानन्द जी	श्री श्रुताअली जी
१५	श्री चिदानन्द जी	श्री चिन्ताअली जी
१६	श्री पूर्णानन्द जी	श्री पूर्णाअली जी
१७	श्री श्रियानन्द जी	श्री श्रियाअली जी
१८	श्री हरियानन्द जी	श्री हरिसहचरी जी
१९	श्री राघवानन्द जी	श्री राघवअली जी
२०	श्री रामानन्द जी	श्री रामानन्ददायिनी जी
२१	श्री सुरसुरानन्द जी	श्री सुरेश्वरी जी
२२	श्री माधवानन्द जी	श्री माधवीअली जी
२३	श्री गरीबानन्द जी	श्री गवहारिणी जी
२४	श्री लक्ष्मीदास जी	श्री सुलक्षणा जी
२५	श्री गोपालदास जी	श्री गोपालअली जी
२६	श्री नरहरिदास जी	श्री नारायणी जी
२७	श्री अग्रदास जी	श्री अग्रअली जी
२८	श्री तुलसीदास जी	श्री तुलसी सहचरी जी
२९	श्री बालानन्द जी	श्री बालअली जी
३०	श्री कवन कृपाराम जी	श्री कृपाअली जी
३१	श्री चिन्तामणिदास जी	श्री चिन्तामणि जी
३२	श्री दामोदरदास जी	श्री मान्दायिका जी
३३	श्री हन्यराम जी	श्री उल्लासिनी जी
३४	श्री मौजीराम जी	श्री हरिमना जी
३५	श्री हरिभजनदास जी	श्री हरिलता जी

३६	श्री कृपाराम जी	श्री करुणाअली जी
३७	श्री रतनदास जी	श्री रतनाअली जी
३८	श्री नपतिदास जी	श्री नीतिलता जी
३९	श्री शङ्करदास जी	श्री सुशीला जी
४०	श्री जीवाराम जी	श्री युगलप्रिया जी
४१	श्री युगलानन्दशरण जी	श्री हेमलता जी
४२	श्री जानकीशरण जी	श्री जानकीशरण जी
४३	श्री रामवल्लभशरण जी	श्री युगलविहारिणी जी
४४	श्री सियालालशरण जी	श्री प्रेमलता जी

मर्यादावादी मार्ग

रसिक मार्ग म भगवान को रस रूप मानकर उनसे जो सम्बन्ध स्थपित किये जाते हैं उनमे प्रेमी और प्रियतमा के भाव की प्रधानता होती है। भक्त प्रेयसी बनकर प्रेमी भगवान को रिझाने की चेष्टा करता है। स्वभावत उसम शृगार रस की प्रधानता रहती है, हाव भाव का वर्णन रहता है। यह स्थिति कुछ पहुँचे हुए साधकों के लिए तो उपयुक्त हो सकती है पर जनसाधारण मे इसका प्रसार एव प्रचार भ्रष्टाचार की ही सष्टि करता है। मर्यादारूपी कगारों को तोडकर बहनेवाली नदी अपने लक्ष्य तक न पहुँच कर बीच म ही नष्ट न हो जाय, इस बात की आशका बनी ही रहती है। जीवन-सरिता ठीक-ठीक रूप से आग को प्रवाहित होती रहे, इसलिए दूरदर्शी एव अनुभवी व्यक्तियो ने कुछ नियमो की स्थापना कर दी है, विधि और निषेध बना दिये हैं। इनके अनुसार काय करने वाले मर्यादावादी मार्ग के अनुयायी कहलात हैं। राम-भक्ति मार्ग मे मर्यादा के पालन पर जोर है। 'श्रुति-सेतु-पालक राम तुम'—म उनके इसी रूप पर बल है। इस मार्ग मे इष्ट देव का पूजन मर्यादा म रह कर ही किया जाता है। इसम स्थान स्थान पर वेदो के अनुकूल चलने का उल्लेख है, उनका प्रत्याख्यान नहीं।

इष्टदेव का रूप

इनके इष्टदेव सामान्य नर नही, देवाधिदेव साक्षात ब्रह्म हैं। अपने वास्तविक रूप म वे अरूप और अनाम हैं, अजन्मा और अनादि हैं, सच्चिदानन्द हैं और सब जगह व्यापक हैं। भक्तो के हित के लिए वे राम रूप म अवतरित हुए हैं—

> एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानद पर धामा॥
> व्यापक बिस्वरूप भगवाना। तहिं धरि देह चरित कृत नाना॥[1]

---

१ रा० च० मा०, बालकाड, पृ० २१

वेदो म भगवान को सवत्र व्यापक कहा है। सष्टि के निर्माण से पूव भी उसकी सत्ता थी, आज भी है और कल भी होगी। इस समस्त जगत का निर्माता पालक और सहारक वही है। उसके हाथ नही तो भी वह सब कुछ करता है पर नही तो भी सवत्र गामी है चक्षु नही तो भी सब कुछ देखता है और कान न होन पर भी वह सब कुछ सुनता है। इस शाखा के अनुयायियो के अनुसार इनके भगवान भी वे ही परब्रह्म हैं—

आदि अत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
अति सबभाति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥
जेहि इमि गावहिं वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगतहित कोसलपति भगवान॥[1]

यह निगुण एव निराकार ब्रह्म गो ब्राह्मण और भक्तो के हित के लिए मानव शरीर धारण करके नाना प्रकार की लीलाए करता है। स्थान स्थान पर मानस के पात्र अपने-अपने ढग स इसी बात का कथन हैं—

(क) व्यापक ब्रह्म निरजन निगुण विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या क गोद॥[2]
(ख) व्यापक अकल अनीह अज, निगुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप॥[3]
(ग) रामसरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अखिल अपार नति नति सब निगम कहिं॥
चिदानदमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी॥
नर तनु धरेउ सत सुर काजा। करहु कहहु जस प्राकृत राजा॥[4]
(घ) तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥
गौ द्विज धनु देव हितकारी। कृपासिधु मानुस तनुधारी॥[5]
(ङ) अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

सेनापति की दष्टि म भी राम साक्षात ब्रह्म हैं मानव नही। उनके अनुसार सब सष्टि म उसी ब्रह्म की ज्योति रम रही है। सष्टि के आदि मध्य और अन्त म भी वही है। वेद उसी का गुणगान गाते हैं और ब्रह्मा आदि ध्यान करने पर भी उसका पार नहीं पाते—

१ रा० च० मा० बा० का० पृ० १०१
२ वही बालकाड पृ० २०७
३ वही बालकाड पृ० २१४
४ वही बा० का० पृ० ९६१ ६२
५ वही, सुन्दरकाड पृ० ११९

(क) परम जोति जाकी अनत, रमी रही निरतर।
आदि, मध्य अरु अत, गगन दस दिसि, बहिरतर॥
गुन पुरान इतिहास, वेद बदी जन गावत।
धरत ध्यान अनवरत, पार ब्रह्मादि न पावत॥
सेनापति आनद घन, रिद्धि सिद्धि मगल करन।
नाइक अनेन ब्रह्माण्ड कौ, एक राम सतत सरन॥[1]

(ख) जाकी अध ऊरध, गगन, दस दिस उर
व्यापि रह्यौ तेज तीन लोक कौ अधार है।
पूरन पुरुष, हृषीकेश, गुन धाम राम,
सेनापति ताहि बिनवत बार बार है।[2]

राम साक्षात् पुराण पुरुष हैं। वेद ने जिस शक्ति का वणन नेति-नेति कहकर किया है वह शक्ति राम ही है। महादेव और ब्रह्मा उसी का वणन करते हैं। उसी का ध्यान करते हैं पर उसका पार नहीं मिलता—

गुनौ एक रूपी सुनो वेद गावै। महादेव जाको सदा चित्त लावै
विरचि गुण देख। गिरा गुणनि लेख।
अनत मुख गावै। विशेषहि न पावै॥[3]

ऋषि-मुनि उन्हे साक्षात ब्रह्म ही समझते हैं। यज्ञ का लक्ष्य भी वे ही हैं। अगस्त्य के शब्दों मे देखिये—

बठारि आसन सब अभिलाष पूजे।
सीता समेत रघुनाथ सबन्धु पूजे॥
जाके निमित्त हम यज्ञ यज्यो सु पाया।
ब्रह्माड मण्डन स्वरूप जु वेद गायो॥[4]

ब्रह्मा स्तुति करते हुए राम से कहते हैं कि हे राम! तुम अनादि और अनन्त हो, सवत्रगामी हो और सब कुछ जानने वाले हो—

तुम हो अनन्त अनादि सवग सवदा सवज्ञ।
अब एक हौ कि अनेक हौ महिमा न जानत अज्ञ॥[5]

केशवदास के राम भी साक्षात परब्रह्म हैं। वे आदिदेव और सवनाता हैं। ब्रह्मा, विष्णु शिव, सूय और चन्द्रमा इत्यादि सब उन्ही के अशावतार हैं। ब्रह्मा से

१ कवित्तरत्नाकर, ११।१
२ वही ५।१
३ रा० च०, १।१४ १५
४ वही, ११।११
५ वही, २७।१

लेकर परमाणु तक वे अज अनन्त रघुवीर को ही व्याप्त देखते हैं।[1] वस्तुतः राम आदि, मध्य और अन्त तीनों में एक से हैं पर जीव उन्हें अलग-अलग समझता है। केशव के अनुसार राम के चरणों में लीन रहने वाले को मृत्यु व्याप्त नहीं होती। राम के लंका से लौट जाने पर भरत राम के उन चरणों का प्रक्षालन करते हैं जिनके स्पर्श से गंगा आदि का—जो स्वयं औरों के संताप को दूर करने वाली हैं—संताप मिट जाता है।

उनका अवतार ही भार उतारने के लिए हुआ है—'भार के उतारिबे को अवतरि रामचन्द्र।' देवताओं, ब्राह्मणों और गायों की रक्षा के लिए साक्षात ब्रह्म राम के रूप में भूतल पर उतरते हैं—

> किये विशेष सो अशेष काज देवराय के,
> सदा त्रिलोक लोक नाथ धर्म विप्र गाय के
> अनादि सिद्धि राजसिद्ध राज्य आज ली जई।
> नदेवतानि देवतानि दीह सुक्ख दी गई॥[1]

०

शरणागत-वत्सलता

शरणागत की रक्षा भगवान राम का बाना है। जो कोई शुद्ध भाव से शरण में आ जाता है उसे फिर स्वयं अपने लिए कुछ नहीं सोचना पड़ता। उसे एक बार अपना समर्पण कर देने के बाद अपने लिए कुछ करना शेष नहीं रह जाता। भक्त अबोध शिशु है तो भगवान माता। शिशु जितना ही अशक्त और असमर्थ और मातृ निर्भर होगा माता उसका उतना ही अधिक ध्यान रखेगी। भक्त को कष्ट हुआ नहीं कि उसकी भनक भगवान् के कानों में पड़ी और शान्त स्वरूप भगवान् की शान्ति भंग हुई। वे क्षण भर की भी देर किये बिना भक्त को विपत्ति-सागर से बाहर निकालते हैं।

भगवान की तो स्पष्ट घोषणा है कि वे भक्त को सब-कुछ दे सकते हैं उसके लिए उन्हें कुछ भी अदेय नहीं—

> जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे।[2]

इसी भाव को उन्होंने इन शब्दों में दुहराया है—

---

१ रामचन्द्रिका १३।२
२ रा० चं० २३।१०
३ रा० च० मा० अ० का० पृ० ७४७

सुनु मुनि तोहि कहौं सह रोपा। भजहिं जे माहि तजि सकल भरोसा ॥
करौं सदा तिनक रखवारी। जिमि बालक राखै महतारी ॥[1]

सुग्रीव की पत्नी को बालि ने रख लिया था और राज्य से वहिष्कृत कर दर-दर का भिखारी बना दिया था, पर राम की शरण म आते ही उसे राज्य भी मिला और पत्नी भी मिली। विभीषण निशाचर था शत्रु का भाई का, रावण ने लात मार कर घर से बाहर निकाल दिया था, पर राम की कृपा स स्वणमयी लका का अधिपति बना। कपियो और भालुओं का कौन पूछता है? व जगल क निवासी है पर राम ने उनकी इस तरह रक्षा की जिस तरह काई अपने औरस पुत्र की रक्षा करता है। अपने बडे भाई रावण की पत्नी म दोदरी को पत्नी बनाकर भोग विलास करन वाला विभीषण यदि सज्जनो म श्रेष्ठ माना गया तो यह भी राम के वरद हस्त का ही फल था—

मीति पुनीति कियो कपि भालु को, पाल्यो ज्यो काहु न बाल तनूजो।
सज्जन-साव विभीषनु भा अजहूँ बिलस बरबधू बधू जो ॥
कौशलपाल बिना तुलसी सरनागत पाल कृपाल न दूजो।
क्रूर, कुजाति कुपूत अघी सबकी सुवरै जा कर नरु पूजो ॥[2]

इस जीवन मे अनेक पाप हैं और उनकी अनेक सजाएँ हैं, घोर नरको की यन्त्रणाएं हैं पर राम की शरण म आ जाने पर सब पापो से छुटकारा मिल जाता है। राम की भक्ति वह पतित पावनी गगा है जिसम स्नान कर तन मन के सारे मल कट जाते हैं। उनके पद का स्पश होते ही गौतम पत्नी अहल्या शाप से विनिमुक्त होकर सुन्दर नारी वन गयी, नीच समझा जानवाला केवट अक्षय कीर्ति का भागी बना जगली भीलिनी को स्वग मिला जटायु गीध परमधाम पहुँचा। सचमुच राम क समान दयानिधान अन्य कौन हो सकता है—

रिपिनारि उधारि कियो सठ केवल मीतु पुनीत सुकीर्ति लही।
निज लोकु दियो सबरी खग को, कपि थाप्यो सो मालुम है सबही ॥
दससीस विरोध सभीत विभीषनु भूपु कियो, जग लीक रही।
करुनानिधि को भजु रे तुलसी! रघुनाथु अनाथ के नाथु वही ॥[3]

भक्त का बचन कभी ही क्या न हो, भगवान उसे पूरा करते हैं। प्रह्लाद को खम्भे से बाँधकर हिरण्यकशिपु ने जब उस मारना चाहा, तो भगवान खम्भे को चीर-कर प्रकट हो गए गजराज को जब मकर ने अपने शिकजे म पकड लिया तो भगवान अविलम्ब ही दौड पडे, भरी सभा म जब सती द्रौपदी को निवसन किया जाने लगा

---

१ रा० च० मा०, अ० का०, पृ० ७४६
२ कवितावली, उत्तरकाण्ड पद ५
३ वही, उ० का० प० १०

गिरत गहत बाँह धाम म करत छाँह
पालत विपत्ति माँह कृपारस भीनो है।
तन को बसन दन भूख म असन, प्यास
पानी देतु सब बिन माँग आनि दीनो है।
चौकी तुही दन अनि हनु क गरुड़ वतु
ह्वौं ता मुख मावत न सवा परबीनो है।
आलम की निधि बुद्धि बान मु जगत पति,
सनापति सवक कहाँ घों जान कीनो है ॥[१]

इष्टदेव के साथ सम्बन्ध

यों तो अपन इष्टदेव क साथ जिस तरह का सम्बन्ध स्थापित कर लिया जाय वही ठीक है। देव जिस रूप म स्वीकार करलें वही ठीक है उनका अनुग्रह है। स्वय तुलसीदास देव से अनेक प्रकार क सम्बन्ध स्वीकार करत हैं। उनके ही शब्दों म—

ताहि माहि नात अनेक मानिय जो भाव।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पाव ॥[२]

पर मर्यादावादी तुलसी को अपने इष्टदेव के साथ जो सम्बन्ध सर्वाधिक प्रिय है वह सवक और स्वामी भाव का है। भक्त सवक है देव स्वामी है भक्त आराधक है देव आराध्य है। एक दीन-हीन है तो दूसरा सर्वशक्तिमान है। सेवक की स्थिति स्वामी के लिए है उसका कर्तव्य उसकी सवताभावन सवा करना है उस दिखाना है जो कुछ करना है सब स्वामी के लिए करना है वह जिस प्रकार रखे उसी तरह रहना है। सवक जब अपन को दीन-से-दीन और हीन-से-हीन समझ कर अपन प्रभु की सवा करता है तभी प्रभु प्रसन्न होत हैं। इसम सवक अपन हृदय म झाँककर अपन अवगुणों को और स्वामी क गुणों को देखता है। आत्म निरीक्षण की इस प्रक्रिया म वह प्रभु की महत्ता और अपनी क्षुद्रता स परिचित होता है भगवान् का खरापन और अपना खोटापन उस स्पष्ट रूप स दीख पड़ता है और अनायास ही उसक मुख से य शब्द निकल जात हैं—

राम सों बडो है कौन मो सों कौन छोटो।
राम सों खरो है कौन मो सो कौन खोटो ॥[३]

इस प्रकार भक्त म दैन्य और निरभिमानता क भाव का उदय होता है। अपनी कमियों स अवगत होन के बाद वह देव की महत्ता का ध्यान करता है और धीरे धीरे

१ कवित्त रत्नाकर, ५।२४
२ विनयपत्रिका, पद ७६
३ वही, पद ७२

प्रभु-कृपा से उच्चता की ओर अग्रसर होता है। जितनी अधिक मात्रा म द य भाव की वृद्धि होगी, भक्त का हृदय उतना ही अधिक निष्कलुष हागा। वह तप्त स्वण की भाँति मल रहित होकर कु दन बन जायेगा। यही कारण है कि तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' द य भाव से आपूरित है। द यभाव विषयक यह पद देखिये—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं, भिखारी,
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुज हारी।
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसो,
मो समान आरत नहि आरतिहर तासो।[1]

अपने को सेवक मानने से भक्त म अहभाव नही आने पाता। जहाँ यह अह-भाव आया कि सब कुछ लुप्त हुआ। यह अह भक्त और भगवान के बीच दीवार बन कर खडा हो जाता है और दानो का मिलने नही दता। नारद ने काम पर प्रभु-कृपा से जो विजय प्राप्त की, उस अपनी विजय समझ कर जब वे उस विजय का डका पीटने लगे, उनका अह उनम नही समाया, ता वे फिर काम के शिकार हो गए। भग वान ने उनके अह का दूर करके ही चन लिया। काकभुशुण्डि अपने मोह की चर्चा गरुड से इस प्रकार करते हैं—

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहि काऊ॥
ससृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल लोकदायक अभिमाना॥
ताते करहि कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अतिभूरी॥[2]

सख्य भाव म तथा दाम्पत्य भाव मे समता का भाव हाने से अह भाव के आने की सम्भावना हो सकती है पर सेवक सेव्यभाव म इसके लिए स्थान नही। इसीलिए कहा है कि सेवक-सेव्यभाव के बिना कभी कल्याण नही हो सकता, भवसागर को पार नही किया जा सकता—

सवक स य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।[3]

अन यता

हमने अयत्र कहा है कि शिव भी इस भक्ति शाखा के आराध्य देव हैं। शिव के अतिरिक्त पावती, गणेश और सूय आदि की भी पूजा देव रूप म की गयी है। इससे मन म शका हो सकती है कि अपने आराध्य के प्रति जिस अन यता के भावो का हाना आवश्यक है, उनकी इस भक्ति माग म कमी है। पर गहराई म आने पर यह शका

१ विनयपत्रिका, पद ७६
२ रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा ७४
३ वही, दोहा ११६ प० ११६१ (गी० प्रे० स०)

एकदम निमू ल सिद्ध हो जाती है। सब देवताओ के प्रति श्रद्धा और अनुराग रखते हुए भी उन्होंने उन सबसे राम भक्ति का ही वर माँगा है। इनकी स्थिति उस पतिव्रता स्त्री के समान है जो अपन पति के सम्बन्ध के कारण पति-गृह के व्यक्तियों को स्नेह प्रदान करती हुई भी सवताभावेन पति की ही पूजा करती है। इन कवियो को य देवता इसलिए प्रिय हैं कि ये सब देवता भी राम के भक्त हैं स्वय राम की भक्ति करते हैं और दूसरा को भी राम की भक्ति दने को सामथ्य इनम है। इन देवो और कवियो का लक्ष्य एक ही है और लक्ष्य-साम्य से इनका झुकाव यदि उघर हा ता स्वाभाविक ही है।

इन सब कविया का अपने आराध्यदेव राम के प्रति अनन्य अनुराग रहा है। इसका गन्तव्य है राम भक्ति इसलिए इन्हे वे ही पथिक प्रिय हैं जा स्वय इस माग पर चल रहे हो और दूसरो को चलने मे सहायता देत हो। माता पिता, मित्र, भाई बहिन, सबके सम्बन्धो की एक ही कसौटी है—राम का अनुराग। जा इसम सहायक है उनका स्वागत है जो विघ्न डालत हैं, वे हेय हैं त्याज्य हैं। अजन तभी तक प्यारा है जब तक वह आँखो को लाभ पहुचाता है या उनकी शोभा को बढाता है, स्वण तभी अच्छा लगता है जब वह सौन्दय म वृद्धि करता हो। आखो को फाडने वाले और कानो को तोडने वाले अजन और स्वण से प्रयोजन ही क्या ? सच्चे भक्त के लिए राम ही माता है राम ही पिता है और राम ही बन्धु-बान्धव हैं। उन्हे राम के सिवाय अन्य किसी का भरोसा नही—

राम हैं मातु पिता गुरु बधु औ सगी सखा सुत, स्वामि, सनेही।
राम की सौंह, भरोसो है राम को। राम रग्यो रुचि राच्यौन केही॥
जीवत रामु मुए पुनि रामु सदा रघुनाथहि की गति जेही।
साई जिए जग म तुलसी न तु डालत और मुए धरि देही॥[1]

इन भक्तो के नेत्रो के लिए सीता राम का सौन्दय वह अगाध जल है जिसम उनके नेत्र तरते रहते हैं काना स वे राम की ही कथा सुनते हैं, मुख म राम का नाम रहता है हृदय म राम का चिन्तन है उनकी मति और रति का सम्बन्ध केवल राम से है। और-तो-और जीवन का फल भी यही है कि राम का चिन्तन और ध्यान किया जाय। इन्हे राम का चिन्तन है, उनकी मति और रति का सम्बन्ध केवल राम स है। और तो और, जीवन का फल भी यही है कि राम का चिन्तन और ध्यान किया जाए। इन्हे राम का कहलाना और राम के गुण गाना बहुत ही अच्छा लगता है। य किसी दूसरे को नही मानते हैं और न मानना चाहते हैं—

रावरो कहावौं, गुनु गावौं राम ! रावराई
राटी द्व, हौं पावौं राम ! रावरी ही कानि हौं।

---

१ कवितावली उत्तरकाण्ड, पद ३६

जानतु जहानु, मन मोरेहूँ गुमान बडो,
मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं ॥[1]

आदश भक्त की अनन्यता को समझाने के लिए तुलसी ने चातक को चुना है। चातक का प्रेम सचमुच ही धन्य है, वह स्वाँति नक्षत्र को छोडकर अन्य किसी से कुछ भी स्वीकार नही करता। ग्रीष्म की प्रखरता से निखिल चराचर तप रहा हो, प्यास के कारण चातक के प्राण गल तक भले ही आ गये हो और सामने स्वच्छ शीतल पेय जल की धारा बह रही हो, पर चातक उसकी ओर आँख उठाकर देखता तक नही। गगा सुरसरि है, साक्षात शिव की जटाओ से वह निकली है जन्म जन्मान्तरो के शारीरिक और मानसिक ताप को दूर करने की शक्ति उसम है, मरते समय उसने जल की बूद स्वग का द्वार खोल देने वाली होती है, पर चातक को वह भी ग्राह्य नहीं। वधिक के शर से घायल हुआ चातक पौन जाह्नवी के बीच म गिर पडा। उसे भय हुआ कि इस जल की अगर एक बूँद भी गलती से उसके कण्ठ के नीचे चली गयी तो उसका प्रण भग हो जायेगा, इसलिए मरते समय भी उसने अपनी चोच ऊपर को कर ली। अनन्यता का इससे अच्छा उदाहरण क्या मिलेगा ? जिसे बडे से-बडा प्रलोभन अपनी ओर न खीच सकता हो, भय की पराकाष्ठा जिसे माग से विचलित न कर सकती हो, वही तो सच्चे प्रेम का और अनन्यता का आदश बन सकता है। एक का ही ध्यान प्रेम है और अनेक का ध्यान व्यभिचार। इन भक्तो ने चातक के समान अन्य सभी की ओर से अपने ध्यान को खीचकर राम मे सलग्न कर दिया है। उनके इस भाव को दिखाने के लिए कुछ ही उदाहरण पर्याप्त होगे—

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास।
एक राम घन स्याम हित, चातक तुलसीदास ॥
रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखिगौ अग।
तुलसी चातक प्रेम को, नित नूतन रुचि रग ॥
चढत न चातक चित कबहूँ, प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि की, ताते नाप न जोख ॥
बरसि परुष पाहन पयद, पख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिये, चतुर चातकहि चूक ॥
बध्यौ वधिक परयो पुन्य जल, उलटि उठाई चोच।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहु लगी न खोच ॥[2]

इस अनन्यता के होते हुए भी बहुत से व्यक्तियो को तुलसी की अनन्यता म

१ कवितावली, उ० का०, पद ६३
२ दोहावली, दो० २७७, २८० ८३

सन्देह रहा है। उनके अनुसार तुलसीदास एक राम के आराधक न होकर अनेक देवों के आराधक थे। डा० मैकनिकोल ने भी यही सन्देह प्रकट किया है—इस तरह यह प्रतीत हो रहा है कि सर्वोपरि स्थित सर्वशक्तिमान एकेश्वर जो अपने भक्तों के लिए प्रेम और करुणा से पूर्ण है उसके लिए कई प्रकार से उच्च और स्वार्थ रहित आदर के साथ-साथ तुलसी की भक्ति भावना में बहुत सी ऐसी बातें हैं जो पूरे चित्र को ही नष्ट कर देती हैं। तुलसी के इस आस्तिक्यवाद में इतनी शक्ति नहीं कि वह बहुदेववाद और सर्वदेववाद को तथा उनके साथ रहने वाली सामाजिक अवस्थाओं को अस्वीकार कर सके। तुलसी की साधना केवल उनकी बगल में स्थान बना सकी है यद्यपि उनके भावावेश के समय यह साधना सर्ववाद बहुदेववाद तथा उनके द्वारा उत्पन्न की गयी सामाजिक स्थितियों के ऊपर उठी हुई आभासित होती रहती है।[1]

इसके उत्तर में हम पतिव्रता स्त्री के उदाहरण की ओर पहले ही संकेत कर चुके हैं। *पति के साथ जिन अन्य व्यक्तियों का सम्बन्ध है उनके साथ उसका भी सम्बन्ध* अवश्य है। घर में देवर जेठ सास एवं ससुर भी रहते हैं पर पतिव्रता स्त्री आराधना केवल पति की ही करती है। तुलसी ने जिन देवों की स्तुति की है वे सब राम भक्त हैं और प्रकारान्तर से वह राम की ही स्तुति है। पर तुलसी ने तो उनसे जो कुछ माँगा है वह राम की ही भक्ति है। राम ने काकभुशुण्डि से जो कुछ कहा है उसमें भी एक रामपद ही के भरोसे की बात स्पष्ट होती है—

अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब।[2]

हनुमान से भी राम ने जो कुछ कहा है वह अनन्य भक्ति का ही सूचक है—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप राशि भगवन्त॥[3]

तुलसी ने तो स्थान-स्थान पर इस प्रकार की उक्तियाँ कही हैं कि उनकी अनन्य निष्ठा में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मो कौं तो राम नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो।
करम उपासन ज्ञान वेदमत सो सब भाँति खरो।
मोहि तो सावन के अन्धहि ज्यों सूझत रंग हरो॥

तुलसी का राम के प्रति इतना अनुराग है कि वे यह भी नहीं याद रखते कि

---

१ रामभक्ति शाखा पृ० ३४१
२ रा० च० मा० उत्तरकाण्ड पद ८३
३ वही कि० काण्ड दो० २
४ विनयपत्रिका, पद २२६

उनके राम साक्षात परब्रह्म हैं या राजाधिराज। किसी के द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने निम्नलिखित दोहा कहा था जो उनके हृदय को खोलकर रख देता है—

जो जगदीस तौ अतिभलौ, जो भूपति तौ भाग।
तुलसी चाहत जनम भर, राम चरन अनुराग॥[1]

हम समझते हैं कि तुलसी की अनन्यता मे सन्देह करना उन्हे जान-बूझकर न समझने का यत्न करना है।

सेनापति भी अनन्यभाव से राम की पूजा करते हैं। उनके भी एकमात्र वरेण्य राम ही हैं। राम जसा आराध्य देव पाने पर उन्हें अन्य देवो से प्रयोजन भी क्या? उन्हें जो कुछ सुनाना है अपने राम को सुनाना है। राम ही उनके धन हैं और राम ही से उन्हें प्रेम है—

देव दयासिंधु सेनापति दीन बन्धु सुनौ,
आपने विरद तुम्हैं कैसे बिसरत हैं।
तुम हीं हमारे धन तोसौं बाँध्यौ प्रेम पन,
और सौं न मानै मन, तोहि सुमिरत हैं।
तोहि सौं बसाइ, और सूझ न सहाय हम
यातैं अकुलाइ, पाँइ तेरेई परत हैं।
मानौ क न मानौ, करौ सोई जोइ जिय जानौ,
हम तौ पुकार एक तोही सौं करत हैं॥[2]

ससार में जितनी भी इच्छाए हैं उन सबकी पूर्ति राम से हो सकती है फिर सेनापति अन्य किसी की ओर देखें भी क्यो? यदि धन की कामना है तो भी सीता रमण का ही ध्यान करना है। विभीषण का उदाहरण सामने है, राम की कृपा से उसे लका का राज्य मिला था। यदि नीरोग शरीर और दीर्घ आयु की कामना हो तो भी वे ही पूरी कर सकते हैं, उन्होंने मरे हुए वानरो का पुन जीवन का दान दिया था। यदि मुक्ति की अभिलाषा है तो भी उन्ही की शरण मे जाना है। एक आदमी की तो बात ही क्या, उन्होंने पूरी अयोध्या को मुक्ति प्रदान की है। फिर ऐसे सर्वदाता राम को छोडकर अन्य किसी की शरण म क्या जायें?—

सेनापति ऐसे राजा राम कौं बिसारि जो प,
और को भजन कीजे, सो धौं कौन फल है।[3]

कवि की दृष्टि जब अपने देश के अतीत पर जाती है तो उसके सामने भगवान्

---

१ दोहावली, दोहा ९१
२ कवित्तरत्नाकर तरग ५, पद ५
३ वही तरग ५, पद ६

राम क उन कार्यों का चित्र खिंच जाता है जो उन्होंने भक्तों के लिए किये हैं। उसे प्रह्लाद का ध्यान आता है यह सोचता है कि कठिन विपत्ति म राम के सिवाय रक्षा करने वाला और कोई नहीं है। वह राम से कहता है कि उसकी दौड़ तो केवल उन्हीं तक है—

> कीनो है प्रमाद मटि डारयो है विषाद, दौरि
> पाल्यो प्रहलाद, रक्षा कीनी दुरपद की।
> दीनन सौं प्रीति, तेरी जानि यह रीति सना
> पति परतीत कीनी, तेरीए सरन की।
> कीज न गहर बेग मेरो दुख हर मेर
> आठ हू पहर आस रावर चरन की।
> सूझत न और कोई निरभय ठौर राम
> दव सिरमौर तेरी दौर मेरे मन की॥[1]

चारित्रिक विशेषताएं

लोकरक्षक रूप—जैसा हमने अभी कहा है इस भक्ति शाखा के आराध्यदेव रामचन्द्र ने लीला विस्तार के लिए राजा दशरथ के घर म जन्म लेकर पापों के बोझ से दबी हुई पृथ्वी के भार को हलका किया। रामचरितमानस म शतशः स्थानों पर उनके असुरदल-संहारक और लोक रक्षक रूप का उल्लेख है। पराधीनता के पाशों म आबद्ध और सर्वतोभावेन निराश हिन्दू जनता को जिस आत्म विश्वास की जरूरत थी वह उसे राम के ही रूप म मिला। भक्तों के पालक मित्रवत्सल और गौ ब्राह्मण प्रतिपालक राम की उपस्थिति से ही देवों के हृदय म विश्वास का संचार होता है और असुरों के हृदय म भय का।

शत्रु-सेना को देखकर उनके मन म भय का तनिक भी संचार नहीं होता। वे शत्रु-दल पर इस निर्भीकता से टूट रहे हैं मानो मतवाले हाथियों के समूह को देखकर सिंह उनकी ओर ताकता हो—

> कटि कसि निषग बिसाल भुज गहि चाप बिसिख सुधारि क।
> चितवत मनहुँ मृगराज प्रभु गजराज घटा निहारि क॥[2]

'जब कभी धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि होती है तभी मैं धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश के लिए अवतार लेता हूँ', गीता में की गयी भगवान की इस घोषणा का शत प्रतिशत पालन रामभक्ति शाखा के राम ने ही किया है। किशोरावस्था म ही विश्वामित्र मुनि के साथ बीहड़ वनों म जाकर वे ऋषियों एवं

---

१ कवितरत्नाकर तरंग ५ पद १५
२ रा० च० मा०, अरण्यकाण्ड, पृ० ७१३ (गी० प्रे० स०)

मुनियो के यज्ञ की रक्षा करते हैं तथा सुबाहु एवं ताडका का वध करते हैं। विवाह के पश्चात चौदह वर्ष तक वन में रहकर ऋषियो के मार्ग को अकण्टक करने के लिए वे खर और दूषण का वध करते हैं। बालि को स्वर्गलोक भेजते हैं और असुरराज रावण का सपरिवार विनाश करते हैं। उनका यह रूप सभी स्थलो पर लोक रक्षक का है, लोक रंजक का नहीं।

शक्ति—लोक रक्षा का गुरुतर कार्य वही कर सकता है जिसकी भुजाओं में आततायी को मसल देने की शक्ति हो। निर्वीर्य व्यक्ति तो अपने लिए कुछ नहीं कर सकता फिर उससे दूसरे क्या आशा करें? वीर ही पृथ्वी का भोग करते हैं। असुर दल संहारक राम अपूर्व वीर हैं। तुलसी को अपने इष्टदेव का यही रूप सबसे अधिक प्यारा है। उनके इसी रूप की झाँकी उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। "तुलसी मस्तक तब नवे धनुष बान लो हाथ' कहने वाले तुलसी का मन अन्यत्र रम भी कैसे सकता है? वृषभस्कन्ध राम कमर में तरकस कसे और हाथ में धनुष-बाण लिये केसरी की निर्भीक और मस्तानी चाल से जब आगे बढते हैं तो भक्त तुलसी की आँखें दर्शनों से अघातीं नहीं। खर दूषण के चढ आने पर राम कमर में निषंग कसे, बाणो को सुधारते हुए अकेले ही सम्पूर्ण राक्षस-दल की ओर ऐसे निहारते हैं मानो केहरी गज घटा का मुकाबला करने के लिए सन्नद्ध खडा हो। सही बात तो यह है कि जहाँ कहीं राम के सौन्दर्य का भी वर्णन है वहाँ भी उनके धनुर्धारी रूप का उल्लेख करना वे नहीं भूले। उनके रूप का यह अनिवार्य अंग है। चाहे ग्रामवधुएँ उनके रूप पर अपने को वार रही हों या अन्य कोई प्रसंग हो, तुलसी उनके 'सुभग सरासन सायक फेरत-कर सर धनु कटि निसंग, कटि तट कसे निसंग कर निकर धनुतीर, रुचिर कटि तूनीर, या धनु-तून-तीर' का उल्लेख करना नहीं भूलते। शोभाढ्यो के साथ वर-धन्विनो कहना तुलसी को इतना अधिक प्रिय है कि उनकी दृष्टि में नर-नारायण का वर्णन इसके बिना पूर्ण ही नहीं जान पडता। राम लंका-युद्ध में जब धनुष-बाण हाथ में लेकर फिरने लगते हैं तब ब्रह्माण्ड, दिशाओं के हाथी कच्छप शेषनाग पृथ्वी, समुद्र और पर्वत सभी डगमगा उठते हैं। उनके धनुष की कठोर टंकार को सुनते ही ही ब्रह्मा और शिव चौंक उठे, उनकी जटा में समायी हुई गंगा भयातुर होकर बह चली और शिव उसे सँभाल नहीं सके, सारे दिक्पाल भयभीत हो उठे, चौदहो भुवनो में भय का संचार हो गया, लंका में खलबली मच गई रावण सशंक हो उठा और शत्रु स्त्रियो के गर्भस्थ बच्चे गिरने लगे।[1]

वीर वही है जिसकी शक्ति का लोहा शत्रु भी मानते हो। राम के शौर्य की कथा शत्रुओं के कानों तक भी पहुँच गयी है। उनके दूत हनुमान द्वारा लंका के जलाए जाने और अंगद द्वारा पैर रोप जाने के बाद राक्षस-दल में भय का संचार हो गया

1 गीतावली, सु० का०, पद २२

है। उनके मन म समा गया है कि राम के कुपित होने पर ब्रह्मा भी उनकी रक्षा नहीं कर सकेंगे—

बाँचिहै न पाछे त्रिपुरारिहू मुरारिहू के
को है रन रारिको जौं कौसलेसु कोपि हैं।[1]

सचमुच ही उनकी शक्ति अपार है। वे स्वय शक्ति का स्रोत जो ठहरे। जब कभी वे समर म कुपित हो जाते हैं तो उनके कोप भाजन को काल के दाँतों से बचाने की शक्ति न तो किसी सुर म है और न असुर में—

रावन ! जु पै राम रन रोषे।
को सहि सकै सुरासुर समरथ विसिख काल दसनानि ते चोषे॥[2]

राम की शक्ति और वीरता का वर्णन केशव ने भी किया है। यद्यपि यह ठीक है कि कवि की वृत्ति उनके वीरवेश के वर्णन म उतनी नहीं रमी और वे उस रूप की वैसी सुन्दर झाँकियाँ प्रस्तुत नहीं कर सके पर फिर भी उन्होंने अपने इष्टदेव की वीरता का वर्णन किया है। केशव के अनुसार विष्णु ने राम के रूप म जो अवतार लिया है उसका उद्देश्य भू भार हरण है—

आय कै ससार म इन हरयो भूतलभार।[3]

भूभार हरण के लिए वीर-बाना पहनकर आसुरी शक्तियों का विनाश करना आवश्यक है और चौदह वर्ष के वनवास म राम ने वही कार्य किया है। सीता के स्वयवर के समय ही राम की वीरता का परिचय पाठकों को मिल जाता है। राम ने उस प्रचण्ड धनुष को हाथ म लेकर जब टकोर दी तब सारे ब्रह्माण्ड म उसका शब्द गूँज गया और ससार का मद दूर हो गया, उससे सब दिशाएँ कंपित हो गयीं और दिक्-पालों का बल समाप्त हो गया—

प्रथम टकोर झुकि झारि ससार मद
चड कोदड रह्यो मण्डि नव खण्ड को।
चालि अचला अचल घालि दिगपाल बल
पालि ऋषिराज के बचन परचड को।

धनुभग को शब्द गयो भेद ब्रह्मड को॥

खर और दूषण के साथ हुए राम के युद्ध में भी कवि ने अपने राम की वीरता की प्रशंसा की है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार वर्षाराशि का सूर्य तृण समूह को

---

१ कवितावली ल० का० पद १
२ गीतावली सु० का०, पद १२
३ रामचन्द्रिका, प्र० २७ पद २४
४ वही प्र० २७, पद २४

जला डालता है उसी प्रकार राम ने खर और दूषण का नाश कर दिया। जिस प्रकार चतुर वैद्य अपने विद्याबल से त्रिदोषज सन्निपात रोग को दूर कर देता है उसी तरह राम ने अपने बाणों से त्रिशिरा के सिर को दूर कर दिया—

वध मे खरदूषण ज्यो खर दूषण,
सब दूर किए रवि के कुल भूषण।
गदशत्रु त्रिदोष ज्यौं दूरि कर बर,
त्रिशिरा सिर त्यों रघुनन्दन के सर॥[1]
खर दूपन सौं युद्ध बड, भयो अनन्त अपार।
सहस चतुर्दस राक्षसन, मारत लगी न बार॥[2]

राम की वीर सेना जिधर से निकलती है उसका वर्णन करते हुए कवि का कहना है कि पहाड़ गिरने लगते हैं, वृक्ष टूट जाते हैं, वानरों के उछल कर चलने से पृथ्वी हिलती है, शेष के फण नीचे को झुक जाते हैं—

भार के उतारिबे को अवतरे रामचन्द्र,
किधौं केशोदास भूमि भारत प्रबलदल।
टूटत हैं तरुवर गिर गन तीरे थर,
सूखे सब सरवर सरित सकल जल।
उचकि चलत कपि दचकनि दचकत,
मच ऐसे मचकत भूतल के थल थल।
मचकि खचकि जात सेस है असेस फन,
भागी गई भोगवती अतल वितल तल॥[3]

सेनापति के राम भी वीर हैं। अपने काव्य के सीमित कलेवर में वे राम के वीररूप की सुन्दर छटा का प्रदर्शन तो नहीं कर पाये, पर फिर भी उन्हें राम के इस रूप ने अपनी ओर आकृष्ट किया है। लंका जाने के लिए जब समुद्र ने शान्तिमय ढंग से मार्ग न दिया तब राम ने क्रुद्ध होकर धनुष पर बाण चढ़ा लिया। उनके बाण से अग्नि की दो लपटें निकलीं, उनका वर्णन कवि ने खूब रस लेकर किया है। उसका कथन है कि ज्वाला की वे लपटें पृथ्वी को फाड़कर पाताल तक चली गयीं और ऊपर सूर्य तक। समुद्र के निवासी जलचर घबरा उठे, पृथ्वी को धारण करने वाले कच्छप की पीठ पर समुद्र के जल की बूंद जाकर ऐसी लगी मानो खौलता हुआ पानी हो और वह तिलमिला गया। वरुण खड़े-खड़े पछता रहे हैं कि अभिमानी समुद्र ने उस समय तो राम की बात अनसुनी कर दी, अब क्या हो सकता है? जो जलचर बड़वानल से

---

१ रामचन्द्रिका प्र० १२, पद २
२ वही, लंका काड, पद ३
३ वही १४।३८

घबरा कर समुद्र की शरण में आये वे अब घबराकर फिर उसी बड़वानल की शरण में जा रहे हैं। राम के बाणों से जो अग्नि उठी है उसके सामने वह बड़वानल अब हिम के समान शीतल लगने लगी है—

> सेनापति राम बान पावक अपार अति,
> डार्यो पारावार हू को गरब गवाइ कै।
> को सकै बरनि बारि—रासि की बरनि नभ
> मैं गयो भरनि गयौ तरनि समाइ कै।
> जेई जल जीव बड़वानल के त्रास भाजि
> एकत रहे हैं सिंधु सीरे नीर आइ कै।
> तेइ बान पावक तें भाजि कै तुसार जानि
> धाइ कै परे हैं बड़वानल मैं जाइ कै॥[1]

शील

कोरी वीरता बर्बरता है। उसकी सत्ता मानवता के लिए शुभ नहीं अशुभ है। वह मानव को दानव के धरातल पर खींच ले जाती है। वीरता तभी वरेण्य है कि जब उस पर शील का, सुन्दर चरित्र का अंकुश हो। राम और रावण में अंतर शील का ही है। राम के जीवन का बड़ा भारी आकर्षण उनका शील है। राम का जीवन आरम्भ से अंत तक शील के अनेक प्रशंसनीय उदाहरणों से भरा पड़ा है। माता पिता गुरुजन और ऋषिमुनि सभी के सामने वे विनयावनत रहते हैं। सभी का उचित सम्मान करते हैं और कभी बड़ा बोल नहीं बोलते। सरलता, निश्छलता, नम्रता और विगतस्पृहता शील के अनिवार्य अंग हैं और ये तीनों राम में पूरी मात्रा में हैं। मनसा वाचा और कर्मणा वे सीधे हैं, उनमें दुराव या छल का लेश भी नहीं। जनकपुर में सीता से साक्षात्कार के बाद जब उनके मन में आकर्षण का कुछ अनुभव होता है तभी वे अपने छोटे भाई लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र पर प्रकट कर देते हैं। अकारण क्रोधी परशुराम के साथ उनका व्यवहार उनकी नम्रता का परिचायक है। विश्वामित्र जैसे सन्त क्रोधी व्यक्ति को उन्होंने अपनी विनय और सेवा से वश में कर लिया है—

> रूप के अगार, भूप के कुमार, सुकुमार,
> गुरु प्रान के अधार संग सेवकाई हैं।
> नीच ज्यों टहल करैं राखें रुख अनुसरैं
> कौशिक से कोही बस किए दुहूँ भाई हैं।[2]

---

१ कवित्तरत्नाकर, तरंग ४, पद ४३

२ गीतावली, बा० का०, पद ७१

राज्याभिषेक के समय उन्हें रघुवश की बडे पुत्र का ही राज्याभिषेक करने की नीति पर खेद होता है। वे सोचते हैं कि यह व्यय का अन्तर न होता तो अच्छा था। राज्य मिलने पर उन्हे खुशी नही हुई तो वन जाने पर चेहरे पर मलिनता नही आयी। जिस ककेयी का वे अपनी सगी माता से अधिक प्यार करते थे उसी के हाथो चौदह वर्ष का वनवास पाकर भी उनके मन म कुटिलता नही आयी। यही कयी चित्रकूट मिलन के समय जब ग्लानि से गली जा रही थी और पथ्वी क अन्दर समा जाने की कामना कर रही थी, तब राम का उसके प्रति व्यवहार उनके शील का ज्वलन्त उदाहरण है। उसके भावो को जानकर वे सबसे पहले उसी से मिले। वनवास से लौटने पर भी वे सबसे पहले ककेयी स ही मिले।

अपने से छोटे के साथ अच्छा व्यवहार शील का परिचायक है। बडो के प्रति हमारा विनम्र व्यवहार सदव शील का ही परिचायक नही होता, उसके पीछे कभी कभी हमारी विवशता भी छिपी रहती है। अपने से छोटा के प्रति मधुरता और समानता का व्यवहार सौजन्य का चिह्न है। राम इस दृष्टि से भी आदश शील के उदाहरण हैं। शबरी और गीध के साथ उनका व्यवहार आत्मीयता के भावा से भरपूर है। गीध के साथ वे ऐसा व्यवहार करते हैं, मानो वह उनके पिता हो—

> राघौ गीध गोद करि लीन्हो।
> नयन सरोज सनेह सलिल सुचि मनहुँ अरघ जल दीन्हो ।
> सुनहु लखन ! खगपतिहि मिले वन मैं पितु मरन न जान्यौ ॥[1]

वे छोटे बडे का भेद नही करते। राज्याभिषेक के बाद जब सब अपने-अपने घर लौटने लगते हैं तब वे जिन प्रेम भरे शब्दो मे निषादराज से मिलते रहन का अनुरोध करते हैं वह सचमुच उन्ही के अनुरूप है –

> तुम मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेउ पुर आवत जाता ॥[2]

कोई शत्रु पक्ष का हो या मित्र पक्ष का सबके साथ उनका व्यवहार शिष्टता और सौजन्यपूर्ण है। जो व्यक्ति क्षणभर के लिए भी उनके सम्पर्क म आया वह उनके शील से प्रभावित हुए बिना नही रहा। कठिन से कठिन परिस्थिति म भी उन्होन शील को हाथ से नही जाने दिया। भरत चित्रकूट म उन्ह लिवाने आय हैं, यह जान कर भी उन्होंने निणय का भार उन्ही पर छोड दिया और अगद का दूत बनाकर लका भेजते समय भी उन्होन यही कहा कि जिससे रावण का हित हो, वही काम करे।

केशव के राम भी शील स एकदम भरपूर हैं। पथ्वी पर उनके अवतार लेन का कारण मर्यादा की स्थापना है टूटी हुई मर्यादा की पुन स्थापना उनका उद्देश्य है। अगर ऐसे राम मे भी शील की कमी हो तो फिर उस शील को अन्यत्र आश्रय ही

---

१ कवितावली, पद १३ (अरण्यकाण्ड), पृ० २८०

२ रा० च० मा०, पृ० १४४४ (गी० प्रे०) उ० का०, (१९वें दोहे के बाद)

कहा मिलेगा ? जीवन के आरम्भ से अन्त तक उन्होंने शील का पालन किया है। विमाता का कहना मानकर वे चौदह वर्ष के लिए वन जाते हैं ऋषियों एवं मुनियों के सामने विनयावनत होकर बात करते हैं। कभी अहंकार से पूर्ण बात नहीं करते। ब्राह्मण भू-सुर हैं, वे धर्म के प्रतीक हैं वे उन्हें उचित सम्मान देते हैं। वे राजनीति का जो उपदेश देते हैं उसमें उन्होंने कहा है कि राजा का कर्तव्य है कि वह प्रजा को कभी कष्ट न दे, उसका पुत्रवत पालन करे और ब्राह्मण वश से कभी वैर न करे। दूसरे की स्त्री को माता के समान समझे, दूसरे के धन को विषवत त्याज्य समझे और मद, मोह तथा क्रोध को पास न फटकने दे—

> बथा न पीडिय प्रजाहि पुत्र मान पारिय।
> असाधु साधु बूझिकै यथापराध मारिय॥
> कुदेव देव-नारि को न बाल चित्त लीजिये।
> विरोध विप्रवश सों स्वप्नहू न कीजिये॥
>
> पर द्रव्य को तो विषप्राय लेखो।
> पर स्त्रीन को ज्यों गुरुस्त्रीन देखो॥
> तजो काम क्रोधो महामोह लोभो।
> तजो गर्व कों सर्वदा चित्त क्षोभो॥[1]

द्विजों के द्वार पर आते ही वे उन्हें अन्दर बुलवाते हैं और विधिवत् उनकी पूजा करते हैं। उनकी बातें सुनकर उनका कष्ट दूर करते हैं। यदि दरबार में कुत्ता भी फरियाद लेकर आये तो वे उसकी भी सुनते हैं। निषाद, शबरी और वानरों को आत्मीय समझते हैं।

हाँ, हम यहाँ इतना और स्पष्ट कर दें कि केशव के राम शील तथा मर्यादा की दृष्टि से ठीक वही नहीं हैं जो तुलसी के हैं। केशव के राम राजाधिराज राम हैं और केशव ने उनके शयनागार तथा राजमहल का वर्णन खूब बढ़ा चढ़ाकर किया है। उनके राम नृत्य और संगीत के भी शौकीन हैं। इसीलिए केशव ने रामचन्द्रिका के २९वें प्रकाश में उनका सविस्तार वर्णन किया है कुछ और आगे चलकर केशव ने जल क्रीड़ा, स्नानान्तर तिय शोभा और नखशिख के वर्णन में पूरा रस लिया है। इनके राम सीता की दासियों के नखशिख का वर्णन सुनकर मानसिक आनन्द उठाते हैं। कभी-कभी उन्हें रिझाने के लिए सीता का वीणा-वादन शुरू हो जाता है। इनके राम राज-काज में उतना समय नहीं बिताते जितना आखेट और रनिवास में।

राम और सीता के पारस्परिक सम्बन्ध में भी इनका दृष्टिकोण एकदम तुलसी के दृष्टिकोण के समान नहीं है। तुलसी की सीता वन में चलते समय राम के

---

१ रामचन्द्रिका, ३६वाँ प्रकाश, पृ० २८२

चरण चिह्न को बचाकर चलती हैं और बैठ जाने पर उन्हें पंखा करती हैं। केशव के यहाँ राम अपने अंचल से सीता को पंखा करते हैं और उनका परिश्रम दूर करते हैं, सीता कभी कभी उनकी ओर निहार कर आँखों से उनका परिश्रम दूर करने की चेष्टा करती है—

मग को श्रम श्रीपति दूर कर सिय को शुभ वाकल अंचल सों।
श्रमतेऊ हर तिनको कहि केशव चंचल चारु दृगंचल सों॥[1]

इसे हम किसी सीमा तक रसिक सम्प्रदाय की छाप और मुगल दरबार का प्रभाव कह सकते हैं। वैसे कुल मिलाकर केशव के राम शील और मर्यादा के पोषक हैं। श्री रामनिरंजन पाण्डेय ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया है—"जीवन-दर्शन को दृष्टि में रखकर केशवदास का अध्ययन किया जाये तो यह पता चलता है कि वे अपने युग की रामभक्ति शाखा के साधकों की प्रवृत्ति के अनुसार ही आदर्शवादी साधक हैं।"[2] सही बात तो यह है कि केशव को राम चरित लिखने की प्रेरणा ही राम के आदर्शवादी रूप के प्रथम गायक कवि वाल्मीकि से मिली है। वाल्मीकि केशव को स्वप्न में कहते हैं, तुझे बुरे का ज्ञान नहीं है। तू निरर्थक चर्चा करता और सुनता रहता है। जब तक तू रामदेव की चर्चा नहीं करेगा तब तक तुझे देवलोक प्राप्त नहीं होगा—"

भलो बुरो न तू गनै। वृथा कथा कहै सुनै।
न रामदेव गाइहै। न देवलोक पाइहै॥[3]

स्पष्ट है कि वाल्मीकि के आदेश पर राम के गुणगान करने वाला कवि मर्यादावाद के विरुद्ध नहीं जा सकता।

सौन्दर्य

शक्ति और शील के साथ यदि किसी में सौन्दर्य भी हो तो उसके व्यक्तित्व में एक नवीनता आ जाती है। सौन्दर्य का अपना आकर्षण है चराचर में ऐसा कोई नहीं कि जिस पर सौन्दर्य का जादू न चलता हो। राम में असाधारण सौन्दर्य है। शंख के समान सुन्दर गोल गले में पड़ी हुई तीन रेखाएँ तीनों लोकों की सुन्दरता को फीका कर रही हैं। सभी लोग उन्हें देखकर परम हर्षित होते हैं और उन पर से अपने नेत्र नहीं उठा पाते। शरतकालीन पूर्णिमा के समान सुन्दर उनका मुख है और शरतकमल के समान स्वच्छ नेत्र हैं।[4] उनका सौन्दर्य करोड़ों कामदेवों को लज्जित करनेवाला है और जो कोई उन्हें देखता है उसका मन उन पर मुग्ध हो जाता है—

---

१ रामचन्द्रिका, ६ वाँ प्रकाश पृ० ६४
२ रामभक्ति शाखा, पृ० ४१७
३ रामचन्द्रिका, प्रकाश १, छन्द १६
४ रा० च० मा० बा० का, पृ० २५० (विवाह प्रकरण)
५ वही, अयो० का०, वन प्र०, पृ० ४८१

तुलसी प्रभु जाहन पोहत चित साहन माहन कोटि मयन ।[1]

नील कज जलन्पुज मरकत मनि सरिस स्याम ।
काम काटि साभा अग अग ऊपर वारी ।।[2]

व रूप क आगार हैं। स्वयवर के समय रगभूमि म उनके आन का समाचार सुनकर नगर क नर-नारी बाल वद्ध अधे और लँगडे भी वहाँ जान क लिए निहोरे करते हैं। उनके नीलवण शरीर पर पीत पीत वस्त्र ऐस शाभा पाते हैं माना नील जलद पर बिजली चमक गयी हो उनका एक एक अग माना काम-समूह के सौन्दय मे बना हो। उनका सौन्दय वणनातीत है। जगदाधार का सौन्दय है यदि वह विधाता का बनाया हुआ होता तो उसका वणन भी किया जा सकता था—

अग-अग पर मार निकर मिलि छवि समूह ल ल जनु छाय।
तुलसिदास रघुनाथ रूप गुन तौ कहौं जो बिधि होहि बनाय ।।[3]

उनका सौन्दय सचमुच मादक है। जो कोई देखता है वह अपनी सुध-बुध खो बठता है। मन पहल स ही चचल है उस रूप-आगार को देखकर वह एकदम हाथ स निकल जाता है। वन-गमन के समय बचारी ग्राम-वधुए उस लावण्य के सामने परास्त हो गई हैं अब उन्ह लोक लाज और परिवार का भय नहीं रहा। जिसे जो कहना है वह कहता रह उन्ह नत्रों क होन का लाभ तो मिल ही जायगा —

धरि धीर कहै चलु दखिअ जाइ जहाँ सजनी ! रजनी रहिहैं।
कहिहै जगु पाच न साच कछू फलु लोचन तो अपनो लहिहैं ।।
सुख पाइहैं कान सुनें बतियाँ कल आपस म कछु प कहिहैं।
तुलसी अतिप्रम लगी पलकें पुलकी लखि रामु हिय महिहैं ।।[4]

केशव क राम भी सौन्दय क आगार हैं। ससार म जो भी सौन्दय है वह उन्हीं की तो देन है। जो औरो को सौन्दय प्रदान करता है वह स्वय सुन्दर क्या न होगा? राम के वनवास-काल म जो भी उन्हे दखत है वे उनके रूप पर मुग्ध हो उठते हैं और सोचते हैं कि क्या य सामान्य मानव हैं?—

रूपहि देखत मोह ईश कहो नर को है ?[5]

राम सीता और लक्ष्मण साथ-साथ चल रहे हैं उनके सम्मिलित सौन्दय का वणन केशव के ही शब्दों म देखिय—

---

१ गीतावली बा० का० पद ५१
२ वही पद २५
३ गीतावली बा० का० पद २६
४ कवितावली अ० का० पद २३
५ रा० च० ६।३२

मेघ मदाकिनी चारु सौदामिनी रूप रूरे लसै देह धारी मनो।
भूरि भागीरथी भारती हसजा अश के है मनो, भोग भोरे मना ॥[1]

सेनापति के राम सौंदय के आगार हैं। उनकी मुस्कराहट कोटिश चन्द्रमाओ की कांति से अधिक कांतिवाली है, उनकी दीप्ति करोडो सूर्यों की दीप्ति से अधिक है—

मद मुसकान कोटि चद ते अमद राज,
दीपति दिनेस कोटि हू ते अधिकानिय।[2]

कवि कहता है कि यदि पाँचो कल्पवृक्षो को मिलाकर एक कल्पवृक्ष बनाया जाय और उससे कामदेव बनाया जाय, पूर्णिमा के जितने चन्द्रमा हो चुके हैं और आगे होंगे, उन्हे एकत्र कर नवीन सूय का निर्माण हो, तो भी राम के सौंदय और तेज के बराबर ये नहीं बन पायेंगे—

पाचो सुरतरु कौं जो एक सुरतरु एक
देह जो बसत रतिकत की बनाइय।
बीते होनहार चद पूयो के सकल जोरि,
चद करि एक जो दगन दिखराइय।
दसौ लोकपालन को एक लोकपाल, एक
बारह दिनेस को दिनेस ठहराइय।
सेनापति महाराजा राम को अनूप तेज
राम तेज रूप नेक बरनि बताइय ॥[3]

उनके नेत्र विशाल है। मस्तक कान्ति से चमक रहा है और उनके सौंदय से कामदेव भी लज्जित होता है—

लोचन बिसाल, राजै दीपति दिपत भाल,
मूरति उदार कौ लजानौ रतिपति है।[4]

कुछ मिलाकर इस भक्ति शाखा के आराध्य देव राम शक्ति शील और सौंदय के आगार हैं उनमे तीनो सुन्दर गुणो का समन्वय है। तीनो के सम्मिलित आकषण ने उनके रूप को एक नवीन मनोरम रूप प्रदान किया है। उनके इस रूप मे भगवान की झाकी साधारण प्राणी को भी दीख पडती है। श्री जान्सन ने सुन्दर आकृति सुन्दर आत्मा और सुन्दर कर्मो को ऐसे वातायन कहा है जिनमे प्रभु की झाकी दीख पडती है—

---

१ रा० च० पद ३५
२ क० रत्ना०, ४।४
३ वही, ४।६
४ वही, ४।१४

Beautiful faces beautiful souls fair forms, noble creatures and lofty actions are windows through which the human soul, here in a world of mutability catches glimps of that eternal beauty[1]

अर्थात सुदर चेहरे, सुदर आत्माएँ सुन्दर आकृति उत्तम प्राणी और उनके ऊचे कर्म ऐसी खिड़कियां हैं जिनके द्वारा इस ससार म उस अनन्त सौन्दय की झाँकी मिलती है।

राम म य तीनो ही गुण पूरी तरह विद्यमान हैं। इन तीनो गुणो को पाकर साधारण मानव भी असाधारण बन जाता है फिर राम तो साक्षात भगवान् ही ठहरे।

फुटकर कवि—रहीम

फुटकर कवियो म सर्वाधिक उल्लेखनीय नाम अब्दुरहीम खानखाना का है। इन्होंने भक्ति स आपूरित एस सुदर भाव व्यक्त किय हैं, राम के मर्यादावादी रूप का ऐसा यथार्थ वर्णन किया है कि पाठक का मन बलात उस ओर आकृष्ट हो जाता है। हाथी अपनी सूड को नीचे की ओर करके, उसस जमीन की गध सूघता हुआ चलता है। यह उसका स्वभाव है पर भक्त रहीम को ऐसा प्रतीत होता है मानो वह उस धूलि को सिर पर उठाकर रखना चाहता है जिस का स्पर्श पाकर अहल्या को पुन नारी रूप प्राप्त हुआ था—

> धूर धरत निज सीस पर कहु रहीम कहि काज।
> जहि रज मुनि पतनी तरी सो ढूढ़त गजराज॥

एक अन्य स्थान पर राम स प्रार्थना करत हुए कवि न कहा कि मुनि-पत्नी की पाषाणता वानरो का पशुत्व गुह का छोटापन सब कुछ मुझ म है, ह राम! तुम मेरा उद्धार क्यो नही करते?

> अहल्या पाषाण प्रकृतिपशुरासीत कपि चमू
> गुहो भू चाडालस्त्रितयमपि नीत निजपदम।
> अह चित्तनाश्म पशुरपि तवार्चादिकरणे
> क्रियाभिश्चाण्डाला रघुवर! न मामुद्धरसि किम॥[2]

राम के नाम की शक्ति म भी रहीम को पूरा विश्वास है। सच्चे हृदय स लिया गया राम का नाम भवसागर से पार उतरने का अमोघ साधन है। इसीलिए तो उन्होंने कहा है कि काम क्रोध मोह, लोभ मद और मत्सर स भरा हुआ आदमी यदि धोखे म भी राम का नाम ल ल तो उसे शुभ गति अवश्य प्राप्त हो जायगी।[3] राम की दान

---

१ भक्ति का विकास भूमिका भाग पृ० ६
२ रहिमन विलास श्लोक ३ पृ० ६६
३ वही पृ० २०७

शीलता की प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि माँगने पर सब लोग नाहीं कर देते हैं, विपत्ति में साथी भी साथ छोड़ देते हैं, लेकिन रघुनाथ तो माँगने से पहले ही दे देते हैं। वे एक बार जिसे स्वीकार कर लेते हैं उसका साथ कभी नहीं छोड़ते।[1]

जीवन का लक्ष्य

वैदिक युग में ईश्वर स्तुतिपरक शतश एवं सहस्रश मन्त्र मिलते हैं। जिस तरह हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन कवियों ने भक्ति प्रवण हृदय से भावों को मुखरित किया है उसी तरह वेद-मन्त्रों के द्रष्टाओं ने ऋचाओं में अपना हृदय उंडेल कर रख दिया है। पर इस साम्य के होते हुए भी स्तुति और भक्ति के लक्ष्य में दोनों में महान् अन्तर है। उस समय का ऋषि धन, बल, ऐश्वर्य की माँग करता था। उसकी कामना थी कि देवता उसके शत्रुओं को अपनी दाढ़ों में दबा लें। ब्राह्मण-युग में जीवन का लक्ष्य स्वर्ग बना— 'स्वर्गकामो यजेत'। बौद्ध काल में जीवन को दुःखमय मानकर इससे छुटकारा पाने के यत्नों पर बल दिया गया और निर्वाण जीवन का लक्ष्य बना। जहाँ तक मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य के लक्ष्य का प्रश्न है, वह इनसे एकदम पृथक् है और उसके अनुसार भक्ति का लक्ष्य स्वयं भक्ति ही है। इन कवियों को अर्थ, धर्म, काम के प्रति रुचि नहीं, निर्वाण की भी अभिलाषा नहीं, उनका स्पष्ट कथन है—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहहुँ निरबान।
जनम जनम रति राम-पद, यह बरदानु न आन॥[2]

—

तीरथ मुनि आश्रम सुरधामा। निरखि निमज्जहिं करहिं प्रनामा॥
मनहीं मन माँगहिं बरु एहू। सीय रामपद पदुम सनेहू॥[3]

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू।[4]

सरभंग ऋषि ने कठोर साधना की, योग, जप, तप और व्रत किये। भगवान् ने उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर जब उसे इच्छानुसार फल माँगने को कहा तो उसने अपने सभी फलों को भगवान को समर्पित कर केवल 'भगति में लीन रहने' का ही वर माँगा और सायुज्य मुक्ति को भी ठुकरा दिया—

जोग जाग जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥

---

१ रहिमन दोहावली, पृ० १५०
२ रा० च० मा०, अ० का०, दो० १६७०
३ वही, पृ० ५२३
४ वही, पृ० ४५६

अस कहि जाग अगिनि तनु जारा । राम कृपा बकुंठ सिधारा ॥
ता ते मुनि हरि लीन न भयऊ । प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ ॥[1]

काकभुशुंडि को भी जब इच्छानुसार वर माँगने का अवसर मिला तो उसने भी सब-कुछ छोड़कर भक्ति को ही माँगा—

अविरल भगति बिसुद्ध तव, स्रुति पुरान जो गाव ।
जहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रसाद कोउ पाव ॥
भगत कल्पतरु प्रनत हित कृपासिंधु सुखधाम ।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु, देहु दया करि राम ॥[2]

इन कवियों को यही स्थिति पसन्द है कि प्रभु के गुण समूहों का स्मरण करते हुए आँखों से नीर ढलता रहे । राम का सामीप्य मिल तो मग और तरु कुछ भी बना जा सकता है—

खेलिबे को मग तरु, किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं ।
या नाते नरकहु सुख पहो या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं ॥

कारण चाहे जो भी हो इन भक्तों को मुक्ति जरा भी पसन्द नहीं । सच्चे भक्त भक्ति के आगे मुक्ति को हेय समझते हैं—

अस बिचारि हरि भगत सयाने । मुक्ति निरादर भगति लुभाने ॥[3]

इन कवियों का एकमात्र लक्ष्य अपने आराध्य का भजन करना है । अपनी लगन में ये कवि यह भी भूल जाते हैं कि जिसका ये ध्यान कर रहे हैं वह साक्षात परब्रह्म है या भूपति है । अगर यह याद रह गया तो फिर तन्मयता कैसी ? तुलसी के निम्नलिखित दोहे में यही भाव है—

जो जगदीस तो अति भलो जो भूपति तो भाग ।
तुलसी चाहत जनम भर राम चरन अनुराग ॥[4]

जैसा हमने आरम्भ में कहा है यह भक्ति एकदम निष्काम है । इनका भजन तो केवल भजन के लिए ही है— तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाहु ।

इस धारा के प्रमुख देवी-देवता और उनका परिचय

शिव —यद्यपि इस भक्ति मार्ग के परमाराध्य देव राम हैं पर शिव भी आराध्य देव हैं और महत्त्व की दृष्टि से राम के बाद उन्हीं का स्थान है इस तथ्य के विषय में सम्भवतः दो मत नहीं हो सकते । शिव की स्तुति एवं आराधना में तुलसी के उद्गार

---

१ रा० च० मा० उ० का० दो० ६६७
२ वही उत्तरकांड प० ११११ १२
३ रा० च० मा०, पृ० ११६१ (गी० प्रे० स०)
४ दोहावली पर६१

सच्चे भावुक भक्त के उदगार है, उन्हे शव और वष्णव, दोनों मता के ऐक्य के लिए किये गये राजनीतिक प्रयत्न कहना तुलसीदास के साथ अन्याय करना"है। उनके काव्य म समन्वय की जो विराट चेष्टा है उसे पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए भी हम यह नही मानते कि शिव विषयक उनके उदगार किसी कुशल राजनीतिज्ञ के प्रयास मात्र हैं। उन्हाने शतश स्थाना पर शिव का जिस रूप मे उल्लेख किया है, वह हार्दिक भक्ति का ही परिचायक है।

रामचरित मानस के आरम्भ म उन्होन श्रद्धा और विश्वासरूपी भवानी एव शकर की स्तुति तो की ही है, साथ ही यह भी कहा है कि उसके विना सिद्ध व्यक्ति भी अन्त स्थित ईश्वर का दशन नही कर पाते—

भवानीशकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्या विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्त स्थमीश्वरम॥[१]

कुद और इन्दु के समान गौरवण उमापति बडे दयालु हैं। कलियुग मे सबके कल्याण के लिए उन्होंने ऐसे शावर मन्त्र समूहा की रचना की है कि जिनके अक्षर देखने म बेमेल हैं और जिनका अथ भी ठीक ठीक नही होता पर जिनका प्रभाव सच मुच अपार है। तुलसी को भी जो सुबुद्धि मिली है वह भी शभु की इस कृपा का ही फल है—

सभु प्रसाद सुमति हिय तुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी॥[२]

इनके परमाराध्य देव राम स्वय शिव लिंग की स्थापना और पूजा करते हैं। उनका कथन है कि ससार म उन्हे शिव के समान प्यारा दूसरा कोई नही। आगे वे स्पष्ट शब्दा मे कहते हैं कि जा व्यक्ति मेरी पूजा करता हो और शकर से द्रोह करता हो वह मुझे कभी नही पा सकता। कोई व्यक्ति अपने का मेरा दास समझता हो और शकर से द्राह करता हो तो वह मुझे कभी प्यारा नही हो सकता। इसी प्रकार कोई शकर को प्रिय समझता हा और मुझ से द्राह करता हो, तो वह भी नरक का ही भागी हागा—

सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ माहि न पावा॥
सकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ मति थोरी॥

सकर प्रिय मम द्राही सिव द्रोही मम दास।
त नर करहि कलप भरि घोर नरक महँ वास॥
और एक गुपुत मत, सबहि कहउँ कर जोरि।
सकर भजन बिना नर, भगति न पावइ मारि॥[३]

---

१ रा० च० मा०, बा० का०, दाहा २

२ वही, ४८

३ रा० च० मा०, बा० का०, दाहा ४५

यहाँ राम ने अपने में और शिव में अभेद स्थापित किया है और कहा है कि जो व्यक्ति रामेश्वर का दर्शन करेंगे वे शरीर छोड़ने के बाद मेरा लोक प्राप्त करेंगे तथा इस शिवलिंग पर जो गंगा-जल चढ़ायेंगे वे सायुज्य मुक्ति के अधिकारी होंगे।

अन्य स्थानों पर भी कवि ने शंकर के विषय में जो कुछ कहा है उसमें उनकी हार्दिक भक्ति छलकी पड़ रही है। ब्राह्मण के मुख से शिष्य के शाप निवारण के लिए जो स्तुति करायी गयी है वह मानो कवि की अपनी ही भावना है। यहाँ शंकर को निर्वाण रूप, विभु व्यापक निर्गुण निर्विकल्प निरीह निराकार ओंकार मूल वाणी और ज्ञान की सीमा से बाहर महाकाल गुणागार और संसार पयोधि का पार करने के लिए नौका कहा गया है। यह भी कहा गया है कि वे हिमाचल के समान गौरवण हैं करोड़ों कामदेवों से अधिक सुन्दर हैं, उनके सिर पर गंगा शोभित है, ललाट पर चन्द्रमा विराजमान है और गले में सर्पों की माला है। उनका मुख सदैव प्रसन्न रहता है उनका कंठ नीला है वे व्याघ्र का चर्म धारण किये हुए हैं और मुण्डों की माला पहने हुए हैं। वे सबका कल्याण करने वाले हैं रुद्ररूप हैं करोड़ों सूर्यों के समान उनका प्रकाश है और वे तीनों प्रकार के कष्टों को दूर करने वाले हैं।[1]

तुलसी का कथन है कि शिव दीन-दयालु हैं, भक्तों की विपत्ति को दूर करने वाले हैं और सब प्रकार से समर्थ हैं। जब सुर और असुर सभी कालकूट के ज्वर से जल जा रहे थे तब उन्होंने ही सबका उद्धार किया था। त्रिपुरासुर के त्रास से मुक्ति दिलाना भी उन्हीं का काम था। जिस अगम गति को पाने के लिए सुर मुनि नर लालायित रहते हैं उसी गति को वे अपनी नगरी (काशी) में मरनेवाले सामान्य-से-सामान्य प्राणी को भी निःसंकोच रूप से देते रहते हैं। वे सचमुच कल्पतरु के समान दाता हैं।[2] अगले पद में भी उनकी दानशीलता का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि शंकर के समान कोई दूसरा दानी त्रिलोक में नहीं है। उन्हें याचकों को देखकर उनकी मनोकामना को पूरा कर परम सन्तोष होता है। जिस गति को पाने के लिए साधक करोड़ों वर्षों तक तप करने के बाद भी विष्णु से मांगने में संकोच करते हैं उसी गति को (मुक्ति को) शिव अपनी नगरी में वास करनेवाले कीट पतंगों तक को आसानी से दे देते हैं।[3] इससे अगले पद में भी कवि ने बड़े ही सुन्दर ढंग से शिव की अपार दानशीलता की प्रशंसा की है। उसका कहना है कि शंकर की दानशीलता से स्वर्ग का सारा ही ढांचा बदल गया है। जिनके भाग्य में सुख का एक कण भी ब्रह्मा ने नहीं लिखा था उन्हें स्वर्ग देते देते ब्रह्माजी तंग आ गए हैं और वे भवानी से प्रार्थना करते हैं कि वे उस अधिकार को किसी अन्य को सौंप दें—

---

१ रा० च० मा० उत्तरकाण्ड, पद १०७

२ वि० प० पद ५

३ वही पद ४

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नही निशानी।
तिन रकन की नाक सँवारत, हौं आयो नकवानी॥
दुखी दीनता दुखियन के दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिय औरहि, भीख भली मैं जानी॥[1]

शिव औघड दानी हैं और कवि इनकी प्रशसा करते-करते थकता नहीं। अगले तीन पदो म कवि ने बार-बार इसी भाव का दुहराया है। इसके अलावा कवि ने शकर के अय रूपा पर भी प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि शिव मोह रूपी अधकार का नष्ट करनेवाले हैं। करोडो कामदेवो के समान सुदर हैं, वे शख, कुन्द, चद्रमा और कपूर के समान गौरवण हैं, उनका तेज मध्याह्न म प्रज्वलित करोडो सूर्यों के समान है, उनके हाथ म त्रिशूल, बाण, पिनाक नामक धनुष और खडग शोभित हैं। वे शत्रु समूह को इसी प्रकार भस्म कर देते हैं जिस प्रकार अग्नि बिना किसी प्रयास के समस्त वन को भस्मसात कर सकता है। वे बल पर सवारी करते हैं, बाघ और हाथी का चम धारण करते हैं सम्पूण ज्ञान के अधिष्ठाता हैं और सिद्धों, देवो और मुनियो से सेवित हैं। ताण्डव के समय उनके डमरू से डिमडिम की ध्वनि होती है, उनका रूप बाहर ता अशुभ दीख पडता है पर वे अदर से एकदम शुभ हैं। उनका स्थायी वास तो कलास है पर वे काशी मे रहते हैं। ब्रह्मा, इद्र आदि देवता अपने अपने पदों पर उन्ही की कृपा के कारण आसीन हैं। वे अजन्मा, निर्विकार और अव्यय हैं।[2]

कवि ने शिव के इस रूप का भी उल्लेख किया है जिसम उनके साथ भूत प्रेत आदि को दिखाया जाता है। वे भूतो और प्रेतों के स्वामी हैं। उनके सिर पर पवित्र गगा विराजमान है, द्वितीया का चद्रमा भी वही शोभित रहता है, उनके तीन नेत्र हैं। वे काम का दमन करनेवाले हैं अस्त्रा शस्त्रो से सुसज्जित होते हुए भी वे हृदय से करुणा के सागर हैं। कलियुग रूप सप का भक्षण करने मे वे गरुड के समान हैं।[3]

केशव की दृष्टि म भी शिव आराध्य देव हैं। उन्होंने शिव का जो वणन किया है वह एकदम देव रूप मे है, ठीक उसी रूप मे जिसम उनके उपासको द्वारा उन्हे देवाधिदेव माना गया है। उनके वक्ष स्थल पर वासुकि विराजमान है। जटाओं के बीच म गगा प्रवाहित हो रही है, सब प्रकार की सिद्धियों की देनेवाली पावतीजी विराजमान हैं—

ऊजरे उदार उर वासुकी विराजमान,
हार के समान आन उपमा न टोहिय।

---

१ वि० प० पद ५
२ वही, पद १०
३ वही पद ११

सोभित जटान बीच गंगा जू के जलबुन्द
कुन्द की कली सी मानो बगरानी मन मानिय।
नाग की सी रेखा उर चन्दन की चारु रज
अंजन सिंगारहू गरल रुचि राजिय।
सब सुख सिद्धि सिवा सोहैं गिरिजा जू के साथ,
जावक सा पावक लिलार सोभा साहिय॥

सेनापति भी शिव को आराध्य देवता मानते हैं। राम के साथ उन्होंने जिस अन्य देवता की स्तुति की है वे शिव हैं। शार्दूल का चाम पहनने वाले त्रिशूलधारी गौरी पति की स्तुति में उनका यह पद द्रष्टव्य है—

सोहति उतंग उत्तमंग ससि संग गंग
गौरि अरधंग, जो अनंग प्रतिकूल है।
देवन को मूल सेनापति अनुकूल कटि
चाम सारदूल को सदा कर त्रिसूल है।
कहा भटकत अटकत क्यों न तासों मन
जाते आठ सिद्धि नवनिद्धि रिद्धि तूल है।
लेत ही चढ़ाइबे को जाके एक बेलपात
देत अघाऊ हाथ चारिफल फूल है॥[1]

सीता—रामभक्तिशाखा में सीता साधारण मानवी नहीं देवी हैं। तुलसी ने उन्हें उद्भव स्थिति और संहारकारिणी आदि विशेषणों से विभूषित तो किया ही है उन्हें क्लेशहारिणी और सर्वश्रेयस्करी भी कहा है—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥[2]

कृपानिधान भगवान का रुख देख कर सृष्टि का सृजन पालन और संहार उन्हीं का काम है। राम जगदीश हैं और सीता उनकी माया है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥[3]

असली बात तो यह है कि सीता आदिशक्ति हैं और वे ही संसार को पैदा करती हैं इस बात का उल्लेख तुलसी ने अनेक स्थानों पर किया है। सीता अनुपम हैं अन्य कोई स्त्री उनकी समता नहीं कर सकती। वे ऐसी रूपवती और गुणवती हैं कि उनके अंशमात्र से अगणित लक्ष्मी उमा और सरस्वती उत्पन्न हो सकती हैं। उनका

---

१ कवित्तरत्नाकर ५।४५
२ रा० च० मा० अयो० काण्ड पृष्ठ ४६१
३ वही बा०का० श्लोक ५

सौंदर्य अद्भुत है। उनका मुख चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर है। चन्द्रमा का जन्म समुद्र में होता है, विष उसका भाई है वह सकलंक है, प्रतिदिन घटता-बढ़ता रहता है और राहु से ग्रसित है, कोक को शोक देने वाला है और कमल का विद्रोही है। सीता का मुख इन दोषों से रहित है। सरस्वती सुन्दर तो है पर वाचाल भी है। भवानी का अपना शरीर ही आधा है। रति के पति का शरीर जल गया वह इसी दुःख में क्षीण हुई जा रही है। इन देवियों की तुलना सीता से कैसे हो सकती है? रही लक्ष्मी की बात, वह भी सीता की तुलना में कहीं नहीं ठहरती। उसके साथ विष और और वारुणी भी पैदा हुए थे जन्म के संसर्ग का यह दोष कैसे मिटे? कवि के अनुसार सीता की उपमा के लिए तो नवीन सृष्टि ही करनी पड़ेगी। यदि छवि की सुधा का समुद्र हो सुन्दरतम कच्छप हो, शोभा रस्सी बने, शृंगार मन्दार पर्वत बने कामदेव अपने सुन्दर हाथों से मथन का काम करे, यदि इस प्रकार नवीन लक्ष्मी पैदा हो तो फिर भी कुछ कुछ संकोच के साथ उसकी तुलना सीता के साथ की जा सकती है।[1] चित्रकूट में भरत मिलाप के समय भी तुलसी ने सीता के देवी रूप की चर्चा की है। उनकी महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि भरतजी के साथ जब माताएं वन में गयी तब सीताजी ने अनेक रूप धारण कर इस प्रकार सेवा की कि सबको यही लगा कि सीता उनके ही पास थी।[2] उसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि भरतजी जब बोलने लगे तब बोलने से पूर्व उन्होंने राम और सीता का स्मरण किया।[3] यह भी कहा गया है कि सीताजी ने यह शरीर लीला के लिए ही धारण किया था। जो कुछ होने वाला है उसे वे पहले से ही जानती थीं। रावण द्वारा अपहृत होने से पूर्व उन्होंने अपने वास्तविक रूप को अग्नि में रख दिया था जिसे अब वे प्रकट कर रही थीं—

सीता प्रथम अनल महुँ राखी। प्रगट कीन्हि चह अन्तर साखी।।[4]

सीताजी का देवी रूप सभी पर प्रगट है। शिवजी का कथन है कि वे ब्रह्मा आदि से वंदित हैं और सदा अनिन्दित हैं—

उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदम्बा सततमनिंदिता।।[5]

'विनयपत्रिका' में भी तुलसी ने सीता का देवी रूप में ही चित्रित किया है। विस्तार भय से अधिक उदाहरण देना हम अभीष्ट नहीं।

केशव की दृष्टि में भी सीता मानवी नहीं, देवी हैं। स्वयंवर के अवसर पर

---

१ रामचरित मानस, अयो० कां०, पृष्ठ २५५
२ वही अयो० कां० पृ० ६११
३ वही, अयो कां० पृ० ६५५
४ वही लंकाकाण्ड, पृ० ९९३
५ रामचरितमानस, लं० कां० पृ० १०४६

बाण और रावण के वार्तालाप में बाण स्पष्ट शब्दों में शिव को गुरु और सीता को माता कहकर उनका देवी-रूप प्रकट करता है—

मेरे गुरु को धनुष यह सीता मेरी माय ।
दुहूँ भाँति असमंजस बाण चले सुख पाय ॥[1]

एक स्थान पर विष्णु को सीता-नाथ कहकर उन्होंने सीता और लक्ष्मी का अभिन्नत्व स्थापित किया है—

लावत सीतानाथ के भृगुमुनि दीन्ही लात ।
भृगु कुलपति की गति हरी, मनो सुमिरि वह बात ॥[2]

केशव के अनुसार भी रावण के हाथ वास्तविक सीता नहीं लगी, छाया ही लगी—

केशव अदृष्ट साथ जीव जाति जैसी लगी
लंकनाथ हाथ परी छाया जाया राम की ॥[3]

सीता की अग्नि-परीक्षा के समय अग्नि देवता प्रकट होकर सीता के देवी रूप का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं—

श्री रामचन्द्र यह संतत शुद्ध सीता
ब्रह्मादि देव सब गावत शुभ्र गीता ।
हूजै कृपालु गहिजै जनकात्मजा या,
योगीश ईश तुम हो यह योगमाया ॥[4]

सेनापति की दृष्टि में भी सीता साधारण मानवी नहीं, देवी हैं। उन्होंने जहाँ-जहाँ सीता के सौन्दर्य का वर्णन किया है वहाँ-वहाँ उसमें दिव्य रूप की झलक है। जिनके रूप के सामने देव-नारियाँ गँवार सी लगती हैं वह सीता साधारण मानवी कैसे हो सकती हैं? उन्होंने स्पष्ट रूप में कहा है कि जब रावण ने सीता का अपहरण किया तो उसके हाथ भगवती सीता की छाया ही लगी उनका वास्तविक रूप नहीं—

बीस भुजदंड दस सीस खंड खंड तब
गिद्धराज हू के अंग अंग घाव घाइ के ।
राघव की जाया ताकी कपट की काया
सोई छाया हरि लै गया गगन पथ धाइ के ॥[5]

---

१ रामचन्द्रिका प्रकाश ५, दोहा २८
२ वही प्रकाश ८ दोहा ५२
३ वही प्रकाश १२ दोहा २०
४ रामचन्द्रिका, प्रकाश २० दोहा १३
५ कवित्तरत्नाकर, तरंग ४ पद ३१

हनुमान—राम भक्ति शाखा मे हनुमान साधारण वानर के रूप मे गृहीत न होकर देव रूप म गृहीत हुए हैं। सभी राम भक्त कवियो ने उनकी स्तुति देव रूप मे ही की है। वेद, ब्राह्मण, उपनिषदो, सूत्रग्रन्थो, स्मृतिया म इसकी चर्चा कहीं नही। हाँ, पुराणो म इनका उल्लेख स्थान स्थान पर है। रामायण और पुराणो के बीच म इनकी देवरूप म प्रतिष्ठा हो चुकी है। कुछ के अनुसार य अनाय देवता हैं। ला० सीताराम ने लिखा है कि वप पुलिंग के लिए द्रविड शब्द आण है और यह शब्द कनड तमिल और मलयालम तीनों भाषाओ मे बोला जाता है। तेलुगु मे इसके बदले मग और पोटु का प्रयोग होता है। कपि (बन्दर) के लिए इन चारो भाषाओ म यह शब्द है (१) करगु और (२) मडी। इस प्रकार आण और मडी के मिलाने से वपाकपि के अथ का द्रविड शब्द आणमडि बन जाता है और वपाकपि उसका सस्कृतानुवाद है। आणमडि का सस्कृत रूप हुआ हनुमत। द्रविड शब्दो के सस्कृत रूप बनाने म बहुधा एक 'ह' पहले जोड दिया जाता है। इसके बहुत स उदाहरण हैं जसे इडुम्बी (तमिल) का हिडिम्बा, अथ है गर्वोक्ति।[1]

श्री पार्जिटर का कहना है कि वपाकपि एक शब्द न होकर दो शब्दो का समूह है—वपा+कपि, अर्थात नर-वानर। उनके अनुसार यह सभवत किसी द्रविड शब्द का अनुवाद है। रामायण मे वानरो का उल्लेख उस प्रदेश म हुआ है जो गोदावरी नदी से दक्षिण पश्चिम दिशा म है। यह प्रदेश कनड भाषा भाषी प्रदेश के दक्षिण म और तमिल भाषा भाषी प्रदेश के दक्षिण पश्चिम म है। स्वभावत हनुमान (हनुवाला) शब्द की खोज इन दोनो भाषाओ म ही हो सकती है।[2]

अन्य विद्वानो के अनुसार भी हनुमान अनाय देवता हैं। श्री आर० सी० मजुमदार के अनुसार हनुमान उत्पादन शक्ति के देवता हैं। ये वन्ध्या स्त्रिया को सतान देत हैं और भक्तो के माग मे आनवाली रुकावटो का दूर करत हैं। श्री मजुमदार श्री पार्जिटर के मत से सहमत है और कहत हैं कि आरम्भ म कुछ आर्यो द्वारा इस अनाय देवता के आय-परिवार म सम्मिलित किये जाने का विरोध किया गया, पर अन्तत आय देव परिवार म उन्हें स्थान मिल ही गया। उनके ही शब्दो म उनका मत इस प्रकार है—

He is a fertility deity, who gives children to barren women, and he is the helper at need and remover of obstacles It seems, on E F Parjiter's significant research into the name of Hanumant, warrents us in assuming, that there was a great Monkey-God, who obtained the worship of the Pre-Aryan peoples (namely Dravi

१ अयोध्या का इतिहास पृ० २१३

२ हिन्दी सगुणकाव्य की सास्कृतिक भूमिका, (अप्रकाशित शोध-ग्रन्थ)

dians) of India and whose name was in the Dravidian, speech just 'The Male Monkey' (in Tamil Anmant) The Aryan speakers came to know thss god and his name was at first translated into the Aryan's language as Vrisha kapi His worship was slowly entering by the backdoor among the Aryan speakers through contact with the Dravidians and this was resented by a certain element among the Aryan people But Vrisha kapi became admitted into the newly formed Aryan Non Aryan pantheon and his original Dravidian name 'An mant was then sanskritized into Hanumant'[1]

अर्थात यह उत्पादन शक्ति का देवता है जो वन्ध्या स्त्रियो को सन्तान देता है। आवश्यकता के समय यह सहायता करता है और विघ्नो को दूर करता है। पार्जिटर ने हनुमान के नाम के विषय म जो महत्त्वपूर्ण शोधकार्य किया है उसके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आर्यो स पूर्व क नागो म विशेषत द्रविड जाति म कोई वानर-देवता था और उसे पूजा का अधिकार मिल गया था। द्रविड भाषा म उसका नाम पुरुष वानर था और तमिल म मनुमन्त था। आर्य लोगो स जब इसका परिचय हुआ तो आर्य भाषा म इसका अनुवाद हुआ—वृषाकपि। द्रविडो से परिचय होने पर इसकी पूजा अप्रत्यक्ष ढग से आर्यो म आ रही थी, आर्यों के एक भाग ने इसका विरोध भी किया। पर आर्यों एव अनार्यों के मिश्रित देव-परिवार म इस प्रवेश मिल ही गया और इसका द्रविड नाम मनुमन्त संस्कृत म हनुमान हो गया।

जहाँ तक शिलालेखो म इनके उल्लेख का प्रश्न है, उत्तरापथ म इनका प्राचीनतम मन्दिर १० वी शताब्दी का है। उनकी इस प्रतिमा के नीचे हुए सवत ३१६ सन ६२२ ई०—का एक अग्रलेख भी है।[2]

पूज्य की पूजा करते-करते व्यक्ति स्वय किस तरह पूज्य बन जाता है इसका सर्वोत्तम उदाहरण हनुमान हैं। आरम्भ म वे साधारण मानव थे, वीर थे और सुग्रीव के मन्त्री थे। राम के साथ सुग्रीव की सन्धि कराने म उन्ही का प्रमुख हाथ था। बाद म सीता की खोज मे तथा लका के युद्ध म उन्होने राम की सहायता की। उन्हें राम का पूर्ण विश्वास मिला और फलस्वरूप सान्निध्य भी। वे राम के भक्त बन गये और उनके इन गुणों से रीझकर श्रद्धालु जनता ने उन्हें देव कोटि म ला बठाया। वे सेवक से सेव्य बन गये।

एक बार उनके विषय म पूज्य बुद्धि हो जाने पर उनके जन्म और जीवन के सम्बन्ध म अनेक दिव्य कथाएँ जोड दी गयी। सीता की खोज के समय सब वानर अपने

---

१ वदिक एज, पृ० १६४

२ हि० स० का० सा० मू० (अप्रकाशित शोध ग्रन्थ)

पराक्रम का वणन कर रहे थे पर हनुमान चुपचाप बठे थे। उन्हे इस तरह बठा देख कर जाम्बवान ने उनके बल का वणन किया। उन्होने बताया कि हनुमान की मा पहले जन्म मे अप्सरा थी, उनका नाम पुंजिकस्थला था, ऋषिशापवश उन्हें वानर की योनि मिली। वर्षाऋतु म पहाड पर घूमते समय पवन देवता के ससग से उनका जन्म हुआ,[1] हनुमान नाम पडने का कारण बताते हुए उन्होने कहा कि जब वे बालक ही थे तो उदित होत हुए सूय का फल समझकर वे उसे खाने को दौडे। इन्द्र ने उन पर वज्र का प्रहार किया जिससे उनकी बाइ (हनु) ठोडी टूट गई और उनका नाम इसी कारण हनुमान पड गया।[2] इस सारे वणन म हनुमान देवरूप म ही दिखाये गये है। यही कथा कुछ परिवर्तित रूप म अन्यत्र आयी है। कहा गया है कि केशरी की दो स्त्रियाँ थी, अजना और अद्रिका। दोनो पहल अप्सराएँ थी। शापवश अजना का मुह वानर का सा हो गया और अद्रिका का बिल्ली का। दोनो अजन पवत पर रहती थी। अगस्त ऋषि के वरदान से पवनदेव के ससग से अजना के यहा हनुमान का जन्म हुआ और निऋति के सयोग से अद्रिका की कोख से अद्रि नामक पिशाच राजपुत्र का जन्म हुआ। शाप निवृत्ति के पश्चात हनुमानजी ने जहाँ अजना को स्नान कराया तो वह मार्जार हनुमत और वषाकपि नामो से प्रसिद्ध हुआ।[3]

रामायण के पश्चात महाभारत दूसरा प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य है। ईसवी की दूसरी या तीसरी सदी तक आते आते महाभारत का वह रूप प्राप्त हो गया था जो आज हम उपलब्ध होता है। इसम भी हनुमान देव-कोटि म गिने गये हैं। वहाँ वणन है कि द्रौपदी के आग्रह पर सुगन्धित पुष्प लाने के लिए जब भीम कदलीवन म गये तो हनुमान स्वग का द्वार रोककर माग मे लेट गये। उन्होने अपने शरीर को बडा कर लिया था और उनकी पूछ के शब्द से वज्र की गडगडाहट के समान शब्द होता था। पूछ के फटकारने के शब्द से वह महान पवत हिल उठा, उसके शिखर झूमत से जान पडे और वह सब ओर से टूट टूटकर बिखरने लगा।[4] आगे बढने पर भीम को हनुमान के दशन हुए। विद्युत् के समान चकाचौंध पदा करन क कारण उनकी ओर देखना अत्यन्त कठिन हो रहा था। उनकी अग-कान्ति गिरती हुइ बिजली के समान पिंगल वण की थी। वे विद्युत पात के समान चचल प्रतीत होत थे। उनके कन्धे चौडे और पुष्ट थे। उन्होने बाँह के मूल भाग को तकिया बनाकर उसी पर अपनी मोटी और छोटी ग्रीवा को रख छोडा था। उनकी लम्बी पूछ का अग्रभाग कुछ मुडा हुआ था तथा वह पूछ ऊपर की ओर उठकर फहराती हुई ध्वजा क समान सुशोभित

---

१ वा० रा०, कि० का ६६ न०

२ वही ,, ,

३ ब्रह्मपुराण, अ० ८४

४ महाभारत वनपव (तीर्थयात्रा पव), खण्ड ४६, श्लोक ७० ७१

हो रही थी। उनके होठ छोटे थे। जीभ और मुख का रंग तांबे के समान था। कान भी लाल रंग के थे और भौंह चंचल हो रही थी।[1] यह सब वर्णन उनके अलौकिक और देवरूप का ही है। उनके देवरूप में कोई सन्देह न रह जाय मानो इसीलिए हनुमान के मुंह से कहलवाया है कि हे भीम! तुम यहाँ कैसे आ गये? मानव तो इस स्थान तक पहुँच ही नहीं पाते।

भीम प्रयत्न करने पर भी उनकी पूंछ नहीं हिला सके। उनकी भौंहें तन गयी। आंखें फटी सी रह गयी और सारे अंग पसीने से तर हो गये। भीम के अनुरोध पर उन्होंने अपना रूप प्रगट किया, चारों युगों के धर्म का वर्णन किया और अपने विशाल रूप के दर्शन दिये।[2] अन्त में भीम पर प्रसन्न होकर उन्होंने वर दिया कि हे वीर! जब तुम युद्ध में गर्जना करोगे तो मैं उसमें घुसकर गर्जना को बढ़ा दूंगा और अर्जुन के रथ की ध्वजा पर बैठ कर शत्रुओं से उसकी रक्षा करूँगा।[3] स्पष्ट है कि इस समय तक उनका देवत्व का रूप जन-मानस में प्रचलित हो चुका था।

हनुमन्नाटक (रचनाकाल १००० ई० के आस-पास) में हनुमान को स्पष्ट रूप से रुद्र का अवतार कहा गया है। सीता का पता लगाने के लिए जब वे लंका की ओर चले तो आकाश में बड़े केतु के समान पूंछ उठी हुई थी, शीघ्रगति से कूदते हुए वे कुलांचों से बादलों को चीर रहे थे, जंघाओं के बल से जलनिधि का उछाल-से रहे थे और उनका रंग सिन्दूर के समान रक्त था।[4] स्पष्ट है कि यह वर्णन उनके अति मानवीय रूप को प्रकट करता है।

योगी सम्प्रदायाविष्कृत मत्स्येन्द्रनाथ-सम्बन्धी कथाओं में लिखा है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने शिव को प्रसन्न कर महासिद्ध का रूप प्राप्त किया और बाद में सिद्धि के बल से हनुमान, वीर वैताल, वीरभद्र, भद्रकाली और चामुण्डा को पराजित किया।[5] यहाँ उनके साथ जिनका उल्लेख है वे देव तथा देवी हैं और हनुमान भी स्वतः इसी कोटि में आ जाते हैं। एक दूसरी कथा के अनुसार त्रियाराज्य (सिंहल देश) की रानी ने अपने रुग्ण और क्षीण पति से असंतुष्ट होकर अन्य योग्य पुरुष की कामना की और उसकी प्राप्ति के लिए हनुमान की कृपा प्राप्त की। हनुमान जी स्वयं तो बन्धन में नहीं बँधे पर सन्तानोत्पत्ति के लिए उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ को भेज दिया। आचार्य हजारीप्रसाद

---

१ महाभारत वनपर्व (तीर्थयात्रा पर्व) खण्ड ४६ श्लोक ७७-८०
२ वही वनपर्व अध्याय ६० (तीर्थयात्रा पर्व)
३ वही अध्याय ५१ (वही)
४ हनुमन्नाटक, अंक ५ श्लोक ३६
५ वही अंक ६२ श्लोक ४
६ नाथसम्प्रदाय पृ० ४६

द्विवेदी ने मत्स्येन्द्र का काल नवम शताब्दी के आस-पास माना है। स्पष्ट है कि उस समय तक हनुमान देव रूप प्राप्त कर चुके थे।

राम भक्ति शाखा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव प्रसिद्ध कवि तुलसीदास ने पुराणो की इन परम्पराओ को मान्यता दी है, इसके अलावा इन्ह अजनी कुमार, केसरीनन्दन और पवनतनय के रूप म भी गहीत किया गया है।[1] इसके साथ साथ उन्होंने उन्हें महानाटक का कवि भी बताया है।[2] वास्तविक बात तो यह है कि तुलसीदास उनकी स्तुति करते-करते थकते नही। बाहुओं मे पीडा हो जाने पर उन्होने हनुमान बाहुक की रचना की थी ऐसी साहित्यिक किवदन्ती प्राचीन काल से चली आ रही है। इस काव्य-ग्रन्थ म ४४ पदो म उनकी स्तुति की गयी है। सुन्दर से सुन्दर विशेषणा से उन्ह विभूषित करने के बाद भी कवि को तृप्ति नही होती। उनके अनुसार वे अजनी के गभरूपी समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा हैं, लोक सतापहारी है शरणभयहरण हैं राहु, रवि और शक्र के पवि के गव को दूर करने वाले हैं, रुद्र के अवतार हैं, ससार के रक्षक हैं, समर-तलिक-यन्त्र मे राक्षसो का निपीडन करनेवाले, भूमि, पाताल, जल, और गगन म विचरण करनेवाले हैं, मोह, मद, क्रोध, कामादि से सकुल ससार निशि म किरणमाला के समान हैं भुवनत्रयकभूषण हैं सिद्ध, सुरवन्द और योगी द्रो से सेवित हैं।[3] उनकी वीरता की भूरि भूरि प्रशसा करते हुए कहा गया है कि उनके शौय को दखकर विष्णु महश और चडिका मन ही मन प्रसन्न होते हैं।[4] राम चरित मानस मे भी स्थान स्थान पर उनकी स्तुति है।

केशव के यहाँ भी हनुमान साधारण मानव के रूप म नही, देव के रूप म ही गहीत हुए हैं। उन्होने हनुमान के समुद्र को लाघने, सीता का पता लगाने, रावण की वाटिका को उजाडने उसके रक्षका का मारने, रावण का अहकार नष्ट करने, लका को जलाने अपनी छाती पर शक्ति की चोट सहकर विभीषण को बचाने, कालनमि राक्षस को मारकर पवत समेत औषधि लाने का जिस ढग से वणन किया है, वह साधारण मानव का वणन नही। कवि ने उन्हे 'भक्तन को सिरताज' कहकर भी पुकारा है।[5] साथ ही उनके अनुसार सीता की प्राप्ति शत्रु दलन और जयसिद्धि का टीका हनुमान ही को मिला है।[6]

---

१ विनयपत्रिका, पद ३३ ३५
२ वही, पद २६
३ वही पद २६
४ वही पद २५ ३०
५ रामचन्द्रिका प्रकाश २१, पद ३६
६ वही, प्रकाश २१, पद ३८

राम का व्यक्तित्व ऐतिहासिक रूप

किसी व्यक्ति का अतिप्राचीन सिद्ध करने के लिए उसके और उससे सम्बन्धित व्यक्तियों तथा स्थानों के नामों को वेदों में ढूंढ निकालने की प्रथा यहाँ नवीन नहीं। कितने ही उत्साही राम भक्तों ने रामचरित से संबद्ध सभी प्रधान पात्रों राम, दशरथ जनक रावण सरयू गंगा-यमुना आदि स्थानों के नाम वैदिक साहित्य में ढूंढ निकाले हैं। इतना ही नहीं राम के पूर्वजों इक्ष्वाकु सुद्युम्न सुनाम यौवनाश्व सगर और उनके पुत्रों तक का अस्तित्व वेदों में ढूंढ निकाला गया है। फिर भी उनके इस प्रयत्न की किसी ने गम्भीरतापूर्वक सराहना नहीं की है। मक्डानल और जकाबी के अनुसार वहाँ राम का अर्थ इन्द्र है और सीता का अर्थ लांगल पद्धति हो गई या कूड़ है दाशरथि राम से इनका कोई संबंध नहीं।[1] अन्य विद्वान् भी जिन्होंने इस विषय में अनुसन्धान कार्य किया है वेदों में राम कथा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। फादर कामिल बुल्के का निश्चित मत है कि वैदिक काल में आधुनिक रामकथा के अस्तित्व को ढूंढना व्यर्थ का ही प्रयास है। केवल कुछ नामों के सादृश्य के आधार पर उसके अस्तित्व को स्वीकार करना किसी भी तरह तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। उनके ही शब्दों में उनका मत इस प्रकार है—

इस तरह देखा जा सकता है कि वैदिक रचनाओं में रामायण के एकाध पात्रों के नाम अवश्य मिलते हैं लेकिन न तो इनके पारस्परिक सम्बन्ध की सूचना ही दी गयी है और न इनके विषय में किसी तरह रामायण की कथावस्तु का किंचित भी निर्देश किया गया है। जनक और सीता का बार बार उल्लेख होने पर भी दोनों का पिता-पुत्री सम्बन्ध कहीं भी निर्दिष्ट नहीं हुआ है।[2]

इस विषय पर कुछ और विचार करने के पश्चात उन्होंने इसी मत को फिर इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है— अन्त वैदिक काल में रामायण की रचना हुई थी अथवा राम-कथा सम्बन्धी गाथाएँ प्रसिद्ध हो चुकी थीं, इसकी समस्त विस्तृत वैदिक साहित्य में कोई भी सूचना नहीं दी जाती।[3]

राम का सर्वप्रथम अस्तित्व हम वाल्मीकि-कृत रामायण में मिलता है। इस रामायण की रचना का आधार क्या है इस विषय में कई मत हो सकते हैं। अधिक ग्राह्य मत यह है कि राम-कथा सम्बन्धी जो आख्यान लोक-जीवन में प्रचलित थे उन्हें लेकर रामायण की रचना हुई। इस विषय में फादर बुल्के ने अपने मत को इस प्रकार व्यक्त किया है— इस सामग्री की अल्पता का ध्यान रखकर यह नि संकोच कहा जा

१ रामभक्ति में रसिक भावना का विकास पृ० ३४ ३५
२ राम-कथा पृ० २८
३ वही पृ० २६

सकता है कि समस्त रामायण का आधार पाली गाथाओ मे ढूढना व्यर्थ है। रामायण के राम-कथा सबधी आख्यान-काव्य की थोडी सी सामग्री पाली गाथाओ म आ गयी है। इसका अर्थ यह है कि जिस समय पाली त्रिपिटक बन रहा था (चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व), उस समय रामकथा को लेकर पर्याप्त मात्रा म आख्यान-काव्य की रचना होचुकी थी।"[1] रामायण म मानवरूप का वर्णन है ईश्वर रूप का नही। जिन स्थलो पर अतिमानवीय रूप का वर्णन है वे प्रक्षिप्त हैं, ऐसा अधिकाश विद्वानो का मत है।

महाभारत मे अरण्य, द्रोण और शान्तिपर्वों मे रामायण के कथाश मिलते हैं। रामोपाख्यान म पूरी रामकथा मिलती है। निश्चित है कि यह रामकथा स ली गयी है। अष्टाध्यायी मे कोसल, कैकेयी तथा सरयू के नाम हैं पर राम-कथा स इनका कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र म एक स्थान पर रावण के विनाश का कारण उसकी इन्द्रिय-लोलुपता बताया गया है।[2] स्पष्ट है कि लेखक राम कथा से परिचित है। अर्थशास्त्र का निर्माण काल ४०० ई० पूर्व है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस समय तक राम की कथा प्रचलित हो चुकी थी। शिला-लेखो म राम के नाम का सर्वप्रथम उल्लेख नासिक के गुप्त शिलालेख म मिलता है। इसमे राम के नाम का उल्लेख दो बार हुआ है। पहला सन्दिग्ध है। दूसरे का उल्लेख नहुष, सागर, अम्बरीष आदि रघुवशी पूर्वजो के साथ होने स निश्चित रूप से दाशरथि राम का सूचक है। पहले मे भी राम का विशेषण धनुर्धारी है। अवतार भावना से पूर्व दाशरथि राम ही धनुर्धारी रूप म प्रसिद्ध रहे है।

शिलालेखो म राम के उतने उल्लेख नही मिलते हैं जितने कृष्ण सम्बन्धी और जो उल्लेख मिलते हैं वे भी बहुत प्राचीन नही। श्री विंटरनित्स ने सस्कृत-साहित्य के इतिहास म इस लक्ष्य की ओर सकेत किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण के साम्प्रदायिक विकास का ज्ञान पाणिनि का है शिलालेखो म जिस प्रकार उसका उल्लेख है उस प्रकार राम के ऐतिहासिक विकास का परिचायक कोई उल्लेख कही नही मिलता। राम की ऐतिहासिकता के द्योतक जो दो ग्रथ वाल्मीकि रामायण और 'महाभारत' रह जाते हैं उनका आधुनिक रूप उपदेशात्मक होने के कारण अनुमानित अधिक कहा जा सकता है। वाल्मीकिरामायण और महाभारत म आये रामोपाख्यान जनश्रुतिपरक कहे जाते हैं।[3] हाँ, साहित्य के माध्यम से राम जन जीवन म व्याप्त हो चुके थे। कालिदास ने तो 'रघुवश' लिखकर पूरे सूर्यवश का वर्णन किया है और उनसे पूर्व भास कवि भी राम को अपनी रचना का आधार बना चुके थे। जो राम जन-जीवन के अभिन्न अग बन चुके हैं सदियो से जो कोटिश मानवो के लिए आराध्य रहे हैं, वे अनैतिहासिक हो, ऐसा नही लगता।

---

१ राम-कथा, पृ० ६८

२ कौटिलीय अर्थशास्त्र १।५।३

३ हि० इडि० लि०, पृ० ५०८ ६

अध्यात्म पक्ष

एसे भी व्यक्ति हैं जो राम कथा को एतिहासिक न मानकर उसे अध्यात्म रूप में ग्रहण करते हैं। १४वीं शताब्दी में वेदान्तदेशिक नाम के एक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य हुए हैं। उन्होंने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'जानकी जीव है हनुमान गुरु हैं लका शरीर है जिसमें जानकी रूपी जीव बन्द रहता है। लका के राक्षस दर्प से प्रचड इन इन्द्रियो की प्रवृत्तियाँ और मन हैं जो लका रूपी शरीर में रहते हैं और जानकी रूपी जीव को घेरे रहते हैं। लका के चारों ओर का समुद्र देह को घेर रहने वाला भवसिन्धु है। राम परमात्मा हैं। हनुमान रूपी गुरु जब जानकी रूपी जीव का परमात्मा राम का सदेशा देता है तब जीव के मन का भार हल्का हो जाता है। उसकी भव पीडा कम हो जाती है और गुरु की बतायी साधना के द्वारा अपने हृदय पर भगवान की मुद्रा लगाकर वह उसे प्राप्त कर लेता है।'[1]

महात्मा गाधी अपने स्वप्न के राज्य को रामराज्य कहा करते थे। उनकी प्रार्थना में होने वाली रामधुन से सभी परिचित हैं, पर वे भी राम के ऐतिहासिक पक्ष को स्वीकार नहीं करते। उनके लिए राम की कथा रूपक भर है। उनके ही शब्दों में उनका मत इस प्रकार है— और रामचन्द्र ? कौन सिद्ध कर सकता है कि रामचन्द्र ने लका में खून की नदी बहायी थी ? दस सिरवाला रावण कब जन्मा ? बन्दरों की फौज किसने देखी ? रामायण धर्म ग्रंथ है वह रूपक है। करोडों लोग जिस राम को पूजा करते हैं वह राम घट घट-व्यापी है। रावण भी हमारे शरीर में रहने वाले दस सिर वाले विकराल विकारों का प्रतीक है। अगर किसी एतिहासिक राम ने एतिहासिक रावण से युद्ध भी किया हो तो उससे हम सीखने को बहुत नहीं मिलता। क्या इस प्राचीन राम रावण को खोजने की जरूरत है ? आज तो व दर दर पडे हैं, सनातन राम ब्रह्म स्वरूप हैं सत्य अहिंसा की मूर्ति हैं।"[2]

रूपक

डाक्टर वेबर भी राम-कथा को रूपक भर मानते हैं एतिहासिक तथ्य के रूप में उसे स्वीकार नहीं करते। अन्तर केवल इतना है कि वे रूपक मान कर भी उसकी व्याख्या आध्यात्मिक ढग से नहीं करते। उनके अनुसार राम-कथा आर्य-सभ्यता के विकास की कथा है। उनके मत का जो साराश डा० फादर कामिल बुल्के ने दिया है, हम यहा उसे ही उद्धृत किए देते हैं—

फिर भी डा० वेबर के अनुसार रामायण का समस्त काव्य एक रूपक मात्र

---

१ रामभक्ति शाखा पृ० ४०

२ विश्व धर्म दर्शन पृष्ठ ८३

है जिसके द्वारा आय सभ्यता और कृषि का प्रचार दिखलाया जाता है। प्रधान पात्र सीता जिसका हरण और पुन प्राप्ति काव्य की कथावस्तु है, काई ऐतिहासिक व्यक्ति न होकर खेत की सीता (लागल पद्धति) का मानवीकरण मात्र है और आर्य कृषि का प्रतीक माना जाना चाहिए। वदिक सीता' कृषि की अधिष्ठात्री देवी और रामायण की सीता अभिन्न है। रामायण मे सीता के जन्म और तिरोधान सम्बन्धी वत्तान्त इसकी ओर निर्देश करत हैं। उनकी बहिन उर्मिला के नाम का अथ 'लहराता हुआ' समझना चाहिए। भवभूति के उत्तररामचरित' म भी उनके पिता जनक का एक विशेषण सीरध्वज मिलता है जो कृषि से सम्बन्ध रखता है। (डा० वेल्वलकर उसके पुत्र का भी उल्लेख करत है। कुश एक घास का नाम है और लव लुनने से जाता है)। आदिवासियो क आक्रमणो स इस सीता, आय कृषि के प्रतीक, की रक्षा राम पर निभर है। डा० वेबर के अनुसार राम (दाशरथि) और बलराम (हलभृत) का सम्बन्ध स्वयसिद्ध है। प्रारम्भ मे वे एक थे, बाद के विकास म वे दो भिन्न भिन्न पात्रो के रूप मे प्रसिद्ध हा गए। राम का वनवास हेमन्त ऋतु का प्रतीक है जब प्रकृति और विशेषकर कृषि का काय स्थगित होता है। इसके अतिरिक्त महाभारत म जहाँ राम राज्य का वणन है, वहा इस बात का विशेष उल्लेख मिलता है कि कृषि की असाधारण उन्नति हुई थी। वास्तव म महाभारत के द्रोणपव और शान्तिपव म रामराज्य का वणन किया जाता है। इस वणन के अनक श्लाक रामायण म भी मिलत हैं। केवल शान्तिपव म कृषि का उल्लेख हुआ है—

> कालावर्षी च पजन्य सस्यानि समपादयत।
> नित्य सुभिक्षमेवासीद्राम राज्य प्रशासति ॥५३॥
> नित्य पुष्पफलाश्चव पादपा निरुपद्रवा।
> सर्वा द्रोणदुघा गावा रामे राज्य प्रशासति ॥५८॥

पजन्य यथासमय जल वरसा कर शस्य उत्पन्न करता था। इससे राम के राज्य शासन के समय किसी भाति का दुर्भिक्ष नही पडता था वक्ष सदा फलो फूलो से युक्त रहते थे, गौए बडे परिमाण म दूध देती थी।

विष्णु और राम

आज विष्णु और राम की एकता सवमान्य है। जो विष्णु हैं व ही राम हैं और जो राम हैं वे ही विष्णु हैं। दाना की इस एकता की खाज के लिए जब हम पीछे की ओर मुडते हैं तो हमारी दृष्टि वदिक साहित्य और वाल्मीकिरामायण की ओर जाती है। अभी पीछे हम कह आये हैं कि वदिक साहित्य म राम-कथा की कहीं चर्चा नहीं। जब वहाँ राम कथा का ही अस्तित्व नही तब राम और विष्णु के ऐक्य के प्रमाण ढूढना व्यथ ही है। रही बात वाल्मीकि कृत रामायण की उसमे एस अनेक स्थल हैं जिनम राम को विष्णु का अवतार कहा गया है। वहाँ इस बात का उल्लेख

है कि रावण के अत्याचार से तंग आकर सब देवता ब्रह्मा के साथ विष्णु के पास गये और उनसे नारकहित के लिए दशरथ के घर पुत्र रूप में जन्म लेने की प्रार्थना की। विष्णु ने उन्हें आश्वासन दिया और तदनुसार कौशल्या के गर्भ से राम रूप में अवतरित हुए।[1] आगे चलकर राम रूप में अवतरित होने पर उनके द्वारा अहल्या के उद्धार का उल्लेख है।[2] पर इस उल्लेख के बाद भी इन स्थलों की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह बना ही रहता है। बहुत से विद्वान इन स्थलों को प्रक्षिप्त मानते हैं। भास के समय तक राम और विष्णु की अभिन्नता मान्य हो चुकी थी। इसलिए उन्होंने राम को विष्णु और सीता को लक्ष्मी का अवतार मानते हुए लिखा है—

इमां भगवतीं लक्ष्मीं जानीहि जनकात्मजाम।
सा भवन्तमनुप्राप्ता मानुषीं तनुमास्थिता॥

कालिदास (रचनाकाल ३ य शती) को भी विष्णु और राम की अभिन्नता मान्य थी। देवताओं से जब रावण के अत्याचार न सहे गए तो वे विष्णु के पास गये। शेष नाग पर आसीन उन भगवान विष्णु ने देवताओं की स्तुति से प्रसन्न होकर उन्हें अभय दिया और कहा कि मैं दशरथ के यहाँ पुत्र-रूप में जन्म लेकर रावण के सिरों को रण भूमि में बलि के योग्य बना दूंगा।[3] राम के विवाह के प्रसंग में परशुराम अपने धनुष पर डोरी चढ़ा दिये जाने पर उन्हें विष्णु कहकर उनकी स्तुति करते हैं। वे कहते हैं कि आपके वैष्णव रूप को देखने की इच्छा से ही मैंने जानबूझ कर क्रोध किया है।[4] आगे कहा गया है कि राम ने जनकल्याण के लिए रावण राक्षस को मारने की प्रतिज्ञा की क्योंकि विष्णु का राम रूप में जन्म धर्मरक्षा के लिए ही हुआ है।[5] एक अन्य स्थान पर कालिदास ने लव को विष्णु का पुत्र कहा है।[6] माघ कवि ने भी विष्णु राम और कृष्ण को एक ही माना है। नारदमुनि कृष्ण से बातें करते हुए कहते हैं कि नृसिंह रूप धारण करके आपने जिस हिरण्यकशिपु का वध किया वही बाद में रावण बना और वही अब शिशुपाल रूप में उत्पन्न हुआ है।[7]

श्रीमद्भागवत भक्ति साहित्य का सर्वप्रमुख पुराण है और वैष्णवों के लिए उसका महत्त्व वेदों के महत्त्व से किसी प्रकार कम नहीं। इस पुराण में कहा गया है कि भगवान के चौबीस अवतारों में से अठारहवाँ अवतार राम के रूप में है।[8] इसी

१ वाल्मीकिरामायण बा० का० १६
२ वही उत्तरकाण्ड ०
३ रघुवंश १० ४५
४ वही ११ ८५
५ वही १५ ८
६ वही १६ ८२
७ शिशुपालवध सर्ग १ श्लोक ४२ ६६
८ भागवत स्कंध १ अ० ३

अवसर पर पुराण में राम के जीवन की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं का पर्याप्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। एक अन्य पुराण में भी राम को विष्णु का अवतार कहा गया है और उनकी पूरी वंशावली भी दी गयी है। वहाँ कहा गया है कि अज के पुत्र दशरथ हुए और दशरथ के पुत्र के रूप में साक्षात् विष्णु ने जन्म लिया।[1] राम के जीवन की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख करने के पश्चात् लिखा है कि वे फिर अपने भ्राताओं के सहित स्वर्ग लोक में चले गए। इसी पुराण में एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि हिरण्यकशिपु को मारने के लिए भगवान् विष्णु ने नृसिंहावतार में प्रह्लाद को दर्शन दिये थे। वही हिरण्यकशिपु भगवान् के स्वरूप का ध्यान प्राप्त न कर सकने के कारण अगले जन्म में रावण बना और उसके विनाश के लिए भगवान् विष्णु राम के रूप में अवतरित हुए।[2]

अध्यात्म रामायण में राम और विष्णु की एकता का प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में किया है। वहाँ कहा गया है कि जब द्विजों ने यह जान लिया कि राम विष्णु के ही रूप हैं तो उनके हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ छिन्न भिन्न हो गयीं और वे राम का ही चिंतन करने लगे।[3] चित्रकूट में भरत को समझाते समय वशिष्ठ ने कहा है कि राम साक्षात् विष्णु ही हैं और ब्रह्मा की प्रार्थना तथा अनुरोध पर रावण के वध के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं।[4] इसी ग्रन्थ में पृष्ठ ३१७ १८ पर ब्रह्मा द्वारा, पृष्ठ ३१६ २० पर इन्द्र द्वारा और पृष्ठ ३२१ पर शंकर द्वारा जो राम की स्तुति की गयी है वह उन्हें विष्णु का अवतार समझकर ही की गयी है। राम जब जन्म लेते हैं तो उनके सब लक्षण विष्णु के लक्षण हैं। वहाँ कौशल्या के मुख से कहलाया गया है कि शंख, चक्र, गदाधारी अच्युत, अनन्त, पूर्ण पुरुषोत्तम को नमस्कार हो, तुम मन, वाणी आदि इन्द्रियों से अगोचर हो। सत्त्व, रज और तम से युक्त होकर सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार करते हो।[5]

जहाँ तक हिन्दी के भक्तिकालीन साहित्य का प्रश्न है, उसमें तो स्थान स्थान पर राम और विष्णु को एक माना गया है। स्वामी रामानन्द ने भगवान विष्णु के विविध रूपों में से राम को छाँट लिया, राम-नाम की पूजा का विधान किया और गोस्वामी तुलसीदास ने राम नाम को घर घर तक पहुँचा दिया। रामचरितमानस में शिव पार्वती को समझाते हुए कहते हैं कि मुनि लोग नेति नेति कहकर जिसका वर्णन करते हैं, वेद पुराण जिसका यश गाते हैं उन्हीं सर्वव्यापक विश्वपति ब्रह्मा ने राम के

---

१ विष्णुपुराण अंश ४ अ० ४
२ वही, अ० १५
३ अध्यात्मरामायण अयो० का०, पृ० ८३
४ वही अयो० का०, पृ० १११
५ वही बा० का०, ३।२० २७

रूप म अवतार लिया है। इसी प्रसग म पार्वती द्वारा राम क त्रिविध जन्मो की बात पूछी जान पर शिव कहत हैं कि जय विजय नाम क भगवान् विष्णु क दो द्वारपाल सनकादि क शापवश हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष बन। एक का विनाश उन्होंन वराह बनकर किया और दूसरे का नृसिंह रूप धारण कर। वह हिरण्यकशिपु फिर जालधर बना और बाद म रावण जिसक उद्धार क लिए विष्णु को राम बनना पडा। राम नाम क प्रभाव का वणन करत हुए कहा गया है कि नाम क कारण ही प्रह्लाद भक्त श्रेष्ठ बने। ध्रुव न नाम ही स भगवान को वश म कर लिया। हनुमान नाम स ही इतने ऊंच उठ। अजामिल गज गणिका सभी नाम क प्रभाव स मुक्त हो गय। पुराणो म इन सब का उद्धार विष्णु द्वारा दिखलाया गया है। यहा विष्णु और राम म अभिन्नता मानकर ही रामनाम द्वारा इनकी सद्गति का वणन किया गया है। नारद क मांगन पर जब विष्णु अपना रूप न दकर बन्दर का रूप दत हैं तो नारद उन्हें फटकारत हुए कहत हैं कि तुम तो सदा क छलिया हो। समुद्र म थन के समय तुमने शकर को बहकाकर विष का पान करा दिया और स्वय रमा को छांट लिया—

मथत सिधु रुद्रहि बौरायहु। सुरन्ह प्रेरि बिषपान करायहु॥

असुर सुरा बिष सकरहि, आपु रमा मनि चारु।
स्वारथ साधक कुटिल तुम, सदा कपट व्यवहारु॥[1]

यही नारद विष्णु को मानव होन और वानरो द्वारा सहायता प्राप्त करने के लिए विवश होन का शाप दत हैं। राम के अवतार का भी यही कारण था।

केशव भी राम और विष्णु को एक ही मानकर चल हैं। उन्होंन ब्रह्मा के मुख से कह कहलाया है—

जगी सच्चिदानन्द रूप धरैंगे। सुभ्रलोग के ताप तीनो हरैंगे॥
कहैंगे सब नाम श्री राम ताको। स्वय सिद्ध है शुद्ध उच्चार जाको॥[2]

सेनापति की दृष्टि म भी राम और विष्णु अभिन्न हैं। उन्होंन स्थान स्थान पर राम को पूर्ण पुरुष का पुरातन अवतार कहकर इसी भावना को व्यक्त किया है।[3] राम की चरण-पादुकाओ की स्तुति करत हुए उन्होंन रानी कमला को 'विप आगम कहन हारी' कहकर भी दोनो का अभिन्नत्व प्रकट किया है।

राम और विष्णु क सम्बन्ध स्थल एकदम न मिलत हो, ऐसी बात नही है। तुलसी म ही ऐस अनेक स्थल मिल जात हैं। रामचरितमानस म सती प्रसग म राम ने अनक विष्णु और ब्रह्मा दिखाये—

---

१ रा० च० मा० बा० का० दोहा १३६
२ रा० च० २६।५
३ क० रत्ना०, ४।१

देखे शिव विधि विष्नु अनेका ।
अमित प्रभाउ एक ते एका ।।[1]

इस बात का भी उल्लेख है कि विष्णु ने जब राम का देखा तो वे मोहित हो गये—

हरि हित सहित रामु जब देखे

रावण के दूत लौटकर जब रावण को सारी बातें सुनाते हैं तो लक्ष्मण की पाती भी देते हैं। लक्ष्मण के सन्देश में भी राम और विष्णु का भेद प्रकट होता है—

राम बिरोध न उबरसि सरन विष्नु अज ईस ।[2]

पर इन सब स्थलो को दोनो के भेद का सूचक मानना तर्कसगत नहीं होगा। इन सब स्थलो पर राम का सर्वाधिक महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए ही इन्हे विष्णु से उत्कृष्ट कहा गया है। इसका भाव केवल इतना ही है कि कवि को परब्रह्म के विष्णु रूप की अपेक्षा राम रूप अधिक पसन्द है। पूर्वापर प्रसग को ध्यान मे देखने पर दोनो का अभिन्नत्व ही सिद्ध होता है।

राम विष्णु के अवतार हैं यह मानस मे अनेक स्थलो पर वर्णित है। उन्होने अपने भक्त द्वारपालो को मुक्त कराने के लिए अवतार लिया है। ये भक्त विप्र शाप से रावण और कुम्भकर्ण के रूप मे पैदा हुए थे—

द्वारपाल हरि के प्रिय दोऊ। जय अरु विजय जान सब कोऊ ।।
विप्र साप तें दूनउ भाई। तामस असुर देह तिन पाई ।।

भये निसाचर जाइ तह, महावीर बलवान ।
कुम्भकरन रावन प्रकट, सुरविजई जग जान ।।

मुकुत न भए हते भगवाना। तीनि जनम द्विज बचन प्रमाना ।।
एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी ।।[3]

चित्रकूट की शोभा के प्रसग मे वे कहते हैं कि जिस स्थान पर विष्णु अवतार लेकर रामरूप मे निवास करते हो, उसकी शोभा का क्या कहना है?—

सो बनु सलु सुभाय सुहावन। मगलमय अतिपावन पावन ।।
महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू। सुखसागर जह कीन्ह निवासू ।।
पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखन राम रहे आई ।।[4]

---

१ रा० च० मा०, पृ० ३८ (गी० प्रे० स०)
२ वही पृ० ८५२ (गी० प्रे० स०)
३ रा० च० मा०, पृ० १३५ ६
४ वही, पृ० ५०३ (गी० प्रे० स०)

कितने ही स्थानों पर उन्हें तुलसी ने 'रमानिवास' और 'सिंधुसुताप्रिय कंता' कहकर उनके विष्णु रूप का उल्लेख किया है। बालकांड में देवताओं द्वारा संकट मोचन की प्रार्थना किये जाने पर आकाशवाणी के रूप में जब भगवान् विष्णु उन्हें अभय देते हैं तो वे कहते हैं कि समय आने पर मैं कश्यप और अदिति को दिये गये वर को पूरा करने के लिए दशरथ और कौशल्या के घर जन्म लूंगा। इसी प्रकार के अन्य उल्लेख भी मानस में पर्याप्त स्थानों पर पाये जाते हैं।

तुलसीदास आरम्भ से ही विष्णु और राम को एक मानकर चले हैं। इस प्रकार की उक्तियों से मानस भरा पड़ा है। मानस के अतिरिक्त गीतावली में राम के रूप में विष्णु के अवतार का उल्लेख है।[1] एक अन्य पद में उनकी स्तुति कैटभारि कह कर की गयी है जो पुराणों में विष्णु का प्रसिद्ध विशेषण है। हिन्दी-साहित्य के भक्ति काल तक विष्णु और राम का एकत्व स्थापित हो चुका था अतः इस शाखा में भी एकत्व का ही प्रतिपादन है।

सीता और लक्ष्मी—राम और विष्णु का अभिनत्व हो जाने पर सीता और लक्ष्मी की अभिन्नता स्वतः सिद्ध है उसे सिद्ध करने के लिए प्रयास की आवश्यकता नहीं। जो प्रमाण वहां उद्धृत किये गए हैं उन्हें फिर से उद्धृत करना पिष्टपेषण ही होगा। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि विष्णु और लक्ष्मी का साथ नित्य है। लक्ष्मी की सर्वव्यापकता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनका तिरोभाव कभी नहीं होता। वे जगज्जननी नित्य हैं। जिस प्रकार श्री विष्णु भगवान सर्वव्यापक हैं वैसे ही यह भी हैं। विष्णु अर्थ हैं और ये वाणी हैं हरि न्याय हैं और यह नीति हैं विष्णु बोध हैं और यह बुद्धि हैं वह धर्म हैं और यह सत्कर्म हैं। भगवान श्रीधर चन्द्रमा हैं और लक्ष्मी उनकी अक्षय कान्ति है। श्री गोविन्द समुद्र हैं और लक्ष्मी जी उनकी तरंग। भगवान गदाधर आश्रय हैं और लक्ष्मी जी शक्ति हैं।[2] यह भी कहा गया है कि इस विश्व में जो भी पुरुषवाचक पदार्थ है वह विष्णु है और जो स्त्रीवाचक है वह लक्ष्मी है।[3] उनके विविध अवतारों का भी पुराणों में उल्लेख है।

कहा गया है कि जगत-स्वामी देवाधिदेव जनार्दन जैसे बार-बार नाना प्रकार से अवतार लेते हैं उनकी सहायिका श्री या लक्ष्मी देवी भी वैसा ही करती हैं। हरि जब आदित्य हुए थे लक्ष्मी तब फिर कमल से उत्पन्न हुई थी जब भार्गव राम हुए थे तब यह धरणी बनी थीं। राघव के लिए यह सीता बनीं और कृष्ण के लिए रुक्मिणी। अन्य दूसरे अवतारों में भी यह विष्णु की सहायिका रही हैं। यह देवत्व में देवदेहा और मनुष्यत्व में मानुषी बनकर विष्णु के देह के अनुरूप आत्मतनु ग्रहण करती

---

१ गीतावली बा० का० पद २४

२ विष्णुपुराण १।८।१५ २

३ विष्णुपुराण अध्याय ८ श्लोक १७ ५

हैं।[1] इसी प्रकार के अन्य विविध प्रमाणो का उल्लेख न कर हम इतना ही कह देना ठीक समझते हैं कि वष्णव धम म सीता और लक्ष्मी का अभिन्नत्व सवमान्य था और हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल के कवियो ने उन्हें अभिन्न भाव से ही ग्रहण किया है। इस पुराण साहित्य के अतिरिक्त लोक साहित्य म भी उन्हे लक्ष्मी से अभिन्न ही समझा गया। भास कवि ने 'अभिषेक' नाटक मे स्पष्ट शब्दों म दोनों की अभिन्नता को स्वीकार किया है—

इमा भगवती लक्ष्मी जानीहि जनकात्मजाम।
सा भवन्तमनुप्राप्ता मानुषी तनुमास्थिता॥

अध्यात्मरामायणकार भी राम को परम पुरुष और सीता को उनकी अनादि शक्ति मानते हैं। सीता ने अपने मुखारविन्द से हनुमान से कहा है कि राम का सब उपाधिया से विनिर्मुक्त परम पुरुष और मुझे उनकी प्रकृति समझो। मैं ही उनकी मूल प्रकृति रूप म सष्टि की उत्पत्ति पालन और सहार करने वाली हूँ—

राम विद्धि पर ब्रह्म सच्चिदानन्दम ययम्।
सर्वोपाधिविनिमुक्त सत्तामात्रमगोचरम॥
मा विद्धि मूलप्रकृति सगस्थित्यन्तकारिणीम।
तस्य सन्निधिमात्रेण सजामीदमतन्द्रिता॥[2]

रामचरितमानस के बालकाड के आरम्भ म सीता की स्तुति करते हुए उन्हें उदभव, स्थिति और प्रलयकारिणी कहा गया है। वे ही सवश्रेयस्करी है, क्लेशहारिणी हैं और रामवल्लभा हैं—

उद्भव स्थिति सहार कारिणी क्लेशहारिणीम।
सवश्रेयस्करी सीता नतोऽह रामवल्लभाम॥[3]

इसी काण्ड मे यह भी कहा गया है कि किस प्रकार मनु और शतरूपा की आराधना से प्रसन्न होकर भगवान विष्णु ने उनके यहाँ पुन रूप म जन्म लेने का वर दान दिया है।[4] यही भगवान ने सीता रूप म आदिशक्ति के जन्म लेने की बात कही है—

आदिशक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥[5]

विष्णु आदिपुरुष हैं तो सीता आदिशक्ति हैं, दोनो अभिन्न हैं। सीता के

---

१ विष्णुपुराण, १।९, श्लोक १४२ १४५
२ अध्यात्मरामायण, १।३२ ३४
३ रा० च० मा० बा० का०, श्लोक ५
४ वही दोहा १५१ चौ० १ २
५ वही, चौ० ४

स्वयवर के समय एकत्र हुए बहुत से राजाओं के मुख से कवि ने सीता को जगदम्बा कहलाया है—

सिख हमार सुनि परम पुनीता । जगदम्बा जानहु जिय सीता ॥

एक अन्य स्थान पर कवि ने वाल्मीकि मुनि के मुख से राम और सीता का अभिन्नत्व प्रदर्शित कराया है। राम यदि श्रुति रूपी सतु के पालक जगदीश हैं तो जानकी उनकी माया हैं—

श्रुति सतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।
जो सजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की ॥

केशव को भी सीता और लक्ष्मी का अभिन्नत्व स्वीकार है। सीता के देवी रूप में हमने जो पद उद्धृत किये हैं उनमें यह भाव भली प्रकार स्पष्ट है। उन पदों के अलावा यहाँ वह प्रसग उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा जब राजसूय यज्ञ की समाप्ति के पश्चात रामचन्द्र जी दान कर रहे हैं वहाँ लेखक ने राम और सीता को अभिन्न समझकर राम के लिए रमापति शब्द का प्रयोग किया है—

यज्ञ पूरण कै रमापति दान देत अशेष ।
हीर नीरज चीर माणिक वरषि वर्षा वेष ॥[1]

एक अन्य स्थल पर भी कवि ने लक्ष्मी और सीता को अभिन्न मानकर विष्णु के लिए सीतानाथ शब्द का प्रयोग किया है—

सोवत सीतानाथ के, भृगुमुनि दीन्ही लात ।
भृगु कुलपति की गति हरी मना सुमिरि यह बात ॥[2]

यही स्थिति सेनापति की भी है। उन्होने जहाँ-जहाँ राम के परब्रह्म रूप का उल्लेख किया है वहीं-वहीं सीता का लक्ष्मी के साथ अभिन्नत्व भी उन्हें स्वीकृत है। राम के परब्रह्म की रूप चर्चा करते हुए उन्होंने राम को 'कमलापति' कहकर लक्ष्मी और सीता के अभिन्नत्व का प्रतिपादन किया है—

जगत को करता है धरा हू को धरता है
कमला को भरता है हरता विपति को ।[3]

विष्णु और लक्ष्मी

सीता और लक्ष्मी प्रसग में हमने पुराणों से जो श्लोक उद्धृत किये हैं उनमें विष्णु और लक्ष्मी के नित्य साहचर्य का उल्लेख है। आज जन-साधारण इन दोनों के साहचर्य में अटूट विश्वास रखता है और उसे वैदिक काल की देन मानता है पर वस्तु

१ रामचन्द्रिका प्रकाश ३६, पद १८
२ वही प्रकाश ७ पद ५२
३ कवित्तरत्नाकर तरग ५, पद ७

स्थिति एकदम ऐसी ही नही है। वदिक विष्णु और श्री या लक्ष्मी के दाम्पत्य सम्बध के उल्लेख वेदो मे नही मिलते। अवतारवादी विकास की दृष्टि से अवतार धारण-कर्ता विष्णु और लक्ष्मी के जिस युगल रूप का अस्तित्व पुराणो मे लक्षित होता है उसका वदिक विष्णु के साथ काई स्पष्ट सम्बध नही दीख पडता क्योकि वदिक साहित्य मे श्री या लक्ष्मी का स्वतत्र अस्तित्व मिलता है। वदिक साहित्य के ममज्ञो ने श्री और लक्ष्मी के स्वतत्र रूपो को सौदय और धन की देवी माना है।[1]

जहाँ तक लक्ष्मी के दमपत्य का प्रश्न है, वहाँ यह सम्बध विष्णु की अपेक्षा ईश और इद्र स अधिक स्पष्ट होता है। इसके विपरीत विष्णु का सम्बध पृथक् अस्तित्व वाली एक वदिक दवी सिनी वाली से विदित होता है। अथववेद की एक ऋचा मे सिनीवाली के लिए विष्णो पत्नि' का प्रयोग हुआ है—

या विश्वत्मीद्रमसि प्रतीची सहसस्तु काभियता देवी।
विष्णो पत्नि तुभ्य राता हवीषि पति देवि राधसे चादयस्व॥

श्री जे० गोदे ने शतपथ ब्राह्मण (३।४।२।१) के एक आख्यान के आधार पर विष्णु के पूव उनके सखा इद्र स श्री के सम्बध का अनुमान किया है।

इद्र और श्री का यह सम्बध महाभारत म भी दष्टिगत होता है। वहाँ अर्जुन को इद्र और द्रौपदी को इद्र की पूव आर्या लक्ष्मी कहा गया है—लक्ष्मी चपा पूव मेवोपदिष्टा माया यपा द्रौपदी दिव्य रूपा।[2] शतपथ मे भी अजुन इद्र का गुह्य नाम बताया गया है—अजुनो ह्व नामेन्द्रो यदस्य गुह्य नाम (२।१२।११)। महाभारत (१।६७।१५७) मे इद्राणी द्रौपदी और लक्ष्मी, इन तीनो का अभिन्न कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि पूवकाल म लक्ष्मी विष्णु की अपक्षा इद्र पत्नी के रूप मे प्रचलित थी।[3]

फिर विष्णु और लक्ष्मी के दाम्पत्य सम्बध की धारणा किस प्रकार प्रचलित हुई? उत्तर म कहा जा सकता है कि ब्राह्मण काल म जो नारायण 'पुरुष' रूप मे स्वरूपित था, उसे तत्तिरीय आरण्यक (१०।१।६) म "नारायणाय विदमहे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णु प्रचोदयात" म विष्णु रूप से सबद्ध किया गया है और दूसरे स्थल पर त० आ० (३।१३।२) म "ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्य" म ह्री और लक्ष्मी को पुरुष की पत्नी कहा गया है। यजुर्वेद (३१।२२) म श्री और लक्ष्मी को पुरुष की पत्नी कहा गया है। कालान्तर म पुरुष विष्णु, नारायण और वासुदेव के एक हा जान पर श्री और लक्ष्मी भी विष्णु की पत्नी बन गई।

इस प्रकार विष्णु और लक्ष्मी की दाम्पत्य भावना वदिक और पौराणिक काल के बीच की कही जा सकती है।

---

१ इन० रि० एथि० पृ० ८०८
२ म० आ० १।१९६।३४ ३५
३ म० का० सा० अ० पृ० ३८२

लक्ष्मण—

सौमित्र लक्ष्मण साधारण मानव नहीं उन्होंने लीला के लिए नररूप धारण किया है। कहा गया है कि रावण के अत्याचार से तंग आकर जब देवता विष्णु के पास गये तो उन्होंने विष्णु से प्रार्थना की कि वे अपने को चार भागों में बाँटकर राजा दशरथ के पुत्र रूप में जन्म लें और विष्णु ने फिर वैसा ही किया—

अस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च।
विष्णो! पुत्रत्वमागच्छ कृत्वात्मानं चतुर्विधम् ॥
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोक-कण्टकम्।
अवध्यं दैवतैर्विष्णो! समरे जहि रावणम् ॥[1]

कालिदास ने भी कहा है कि एक ही विभु दशरथ की तीनों रानियों के गर्भ में विभक्त होकर इस प्रकार रहने लगे जैसे निर्मल जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा अनेक रूपों में दीख पड़ता है।[2]

पुराणों में भी इसी बात का उल्लेख है कि भगवान विष्णु ने अपने को चतुर्धा विभक्त किया और राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न के नाम से वे ज्ञात हुए—

तस्यापि भगवानेष साक्षाद् ब्रह्ममयो हरिः।
अंशांशेन चतुर्धागात् पुत्रत्वं प्रार्थितः सुरैः ॥
राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्ना इति संज्ञया ॥[3]

अध्यात्मरामायण के अनुसार लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं। वहाँ एक ही श्लोक में राम को साक्षात् नारायण, सीता को उनकी माया और लक्ष्मण को सर्पराज शेषनाग कहा गया है। सम्पाति वानरों को उनके विषय में कहता है—

रामो न मानुषो देवः साक्षान्नारायणोऽव्ययः।
सीता भगवती माया जनसम्मोहनकारिणी।
लक्ष्मणो भुवनाधारः साक्षाच्छेषः फणीश्वरः ॥[4]

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में वे शेषनाग के अवतार के रूप में ग्रहण किये गये हैं। वे रूप के निधान हैं। हाथ में धनुष-बाण लिये और कमर में तरकस कसे वे वन में यदि फिर रहे हैं तो भू भार को दूर करने के लिए ही। क्रोध के समय वे प्रलय काल की अग्नि के समान भयंकर ज्वालाएँ उगलने वाले हैं उनके शरीर का रंग चम्पे

१　वाल्मीकिरामायण बा० का० १५।२०-२१
२　रघुवंश १०।४६
३　भागवत ९।१०।१-२
४　अध्यात्मरामायण, बालकाण्ड ७।१६-१६

क फूल के समान है। वे सौदय के समुद्र हैं और सग्राम म सवशक्तिमान् हैं।[1] एक और स्थान पर कहा गया है कि लक्ष्मण चराचर के स्वामी शेप है और समस्त पृथ्वी को अपने सिर पर धारण करते हैं।[2] इस बात का भी वणन किया गया है कि मेघनाद की शक्ति लग जाने पर जब लक्ष्मण मूच्छित होकर गिर पडे तो योद्धाओ ने मिलकर उन्हें उठाना चाहा, पर जगदाधार शेपनाग उनसे कैसे उठते ? बहुत से स्थलो पर उन्हें लक्ष्मण न कहकर शेपनाग के वाचक 'अनन्त' और 'अहीश' आदि शब्दो से याद किया गया है।

चाहे उन्हें विष्णु के वश के रूप मे स्वीकार करें, या शेप नाग के अवतार के रूप मे, दोनो ही तरह वे देव कोटि म आते हैं।

राम और अन्य देवी देवता

राम भक्ति शाखा का देव भावना सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यधिक उदार रहा है। राम को अपना आराध्य या इष्टदेव मानते हुए भी इसमे अन्य देवी देवताओ के प्रति उचित सम्मान और आस्था की भावना प्रदर्शित की गयी है। इसमे न तो अन्य देवताओ की छीछालेदर है, न उन पर प्रत्यक्ष ढग से व्यग्य के छीटे है और न उन्हे किसी तरह छोटा प्रदर्शित करने की भावना है। इसके विपरीत इसम अन्य देवी देवताओं का स्मरण ससम्मान किया गया है। अभी पीछे हमने शिव के देवता और आराध्य रूप की चर्चा की है। उनके अतिरिक्त अन्य स्मरणीय देवताओ की चर्चा ही हमारा विषय है।

विनयपत्रिका' के प्रथम पद म गणशजी की स्तुति है। यहा उन्हे सब सिद्धियो का सदन, विद्या वारिधि और बुद्धि निधान जसे सुन्दर विशेपणो से सुशोभित किया गया है—

गाइये गनपति जगवदन। सकर सुवन भवानी नदन॥
सिद्धि सदन गज बदन विनायक। कृपा सिंधु सुन्दर सब लायक॥
मोदक प्रिय मुद मगल दाता। विद्या वारिधि बुद्धि विधाता॥[3]

इसी पुस्तक म दूसरे पद म सूय की स्तुति की गयी है। कहा गया है कि सुरो और असुरो मे कोई ऐसा नही जो उसकी सेवा न करता हो—

दीनदयालु दिवाकर देवा। कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा॥
हिम-तम करिकेहरि करमाली। दहन दोष दुख दुरित सजाली॥

---

१ विनयपत्रिका, ३८।३६
२ रा० च० मा०, अ० का० पृ० ४६१
३ वि० प०, पद १

लोक बाननद लोक प्रकासी । तेज प्रताप रूप रस रासी ॥
सारथि पगु दिव्यरथगामी । हरि सकर विधि मूरति स्वामी ॥[1]

अगले पदो म देवी की स्तुति करत हुए कहा गया है कि वह विश्व की मूल है और दुष्टो के दमन के लिए हाथ म त्रिशूल लिये रहती हैं—

(क) दुसह दोष दुख दलनि करु देवि दाया।
विश्व मूलासि जन सानुकूलासि कर शूल धारिणी महा मूलमाया ॥

(ख) जय-जय जगजननि देवि सुर नर मुनि असुर सेवि
भक्ति मुक्ति दायिनि भयहारनि कालिका ।[2]

रामचरितमानस म सीता को अन्तर्यामिनी और 'भव भामिनी' पार्वती की पूजा करते हुए चित्रित किया गया है। राम धनुष तोडने खडे होते हैं तो सीता आनुकूल्य के लिए गणेश गौरी और शिव का ध्यान करती हैं।

केशव की मन स्थिति भी अन्य देवताओ के विषय म लगभग ऐसी ही है। यह ठीक है कि उन्होने इतने देवताओ की स्तुति नही की जितनी की तुलसी ने की है पर जहाँ कही किसी देवता का उल्लेख आया है वहाँ उसके प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित किया गया है। रामचन्द्रिका के आरम्भ म ही उन्होने गणेश की स्तुति करते हुए कहा है कि जिस प्रकार हाथी का शिशु छोटे छोटे मृणालो को असानी स तोड डालता है उसी प्रकार गणेशजी कराल दु खो को मार भगाते हैं। व अपने दास के कलक को दूर करके उसे स्वच्छ रखते हैं। दसो दिशाओ के सभी व्यक्ति गणेशजी की कृपा के लिए उनका मुख ताका करते हैं—

बालक मृणालनि ज्यो तोरि डारै सब काल,
कठिन कराल त्यो अकाल दीह दुख को।
विपति हरत हठि पद्मिनी के पात सम
पक ज्यो पताल पलि पठवै कलुख को।
दूरिकै कलक अक भव सीस-ससि सम,
राखत है केसोदास दास के वपुख को।
साँकरे की साँकरन सनमुख होत तोरै,
दशमुख मुख जावै गजमुख मुख को ॥[3]

सरस्वती की स्तुति म उन्होने कहा है कि एसी बुद्धि किसने पायी है जो जग रानी सरस्वती की उदारता का वर्णन कर सके। ब्रह्मा चार मुखो स, महादेव पाँच

१ वि० प० पद २
२ वि० प० पद १५-१६
३ रा० च० १।१

मुखो से और षडानन अपने छ मुखो से भी जब उसका वणन करते हैं तो उनसे कोई न कोई बात छूट ही जाती है—

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय,
ऐसी मति कहो धौं उदार कौन की भई।
देवता प्रसिद्ध सिद्ध ऋषिराज तप वृद्ध,
कहि कहि हारे सब कहि न कोई लई।
भावी भूत वतमान जगत बखानत है,
केसौदास केहू ना बखानी काहू प गई।
बर्नें पति चार मुख पूत बर्नें पाँच मुख,
नाती बर्नें षट मुख [तदपि नई नई॥'

१ रा० च०, १।२

मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में देव भावना का रूप

कृष्ण भक्ति-शाखा

कृष्णभक्ति शाखा की देव-भावना का सामान्य स्वरूप

जिस प्रकार रामानन्द रामभक्ति शाखा के प्रवर्तक हैं उसी प्रकार वल्लभाचार्य कृष्णभक्ति शाखा के प्रवर्तक हैं। परम्परानुगत धारणा यह है कि वल्लभाचार्य से पूर्व विष्णुस्वामी ने कृष्णभक्ति का प्रचार किया था और इन्हीं की शिष्य परम्परा में आगे चलकर वल्लभाचार्य हुए जिन्होंने इस भक्ति शाखा का इतना प्रसार किया। पर इस प्रकार की धारणा के पीछे किन्हीं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में विद्वान व्यक्ति वल्लभाचार्य को स्वतंत्र रूप से इस मत का प्रवर्तक मानते हैं। वल्लभाचार्य के चरित-लेखक गोपालदास ने वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी के शिष्य होने का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। गुरु उस काल में ईश्वर के समान आदर का पात्र था। यदि विष्णुस्वामी उनके गुरु होते तो इसका उल्लेख उनके (वल्लभाचार्य) जीवन चरित्र में कहीं-न-कहीं अवश्य होता। उनका शुद्धाद्वैतवाद का सिद्धान्त भी दार्शनिक जगत के लिए एक नवीन सिद्धान्त था उसका प्रतिपादन इससे पूर्व इस रूप में किसी भी आचार्य ने नहीं किया। इन्हीं बातों को ध्यान रखते हुए डा० विजयेन्द्र स्नातक ने इस बात को इन शब्दों में कहा है— "एक तरह से उन्होंने (वल्लभ ने) स्वतंत्र प्रतिभा और मेधा के द्वारा ही वल्लभ सम्प्रदाय प्रवर्तित किया। श्री वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत दार्शनिक जगत में एकदम नया है और ईश्वर जीव तथा प्रकृति का आध्यात्मिक स्वरूप में नवीन दृष्टिकोण से उपन्यस्त करनेवाला है। इस पर न तो विष्णुस्वामी का कोई प्रभाव है और न किसी अन्य आचार्य का।"[1] इसी सम्बन्ध में विचार करते हुए डा० स्नातक ने प्रो० जी० एच० भट्ट द्वारा मैसूर की आरियण्टल कान्फ्रेंस में पढ़े गये निबंध का हवाला देते हुए कहा है कि उनके अनुसार भी ऐतिहासिक या दार्शनिक दृष्टि से विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

---

1 रा० व० स० सि० सा० पृ० ४६

इष्टदेव का रूप

कृष्ण भक्ति शाखा म भगवान की कृष्ण रूप मे पूजा की जाती है, यह तो स्पष्ट ही है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कृष्ण कोई साधारण मानव या देवता नही हैं। अद्वैत निर्गुण ब्रह्म ही कृष्ण रूप म इस भू पर अवतरित हुआ है। कवि परामर्श देता है कि नयना से श्याम के स्वरूप को देखा। वही अनूप ज्योति रूप होकर घट घट मे व्याप्त हो रहा है। सप्त पाताल उसके चरण हैं, आकाश सिर है तथा सूय चन्द्र, नक्षत्र अग्नि, सब म उसी का प्रकाश है।[1] आगे चल कर कहा गया है कि हरि (कृष्ण) अनादि, सनातन अविनाशी और निरन्तर घट घट-वासी हैं, पुराण उन्हे पूर्ण ब्रह्म कहते हैं शिव और चतुरानन उनका अत नही पाते। उनके गुणगण अगम हैं उन्हें निगम भी नहीं पा सकते। वे ही पुरातन पुरुष हैं।[2] नामकरण के समय गर्गमुनि कहते हैं—ये ही रूप रेखा हीन आदिप्रभु हैं। इन से भिन्न और कोई प्रभु नही है।[3]

नन्ददास के अनुसार भी यशोदा के लाल और हलधर के वीर कृष्ण ईश्वरो के भी ईश्वर हैं, कालो के काल हैं और शिव के सर्वस्व हैं—

> नद भवन को भूषन माई।
> जसुदा को लाल, वीर हलधर को राधा रमन परम सुखदाई॥
> सिव को धन, सतन को सरवस महिमा वद पुरानन गाई।
> इन्द्र को इन्द्र, देव देवन को ब्रह्म को ब्रह्म, अधिक अधिकाई॥
> काल को काल ईस ईसन को, अतहि अतुल, तौल्यो नहिं जाई।
> 'नन्दास को जीवन गिरिधर गोकुल गाम को कुवर कन्हाई॥'[4]

---

१ सूरसागर, स० स०, पद ३७०
२ वही, पद ६२१
३ वही,पद ७०३

> आदि अनादि रूपरेखा नहिं। इन त नहिं प्रभु और भयो।

एक अन्य पद म पाडे के मुख से कहलवाया गया है कि गोकुल, यशोदा और नद धन्य हैं जहाँ भक्तो के लिए हरि ने अवतार लिया है—

> सफल जन्म प्रभु आजु भयो।
> धनि गोकुल धनि नद जसोदा, जाके हरि अवतार लियो॥
> प्रगट भयो अब पुन्य सुकृत फल, दीनबधु मोहि दरस दियो।
> बारबार नद के आगन, लोटत द्विज आनद भयो॥
> मैं अपराध कियो बिनु जाने को जाने किहिं भेष जयो।
> सूरदास प्रभु भक्त-हेत बस जसुमति गृह आनद लयो॥
> (सू० सा०, प० ३४५, स० स०)

४ अ० व० स० सि० सा० पृ० पद

आग चलकर कवि कहता है कि जिस ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योगी-मुनि ढूंढते फिरते हैं, शंकर समाधि लगाए रहते हैं, शारदा गणेश शेषनाग जिनके गुणों का वर्णन नहीं कर पाते वही ब्रह्म कृष्ण रूप में बाबा नन्द की अंगुली पकड़ कर धीरे धीरे चलना चाहते हैं—

निगम अगम जाको निगम कहत हैं।
जोगी जन मुनिजन ढूंढ़त जनन कीर्ते
संकर समाधि नित लाए ही रहत हैं।
शारद गनेस सेस सहस बदन सों
गुननि गिनत अपार नेकहू न लहत हैं।
नन्ददास सोई ब्रह्म नंद की अंगुरि लाग
मंद मंद चाल लाल चलन चहत हैं॥[1]

छीतस्वामी का भी कथन है कि राधिकारमण रूप में संसार को सुख देने के लिए ही हरि अवतरित हुए हैं—

सुख करन जग-तारन नंद नंद नवल गोप-वनितारी वल्लभ मुरारी।
छीत स्वामी हरि सकल जीव उद्धारहित प्रकट वल्लभ-नन्दन न्नुजारी।[2]

बस तो राम और कृष्ण दोनों एक हैं पर कालान्तर में उपासना के भेद से इनमें अन्तर आ गया है। कृष्ण भक्ति शाखा में भगवान के रंजक रूप की अपेक्षा रंजक रूप की प्रधानता है। अपने वक्तव्य विषय को कुछ अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कहेंगे कि भगवान के लोक रक्षक रूप को प्रमुख मानने से हम उनके प्रताप और ऐश्वर्य का ध्यान करना होगा। ऐसे भगवान के गुणों का ध्यान कर हम उन्हें अपने से बहुत ऊंचा समझते हैं। यह रूप भक्त और भगवान के बीच व्यवधान खड़ा करता है। बीच की यह दीवार भक्तों को पसन्द नहीं। अंश और अंशी के बीच अन्तर कैसा? यही कारण है कि समान स्तर पर न मिलने वाले इस रूप का इन भक्त कवियों ने उपेक्षा भी की है और खण्डन भी किया है। बस जगन्नाथ, त्रिपुरारि और तदन्तर कौरवों का नाश करने और करानेवाले भगवान के रूप में इनका चित्त कभी नहीं रमा इन्हें तो अपने इष्टदेव का वही रूप अधिक पसन्द है जिसका सम्बन्ध व्रज के जीवन से है—

जहि जहिं चरन कमल माया के तहां तहीं मन मोर।
ज पद कमल फिरत वृन्दावन गोधन संग किसोर॥
चिनत करौं उमादानन्द मुनिन मौन अरु भोर।
कमलनयन घनस्याम सुभगतन पीताम्बर के छोर॥

---

१ सूरसागर पृ० वही पद ४४
२ वही पृ० २७० पद ५२

इष्टदेवता सब विधि मेरे जे माखन के चोर।
परमानन्ददास की जीवनि गोपिन पट भकझोर ॥[1]

सूरदास ने गोपी के मुख से इसी भाव को इन शब्दों में व्यक्त कराया है—

हे पथिक! यदि किसी प्रकार मैं राजसी ठाठबाट को लाँघकर द्वारका में कृष्ण तक पहुँच भी जाऊँ तो व्रज निकुंज-रसिक के बिना मैं किस को अपनी दशा सुनाऊँगी?

हौं कैसे के दरसन पाऊँ?
सुनहु पथिक, उहि देस द्वारिका जो तुम्हरैं सँग जाऊँ।
बाहिर भीर बहुत भूपन की बूझत बदन दुराऊँ ॥

श्रम कै मूर जाउँ प्रभु पासहिं मन मैं भले मनाऊँ।
नव किसोर मुख मुरलि बिना इन नैननि कहा दिखाऊँ ॥

इन सब बातों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कृष्ण के जीवन के एक पक्ष की चर्चा साहित्य में हुई ही नहीं। इन कवियों को कृष्ण का कौन सा रूप पसन्द है इसे श्री वियोगी हरि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—'सूरदासजी व्रजवासी नद नन्दन के उपासक थे—द्वारकावासी वासुदेव के नहीं। कालिन्दी-कूल की वंशी उन्हें *प्यारी लगती थी, द्वारका के मंगल गान अथवा चारण गान नहीं। मोर मुकुट ही उनके* नेत्रों में झूमता था, मणिमुकुट नहीं। वह राधिका रमण के प्रेमी थे, रुक्मिणी वल्लभ के नहीं। वह भगवान को कन्हैया कहने में सुख मानते थे 'कृष्ण' कहने में नहीं। अधिक क्या, वह माधुर्य पर आशिक थे ऐश्वर्य पर नहीं। ऐश्वर्य भक्त और भगवान के बीच व्यवधान बन जाता है। वह एक ऐसी ऊँची दीवार है जिसे लाँघ कर जाना सरल नहीं। यही कारण है कि कृष्ण भक्ति शाखा के सभी कवियों ने कृष्ण के राजसी ठाठ-बाट वाले रूप के प्रति उपेक्षा ही प्रदर्शित की है।

जो बात सूरदास के विषय में कही जा सकती है वही अन्य कवियों के विषय में भी कही जा सकती है। नन्ददास राम और कृष्ण के भजन का परामर्श देते हुए जो कुछ कहते हैं उससे भी स्पष्ट है कि उन्हें कृष्ण का (भगवान का) माखन चोर लकुट लेकर गायें चराने वाला रूप अधिक पसन्द है—

राम-कृस्न कहिए उठि भोर।
अवध ईस वे धनुष धरें हैं, ये व्रज माखन चोर ॥
उनके छत्र चँवर सिंहासन, भरत, सत्रुहन लछमन जोर।
इनके लकुट मुकुट पीताम्बर, नित *गायन* सँग नन्दकिसोर ॥

1 अ० व० स० सि० सा०, पृ० ५५४

उन मागर म मिला तराई इन राग्यो गिरि नग की कार ।
नन्दास प्रभु सब तजि भजिय जस निरखत चन्द चकार ॥[1]

कुम्भनदास के हरि भी घर के आँगन म नाच नाचन वाल, घर घर दही खान वाल और राधिका के साथ रस राग करन वाल हैं —

विनगु जिन मानो री काम हरि को ।
भारहि आवत नाच नचावत खात दही घर घर को ॥
प्यारा प्रान दीन जो पद्य नागर नन्द महरि को ।
कुभनदास प्रभु गोवरधन धर रसिक राधिका-वर को ॥[2]

हरि न कृष्ण रूप म व्रज म जो अवतार लिया है उसका उद्देश्य ब्रह्म के परमानन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति है । राम लीला के प्रसग की अवतारणा रस एव आनन्द की चरमावस्था के प्रदर्शन के लिए ही है । यद्यपि बीच-बीच म भगवान के भक्तवत्सल और भक्तरक्षक रूप की भी चर्चा है पर वह सकेत रूप म है । कवियो का चित्त इन रूपों म नहीं रमा और इसीलिए उन्होंने कहीं भी जम कर उसका वणन नहीं किया । इस रसात्मक रूप की महत्ता के प्रदान के लिए ही उन्हें विष्णु के रूप म चित्रित न कर अवतारी के रूप म चित्रित किया गया है । भ्रमर-गीत के प्रसग म निराकार रूप के खण्डन और साकार के प्रति अत्यधिक आग्रह का भी कारण यही है । रस की महत्ता को सिद्ध करन के लिए ही कवि न ब्रह्मा के मुख स कहलाया है कि यह ससार मिथ्या है । यह माया मिथ्या है यह देह मिथ्या है । इस व्रज म यह रस नित्य है अब मैंने यहाँ आकर समझा । मैं व्रज की रज होकर रहूगा । मुझे ब्रह्म-लोक नहीं सुहाता । हरि के लीलावतार का पार शारदा भी नहीं पा सकती । यह गुरु की कृपा का प्रसाद है, जिसस मैं कुछ कह सकता हूँ ।[3]

पौराणिक काल से अन्तर

रूप का सकोच —प्रसगवश यह कह दना भी अनुचित न होगा कि ज्यो-ज्यो कृष्ण की पूजा का विस्तार होता गया त्यो-त्यो उनके रूप म विस्तार की अपेक्षा सकोच आता गया । यहा भारत म कृष्ण का क्षेत्र सपूर्ण भारत वर्ष है । व ही एक मात्र एसा नता हैं जो समस्त देश की राजनीति का सचालन करत हैं । श्रीमद् भागवत तक आते आते उनका क्षेत्र सिकुड कर उत्तर भारत तक सीमित हो गया है । मध्य कालीन सम्प्रदायों म इसम और भी सकोच हुआ है । वल्लभ के मत म उनकी गति विधि व्रज और द्वारका तक है । चैतन्य मत म व्रज तक निम्बार्क के यहा वृन्दावन

१ अ० व० म० मि० ना० पद ३७ पृ० ३२८
२ वही पद ४५ पृ० ११५
३ (सूरसागर) स० स० पद ११११

तक, राधावल्लभ सम्प्रदाय म नित्य वृन्दावन और निकुजकेलि तक और टट्टी सम्प्रदाय म केवल निकुज केलि तक ।

सगुण रूप की प्रधानता

कहना न होगा कि इस मत म भगवान के साकार रूप की ही स्वीकृति है, निराकार का यहा स्पष्ट रूप म खण्डन किया गया है। उनके समस्त साहित्य म साकार रूप का इतना अधिक प्रतिपादन है कि उसे स्पष्ट करन का यत्न पिष्टपेषण मात्र ही माना जायगा। जिस ईश्वर का कोई रूप नही, रेखा नही, गुण नही उस का ध्यान करके करना ही क्या है ? उद्धव और गोपियो के सवाद मे निराकार रूप को जिस प्रकार खिल्ली उडायी गयी है उससे हर सहृदय साहित्यिक परिचित है। यहाँ सूर के दो पद ही इस दिशा म पर्याप्त होगे—

रेख न रूप बरन जाके ,नहिं, ताको हम बतावत ।
अपनी कहो दरस ऐसे को, तुम कबहू हो पावत ?
मुरली अधर धरत है सो पुनि गोधन बन बन चारत।
नन बिसाल भौंह बक करि, देख्यो कबहुँ निहारत ?
तन त्रिभग करि, नटवर वपु धरि पीताम्बर तेहि सोवत ।
सूर स्याम ज्यो देत हमैं त्या, तुम का सोऊ मोहत ?

ऊनो कम कियो मातुल बधि मदिरा मत्त प्रमाद ।
सूर स्याम एते अवगुन म निगुन ते अतिस्वाद ।।

नन्ददास तथा अन्य कवियो को भी उनका यह सगुण रूप ही पसन्द है। नन्ददास का एक पद देखिये—

जो उनके गुन नाहि और गुन भए कहाँ त ?
बीज बिना तरु जम माहि तुम कहो कहा त ।।
वा गुन की परछाँह री, माया दरपन बीच ।
गुन तो गुन न्यारे भए अमर वारि जल कीच ।।
सखा सुनु स्याम के ।

कृष्णदास का भी एतद्विषयक एक पद द्रष्टव्य है—

मो मन गिरिधर छवि प अटक्यो ।
ललित त्रिभग चाल प चलिक चिबुक चारु गडि टटक्यो ।।
सजल स्याम घन बरन लीन है, फिरि चित अनत न भटक्यो ।
कृष्ण दास किय प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो ।।

सख्य भाव

इस धारा के भक्त कवियों ने कृष्ण की भक्ति सखा रूप में भी की है। सखा की स्थिति समभाव की स्थिति है। इसमें न कोई बड़ा है और न कोई छोटा। दो मित्रों के बीच में हीनता या महत्ता के भावों के लिए स्थान ही नहीं। समान वय समान शील और समान व्यसन के कारण इसमें समानता की ही भावना रहती है, गौरव प्रदर्शन की नहीं। इस सख्य भाव में भक्त सदैव अपने इष्टदेव के साथ रहते हैं। साथ खेलना साथ गोचारण करना गाना बजाना बस आनन्द-ही आनन्द है। सूरदास ने इस बाल जीवन के बड़े ही सुन्दर और मार्मिक चित्र खींचे हैं। कृष्ण वृन्दावन में धेनु चराने जाते हैं, साथ में सब ग्वाल बाल हैं और वे चैन से खेल रहे हैं। कोई गा रहा है कोई मुरली कोई विषाण और वेणु बजा रहा है। ब्रज बालकों की सेना जुड़ी हुई है वहाँ विविध प्रकार की पवन बह रही है। सूरदास कहते हैं कि अपने धाम को बिसार कर हरि का यहाँ आगमन इसी सुख के अनुभव के लिए है—

> चरावत वृन्दावन हरि धेनु।
> ग्वाल सखा सब संग लगाए खेलत हैं करि चैनु।।
> कोउ गावत, कोउ मुरलि बजावत कोउ विषान कोउ बेनु।
> कोउ निरतत कोउ उघटि तार दै जुरी ब्रज-बालक सैनु।।
> त्रिविध पवन जहँ बहत निसादिन सुभग कुंज घन ऐनु।
> सूर स्याम निज धाम बिसारत आवत यह सुख लैनु।।[१]

इतना ही नहीं कवि ने भगवान के श्रीमुख से इस जीवन की महत्ता का वर्णन कराया है। उनका कहना है कि वन में गोचारण में जितने सुख हैं उनके सामने वे वैकुंठ के सुखों और लक्ष्मी को भूल जाते हैं। उन्हें वृन्दावन यमुना का तट और गायों का संग बहुत सुख देता है—

> वृन्दावन मोकौं अति भावत।
> सुनहु सखा तुम सुबल श्रीदामा ब्रज तैं बन गो चारन आवत।।
> कामधेनु सुरतरु सुख जितने रमासहित बैकुंठ भुलावत
> इहिं वृन्दावन इहिं जमुना तट ये सुरभी अति सुखद चरावत।।
> पुनि पुनि कहत स्याम स्रीमुख सौं तुम मेरे मन अतिहिं सुहावत।
> सूरदास सुनि ग्वाल चकृत भए यह लीला हरि प्रगट दिखावत।।[२]

ढेर-का-ढेर भोजन वन में पहुँच जाता है सब एक साथ बैठकर और एक दूसरे से छीन कर खाते हैं। कृष्ण हलधर श्रीदामा तथा अन्य ग्वालों के साथ खेलते हैं। एक दूसरे के हाथ पर ताली मारकर भागते हैं। कृष्ण आगे आगे भाग रहे हैं श्रीदामा उन

---

१ सूरसागर पृ० ४१५ पद १०६६ (म० स०)
२ वही, पृ० वही पद १०६७

का पीछा कर रहे हैं। जब श्रीदामा भागकर कृष्ण को पकड लेते हैं तब कृष्ण कहने लगते है, कि वे जान बूझकर ही खडे हो गये थे, रुक गये थे।[1] कृष्ण को खीझत देखकर सारे सखा उनके सिर हो जाते हैं और चिढाते हैं। हलधर कहते हैं कि न तो इसके माँ-बाप हैं और न यह हार या जीत को ही ढग से समझता है। अपने आप हारकर यह सखाओ से झगडा करता है लडको पर दोष लगाता है। उसकी बातें सुनकर कृष्ण रोकर घर की ओर चल देते हैं।[2] सारे ग्वाल-बाल खेलने के लिए दो भागो म बँट जाते हैं, खेल जम जाता है। कृष्ण हारने लगत हैं तो घपला कर देते हैं। उन्हें इस प्रकार घपला करते देखकर सुदामा कहने लगत हैं कि ऐसे के साथ कौन खेलेगा ?

वास्तविकता तो यह है कि यह सख्य भावना श्रीदामा के माध्यम से बहुत ही सुदर ढग से अभिव्यक्त की गयी है। साथ रहते रहते यदि प्रेम होता है तो कभी झगडा भी हो जाता है। खेल को खेल न समझकर बार-बार रूठने वाले और रोहठि करने वाले कृष्ण के प्रति उसकी फटकार देखने योग्य है। सुदामा कहता है—तुम जसे साथी के साथ कौन खेलेगा ? तुम तो बात बात पर रूठते हो, हार गये तो रोष कसा ? तुम्हे किस बात का अभिमान है ? न तो तुम जाति म ही हमसे बडे हो और न हम तुम्हारे अधीन ही हैं। यदि तुम्हारे यहाँ कुछ गौएँ अधिक हैं तो इससे क्या ?

> खेलत मे को काको गुसयाँ ?
> हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसयाँ ॥
> जातिपाँति हम त बड नाही, नाही बसत तुम्हारी छयाँ ।
> अति अधिकार जनावत या त जात अधिक तुम्हार गयाँ ॥
> रुहठि कर तासों को खेल, रही बठि जह तहँ सब ग्वया ।
> सूरदास प्रभु खेल्योइ चाहत, दाउ दियो करि नद दुहैयाँ ॥[3]

इस सख्य भाव म भी कहीं-न कहीं सखाओ को कृष्ण के गौरव की प्रतीति हो ही जाती है। पूतना मारण, वधभ और बकासुर का विनाश, गोवधन का उठाना आदि उनके अनेक लोकोत्तर काय उनके असाधारणत्व का यदा कदा सामने ला ही देते हैं पर सभी स्थलों पर कृष्ण बडी चतुरता से उसे दृष्टि से ओझल कर देते हैं। वे इन सभी लोकोत्तर कार्यों की पूणता का श्रेय अपन साथियो को देते हैं। बीच बीच म कवि भी उनके परब्रह्म रूप की ओर सकेत करता रहता है पर फिर भी वणन की सजीवता के कारण ये सकेत छिप से जाते हैं।

---

१ सूरसागर, पृ० ८३१, पद ३३३
२ वही पृ० ३३३ पद ८३२
३ वही, पृ० ३४३, पद ८६४ (स० स०)

वात्सल्य

इस शाखा में आरम्भ में भगवान की पूजा बाल रूप में ही की जाती थी। इन की पूजा का समस्त विधान इसी भावना को प्रमुख मानकर किया गया है। आठ समय की सेवा का विधान तभी पूरा उतरता है जब भगवान को बालक मानकर शयन से जगाया जाता है फिर उन्हें सजाया जाता है तदनन्तर वे ग्वाल रूप में गोचारण करने वन में जाते हैं तदनन्तर उन्हें भोजन कराते हैं और रात्रि में संध्या आरती के बाद उन्हें शयन कराया जाता है। इस भाव की पूजा का उद्देश्य भक्त और भगवान् के अन्तर को मिटाना है। बालक के प्रति माता की ममता न विवेक पर आश्रित होती है और न किसी स्वार्थ पर। यह तो हृदय की एक स्वाभाविक वृत्ति है। इसमें ऐन्द्रियता का भी स्थान नहीं। माता के समान भगवान के प्रति भक्त की लीनता यदि स्वाभाविक रूप धारण कर ले तो भक्त को किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती। ब्रज के कुछ नर नारी कृष्ण को वात्सल्य भाव से ही भजते हैं। इस भाव की अभिव्यक्ति यशोदा के द्वारा हुई है। यद्यपि नन्द भी कृष्ण को अपार स्नेह करते हैं और उनके कुशल मंगल के लिए अहर्निश उतने ही चिन्तित रहते हैं जितनी यशोदा पर फिर भी उनमें उतनी सहजता नहीं। पितृ हृदय मातृ हृदय की समता नहीं कर पाता। सृजन-त्याग की जो भावना नारी में है वह पुरुष में नहीं। उसकी यह भावना स्वाभाविक है। त्याग और ममता उसका स्वभाव है।

इसके अलावा नन्द कृष्ण के अलौकिक और अतिप्राकृतिक कार्यों को पूरी तरह विस्मृत नहीं कर पाते उन्हें उनका स्मरण किसी-न किसी रूप में बना ही रहता है। यशोदा भी इन कार्यों को देखती है पर देखकर भी भूल जाती है। उसकी दृष्टि में कृष्ण निरीह बालक ही हैं। इसीलिए वह छोटी से छोटी बात में उसके अनिष्ट की आशंका से व्याकुल हो उठती है। यही कारण है कि सभी कवियों ने वात्सल्य भावना की अभिव्यक्ति यशोदा के द्वारा ही करायी है।

कृष्ण नन्द के साथ बैठे खा रहे हैं। वे कुछ खा रहे हैं कुछ हाथों में लिपटा रहे हैं और बाल सुलभ क्रीड़ा में निमग्न हैं। खाते-खाते एक बड़ा टुकड़ा तोड़कर मुंह में रख लेते हैं। उसमें मिर्च भी है। बस फिर क्या था आँखों में पानी भर आया रोते रोते बाहर को दौड़े। वहाँ रोहिणी खड़ी थी उसने चट से उन्हें गोद में उठा लिया मीठे मीठे कौर दिये तरह-तरह से मनाया तब कहीं जाकर कृष्ण शान्त हुए—

> जेवत कान्ह नंद इक ठौरे।
> कछुक खात लपटात दोउ कर बाल केलि अति भोरे।।
> बरा कौर मेलत मुख भीतर मिरिच दसन टकटोरे।
> तीछन लगी नैन भरि आए रोवत बाहर दौरे।।

फूंकति बदन रोहिनी ठाढ़ी, लिये लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम कौं मधुर कौर द, कीन्हे तात निहोरे॥[1]

कृष्ण मणि निर्मित आँगन में घुटनों के बल चल रहे हैं। प्यार भरे नद और यशोदा उनकी ओर देख रहे हैं। कभी वे पिता की ओर देखते हैं तो कभी माता की ओर। सिर के बाल माथे पर नटक रहे हैं। भौंहों के ऊपर काजल की बिंदी शोभित हो रही है। कवि का कहना है कि इस प्रकार की शोभा अन्यत्र पृथ्वी पर नहीं दीख पड़ती। कभी बालक कृष्ण घुटनों के बल चलते हैं, गिर पड़ते हैं और कभी उठकर चलने लगते हैं। कभी नद उन्हें अपनी ओर बुलाते हैं तो कभी यशोदा बुलाती हैं। उन दोनों के बीच में कृष्ण खिलौना बन गये हैं।[2] कृष्ण को माखन प्रिय है। उन्होंने हाथ में माखन लिया हुआ है। मुख पर दही लिपटी हुई है, उनके कपाल सुन्दर हैं, नेत्र लाल हैं, माथे पर गोरोचन का तिलक दिया हुआ है काली लटें मधुलोभी भ्रमरों के समान मुख पर झुकी हुई हैं। सूरदास का कहना है कि यह दृश्य यदि पल भर भी देखने को मिल जाए तो जीवन धन्य है—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुनि चलत रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किए॥
चारु कपोल, लोल लोचन गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि मनु मत्त मधुपगन मादक मधुहिं पिए॥
कठुला-कंठ वज्र-केहरि नख, राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए॥[3]

कृष्ण घुटनों के बल खेल रहे हैं, खेलते-खेलते किलकारी मार रहे हैं। घर का आँगन सोने और मणियों से बना हुआ है, उसमें अपना प्रतिबिंब देखकर वे उसे ही पकड़ने दौड़ते हैं—

किलकत कान्ह घुटरुवनि आवत।
मनिमय कनक नंद कैं आँगन, बिंब पकरिबै धावत।
कबहुँ निरखि हरि आपु छाँह कौं, कर सौं पकरन चाहत॥[4]

अब कृष्ण कुछ और बड़े हो गये हैं। अब घुटनों के बल चलना छोड़कर उन्होंने खड़े होकर चलना आरम्भ कर दिया है। चलने तो लगे हैं पर गिर गिर पड़ते हैं। माँ झटपट दौड़कर उन्हें अपना हाथ पकड़ा देती है। वह उनके सुन्दर मुख को देखती है और उनकी बलयाँ लेती है।

---

१ सूरसागर पद ८४२ पृ० ३३७ (स० स०)
२ वही पद ७१६, पृ० २६४५ (स० स०)
३ वही, पद ७१७, पृ० २६५
४ वही पद ७२८, पृ० २६६

सिखवत चलन जसादा मया ।
अरवराद कर पानि गहावति डगमगाय धरनी धरैं पया ।
कबहुँक सुन्दर बदन बिलाकति उर आनँद भरि लति बलया ॥[1]

गिर पडे ता क्या, कृष्ण न चलना नहा छाडा । घर के आँगन म व पूरी तरह घूमन फिरन लग हैं पर देहरी (दहलीज) पर आकर अटक जान हैं। उसे लाघने का यत्न करन हैं पर गिर गिर जान हैं ।[2] वे और बडे हान हैं। माँ दूध पिलाना चाहती है चाटी बढन का प्रलाभन देती हैं पर चाटी है, कि नहा बढती । व अब माँ का उलाहना दन हैं और मा यह सब दखकर स्वग का सुख लूटती है—

मया कबहिं बढैगी चाटी ?
किती बार माहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी ॥
तू जा कहति बल की बनी ज्यौं ह्वै है लाँबी माटी ।
काढत गुहत न्हवावत जहै नागिनि सी भुई लाटी ॥
काचो दूध पियावत पचि-पचि दनि न माखन राटी ।
सूरज चिरजीवो दाउ भया हरि हलधर की जोटी ॥[3]

पुत्र के प्रति मा का यह वात्सल्य वियाग म और भी अधिक उभर आता है । पुत्र की य बाल-सुलभ क्रीडाएँ रह रह कर याद आती हैं । नत्रा के सामने रह रह कर चित्र आन हैं और जात हैं । जिस माखन क लिए कृष्ण इतना हठ करते थे, जिस दही के लिए वे इतने उत्सुक रहन थ वे ही अब उसके वियाग म उस प्रेम को उभार देते हैं । अब व दूध बिलाती हैं पर अब नति पकडकर परेशान करन वाला कन्हैया नहीं है मक्खन का ढेर पडा है पर उसक लिए मचलन वाला अब यहाँ नहीं । सूर्य उगता है, बढता है पर अब उलाहना दनवाली गापी नहीं आती । आनन्द की व घडियाँ बीत गयी अब ता उदासी-ही उदासी है । मात हृदय की इस दशा का चित्र दखिये—

मरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वसहि धरयो रहै ।
का उठि प्रात हात ल माखन का कर नति गहै ॥
सून भवन जसादा सुत के गुन गुनि सूल सहै ।
दिन उठि घर घेरत ही ग्वारनि उरहन काउ न कहै ॥
जा ब्रज म आनन्द हुतौ मुनि मनसा हू न गहै ।
सूरदास स्वामी बिनु गाकुल काैडी हू न लहै ॥

इस वियाग म रह रह कर कृष्ण और बलराम का ध्यान आता रहता है । बार-बार टीस उठती है चुभन हाती है । मा साचती है कि उसक बिना उसके बालको

१ सूरसागर पद ७३३ पृ० ३०० (स० स०)
२ वही पद ७४३ पृ० ३०३
३ वही, पद ७९३ पृ० ३२०

का ध्यान कौन रखता होगा ? बालक भले ही युवा हो जायें वे चाणूर-जसे पहलवान को पछाडन और कस-जसे आततायी को यमलोक भेजने की शक्ति रखते हा, पर माँ के लिए ता वे बालक ही हैं। वह उन्हें बुलाने को सदेश भेजती है। वह कहती है कि मेरे रहते हुए मेरे बालक क्या दुखी हा—

जदपि मन कौं समुभावत लाग।
मूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग ॥
प्रात काल उठि माखन रोटी को बिनु माँगे दहै।
अब उहि मेरे कुवर कान्ह को छिन छिन अक म लहै ॥
कहियौ पथिक जाइ घर आवहु राम कृस्न दोउ भया।
सूर स्याम कत होत दुखारी जिन के मो-सी मया ॥

मात हृदय का ऐसा सरल, स्वाभाविक और हृदयग्राही चित्र क्या अन्यत्र मिल सकेगा ?

परमानन्द दास न भी इसी तन्मयता से वात्सल्य भाव का वणन किया है। कोई पडोसिन उसके 'छगन मगन' से लाल को जब देखने आती है, आकर छाती से लगा लेती है तो यशोदा माता उसे वहाँ से भगान के लिए सकडो बातें कहती हैं। उनका मातृ हृदय अकारण ही अनिष्ट की आशका से व्याकुल हो उठता है और वह उसे अपने घर जाने के लिए कहती हैं। परो म पजनी बाँधकर रुन भुन करत हुए कृष्ण जब घर के आँगन म घूमत हैं तो सारा घर आनन्द से भर उठता है। कोई गोप वधू जब कृष्ण की शिकायत लेकर आती है ता कृष्ण का उत्तर देखने योग्य है। वे बडे ही भालेपन स अपनी निर्दोषता तो सिद्ध करते ही हैं, अपने सकट म पड जाने और भाग्यवश उसस बच निलकन की बात इस ढग से कहते हैं कि यशोदा मया सब-कुछ भूनकर उन्हें छाती से लगा लेती है—

तरी सौं, सुनि सुनि री मया।
या के चरित तू नही जान, बोलि बूझि सक्सन भया ॥
ब्याई ग्राम बछरुआ चाटत हौं पीवत हो प्रात खन धया।
मोहि देखि धौरी बिभकानी, मारन कौं दौरी मोहि गया ॥
द्व सीगन के बीच परयौ मैं, तहाँ रखवारो कोउ न मया।
तरो पुन्य सहाय भयो है अब उबर्यो बाबा नद दुहैया ॥
ये जाऊ बाटि परी ही मो प, भाजि चली कहि दया दया।
'परमानंद' स्वामी की जननी उर लगाइ हसि लेति बलया ॥[1]

कृष्णदास ने भी भगवान की बाल लीलाआ का वणन किया है। नद के लाल कृष्ण पालन म भूल रहे हैं उनके बाल बिखरे है, गाराचन का तिलक लगा हुआ है,

---

१ अ० व० स० सि० सा०, पद ३८, पृ० १९१

पर का अंगूठा मुँह में दिया हुआ है किलकारी मार रहे हैं नेत्रों में अंजन है गले में शेर का नख पहना है, किंकिणी बंधी हुई है—

नंद को लाल व्रज पालन भूल ।
अलक अलकावली तिलक गोरोचन चंदन अंगुष्ठ मुख किलकि फूल ।
नैन अंजन रंग भरे अभिराम भृकुटि कंठ बघनखो करज किंकिनि कटि मूल ।
कृष्णदास नाथ रसिक पिय गिरवर धरन निरखि नागर देह गेह भूल ॥[1]

चतुर्भुजदास ने भी बाल-लीला का वर्णन उत्साहपूर्वक किया है। उनके कृष्ण कंठ में कठुला पहने हैं अलकें मुख पर लटक रही हैं उनके इस सौन्दर्य को देख-देख कर माँ यशोदा बार बार जाती है। बाल कृष्ण को माखन और मिश्री बहुत पसन्द है। वे अपनी माँ से अनुरोध करते हैं कि वह उसे अपने हाथ से मीठा दही खिलावें। वे यह भी पूछते हैं कि माँ ने उनका विवाह अभी तक क्यों नहीं किया है—

अजहूँ ब्याह करति नहिं मेरो हाय निमंत्रि नीके क्यों आन ।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधर की बतियाँ सुन उठ्यो पय पान कराव ॥[2]

माधुर्य भाव

अभी हम सख्य भाव और वात्सल्य भाव से भगवान के ध्यान एवं पूजा की बात कह आये हैं। आरम्भ में इस भक्ति शाखा में बालरूप की पूजा थी उनके इष्ट देवता बाल कृष्ण ही थे पर धीरे धीरे वल्लभाचार्य के जीवन के उत्तरकाल में किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं का समावेश इस मत में हो जाने से माधुर्यभाव से उपासना करने की पद्धति चल पड़ी थी। उनके पुत्र एवं उत्तराधिकारी गोस्वामी विट्ठलनाथ के समय में इस माधुर्योपासना को और अधिक प्रश्रय मिला। बालरूप और सख्यभाव की उपासना धीरे धीरे कम होने लगी और माधुर्य भाव की उपासना बलवती हो उठी।

लोक-पक्ष का शृंगाररस या रति भाव ही भक्ति-क्षेत्र में मधुर भाव कहलाता है यह पीछे कहा जा चुका है। लोक में प्रेम के जितने सम्बन्ध हैं उन सब को भक्तों ने लोक से हटाकर ईश्वर के साथ जोड़ा है। यहाँ तक कि ऐन्द्रिय विषय में अनुरक्त लोगों को संसार के विषयों से छुड़ाने के लिए भक्ति शास्त्र के आचार्यों ने ईश्वर को ही उनकी विषय-तृप्ति का साधन बना दिया है। लौकिक वस्तु अथवा व्यक्ति के संसर्ग से जो आनन्द हमारी इन्द्रियों अथवा मन को उपलब्ध होता है उसका मूल स्रोत परमात्मा है। उससे मधुर भाव के सम्बन्ध की स्थापना स्वाभाविक ही है। 'रसो वै रसः' के अनुसार वह रसरूप ही है उस रसमय के साथ यदि रसपूर्ण सम्बन्ध स्थापित न

---

१ अ० व० स० सि० सा० पद १ पृ० २२६
२ वही, पद ११, पृ० २७८

न किया जा सका तो फिर किसके के साथ किया जायेगा? अष्ट छाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास ने इस भाव का निम्नलिखित पद द्वारा व्यक्त किया है—

रूप प्रेम आनन्द रस, जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरधर देव सो, निधरक बरनौं ताहि॥

कर्मेन्द्रियों का जो स्वभाव है उनका जो धर्म है, उसे छोड़ सकना उनके लिए सम्भव नहीं। जो साधक ऐसा करने का उपदेश देते हैं वे स्वाभाविकता को भुला देते हैं। कर्म में रत रहना कर्मेन्द्रियों का स्वभाव है। फिर भी केवल बाह्य कर्म न करने से ही तो नैष्कर्म्य भाव को प्राप्त नहीं किया जा सकता। मन को वश में करना हवा को रोकने से भी अधिक दुष्कर कार्य है। खाली मन तो शैतान से भी अधिक शरारती होता है, इसे कहीं न कहीं तो लगाना ही होगा। गीता में भगवान ने इसीलिए अर्जुन से कहा था कि हे अर्जुन! सारे कर्मों को मुझे ही अर्पित कर दे। कृष्ण-भक्त कवियों ने ठीक वही कार्य किया है। आँखें अब तक लौकिक-सौन्दर्य पर रीझती थीं, उन्हें कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य पर रीझने के लिए कहा। श्रवण लौकिक संगीत सुन कर मुग्ध होते थे, उन्हें कृष्ण के अलौकिक वंशीनाद पर रीझने को कहा। जिह्वा सुन्दर भोजन और प्रेयसी के अधरामृत का रसपान करने में मग्न थी, उसे कृष्ण के गुणगान और अधरामृत के पान को कहा। शरीर लौकिक पदार्थों का संस्पर्श पाकर पुलकित होता था, उसे कृष्ण के शरीर का स्पर्श करने को कहा। मन जो इधर उधर भटकता फिरता था उसे कृष्ण के साथ रमण करने को कहा। दूसरे शब्दों में इन इन्द्रियों को लौकिक धरातल से ऊपर उठाकर अलौकिक धरातल पर ला बैठाया गया।

इसी माधुर्यभाव का दूसरा नाम रागानुगा भक्ति है। एक प्रकार से यह मर्यादावादी भक्ति से ठीक उलटी है। मर्यादावादी मार्ग में वे ही सम्बन्ध जोड़े जाते हैं जो लोक-सम्मत हैं। पर माधुर्यभाव में विधि निषेध की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता। इस में अधिकांश रूप में भगवान के साथ पति पत्नी के सम्बन्ध की स्थापना की जाती है। यह सम्बन्ध, स्वकीया और परकीया दोनों ही के रूप में होता है। अधिकांश रूप में गोपियों का प्रेम स्वकीया का प्रेम है। राधा का प्रेम स्वकीया का प्रेम है, यह दिखलाने के लिए सूर ने आरम्भ में राधा और कृष्ण का गान्धर्व विवाह करा दिया है—

जाको व्यास वर्णत रास, है गन्धर्व विवाह चित्त दै सुनो बिबिधि बिलासी।

सूर से ही स्वकीया के कुछ अन्य उदाहरण देखिये—

(अ) बिनती सुनो दीन की चित दै कैसे तव गुण गावै।

—

मेरे तो तुम ही पति तुम समान को पावै।
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु को मो दुख बिसरावै॥

—

(आ) हम अति गोकुल नाथ अराध्यो ।
मन बच क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेमजोग तप साध्यो ।

कृष्णदास का निम्नलिखित पद भी इसी भाव को व्यक्त करता है—

ज्यों ज्यों राखो त्यों त्यों रहौं जु देहु सु खाउ ।
तुम्हरो मेरे पति गति लेउ तेरो नाउँ ।।
मेरे जान तजहु न गिरिधर तुम्हें छाँड़ि प्रिय कौन पै जाऊँ ।।

परकीया भाव के पद भी इस भक्तिधारा में पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से इस भाव की हम कितनी ही निन्दा क्यों न करें इसका अपना विशेष आकर्षण है। विवाहित पत्नी पति को सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण यदि करती है तो बदले में बहुत-कुछ पाती भी है। उसके प्रेम के पुरस्कार स्वरूप समाज उस सती को पत्नी से सुशोभित करता है, सन्तान के रूप में वह आत्म प्रसाद का अवसर पाकर मुदित होती है, पति से रक्षा का आश्वासन रहता है। एक प्रकार से वह जीवन-बीमे का लाभ उठाती है। वह देती है तो लेती भी है। इसके विपरीत परकीया देती सब कुछ है, लेती कुछ भी नहीं। उसे प्रेम का दान देने के लिए भी समाज के कटु वाक्यों की बौछार सहनी पड़ती है। वह घूँघट हटाकर भी प्रेम के नेम की रक्षा करती है। अहर्निश उसे अपने प्रेमी का ही ध्यान रहता है। उसका समस्त समय या तो मिलन की तैयारी में बीतता है या मिलन में। प्रेम की तीव्रता और गहराई का पता इसी भाव से चलता है। इसमें खोना अधिक है पाना कम। यही कारण है कि प्रेम की व्यंजना के लिए प्रायः सभी कवियों ने इस भाव को स्वीकार किया है। भागवतकार ने जिस रास का वर्णन किया है उसमें वेद मर्यादा और विधि निषेध का एकदम परित्याग किया गया है। कृष्ण गोपियों को समझाते हैं कि वे गृह-त्याग न करें, पति धर्म का पालन करें। युवती का धर्म है कि वह घर में ही रहकर पति की ही सेवा करे। इन सब बातों के उत्तर में गोपियाँ कहती हैं कि यदि कुल की मर्यादा छोड़ चली आयीं तो क्या हुआ ? लौकिक बंधनों और मोह को छोड़े बिना भगवान् की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। भागवतकार के अनुकरण पर अष्टछाप के कवियों ने भी परकीया भाव का चित्रण किया है।

यद्यपि सूर ने राधा और कृष्ण का गान्धर्व विवाह कराकर स्वकीया भाव को ही प्रधानता दी है पर सूरसागर में परकीया भाव से प्रेम करने के उदाहरणों की कमी नहीं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि मुरली की ध्वनि सुनते ही सब गोपियाँ घर छोड़ने के लिए इस प्रकार बावली हो गई मानो उनके ऊपर कोई जादू हो गया हो। उन सबने लाज गवाँ दी मर्यादा को छोड़ दिया और आर्य-पथ को भूल बैठीं—

जबहिं बन मुरली स्रवन परी ।
चकित भई गोप-कन्या सब काम धाम बिसरी ।।
कुल मर्जाद वेद की आज्ञा नेकहु नहीं डरी ।
स्याम सिंधु सरिता ललना गन, जल की ढरनि ढरी ।।

अंग मरदन करिबे को लागी, उबटन तल धरी।
जो जिहि भाँति चली सौ तसैंहि निसिदिन कौं जु खरी॥
सुत पति-नेह, भवन-जन सका, लज्जा नाहिं करी।
सूरदास प्रभु मन हरि लीन्हौ, नागर नवल हरी॥

एक अन्य पद म परकीया भाव स प्रेम करने वाली गोपियो की दशा का चित्रण इस प्रकार किया है—हरि के अनुराग से भरी ब्रज की नारियो ने लोक की सकुच तथा कुल की कानि बिसार दी। सुत और पति क स्नेह का तिनके क समान तुच्छ समझा। जिस प्रकार जलधार एक बार आगे बढ कर फिर लौटती नही, जसे नदियाँ समुद्र म विलीन हो जाती हैं, जसे सुभट खेत म चढकर पीछे नही मुडता, जस सती फिर लौट कर नही आती, इसी तरह घरबार को छोडकर गोपियाँ जब कृष्ण के पास गयी तो उन्ही की हो गयी[1]—

लोक-सकुच कुल-कानि तजी।
जसैं नदी सिंधु कौं धावै, वसहिं स्याम भजी॥
मातु पिता बहु त्रास दिखायो, नैकु न डरी, लजी।
हारि मानि बठे, नहिं लागति, बहुत बुद्धि सजी॥
मानति नही लोक मरजादा, हरि क रग मजी।
सूर स्याम कौं, मिलि, चूनौ हरदी ज्यो रग रजी॥

परमानन्द ने भी गोपी के मुख स कहलाया है कि मेरा मन तो नन्दलाल स रँग गया है मेरा कोई क्या करगा? घरवाले डरात हैं पथिक खिल्ली उडाते हैं पर मेरा इहलोक और परलोक भले ही चले जायें, मैं कृष्ण के ऊपर सवस्व वार दूगी—

नन्दलाल सौं मरो मन मान्यो कहा करगो काई री।
हौं तो चरन कमल लपटानी जा भाव सो होय री॥
गहपति मात पिता मोहि त्रासत हसत बटाऊ लोग री।
अब तो जिय ऐसी बनि आई विधिना रचो सजोग री॥
जो मरो यह लोक जायगो और परलोक नसाय री।
नन्दनंदन को तौऊ न छाडू मिलूगी निसान बजाय री॥
यह तन घर बहुरयो नहिं पइय, वल्लभ वष मुरारि री।
परमानन्द स्वामी के ऊपर सरवस डारो वारि री॥

एक अन्य पद मे उन्होने कहा है कि मैंने तो कृष्ण से प्रेम किया है, कोई इसकी निन्दा करता है या प्रशसा, मुझे इसकी रत्ती भर भी परवाह नहा। अगर कोई उसे व्यभिचार भी कह तो ठीक है—

---

१ सू० सा०, प० ८२५

मैं ता प्रीति स्याम सों कीनी ।
कोऊ निन्दौ कोऊ बन्दौ अब ता यह करि दीनी ॥
जो पतिव्रत तो या ढाठा सों इहै समर्प्यो न्है ।
जा व्यभिचार नदनदन सों बाढ यो अधिक सन्हे ॥
जा व्रत गह्यो सा और न आयो, मर्यादा को भग ।
परमानन्द लाल गिरिधर को पायो माटो सग ॥[1]

नन्ददास ता रस क उत्कर्ष की दृष्टि स परकीया भाव का ही श्रेष्ठ समझते हैं—

तजि तजि तिहि छिन गुनमय न्हे, जाइ मिली करि परम सनहे ।
जदपि जारबुद्धि अनुसरी परमानन्द कद रसभरी ॥

रूपमजरी ग्रथ म रूपमजरी क रूप म परकीया भाव का मधुर भक्ति का प्रकट किया गया है । नन्ददास ने गापियो की प्रशसा ही इसलिए की है कि उन्होंने लोक और वद की मर्यादा का तण क समान ताड डाला है ।[2] राम के समय मर्यादामाग का परिपालन करत हुए जा गापियाँ घर पर ही रह गई थी व सरासर घाट म रही । उन्होंने पाया कुछ नहीं खाया बहुत कुछ । व रस क स्वाद स सदव के लिए वचित रह गयी ।[3]

पुष्टिमार्गी सेवा विधि

हमार साहित्य म पुष्टि मार्गी साहित्य का विशष स्थान है समस्त साहित्य पर इसकी छाप है अत इस माग की सवा विधि का सक्षिप्त परिचय पाठको के लिए लाभकारी रहगा । इस माग म सवा क दो प्रकार हैं – १ नामसवा २ स्वरूपसेवा । स्वरूप-सवा भी तीन प्रकार की हैं १ तनुजा २ वित्तजा ३ मानसी । इस मानसी के भी दो भेद हैं—१ मर्यादा मार्गी और पुष्टि मार्गी । पुष्टि मार्गी सवा का भाव साधारण उपासना अथवा पूजा नहीं है । साधारण उपासना म ता श्रुति स्मृति विहित कर्म-काण्ड करने का प्राधान्य होता है और पुष्टिमार्गी सवा म भावना का प्राधान्य । इस पुष्टिमार्गी सवा विधि क दो क्रम हैं—१ नित्य सवा विधि और २ वर्षोत्सव की सवा विधि । प्रात काल स शयनपर्यन्त की नित्य सवाविधि और विशष अवसरों पर वर्षोत्सव की विधि के उत्सव तथा अन्य अवसरो की जयन्तियाँ सम्मिलित हैं ।

जिन आठो झाँकियो का उल्लेख ऊपर किया गया है उनका विवचन विस्तार क साथ वल्लभपुष्टि प्रकाश म हुआ है और वह निम्नलिखित है—

---

१ अ० द० स० सि० सा० पृ० १६५
२ रासपचाध्यायी अ० ४
३ वही, पृ० ५५
४ सूर और उनका साहित्य पृ० ३६६

(१) मगला — इसम गुरु-स्मरण तथा वन्दना आदि के पश्चात् भगवान कृष्ण के स्वरूप को जगाया जाता है, फिर उनको कलेऊ कराया जाता है जिसे मगल भोग कहते हैं। इसके अनन्तर *मगला आरती होती है।* यशोदाजी की वात्सल्य भावनाओ से भावित होकर य सब क्रियाए की जाती हैं। ऋतु के अनुकूल वस्त्र और सामग्री भी दिये जाने का विधान है।

(२) *शृगार —इसम भगवान् के स्वरूप को उष्ण जल से स्नान कराया जाता* है और फिर तलादि लगाकर वस्त्राभरण आदि से स्वरूप को सुसज्जित किया जाता है जिसके अनन्तर शृगार भोग होता है।

(३) ग्वालभाव से घया अरोगाई जाती है।

(४) शीतकाल मे भगवान कृष्ण आनन्द आदि के साथ घर म भोजन करते हैं और उष्णकाल मे यशोदा वन मे भोजन सामग्री भजती हैं, जिस छाक भी कहते हैं। उसके अनन्तर राजभोग आरती होती है।

(५) *उत्थापन—छह घडी दिन गए जब प्रभु को जगाया जाता है तो उसे* उत्थापन कहते हैं।

(६) भोग—जगाने के अनन्तर जब फल फूलादि का भोग आता है तब वह भोग की झाकी होती है।

(७) सन्ध्या आरती—इसम भगवान वन से गौओ को लेकर आते हैं।

(८) शयन—इसम पहले व्यास शयन भोग होता है फिर दशन-आरती होती है तदनन्तर भगवान को पौढाया जाता है।

इन कवियो ने सवा के इन सभी अगो का वणन किया है। डा० मुशीराम शर्मा ने भारतीय साधना और सूर साहित्य' नामक अपने ग्रथ मे इस प्रकार के उदाहरण सविस्तार दिय हैं।

प्रपत्ति

प्रपत्ति का अथ है सवताभावेन प्रभु की शरण म जाना। इस भक्ति शाखा के अनुयायियो का प्रपत्ति म अटूट विश्वास है। वल्लभाचाय पुष्टिमाग के अनुयायी थे। इस पुष्टिमाग का आधार भगवान के अनुग्रह पर अविचलित विश्वास है। आचायजी न पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्य कहकर इसी भाव को व्यक्त किया है। इस माग म भक्त अपने साधनो पर विश्वास न रख कर भगवदनुग्रह को ही सुदढ आधार मानकर चलता है। वल्लभाचाय का स्पष्ट कथन है—

नहि साधनसम्पत्या हरिस्तुष्यति कस्यचित।
भक्ताना दन्यमेवक हरितोषण - साधनम ॥
सन्तुष्ट सवदु खानि नाशयत्येव सवत ॥[1]

---

१ अ० व० स० सि० सा० प० ५२४

सूर ने भी यही भाव इन शब्दों में व्यक्त किया है—

करी गोपाल की होई।
जो अपनों पुरुषारथ मानत अति झूठो है सोई॥

मानव अल्पज्ञ है और अल्प शक्ति वाला है। वह अपने पुरुषार्थ और ज्ञान के सहारे कुछ नहीं कर सकता। इस अगाध भव-सिन्धु में तरह-तरह के ग्राह हैं जो उसे पार नहीं करने देते, तरह तरह के प्रलोभन हैं जो उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। माया की चकाचौंध से वह उसकी ओर खिंच जाता है। इस दुस्तर भव-बन्धन को काटना उसकी सामर्थ्य से बाहर है। उद्धार का यदि कोई मार्ग है तो वह है भगवान की शरण में जाना। यह भाव इन कवियों की रचनाओं में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। सूरदास का कहना है कि—हे प्रभु! शरण में आये हुए की लाज रखिये मैंने न तो धर्माचरण किया है न तप और व्रत किया है, मैं किस मुँह से विनय करूँ? पाप के जितने भी मार्ग थे मैं उन सभी पर चला हूँ मैं अवगुणों से भरा पड़ा हूँ और अब आपकी शरण में हूँ—

सरन आय की प्रभु लाज उर धरिये।
साध्यो नहिं धर्मशील सुचि तप व्रत कछु कवन मुख ले तुम्हें विनय करिये।
पाप मारग जिते तब कीन तिन बच्यो नहिं कोई जहँ सुरति मेरी।
सूर अवगुन भरयो, आइ द्वार परयो, तकी गोपाल अब सरन तेरी॥[1]

एक अन्य पद में वे कहते हैं कि हे प्रभु! मेरे गुणों और अवगुणों पर विचार न करो और शरणागत की रक्षा का ध्यान करो। मेरी गति तो उस श्वान जैसी है जो जूठन के लालच से इधर उधर भटकता फिरता है। मैं तो कामी हूँ कुटिल हूँ कुदर्शन हूँ और मतिहीन हूँ पर तुम्हारे सिवाय कोई ऐसा नहीं कि जिसका भजन करूँ।

प्रभु मेरे गुन अवगुन न विचारो।
कीजै लाज सरन आये की रवि सुत त्रास निवारो॥
जोग यज्ञ जप तप नहिं कीन्हो वेद विमल नहिं भाख्यो।
अति रस लुब्ध स्वान जूठनि ज्यों कहूँ नहीं चित राख्यो॥

तुम सरबज्ञ सब बिधि समरथ असरन सरन मुरारि।
मोह समुद्र सूर बूड़त है लीजे भुजा पसारि॥[2]

अल्पशक्तिमान जीव की बिसात ही क्या है? वह व्यर्थ ही अपने को कर्ता

[1] सू० सा० स्क० १ पद ११०
[2] वही स्क० १ पद १११

समझकर इधर-उधर की बेगार में परेशान रहता है। अपने को नियामक समझने वाला जीव भगवान के हाथ की कठपुतली भर है, होता वही है जो वह नटवर चाहता है—

> घमपुन, तू देखि विचार कारन करनहार करतार।
> नर के किये कछू नहिं होई, करता हरता आपुहिं सोई ॥[1]

आदमी चाहे जितना सोचता रहे उसके सोचने या न सोचने से होता ही क्या है? वह तो करनहार के हाथ की कठपुतली भर है—

> होत सो जो रघुनाथ ठटै।
> पचि पचि रहे सिद्ध साधक मुनि, तऊ न बढ़ै घटै ॥
> जोगी जाग धरत मन अपने, सिर पर राखि जटै।
> ध्यान धरत महादेव रु ब्रह्मा, तिनहूँ पै न छुटै ॥
> जती सती तापस आराधैं चारौं बेद रटै।
> सूरदास भगवंत भजन बिनु करम फाँस न कटै ॥[2]
>
> सूरदास ह्वै प्रभु रचि है सु को करि सोच मरै ॥

अनन्यता

प्रेम की कसौटी है अनन्यता और इस भक्ति शाखा के कवि इस कसौटी पर खरे उतरते हैं। अपने आराध्य कृष्ण को छोड़कर इनका मन भ्रमर अन्यत्र कहीं नहीं रमता। जिस प्रकार जहाज का पंछी उड़कर थोड़ी देर के लिए इधर-उधर भले ही उड़ता फिरे पर अन्त में वह फिर जहाज पर ही आ जाता है उसे कहीं अन्यत्र शरण नहीं मिलती, उसी प्रकार भक्त का मन और कहीं नहीं टिकता। जिसके घर पर गंगा की धारा बह रही है वह कूप क्यों खुदवाये? जिसे कामधेनु मिली हुई है वह बकरी को क्यों ढूँढ़ता फिरे?—

> मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै?
> जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिर जहाज पर आवै।
> कमल नैन को छाँड़ि महातम, और देव कौं ध्यावै ॥
> परम गंग कौं छाँड़ि पियासो दुमति कूप खनावै।
> जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो, क्यों करील फल खावै ॥
> सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ॥[3]

---

१ सू० सा० स्क० १ पद २६१
२ वही, स्क० १, पद २६३
३ वही, पद १६८ पृ० ५५

एक अन्य पद में सूर का कथन है कि हे प्रभु ! मैं अज्ञानी यह नहीं जानता कि शिव और ब्रह्मा में आदि देव कौन है—

राम भक्त बत्सल निज जानौं !
जाति, गोत, कुल, नाम गनत नहिं, रंक होइ कै रानौ ॥
सिव-ब्रह्मादिक कौन जाति प्रभु हौं अजान नहिं जानौं ॥[1]

एक स्थान पर भक्त का कथन है कि भगवान तुम चाहे जितने लालच दिखाओ मेरी रुचि अन्यत्र हो ही नहीं सकती। यदि तुम मुझे अपने द्वार से घसिटवाकर बाहर भी कर दोगे तो भी मैं द्वार नहीं छोड़ूंगा।[2]

जो प्रेम किसी और की अभिलाषा रखे वह प्रेम ही क्या ? इनका सिद्धांत तो एकदेव की उपासना है। अपने इष्टदेव के प्रेम से हृदय इतना भरा हुआ है कि उसमें अन्य किसी के लिए स्थान ही नहीं। इसी भाव को गोपी के मुख से इस प्रकार कहलाया गया है—सखि ! सुन मेरे हृदय को ऐसी बान पड़ गई है कि वह गोपाल के सिवाय और किसी को जानता ही नहीं। जब हरिरूपी अमूल्य मणि उपलब्ध है तो मुझे अन्य कांच के टुकड़ों से क्या प्रयोजन ? मैंने उनके लिए जाति तक का त्याग कर दिया है।[3]

जब भक्त अपने इष्टदेव के सिवाय किसी अन्य का ध्यान नहीं करता तब उसकी निष्ठा परिपक्व हो जाती है। वह चाहता है कि उसका अधिक-से-अधिक समय उसके साथ बीते, वह उसके सिवाय अन्य किसी का ध्यान न करे। उसके सान्निध्य के लिए वह सब-कुछ बनने को तयार रहता है। सूर ने एक पद में कहा है कि यदि कृष्ण का सान्निध्य मिले तो मैं ब्रज की रेणु तक बनने को तयार हूँ। भगवान चाहे तो मुझे लता द्रुम कुछ भी बना दें चाहे वह गायों और गोपालों का भृत्य ही बना दें, पर मैं कृष्ण के समीप ही बना रहूँ—

करहु मोहि ब्रज रेणु देहु बृन्दाबन बासा।
मांगौं यहै प्रसाद और नहिं मेरे आसा ॥
जोई भावै सो करहु लता सलिल द्रुम गेहु।
ग्वाल गाइ कौ भृतु करौ मनो सत्य ब्रत एहु ॥[4]

भक्त बेचारे की बिसात ही क्या ? वह चाहने के सिवाय कर ही क्या सकता है ? सब कुछ तो उस नटवर की इच्छा पर निर्भर करता है। पर यदि उसका वश चले तो वह अपने आराध्य देव को अपलक नेत्रों से देखता ही रहे। गोपी के रूप में

---

१ सू० सा०, पद ११०
२ सू० सा० पद ११६
३ सू० सा०, पद १४१८
४ सू० सा०, स्कन्ध १०

भक्त कहता है —यदि विधना का मैं वश कर पाऊँ तो अपने मन की साध पूरी कर लू। कृष्ण के लिए मैं प्रत्येक रोम को नेत्र बना लू, उनम कृष्ण को बन्द कर लू और पलक न भपकू।[1] उसकी यह भी इच्छा है कि यदि मैं अपने चितचोर को पा जाऊँ तो हृदय-कपाट लगाकर उन्हें अन्दर ही बन्द कर लू। यदि वे ऐसे समय आवें जब गुरु-जन वहाँ न हों तो उसे भुजाओ म भरकर अपने दिल के सारे मनोरथ पूरे कर लू। गोपियो की तन्मयता सचमुच ही धन्य है। सूर के शब्दा म, गोपियाँ कृष्ण-सौन्दय के समुद्र मे ऐसे मिल गयी जसे नदी अपना नाम और रूप मिटाकर समुद्र मे अपना रूप खो बठती है। उन्हाने ससार को इस तरह छोड दिया जसे सप केंचुली का छोड देता है।[2]

नदी का रूप विशाल है। उसके समुद्र मे मिल जाने पर कुछ क्षणो के लिए किसी विशेष स्थान पर शायद उसकी स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती हो, उसका थोडा सा अपनापन बचा रहता हो। वह थोडा सा भी अपनापन भक्त के लिए गुरुतम अपराध है यही सोचकर सूर ने एक स्थान पर कहा है—गोपियाँ इस तरह कृष्णमय हो गयी जसे एक बूद जल समुद्र म गिरकर तदाकार हो जाता है।[3] विशाल समुद्र मे एक बूद का अस्तित्व ही क्या? यह तन्मयता उस समय पराकाष्ठा को पहुच जाती है जब गोपी गोरस बेचते-बेचते गोरस का नाम भूल जाती है और गोरस की जगह गोपाल का नाम ही बार-बार उसके मुह से निकलने लगता है—

> गोरस को नित नाम भुलायो।
> लेहु लेहु कोऊ गापालहि, गलिनि गलिनि यह सोर मचायो॥

तथा—

> ग्वालिनि प्रगटयो पूरन नहू।
> दधि भाजन सिर पर धरे कहति गुपालहि लेहु॥[4]

कृष्ण इन भक्ता का सवस्व है। मन तो उनका ध्यान करता ही है, पर जीभ भी केवल उन्हीं का नाम लेना चाहती है। तभी ता सूर का कहना है कि जीभ वही है जो कृष्ण के गुण गाती है, नेत्र वही हैं जो कृष्ण को देखते हैं, ध्यान की साथकता मुकुन्द के ध्यान म है निमल चित्त वही है जो कृष्ण को छोड कर अन्य किसी का ध्यान नही करता, श्रवण की साथकता हरि-कथा के सुधारस से कानो को तृप्त करने म है, हाथा की साथकता कृष्ण की सवा म है परो की साथकता वृन्दावन चल कर जाने म है। सूर उनकी बलि लेते हैं जो हरि से प्रीति बढाते हैं।[5]

---

१ सूरसागर प० ८६३
२ वही प० ८६३
३ वही स्क० १० प० ५३८ (परी जो पयनिधि अल्प बूद जल सपनि कौन पहचानै)
४ वही, प० २५७
५ वही, पद ३५० पृ० ११७

राधा भक्तो की शिरोमणि हैं। भक्त का कसा हाना चाहिए, व इस बात का आदश हैं। कृष्ण और राधा दाना भि न न हाकर एक हैं। भक्त और भगवान क बीच म अन्तर कसा ? जस भ ग कीट का पकडकर अपन रूप म परिवर्तित कर लता है उसी प्रकार राधा माधव म माधव राधा म मिलकर एक हा गए पार्थक्य मिट गया। भक्त न प्रभु का अपन घरातल पर खींच लिया और प्रभु न भक्त का अपन म मिला लिया—

> राधा माधव भेंट भई।
> राधा माधव माधव राधा कीट भ ग गति ह्व जु गइ ॥
> माधव राधा के रग राचे राधा माधव रग रइ।
> माधव राधा प्रीति निरन्तर रसना करि सा कहि न गई ॥[1]

सूरदास के अतिरिक्त अ य कवियो म भी अनन्यता और त मयता की भावना इतनी ही तीव्र मात्रा म पायी जाती है। परमान द का विचार है कि प्रीति तो वही भली है जा एक स हा इष्टदव कृष्ण क चरण कमला का छाड कर इधर-उधर दौडन स क्या लाभ—

> प्रीति तो एकहि ठौर भली !
> इहव कहा मति चरन कमल तजि फिर जु चली चली ॥[2]

इन्हे भी कृष्ण क सामीप्य लाभ की उतनी ही लालसा है जितनी सूरदास का। य उनके लिए चतन और अचेतन वह सभी कुछ बनने को तयार हैं जिससे कृष्ण का सामीप्य बना रहे—

> व दावन क्या न भय हम मार !
> करत निवास गावधन ऊपर निरखत नन्द किसार ॥
> क्या न भय वशी कुल सजनी अधर पिवत घनधार।
> क्यो न भय गुजावन बेली रहत स्याम की आर ॥
> क्या न भय मकराकृत कुडल स्याम स्रवण भकभोर।
> परमान द दास क ठाकुर गोपिन क चितचार ॥[3]

कवि कहता है कि मैंने अपना मन हरि से जाड लिया है तया और सव व्यक्तिया स नाता ताड लिया है। जब नाचना ही है तब घूघट कसा ? जब मैंने कृष्ण से प्रेम किया है तो लाक-लाज का क्या भय ? अपनी लाक-लाज की मटकी का ता मैंन सब क सामने फाड दिया है अब मुझ भय नहीं जिस जा कहना है, वह कहता रहे। मैंन तो लाक और वेद की मर्यादा का तिनक क समान ताड दिया है—

---

१ सू० सा० पद ४६१०
२ अ० व० स० सि० मा० प० ५७६
३ वही, प० ८४३

मैं अपनो मन हरि सों जारयो, हरि सों जारि सवन सों तोर्यो ।
नाच नच्यो तो घूँघट कसो ? लोक लाज डरु फटकि पिछार्यो ॥
आगे पाछें साच मिटयो सब, झाँभ बाट मटुका ल फार्यो ।
परमानन्द प्रभु लाक हँसन द, लोक वेद त्यो तिनका तोर्यो ॥[1]

नन्ददास के जीवन की भी सबसे बडी अभिलाषा कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त करना है । इसके लिए वे भी वन की लता और माग की धूल होने को तयार हैं—

किधौं होंहु द्रुमलता वेलि वल्ली बन माँही ।
आवत जात सुभाय परे मोप परछाँही ॥
सोऊ मेरे वस नहीं, जो कछु करौं उपाय ।
मोहन होंहि प्रसन्न जो यह वर माँगों जाय ॥
कृपा कर दीजिये[1]

तथा—

अब रहिहौ ब्रजभूमि म, ह्वै मारग की धूरि ।
विचरत पद मोपे पर, सब सुख जीवन भूरि ॥
मुनिन हू दुलभ ।[2]

उनका यह भी कहना है कि यदि पवत पर ही रहना हो तो गोवधन पर रहना मिले, यदि ग्राम म रहना हो तो नन्द ग्राम मे रहूँ, यदि किसी सरिता के तट रोके रहना हो तो वह यमुना हो और यदि वन का वास मिले तो वन्दावन मे रहूँ—

जो गिरि रुच तो वसौं श्री गोवधन ग्राम रुच तो बसौं नन्द गाम ।
नगर रुच तो वसौं श्री यमुना तट सकल मनोरथ पूरन काम ।
नन्ददास काननहि रुचै तो बसौं भूमि बन्दावन धाम ॥[3]

प्रेम का आश्रय सदव एक ही होता है, यह कोई सौदा नही कि जिस म हानि लाभ का विचार किया जाय—

प्रेम एक, इक चित्त सों, एकहि सग समाइ ।
गाँधी का सौदा नही, जन जन हाथ बिकाइ ॥[4]

कुम्भनदास भी कृष्ण को छोड कर अन्य किसी के गुण नही गाते, उनका व्रत है कि अन्य किसी के लिए हृदय म रुचि ही नहीं पदा होती—

माई, गिरिधर के गुन गाऊँ ।
मेरे तो व्रत एही है निस दिन और न रुचि उपजाऊँ ॥[5]

---

१ अ० व० म० सि० सा० प० १६५
२ वही, प० ८५४
३ वही, प० ३२२
४ वही प० ६७६
५ वही, प० ६७६

कृष्णदास के भी इष्टदेव केवल कृष्ण ही हैं। वे चाहे जिस ढंग से रखें भक्त को उसी ढंग से रहना चाहिए। भक्त के लिए अपने इष्टदेव को छोड़ कर अन्य कोई दूसरा स्थान नहीं—

ज्यों ज्यों राखौ त्यों रहूँ जु रहूँ सु गाऊँ।
तुमहिं मेरे पति गति सब तेरो नाऊँ॥

मेरे जान तजहु गिरिधरन जो तुमहिं छाँड़ि पिय कौन पै जाउँ।
कृष्णदास कहै या त्रिभुवन में तेरे द्वार बिना हरि नहीं कहूँ ठाउँ॥[1]

चतुर्भुजदास भी गोपाल को छोड़ कर अन्य किसी का भजन नहीं करते उन्हें पता नहीं कि इस मार्ग के सिवाय कोई दूसरा मार्ग है भी या नहीं—

एकहि और जप गोपाल।
अब यह तन जानें नहिं मगि गो और दूसरी चाल।[2]

छीतस्वामी के जीवन की एकमात्र कामना यही है कि जन्म-जन्मान्तर तक ब्रज का वास और रास का रस मिलता रहे—

अहो विधना! तो पै अचरा पसारि माँगों
जनम जनम दीजो मोहि याहि ब्रज बसिबो।
अहीर की जाति समीप नन्द घर हेरि
हेरि स्याम सुभग घरी घरी हँसिबो।
दधि के दान मिस ब्रज की बीथिन
झकझोरन अंग अंग को परसिबो।
छीतस्वामी गिरधरन श्री बिट्ठल,
सरदरैन रस रास बिलसिबो॥[3]

छीतस्वामी की अनन्यता तो यहाँ तक बढ़ी हुई है कि वे ब्रज को छोड़ कर बैकुण्ठ जाना भी पसन्द नहीं करते। उन्हें बैकुण्ठ से क्या प्रयोजन है जहाँ सारस, हंस और मोर नहीं बोलते और नन्द यशोदा तथा गोपियों में से कोई भी नहीं—

कहा करौं बैकुण्ठहि जाइ।
नहिं जहँ कुंजलता अलि कोकिल मंद सुगंध न बायु बहाइ॥
नहीं जहँ सुनियत स्रवनन बँसुरी धुन कृष्ण न सुरत अधर लगाइ।
सारस हंस मोर नहिं बोलत तहँ को बसिबो कौन सुहाइ॥

---

१ अ० व० म० सि० सा० प० ६७३
२ वही, प० २८६
३ वही, पद २३ पृ० २६६

नहिं जहँ ब्रज, बृन्दाबन बीथी, गोपी नद जसोदा माइ।
गोबिन्द प्रभु गोपी चरनन को, ब्रज रँज तजि वहाँ जाइ बलाइ ॥[1]

भक्तवत्सलता

इनके इष्टदेव उन देवो म नही कि जो भक्तो के कष्टो की ओर से आखें मूंद लते हों और कान बन्द कर लेते हो। जिस प्रकार गाय अपने बछडे का स्वय ध्यान रखती है, ठीक समय पर उसे दूध पिलाती है और प्रत्येक कष्ट से उसकी रक्षा करती है जिस प्रकार बन्दरी जरा सा खटका होने पर बच्चे का अपने पेट से चिपका लेती है इसी प्रकार भगवान चारो ओर से अपने भक्तो की रक्षा करत हैं। भक्त पर आयी विपत्ति को भगवान अपनी विपत्ति समझत हैं। भक्त का अपकार करनवाले को वे कभी क्षमा नही करते, सुदशन चक्र से उसका सिर अलग कर देत हैं। सूर ने अपने देव की दयालुता और भक्त वत्सलता का परिचय निम्नलिखित पद म बडे ही सुन्दर ढग से दिया है—

हम भगतन के, भगत हमारे।
सुन अरजुन परतिज्ञा मेरी, यह व्रत टरत न टारे ॥
भगत लाज-काज हिय धरि क पाँइ पयाद धाऊँ।
जहँ-जहँ भीर पर भक्तन प, तहँ-तहँ जाइ छुडाऊँ ॥
जो मम भक्त सौं बर करत हैं, सो निज बरी मेरौ।
देखि बिचारि भक्त हित कारन हाकत हौं रथ तरौ ॥
जीते जीत भक्त अपने की हारे हारि बिचारौं।
सूरदास सुनि भगत विरोधी, चक्र सुदरसन जारौं ॥

भगवान की भक्ति अपार है। कितनी ही विषम परिस्थितियाँ क्यो न हो, भगवान का वरद हस्त भक्त की रक्षा किसी न किसी उपाय से करता ही है। एक पक्षी के रूप म भक्त की रक्षा का वणन कितना हृदयग्राही बन पडा है—

अबकै राखि लेहु भगवान।
हम अनाथ बठे द्रुम डरिया पारधि साधे बान ॥
जाके डर भाज्यो चाहत है ऊपर ढुक्यो सचान।
दुहूँ भाँति दुख भयो आनि यह कौन उबार प्रान ॥
सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी, कर छूट सधान।
सूरदास सर लग्यो सचानहि, जय जय कृपा निधान ॥

भगवान दयालु तो हैं ही। वे छोटे-बडे म किसी प्रकार का अन्तर नही करते। वह जगत पिता अपनी सन्तान म किसे छोटा कह और किसे बडा? विदुर दासी के

१ अ० व० स० सि० मा०, पृ० २५७

पुत्र थे। कृष्ण भगवान् का खिलाने के लिए जो भोजन बनाया था, वह शाकपात ही था पर भगवान ने उसे षट रस व्यंजनों से अधिक स्वादिष्ट माना। प्रह्लाद यद्यपि दानव कुल में जन्मा था पर उसके लिए वे खम्भा चीर कर प्रकट हुए। बात यह है कि उनका नाम ही वह पारसमणि है कि जिसके स्पर्श से भक्त का खोट दूर हो जाता है, भक्त तो खरा सोना है वहाँ कौन खोट हो सकता है?

> बड़ी है राम-नाम की ओट।
>
> .. ..
>
> बेटत सभा सब हरिजू की, कौन बड़ो को छोट।
> सूरदास पारस के परसे मिटत लोह के खोट॥[1]

सूर की ही बात नहीं, भगवान का यह बाना इस शाखा के सभी कवियों को समान रूप से मान्य रहा है। उनके दर्शनमात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं, ताप का कहीं पता नहीं चलता। परमानन्द के शब्दों में भक्त और भगवान में अन्तर ही नहीं—

> दास अनन्य मेरो निज रूप।
> दरसन मात्र ताप त्रय नासत छुड़वाव गृह बंधन कूप।

जिसकी भृकुटि के विलास मात्र से चराचर विकम्पित हो जाता है जिसकी इच्छा का परिणाम ही यह विश्व है उसके लिए असम्भव क्या है? भक्त के ऊपर जहाँ वे एक बार रीझे नहीं कि फिर उनके लिए अदेय क्या है? लँगड़ा उनकी कृपा से पर्वत पार कर जाता है, अन्धा देखने लगता है और दर-दर का भिखारी छत्रपति बन जाता है—

> जा पर कमला कान्त ढरें।
> लकरी घास को बेचन हारो, ता सिर छत्र धरें॥
> विद्यानाथ अविद्या समरथ जो कछु चाहें सोइ करें।
> रीते भरें भरे पुनि रीतें जो चाहें तो फेरि भरें॥
> सिद्ध पुरुष अविनाशी समरथ काहू ते न डरें।
> परमानन्द सदा यह सम्पति, मन में कबू टरें॥[2]

अहं का लोप

अहं का लोप भक्ति की अनिवार्य शर्त है। जब अपने इष्टदेव को ही सबकुछ समझना है उस तन-मन धन सबकुछ अर्पित करना है तो अहं के लिए गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है? इन कवियों ने उद्धव के पराभव के रूप में अहं का पराभव दिखाया

---

१ सू० सा० स्कन्ध १ पद २३२

२ अ० व० स० सि० मा प० ६०८

है। उद्धव ज्ञान के प्रतीक होने के साथ-साथ अहं के भी प्रतीक हैं। उद्धव को ब्रज म आते समय ज्ञान का मद था, इस कारण वे शुद्ध भक्ति से कोसों दूर थे। प्रेम क्या है, यह वे जानते ही न थे। गोपियों से मिलने के बाद ही उनके हृदय मे कुछ भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। इस भक्ति के प्रकाश मे उनके हृदय की दुविधा, ग्लानि मन्दता और ज्ञान का तिरोभाव हो गया। वे गोपियों के दर्शनमात्र से अपने को कृतकृत्य समझने लगे।[1] उद्धव जैसे ज्ञानी जब गोपियो के पास से लौटते हैं तो एकदम बदले हुए, पूरी तरह पराजित, पर विजयी से भी अधिक प्रसन्न। लगता है, उन्हें नयी विधि मिल गई हो, जन्म-जन्मान्तर के प्यासे को अमृत का अक्षय स्रोत मिल गया हो। उद्धव का जैसे काया-कल्प ही हो गया हो। जिन गोपियों को वे तुच्छ समझते थे, वे अब उनका आदर्श बन गयीं। अब तो उनकी एकमात्र कामना यही है कि मैं ब्रज की रज बन जाऊँ जिससे गोपियों के पवित्र चरण मेरे ऊपर पड़ें अथवा मैं ब्रजवन का वृक्ष लतादि ही हो जाऊँ जिससे इन गोपियो की परछाईं मेरे ऊपर पड़ती रहे। मेरे वश की यह बात नहीं, यदि मेरे वश म होता तो मैंने कभी का इन वस्तुओं का रूप धारण कर लिया होता। मैं अब भगवान से यही वर माँगूगा।[2]

एक दूसरे स्थान पर इसी भाव को एक गोपी के मुख से इन शब्दो मे कहलाया गया है—श्याम मेरे दरवाजे पर आए और मैं गर्व किये रही। मेरी छोटी सी यह भूल मेरे लिए बड़ी महँगी सिद्ध हुई। अब तो मैं भूलकर भी गर्व नहीं करूगी। जिस कर्म से अपनी हानि होती हो उसे करके व्यर्थ ही क्यों मरू? वे मेरे घर आये थे, उनका कोई कसूर नहीं, मैं ही अभिमानवश ऐंठ मे रही। अब तो मेरे जीवन मे दुख ही दुख हैं। लगता है कि सारा जीवन विरह म ही कट जायगा। अब यदि किसी तरह उनके दर्शन हो जाय तो उनके साथ-साथ फिरूँगी, क्षण भर के लिए भी उनका साथ नहीं छोडूगी—[3]

मो तैं यह अपराध परयौ।
आये स्याम द्वार भए ठाढे, मैं जिय गरब धरयौ।
जानि बूझि मैं यह कृत कीन्हौ, सो मेरे सीस परयौ॥

भूलि नही अब मान करौं री।
जातें होइ अकाज आपनौ, काहे वृथा मरौं री॥

---

१ रासपंचाध्यायी, (गोपियों से वार्तालाप के बाद)
२ भ्रमरगीत (आचार्य शुक्ल-कृत), पृ० १४०
३ सूरसागर, पृ० ३६६ ६८

उनको यह अपराध नहीं !
ये आवत हैं नीर भरे, मैं ही गई पियो नित नीं ॥
गव पिये न गरयो कछु नहीं, एक भई तनु न्याग नहां।
मुग मिटि गयो हियो दुग पूरन, अब रह्यो दुग ही बिन हीं ॥

राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण

हमने कृष्ण को आराध्य मान कर उपासना करनेवाले जिन कवियों की प्रेम भावना का परिचय लिया है व अष्टछाप के कवि हैं। य एक सम्प्रदाय विशेष म दीक्षित थ। पर कृष्ण को आराध्य देव मानकर चलनेवाले भक्त कवियों के और सम्प्रदाय हैं। उन सम्प्रदायों म राधावल्लभ सम्प्रदाय का अपना विशेष स्थान है। उसकी आराधना का स्वरूप भिन्न है अतः यहाँ उसका थोड़ा-बहुत परिचय कृष्ण भक्ति के स्वरूप को समझने म सहायक होगा।

राधावल्लभ सम्प्रदाय एक विशिष्ट अर्थ म प्रयुक्त होता है। उसम राधा के वल्लभ (प्रिय) उस कृष्ण की उपासना है जो स्वयं राधा की आराधना करते हैं। नाभादास जी ने इस सम्प्रदाय का परिचय देते हुए कहा है कि इस पन्थ म राधाचरण की भक्ति प्रधान है। राधा कृष्ण की भी आराध्या हैं। राधा को कृष्ण के नित्य विहार की सहचरी के रूप म देखना इस सम्प्रदाय का परम लक्ष्य है। यद्यपि इस सम्प्रदाय म संयोग की भावना सतत रहती है क्षणभर का भी वियोग की स्वीकृति नहीं है फिर भी भक्त अपने हृदय म सखी भाव से युगल के नित्य नूतन विग्रह और क्रीडाओ के दर्शन म सदा अतृप्ति के भाव का अनुभव करता है। अन्य भक्ति-सम्प्रदायो के समान इस सम्प्रदाय म भी नवधा भक्ति को साधन रूप म अपनाया गया है।[1] इस मत के संस्थापक श्री हितहरिवंश जी ने अपने आराध्य तत्त्व को 'राधा सुधानिधि' नामक ग्रंथ म इस प्रकार स्पष्ट किया है— जिनका सुन्दर मोरपंख निर्मित मुकुट श्री राधा के चरण-कमलों म लोटता रहता है तथा जो विचित्र केलि-महोत्सव से उल्लसित हैं उन रसघन मोहन मूर्ति श्री हरि की मैं वन्दना करता हूँ। वन्दनीय हरि राधा के कृपा कटाक्ष की कामना करते हैं राधा के आदेश निर्देश पर चलना ही उनका धर्म है।[2]

इस सम्प्रदाय के सर्वप्रथम व्याख्याता श्री दामोदरव्यास जी (सेवकजी) ने *निम्नलिखित बातों पर विशेष बल दिया है--*

(१) इस सम्प्रदाय म श्यामश्यामा का नाम स्मरण एक साथ किया जाता है। इन दोनों म श्याम आराधक हैं और श्यामा आराध्या हैं। ये दोनों निकुंज म नित्य

---

१ अ० च० सा० मि० सा० भूमिका भाग, पृ० ७
२ वही पृ० २१४ १५

विहार करत हैं । उपासना का लक्ष्य इनके सुख भोग को देख कर जीवात्मा द्वारा आत्म सुख लाभ करना है । इनके यहाँ जीवन को सहचरी कहा गया है ।

(२) इनकी उपासना निगुण रूप की न होकर सगुण रूप की है । श्याम और श्यामा का सबसे शुद्ध रूप वह है जा व दावन म नित्य रस क्रीडा म मग्न है ।

(३) इनके यहा विधि निषेध का कोई महत्त्व नही । प्रेमोपासना म व्रत, सयम, नियम आदि की काई विधि टिक नही पाती ।

(४) भक्ति-माग म जातिपाति के लिए कोई स्थान नही ।

एक पद म इस सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख इस प्रकार है—

रसिक अन य हमारी जाति ।
कुल देवी राधा बरसानो खेरो, ब्रजवासिन सौं पाँति ।।
गोत गोपाल, जनेऊ माला, सिखा सिखड, हरिमदिर भाल ।
हरिगुन नाम बेद धुनि सुनियत, मूँज पग बावज कच्छु करताल ।।

सेवा बिधि निषेध जड सगति वत्ति सदा व दावन बास ।
वशी रिपि जजमान कल्पतरु व्यास न दत्त असीस सराप ।।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण यद्यपि इस माग मे उपास्य देव हैं, पर उनका स्थान यहा गौण है । यहा प्रमुख स्थान राधा का है । जिसे अ य सम्प्रदाया ने परात्पर तत्त्व कहा है वह तत्त्व राधा ही है, ऐसा उनका कथन है । श्रुतियो म जिसे रसो व स ' कहा गया है वह भी राधा ही है । अ य सम्प्रदाया म जो आराधिका है, वह यहा आराध्या है ।

माधुय भाव --इस सम्प्रदाय म आराध्यदव की पूजा माधुय भाव की है । यहाँ भगवान् के साथ सम्बध पति-पत्नी का है । इसमे भी विशेषता यह है कि इसम राधा अपने प्रियतम कृष्ण क सुख का ध्यान रखती है ता कृष्ण राधा के सुख को अपना लक्ष्य समभत हैं । यह भाव तत्सुखी भाव से सबोधित होता है । हितहरिवश जी का एक पद इस भाव का कितने सु दर ढग से अभिव्यक्त करता है—

जाई जोइ प्यारी कर सोई मोहि भाव,
भाव मोइ जाइ साई साई कर प्यार ।
मोकौं ता भावतो ठौर प्यार के ननिन म
प्यारी भयो चाहै मेरे ननिन क तार ।
मेरे तन मन प्रानहू ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मा सौं हार ।

१ आ० म० स० सि० सा०, पृ० १६६

हितहरिवम हरा हसिनी साँवल गौर,
यहाँ कौन कर जल तरगनि पार ॥

विधि निषेध को त्यागने वाला पद भी द्रष्टव्य है—

प्रीति न काहू की कानि विचार ।
मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवार ॥
ज्यों सरिता सावन जल उमगत सनमुख सिंधु सिधार ।
ज्यों नादहि मन दिये कुरगनि प्रकट पारधी मार ॥
हितहरिवम हि लग सारँग ज्यों सलभ सरीरहि जार ।
नाइक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हार ॥

प्रेम के साम्राज्य में न कोई बड़ा होता है और न छोटा इस भाव को व्यक्त करनेवाला पद देखिये—

प्रीति की रीति रगीलोई जान ।
जद्यपि सकल लोक चूरामनि, दीन अपनपौ मान ॥
जमुना पुलिन निकुज भवन में मान मानिनी ठान ।
निपट नवीन कोटि कामिनि कुल धीरज मनहि न आन ॥
नटवर नेह चपल मधुकर ज्यों आन आन सो बान ।
हितहरिवम चतुर सोई लालहि छाँडि मैड पहिचान ॥

उन्हें अपनी अनन्यता में पूरा विश्वास है । यदि भक्त की मति और भक्ति कच्ची नहीं तो उसे किसी से भय क्या हो ?

मोहलाल के रग राची ।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ बात दसो दिसि माँची ॥
कत अनन्त करो जो कोऊ बात कहौं पुनि साँची ।
यह जिय जाहु भले सिर ऊपर, हौं न प्रगट ह्वै नाची ॥
जाग्रत सयन रहत उर ऊपर मणि कचन ज्यों पाँची ।
हितहरिवस डरौ काके डर हौं नाहिन मति काँची ॥

सहजिया सम्प्रदाय

इस मत का लक्ष्य था कि सहज मानव की जो आवश्यकताएं हैं उन्हें सहज रूप से पूरा होने दिया जाय । इन साधकों ने मत्रयान की साधनाओं की उपेक्षा कर मानसिक शक्तियों को उभारने का यत्न किया । इनके अनुसार सभी साधनाओं का लक्ष्य चित्त की शुद्धि है जिसके द्वारा सहजावस्था की प्राप्ति होती है । सहज ही सब का आदर्श है— सहज का परित्याग करके जो निर्वाण प्राप्त करने का स्वप्न देखता है उसकी कोई भी परमार्थ की साधना सफल नहीं हो सकती ।[1] अन्य सभी साधनाओं

के समान इनका लक्ष्य भी चित्त की शुद्धि है पर इनकी दृष्टि मे इस लक्ष्य की प्राप्ति चित्त को शून्य बना देने से होती है।[१] चित्त ही सबका बीज है और निर्वाण की प्राप्ति भी इसीसे सम्भव है। इस सवरूप चित्त को खसम (ख-आकाश, सम समान) अर्थात् शून्य बना देना चाहिए और मन को शून्य स्वभाव का रूप दे देना चाहिए जिससे यह वस्तुत अमन, अर्थात अपना चचल स्वभाव छोडकर मन के विपरीत स्वभाव का, हो जाय और तब सहज रूप का अनुभव हाने लगता है।[२] श्री बलदेवप्रसाद उपाध्याय के अनुसार, 'सहजिया पथ साधना की दृष्टि से तान्त्रिक पथ है। य लोग दक्षिण माग की अपक्षा वाम माग के पक्षपाती हैं।'[३]

इनका विश्वास है कि प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक अपने अन्दर निहित प्रेम को धीरे धीरे लौकिक स्तर स अलौकिक स्तर तक ल जा सकता है। इन लोगो का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य के अन्तगत श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक तत्त्व विद्यमान हैं जिसका स्वरूप कह सकत हैं और इसके साथ ही साथ उसमे एक निम्न स्तर का भौतिक तत्त्व भी विद्यमान है जिसे 'रूप' कह सकत हैं। इन साधको के अनुसार प्रत्येक पुरुष व स्त्री को अपने रूप के ऊपर स्वरूप का आरोप कर लेना चाहिए और उसी की सहायता से साधक को अपने पार्थिव प्रेम को अपार्थिव रूप म परिणत कर देना चाहिए।[४]

श्री राधाकृष्ण ही इन वैष्णवो के परमाराध्य देवता हैं। इसमे श्री कृष्ण हैं पुरुष और राधा हैं प्रकृति। इन दोनो मे सम्बन्ध आश्रयाश्रयी भाव का है। कृष्ण हैं आश्रयी तथा राधा हैं आश्रय।[५] इस सम्प्रदाय मे केवल एक ही माग की साधना मान्य है और वह है माधुयभाव की। इस उपासना म साधक भगवान् को पुरुष मानता है और अपने को स्त्री। इसम भी विशेषता यह है कि प्रेम के क्षेत्र म इसम परकीया की स्वीकृति है। राधा और कृष्ण म परिणय का सम्बन्ध न दिखाये जाने से चतन्य सम्प्रदाय म भी यद्यपि परकीया भाव की स्वीकृति थी पर उसका स्तर अध्यात्मिक था। यहाँ परकीया का ग्रहण एकदम लौकिक स्तर पर है। यहाँ सामान्य नारियो के परकीया प्रेम का वणन इतने विशद रूप मे हुआ है कि उसकी स्थूलता और ऐन्द्रियता मे किसी तरह का सन्देह नही रह जाता। इन्होंने परकीया को साधना के अनिवाय अग के रूप म स्वीकार किया है। जो स्थान किसी समय गुरु को मिला हुआ था वही अब प्रकृति या मजरी (परकीया स्त्री का वाचक शब्द) को मिल गया। इस मजरी की सहायता स साधक को काम पर विजय पाने का परामश दिया गया।

---

१ उ० भा० स० प०, प० ४१
२ वही, प० ४३
३ भागवत सम्प्रदाय प० ४८५
४ वही, पृ० ४८१
५ वही प० ४८४

परवर्ती काल में जिस परकीया भाव का इतना प्रचार हुआ, उसका आरम्भ इसी मत में हुआ था। परकीया का प्रेम सब प्रकार के बन्धनों को लांघ कर प्रकट होता है, उसमें पर्वतीय नदी की सी द्रुतता रहती है उसका वेग उद्दाम होता है अत प्रेम की तीव्रता दिखाने के लिए वहाँ राधा को परकीया रूप में प्रदर्शित किया गया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार इस मत में चंडीदास के अनुसरण पर श्रीकृष्ण और राधा से सम्बन्ध रखने वाले पदों की रचना की जाती थी। इस प्रेम की तुलना में उन्होंने अनेक प्रकार के प्रेम को तुच्छ ठहराया है। उनके इस प्रेम का स्वरूप उस स्वच्छन्द किन्तु स्वाभाविक अनुराग की ओर संकेत करता है जो एक परकीया नायिका का अपने प्रेम पात्र या प्रेमी के प्रति हुआ करता है। प्रेम की इस स्वाभाविकता के कारण ही उसे सहजभाव का नाम दिया गया और सहज के ही महत्त्व से उसका नाम 'सहजिया सम्प्रदाय' पड़ा।[1]

यह सहज बौद्धों का सहज था। उसी बौद्ध प्रभाव के अनुकरण पर 'प्रज्ञा' और 'उपाय' के स्थान पर इसमें राधा और कृष्ण का समावेश हुआ। उक्त सहज वस्तुत वही सहजतत्त्व था जो कभी बौद्ध धर्म के अनुसार परम तत्त्व समझे जानेवाले शून्य के स्थान पर क्रमश महासुख के रूप में प्रविष्ट हुआ था और जो बौद्ध सहजिया लोगों की साधना में परमध्येय बना हुआ था। अत एव जिस प्रकार बौद्ध सहजिया लोगों ने इस 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का युगनद्ध रूप मान रखा था उसी प्रकार वैष्णव सहजिया लोगों ने भी इसे राधा एवं कृष्ण के नित्य प्रेम का रूप दे डाला और इसी को सारे विश्व का मूलाधार मानकर इन्होंने सृष्टि क्रम की भी कल्पना की।[2]

युगनद्धता के इस सिद्धान्त और इस प्रकार सहज मार्ग का ही मनोवैज्ञानिक आधार पर अवस्थित किया गया है। श्री एच० बी० गुप्ते के अनुसार पुरुष साधक अपने व्यक्तिगत अन्तर्विरोध का समाधान दो तरह से कर सकता है—(१) अप्राकृतिक ढंग से स्त्री महत्त्व का निरोध करके, (२) प्राकृतिक ढंग से दोनों का साहचर्य करके। हठयोगी ब्रह्मचारी पहले प्रकार का उपयोग करते हैं अतएव उनमें एक तरह का खिंचाव या तनाव का आभास मिलता है। युगनद्धता का सिद्धान्त साहचर्य की पद्धति को अपनाकर मानव-जीवन में अन्तर्निहित वैषम्य अथवा तनाव को उन्मुक्त करता है।[3]

स्पष्ट है कि इस मत में नारी का महत्त्व बहुत अधिक था। इनकी दृष्टि में नारी घिनौना पदार्थ है ही नहीं वह सिद्धि की मार्ग की सहायिका है। सिद्धि के लिए वे जो धार्मिक कृत्य करते हैं उनमें नारी का सहयोग आवश्यक है। ऐसी साधना में वे किसी एक सुन्दरी को चुनते हैं। उसके चरणों में चार मास पड़े रहते हैं और उसको

---

१ उ० भा० स० प, पृ० ६२

२ वही, पृ० ६२

३ स० सा० स०, पृ० ४०

स्पश नही करते । फिर इतनी ही अवधि तक उसके आलिगन म रहते हैं और कामातु रता को पास नहीं फटकने देते । उनका विश्वास है कि इस प्रकार काम शात हो जाता है और सिद्धि भी मिलती है । अपने मत की पुष्टि के लिए इनका कहना है कि सभी वष्णव गोस्वामी किसी न किसी मजरी को अपने पास रखते थे और उससे वे सिद्धि पथ पर बढने की प्रेरणा पाते थे। गोस्वामी मीरा से प्रेम करते थे, रघुनाथ भट्ट बाई से, सनातन लखहीरा से, लोकनाथ एक चाण्डाल लडकी से, कृष्णदास कविराज एक ग्वालिनी से और जीव गोस्वामी एक नाई की स्त्री से प्रेम करते थे, गोपाल भट्ट गौरी प्रिया और राव रामान द देवदासियो से। चण्डीदास रामी स और विद्यापति राजा शिवसिह की पत्नी लखिमा देवी से प्रेम करते थे। जयदेव और पद्मावती का सम्ब ध यद्यपि विवाह से स्थापित हुआ था तब भी वह परकीया प्रेम के उदाहरण के रूप म प्रस्तुत किया जाता था।[1]

साधना म नारी की इस अनिवायता का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इसमे भोग विलास की प्रधानता आ गई। पर इसे माग की कमी मानना युक्तिसगत नही होगा। इस प्रकार के आक्षेपा का परिहार करते हुए कहा जा सकता है कि सभी मार्गों म कुछ कच्चे साधक आ जाते हैं। यह दोप व्यक्तियो का है साधना के माग का नहीं।

चैत य मत

इनका बचपन का नाम विश्वम्भर मिश्र था। पिता का नाम जग नाथ मिश्र और माता का शचीदेवी था। इनका ज म १४०७ शक के फागुन महीने मे पूर्णिमा के दिन हुआ था। ये बगाल के रहने वाले थे और वल्लभाचाय के समकालीन थे। इन्होंने बाह्य अनुष्ठानो की अपेक्षा आ तरिक भावना पर अधिक बल दिया। इनके विचार बडे उदार थे, मुसलमान भी इनके शिष्य थे। ये कृष्ण के अवतार माने जाते थे और इसी कारण बाद मे इ है 'कृष्ण चत य के नाम से पुकारा जाने लगा था। इनका एक नाम 'गौराङ्ग महाप्रभु भी था।

निम्बाक के समान चत य भी परमात्मा और जीव मे, भेद और अभेद, दोनो ही मानते हैं। कृष्ण माया के स्वामी हैं जीव उसका दास है जब वह इस जजीर का काट लेता है तो अपने स्वरूप को पहचान लेता है। भगवान की प्राप्ति केवल भक्ति से हो सकती है।[2]

इनके मत म कृष्ण शरीरधारी होते हुए भी अनन्त, सवव्यापक, पूण, शाश्वत और सदव युवा है। सत् चित् उनके विशेपण भर हैं। उनका वास्तविक रूप आन द

---

१ अ० व० स० सि० सा० पृ० २०१

२ व० श० मा० रि० से०, पृ० ८५

मय है। सभी प्रकार त आनन्द और माधुय उनम हैं। वे अपनी लीला का आनन्द उठाते हैं। कृष्ण रूप म और नारायण तथा विष्णु के रूप म भी उनके साथी हैं। विश्व की प्रत्येक आत्मा को वे अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। कृष्ण तथा उनके अन्य रूप अलग अलग निवास-स्थानो म रहते हैं। कृष्ण व न्दावन ब्रज या गोकुल और नारायण वकुण्ठ म निवास करते हैं। य निवास स्थान शाश्वत हैं तथा आनन्द से परिपूण हैं। उनके सभी साथी विभिन्न अवसरो पर पवित्र प्रेम के स्वरूप का प्रकट करते हैं।

प्रेम की गहराई के अनुसार कृष्ण क ब्रज निवासी सभी साथी चार भागा म विभक्त किये जाते हैं—(१) दास्य भक्त (२) सख्य भक्त (३) वत्स्य भक्त (४) कण्ठाभट प्रेमास्पद युवतियाँ।

कृष्ण-साहित्य पर चतन्य मत का भारी प्रभाव है। कहा जाता है इस मत म ही प्रथम बार युगल सरकार की पूजा का विधान हुआ था। आचाय वल्लभ के अष्ट छाप मे आरम्भ म भगवान कृष्ण के बाल रूप की पूजा होती थी। बाद म उसम जा माधुय भाव की पूजा प्रचलित हुई उसम चतन्यमत का प्रभाव प्रधान रूप स काम कर रहा है ऐसा बहुत से विद्वानो का मत है। यह भी कहा जाता है कि महाप्रभु चतन्य की द्वितीय पत्नी जब वन्दावन गयी और वहाँ उन्होने राधा की मूर्ति की पूजा होते हुए नही देखी तो उन्हें बहुत बुरा लगा और उन्होन नयन भास्कर नामक व्यक्ति द्वारा राधा की मूर्ति बनवा कर भेजी। वह मूर्ति बाद म कृष्ण के साथ स्थापित की गयी और फिर युगल की पूजा का प्रचलन हो गया। जो भी हो अनेक बगाली साधु वन्दा वन म रहते थे महाप्रभु भी वन्दावन पधारे थे इन सब बाता से स्पष्ट है कि अष्ट छाप साहित्य पर इनका पर्याप्त प्रभाव पडा था।

परवर्ती काल मे जिस परकीयाभाव का साहित्य म इतना प्रचार हुआ उसका आरम्भ भी इसी मत म हुआ था। हाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस सम्प्रदाय म परकीयाभाव की स्वीकृति प्रतीक रूप स ही की गयी है। परकीया का प्रेम सब प्रकार के बन्धना को लाँघकर प्रकट हाता है। उसम पवतीय नदी की सी द्रुतता रहती है उसका वेग उद्दाम हाता है अत प्रेम की तीव्रता दिखाने के लिए यहाँ राधा को परकीया रूप म प्रदर्शित किया जाता है। यह ग्रहण लौकिक धरातल पर न होकर शुद्ध आध्यात्मिक स्तर पर हुआ था। इसका उद्देश्य इतना ही भर प्रदर्शित करना था कि लौकिक सम्बन्धा की पूरी तरह अवहेलना किये बिना जीव के लिए ईश्वर प्राप्ति असभव है।

यद्यपि इस सम्प्रदाय म युगल उपासना है पर फिर भी यहाँ प्रधानता श्रीकृष्ण की ही है। इनके इष्टदेव कृष्ण ही हैं। इनके यहाँ कृष्ण को ही सृष्टि का प्रधान कारण माना गया है। वे सच्चिदानन्द हैं सब प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूण और सवशक्ति मान हैं। यहाँ शक्ति और शक्तिमान का भेद भी स्वीकृत है। राधा कृष्ण की नित्य रहनेवाली शक्ति हैं वे उनकी अश मात्र हैं और उनके भी इष्टदेव कृष्ण ही हैं।

निम्बार्क मत

इस मत के प्रवतक का असली नाम नियमानन्द था और वे तलग ब्राह्मण थे। निम्ब के वक्ष पर रात्रि के समय अर्क (सूय) के दशन करा देने से इनका नाम निम्बाक या निम्बादित्य पडा। इसम राधा और कृष्ण के युगल रूप की उपासना है। 'दश-श्लोकी' मे बार बार कृष्ण एव गतिमम' कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि आरम्भ म इसमें कृष्ण ही आराध्य थे। बाद मे शन शन राधा की प्रधानता हो गयी और उसे ही आराध्य माना जाने लगा। इसका दूसरा नाम 'सनक सम्प्रदाय' भी है।

नियमानन्द जी का जन्म निम्ब नामक ग्राम मे हुआ था जो आजकल बेलारी जिले मे निम्बपुर से पथक नही जान पडता। इनकी जन्म तिथि वशाख मास के शुक्ल पक्ष ततीया मानी जाती है। इनके पिता का नाम जगन्नाथ था और माता का सरस्वती। इनके मतानुयायियो के अनुसार ये विष्णु के सुदशन चक्र के अवतार थे। इनका काल रामानुजाय के बाद का है।[1]

सिद्धान्त रूप से ये द्वतवादी भी हैं और अद्वतवादी भी—प्रकृति, आत्मा और ईश्वर एक भी हैं और पथक भी। इस मत के माननवाले साधु सन्यासी भी हैं और गहस्थी भी।

अन्य कवियों की देव-भावना

पीछे हमने जिन कवियो की दव भावना का उल्लेख किया है वे सम्प्रदायों मे विधिवत दीक्षित थे। यद्यपि काव्य-जगत मे सम्प्रदाय की बँधी हुई लकीर पर चलना सम्भव नहीं होता पर फिर भी इन कवियो पर उन सम्प्रदायो का प्रभाव अवश्य ही था। पर इन कवियों के अतिरिक्त अन्य कितने ही ऐसे कवि थे जिन्हे कृष्ण की मोहनी ने अपनी ओर आकृष्ट किया था। इनके हृदय मे भी कृष्ण के प्रति वही अनुराग था। इनके श्रद्धा विगलित हृदय स जो सुन्दर उक्तिया निकलती हैं वे उतनी ही हृदयग्राहिणी हैं। क्या भावनात्मक और क्या साहित्यिक, किसी भी दृष्टि से इन रचनाओं का महत्त्व कम नहीं ठहरता। यों तो इन कवियो की सख्या अनेक है पर अनेक कारणो म से इनमे से रसखान और रहीम का महत्त्व अधिक है। य मुसलमान होते हुए भी कृष्ण के प्रेम म सराबोर थे। साहित्यिकता की दृष्टि से भी इनका निजी महत्त्व है। सच्चे हृदय की अभिव्यक्ति और भावातिशयता के द्वारा इन्होंन जिस काव्य सरिता को जन्म दिया है उसम अवगाहन कर न जाने कितने क्लान्त मनो को अपूव शान्ति प्राप्त हुई है। रसखान क अनुसार कृष्ण साधारण पुरुष नही देवाधिदेव साक्षात पर ब्रह्म हैं, पर वे प्रेम के वश म होकर अहीर छोहरियों की छाछ पर नाच करते दीख पडते हैं—

---

1 वष्ण० शैव०, अ० मा० रि० क० प० ६२

सेस महेम गनेम दिनेस सुरेसहु ताहि निरंतर गाव।
जाहि अनादि अनंत अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बताव॥
नारद से सुक ब्यास रटैं पचि हार तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ प नाच नचाव॥[1]

प्रेम की अनन्यता म य किसी से पीछे नही। इनके एकमात्र आराध्य श्रीकृष्ण ही हैं। अपनी किसी कामना की पूर्ति के लिए यदि अन्य कोई किसी अन्य देवता का भजन या आराधन करता है तो करे, इन्हे किसी स कोई प्रयोजन नही—

सेस, सुरेस, दिनेस गनेस प्रजेस, धनेस, महेस मनावौं।
कोऊ भवानी भजौ, मन की सब आस सब विधि वाइ पुरावौं॥
कोऊ रमा भजि लेहु महाधन, काऊ कहूँ मनवाछित फलु पावौं।
प रसखानि वही मेरो साधन, और त्रिलोक रहो कि नसावौं॥[2]

अनन्यता की यह भावना इतनी अधिक है कि अहर्निश उन्हें कृष्ण का ही ध्यान है। इनके जीवन की एकमात्र कामना यह है कि चाहे जिस प्रकार हो कृष्ण का सान्निध्य बना रहे। उसके लिए यदि इन्हे पशु पक्षी और यहाँ तक कि पाषाण भी बनना पडे तो स्वीकार है—

मानुस हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव क ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरदर धारन।
जो खग हौं ता बसरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदब की डारन॥[3]

केवल मुह से प्रेम कर देन से प्रेम नही हो जाता। अपनी अनन्यता के लिए कुछ त्याग करना पडता है और भौतिक एश्वर्यों की बलि देनी पडती है। उसे प्रेमास्पद से ही नही उसकी प्रत्यक वस्तु स भी प्रेम करना पडता है। अनन्यता की यही कसौटी है और रसखान इस पर पूरे उतारते। है देखिए कि वे क्या-क्या छाडने को तयार हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर का तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख नद की गाइ चराइ बिसारौं॥
ननन सौं रसखान जब ब्रज क बन बाग तडाग निहारौं।
कतिक य कलधौत के धाम करील के कुजन ऊपर वारौं॥[4]

रसखान के अनुमार भगवान को पाने के लिए वदो का अध्ययन करना और

---

१ सुजान रसखान पद १४ पृ० ७
२ वही पद ५ पृ० २
३ वही पृ० १
४ वही, कवित्त १७, पृ० ८

उनमे निष्णात होना आवश्यक नही, पुराणो का गान भी व्यथ ही है, उसकी प्राप्ति के लिए तो सच्चे प्रेम का होना अनिवाय है। प्रेम के वश होकर भगवान् छाछ पर तो नाचते ही हैं, वे पर दबाने म भी सकोच नही करते—

टेरत टेरत हारि पर्यो रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरो वह कुज कुटीर में बठो पलोटत राधिका पाँयन॥[1]

यदि नन्दकुमार म दिल नही लगा तो इनके अनुसार बार बार जप करना, तप करना, सयम करना और तीथ-यात्रा सभी व्यथ हैं।

अब्दुरहीम खानखाना का हृदय भी कृष्ण की भक्ति भावना से भरपूर है। वे भी मोहनलाल की छवि का वणन करते-करते अघाते नही। वे कमर मे पीली धोती पहने, हाथ म मुरली लिये, माथे पर केसर का तिलक लगाये कृष्ण के स्वरूप पर अत्यधिक मुग्ध हैं। कृष्ण के विशाल नेत्र और मधुर मुस्कान उनके हृदय से दूर नही होती। रहीम के शब्दों म इनके आकपण का वही जानता है जिसने एक बार इनका अनुभव कर लिया है—

छवि आवन मोहन लाल की।
काछे काछनि कलित मुरलि कर पीत पिछौरे माल की॥
बक तिलक केसरि को कीहे धुनि मानो बिधु बाल की।
बिसरत नाहि सखी मो मन सों चितवनि नन विसाल की॥
नीकी हँसनि अधर सुधरनि छवि छीनी सुमन गुलाब की।
यह सरूप निरख सोई जानै यहि रहीम के हाल की॥[2]

एक अन्य पद म रहीम का कहना है कि कृष्ण के विशाल नेत्र कमल के समान विशाल हैं। उनके दाँतो की चमक बिजली की चमक से भी अधिक चमकीली है, उनकी बात मानो अमृत म डूबी हुई है रास के समय उनके पीत वस्त्रो का इधर उधर फहराना, ये सब ऐसे दश्य हैं कि जिनसे रहीम का मन अपने वश म नही रहा। सस्कृत के एक श्लोक म उन्होने भगवान से कहा है कि आपका घर रत्नाकर रत्नो का खजाना है साक्षात लक्ष्मी आपकी अर्धांगिनी है आपका किस बात की कमी है ? मैं अकिंचन आपका क्या दे सकता हूँ ? मैं अपना मन ही आपको अर्पित करता हूँ—

रत्नाकरोऽस्ति सदन गहिणी च पद्मा
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय।
राधागहीतमनस मनसे च तुभ्यम
दत्त मया निज मनस्तदिद गहाण॥[3]

---

१ रहीम कवितावली प० १, प० ६४
२ वही, प० १ प० ६४
३ वही, श्लाक २ प० ६५

मीरा

कृष्ण-काव्य म मीरा का विशष स्थान है। किसी सम्प्रदाय विशेष म दीक्षित न होने पर भी अपन हृदय की स्वाभाविक अभिव्यक्ति म वह अनुपम हैं। उनके रोम रोम म उनका आराध्य दव बसा हुआ है। या ता 'हरी मैं ता प्रेम दिवानी मरो दरद न जान कोय। सूली ऊपर सज पिया की किस विधि मिलना होय" तथा अन्य पदा म उनका आराध्य निराकार प्रतीत हाता है पर कुल मिलाकर वह आराध्यदव साकार है। उनके आराध्य दव पुराणा म वर्णित श्रीकृष्ण ही हैं। उन्होंने उन्हीं भगवान के चरणों म मन लगान को कहा है जा सुदर और शीतल हान क साथ साथ त्रिविध ज्वालाओं के दूर करनवाले हैं। इन्ही कारणा के प्रताप स इन्द्र अपन आसन पर स्थित है ध्रुव को अमरता भी उन्ही क प्रताप स मिली है और किं बहुना असाध्य के साध्य करन वाल वे ही हैं। एक अन्य पद म उन्हान साँवरी सूरत वाल नन्द लाल से अपन मन म बसन की प्रार्थना की है—

> बसो मोरे ननन म नन्दलाल।
> माहनी मूरति साँवरी सूरति ननाबन विसाल॥
> अधर सुधारस मुरली राजति उर वजन्ती माल।
> छुद्र घंटिका कटि तट साभित नूपुर सवद रसाल॥
> मीरा प्रभु सतन सुखदाई भक्तबछल गोपाल॥[1]

तन्मयता

अपने आराध्य के प्रति उनकी तन्मयता पराकाष्ठा पर पहुँची हुई है। जा सम्बन्ध एक बार स्थापित कर लिया उस अब बनाय रखन की उनकी अभिलाषा बडी तीव्र ह। यदि भगवान तरुवर हैं ता वह उस पर बठन वाला पक्षी है, यदि वे सरोवर हैं ता वह मछली है वे चन्द्र हैं ता वह चकोर है यदि व माती हैं तो वह धागा है। उन्हें जो भी सम्बन्ध अच्छा लग उसी का वे स्वीकार कर लें वह तो जस-तसे दासी बन कर उनक द्वार पर पडी रहना चाहती हैं। उन्होंने ता सार ससार से सम्बन्ध ताड कर एक स ही स्थापित कर लिय हैं। जिस प्रकार कछुआ अपना समस्त इन्द्रियों को समेट कर अपन म ही कन्द्रित कर लेता है और फिर बाहर स फेंक गए ढला पत्थरा का उन पर काई असर नहीं हाता उसी प्रकार मीरा की समस्त वत्तिया कृष्णान्मुखी हा गयी हैं। काई कुछ कहता रह, उस इन सब बाता से क्या प्रयाजन—

> मरे ता गिरिधर गुपाल दूसरा न काई।
> जाके सिर मार मुकुट मरा पति साई।
> तात मात भ्रात बन्धु आपनो न कोई॥

---

१ मीरावृहत पद सग्रह पद ३५४ पृ० २१७

छाँडि दई कुल की कानि, क्या करेगा कोई,
सतन ढिग बैठि बैठि, लोक लाज खोई।
चुनरी के किये टूक, ओढि लीन्ही लोई,
मोती मूँगे उतारि, बन माला पोई।
असुवन जल सीचि सीचि, प्रेम बेलि बोई,
अब तो बेलि फैलि गई, आनँद फल होई।
दूध की मथनियाँ बडे प्रेम से बिलोई,
माखन सब काढि लियो, छाछ पिय कोई।
भगत देखि राजी भई जगत देखि रोई।
दासि मीरा, लाल गिरिधर, तारो अब मोही ॥[1]

मीरा के अनुसार भगवान असुरो (दुष्टो) का ता विनाश करते ही हैं भक्तो की सहायता के लिए भी अवतरित होते हैं—

(१) हम कौं वपु हरि देत सहारयौ साध्यौ देवन के काज।[2]

(२) मीरा प्रभु सतन सुखदाई, भक्त बछल गोपाल।[3]

(३) सब भक्तन के भाग ही प्रकटे, नाम धरयौ रनछोर।[4]

भगवान् जब इतने प्यारे हैं ता जिन जिन वस्तुओ से उनका सम्बन्ध है वे भी भक्त को उतनी ही प्यारी लगती हैं। प्रेम के सबन्ध से उनम भी प्रेमी के दर्शन हाने लगते हैं। वहाँ घर घर तुलसी की पूजा है, दूध-दही का भाजन है, रत्नो के सिंहासन पर स्वय भगवान विराजते हैं, मुरली के शब्द से पागल सी हुई मीरा कुजो म चक्कर काटती फिरती है।[5]

विरह

विरह प्रेम की कसौटी है। इसके बिना प्रेम परिपूर्ण नहीं होता। भगवान् भी बडे कौतुकी हैं। कभी कभी वे बडी कठोर परीक्षा लेते हैं। वे दर्शन देते हैं, भक्त के मन म अभिलाषा जाग्रत होती है और वे तिरोहित हो जाते हैं। भक्त के हृदय म विरहजन्य शोक की उत्पत्ति होती है। वह रसहीन पत्ते के समान पीला पडता जाता

१ मीराबृहत पद सग्रह, पद २१६, पृ० १६५
२ वही, पृ० ६५
३ वही पृ० १४५
४ वही, पृ० २११
५ वही, पद ४६७ पृ० २७६

है, खान पीन से उसे अरुचि हो जाती है, शरीर सूख कर काँटा होने लगता है, मिलन की आशा में कभी इधर जाता है और कभी उधर, लोग समझते हैं कि उसे कोई रोग लग गया है, वैद्य आकर नाडी देखता है कोई रोग हो तो उसे पता चले, वह बेचारा मूर्ख-सा समझ नहीं पाता। मीरा की भी यही दशा है। उसके हृदय में कृष्ण की जो मधुर मूर्ति आकर बस गयी है वह बाहर नहीं निकलती, वह एकटक उसे ही देखती है और लोग कुछ-का-कुछ देखते हैं—

> आली री मोरे ननन बान पडी।
> चित्त चढी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अडी।
> कब की ठाढी पथ निहारूँ अपने भवन खडी॥
> कैसे प्रान पिया बिन राखूं, जीवन मूल जडी।
> मीरा गिरिधर हाथ बिकानी लोग कहैं बिगडी॥[1]

आँखों को आदत पड गयी है उन्हें देखने की—और उनके दर्शन होने आसान नहीं। अभी तो परीक्षा चल रही है। परिणाम यह हुआ कि आँखों की नींद भाग गयी और वह बुरी तरह उनकी रट लगाये है—

> ज्यों चातक घन को रटे मछरी जिमि पानी हो।
> मीरा व्याकुल विरहणी सुध बुध बिसरानी हो॥[2]

इस विरह में भी वह खरी उतरती है। भगवान के प्रति उनकी अनन्यता ज्यों की-त्यों बनी रहती है। उसे तो उसी समय सुख मिलता है जब वह पूरी तरह आत्म समर्पण कर देती है। उसकी इच्छा तो गिरिधर से मिलन की है—

> मैं गिरिधर के घर जाऊँ।
> गिरिधर म्हारो साचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥
> रैन पडै तबही उठि धाऊँ भोर भये उठि आऊँ।
> रैन दिना वाके सँग खेलूं ज्यों त्यों ताहि लुभाऊँ॥
> जो पहिरावे सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
> मेरी उनकी प्रीति पुरानी उन बिन पल न रहाऊँ॥
> जहाँ बैठावे तित ही बैठूं बेचे तो बिक जाऊँ।
> मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ॥[3]

घनानन्द भगवान से कहते हैं कि वे (भगवान) किसी भी कारण निर्मोही न हों। उनकी आँखों को भगवान के रूप के सिवा किसी दूसरे का रूप जचता ही नहीं। उनका सारा जीवन तो भगवान की कृपा पर ही निर्भर है—

---

१ मीरा बृहत् पद संग्रह पद ११७ पृ० ७४
२ वही, पद १३२ पृ० ७७
३ वही, पद २४७, पृ० १५७

मीत सुजान अनीति करो जिन हाहा न हूजिये मोहि अमोही ।
दीठि को और कहूँ नहिं ठौर फिरी दृग रावरे रूप की दोही ॥
एक बिलास की टेक गहें लगि आस रह बसि प्रान बटाही ।
हो घन आनद जीवनमूल दई कत प्यासनि मारत मोही ॥[1]

कहना न होगा कि यहाँ मति सुजान भगवान की ही प्रतीक है। उन्होंने अपनी कविता मे अपनी प्रेमिका सुजान का नाम तो ज्यो का त्यो रखा है पर वह भगवान का ही प्रतीक है।

ठाकुर कवि का मन भी भगवान के प्रेम मे लीन है। गोपी के रूप म उनका कहना है कि मैंने तो गोपाल से प्रीति की है। मैं इसे छिपाता नही, मैं तो ऊँचे स्वर से चिल्लाकर कहता हूँ कि जो मुझे अच्छा लगा वह मैंने कर लिया, औरों को अच्छा लगे या न लगे, मुझे इससे प्रयोजन नहीं —

हम एक कुराह चलीं तो चलीं हटको इन्हें ये न कुराह चलैं ।
यह तो बलि आपनो सूझतो है प्रन पालिय सोइ जो पाले पलैं ॥
कहि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सों टेरि कहौं सुनो ऊँचे गलै ।
हम नीकी लगी सा करी हमनै, तुम्हे नीको लग न लग तो भलै ॥[2]

जीवन का लक्ष्य

साधारणतया सभी भारतीय मतो मे सासारिक दुख से निवृत्ति पाकर आत्यन्तिक आनन्द की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य माना गया है। इसे ही मुक्ति या मोक्ष के नाम से पुकारा गया है। पर इस भक्ति शाखा म जीवन का लक्ष्य भगवल्लीला का गान माना गया है। इसमे जीव और भगवान् मिलकर एक नही हो जाते। वल्लभाचार्य के अनुसार पुष्टिमार्गीय फल यह है कि मनुष्य स्थूल लिंग शरीर को छोडकर तथा भगवल्लीलोपयोगी देह पाने के बाद ब्रह्म के साथ आनन्द रस ले।[3] डा० दीनदयाल गुप्त ने इस विषय की विवेचना करते हुए कहा है कि पुरुषोत्तम की लीला मे प्रविष्ट होकर लीला का आनन्द-लाभ प्राप्त करना ही इस मार्गवालो के जीवन का उद्देश्य है—सालोक्य सामीप्य, सारूप्य, और सायुज्य इन चार मुक्तावस्थाओं को स्वीकार करते हुए वल्लभ सम्प्रदाय ने एक ओर सायुज्य अनुरूपा मुक्ति अवस्था मानी है और उसको सब अवस्थाओं से श्रेष्ठतम बताया है। यह मुक्ति पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला मे प्रविष्ट होकर लीला का आनन्द लाभ करना है। जीवन्मुक्त अवस्था मे भी जीव भजनानद मे मग्न रहता है और फिर प्रभु-कृपा के सहारे वह भगवान की लीला का अनुभव करता है। इस मुक्ति को इस सम्प्रदाय मे स्वरूपानन्द कहा है।[4] लीला के

१ री० का० स०, प० ३४५
२ री० का० स०, प० ३६३
३ अ० व० स० सि० सा०, पृष्ठ ४६६
४ वही पृ० ६७

इस महत्त्व के कारण ही वल्लभाचार्य ने वकुण्ठ से गोकुल को प्रधानता दी है।

अष्टछाप के इन सभी कवियों ने मुक्ति और वकुण्ठ का निरादर किया है। इन के लिए सुख का हेतु गोपाल के गुणों का गान ही है—

जो सुख होत गुपालहि गाय,
सो न होत जप-तप के कीन्हे कोटिक तीरथ न्हाय।

बसी-बट वृन्दावन जमुना तजि वकुण्ठ को जाय।
सूरदास हरि कौ सुमिरत क्यू, बहुरि न भव चलि आय॥[1]

कृष्ण-लीला में क्या आनन्द है इसे तो विरले ही जानते हैं। इसकी तो चाट ही विचित्र है। जिसे इसकी चाट लग गयी उसे फिर अन्य सब आनन्द फीके लगते हैं। जिसे ब्रह्मानन्द के लिए ऋषि मुनि तरसते हैं वह इसके सामने हेय है—

भजनानन्द अनी हम प्यारो ब्रह्मानन्द सुख कौन बिचारो।[2]

सबकी अपनी-अपनी पसन्द है। ज्ञानियों को ज्ञान प्यारा है और योगियों को योग। रही भक्त की बात उसे तो मुक्ति की अपेक्षा गोकुल और मथुरा ही अधिक प्यारे हैं—

माई हौं अपने गोपालहि गाऊँ,
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन देखि-देखि सुख पाऊँ।

अपने अस की मुक्ति तजी है माँगि लियौ ससार।
परमानन्द गोकुल मथुरा मे उपज्यौ यहै विचार॥[3]

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर उन्होंने बडे ही स्पष्ट शब्दों में वकुण्ठ की तुच्छता प्रकट की है—

कहा करौं वकुण्ठहि जाइ?
जहाँ नहिं नन्द जहाँ नहिं गोपी, जहा नहीं ग्वाल बाल नहि गाय।
जहाँ नहीं जमुना जल निमल और नाहि कदम्ब की छाँह।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी ब्रजरज तजि मेरी जाइ बलाय॥[4]

नन्ददास ने भी न तो वकुण्ठ की माँग की है और अपवर्ग या मोक्ष की उनको

---

१ सू० सा० प० २५ (वे० प्रे०)
२ वही प० ५६१
३ अ० व० स० नि० मा० प० ४८१
४ वही प० ४६१

कथन है कि यदि पवत पर बसने की इच्छा हो तो गोवधन पर बसूँ, ग्राम मे ही रहना हो तो नन्दग्राम मे रहूँ और यदि वन मे ही रहना हो ता फिर वन्दावन मे ही वास मिले। उनका यह भी कहना है कि व्रज की रेणु मे जो पुण्य है वह वकुण्ठ आदि लोको म नहीं, पर इसके दशन और प्राप्ति किसी अधिकारी को ही होती है, सबको नहीं—

जो रज ब्रज बन्दाबन माही, बकुण्ठादि लोक मे नाही।
जो अधिकारी होय तो पावै, बिन अधिकारी भये न आव ॥[1]

कृष्ण का ऐतिहासिक रूप

भारत म वेदो का महत्त्व है, वे आज भी लक्ष लक्ष व्यक्तियों के लिए प्रेरणा स्रोत हैं। यदि हम किसी बात को वेदो द्वारा सिद्ध कर सकें तो उसकी प्राचीनता मे किसी को सन्देह नही रहता और उसका महत्त्व भी अपेक्षाकृत अधिक हो जाता है। इसी कारण श्रीकृष्ण के रूप को प्राचीन सिद्ध करने के लिए बहुत से व्यक्तियो ने उन से सबन्धित व्यक्तियो के नामो को वेदो म खोज निकाला है। डा० मुंशीराम शर्मा ने ऐसे मन्त्रो को एकत्र कर दिया है और साथ ही उनके अथ देकर यह सिद्ध किया है कि केवल नामों के आधार पर वेदो म कृष्ण के अस्तित्व को ढूढने का प्रयास व्यथ है। एक मन्त्र मे अनेक सींगोवाली गायो का उल्लेख है।[2] इसमे कृष्ण' शब्द का प्रयोग हुआ है और उसका अथ बहुत से विद्वानो द्वारा वर्णि वशोदभव कृष्ण किया गया है। पुराणो मे कृष्ण को विष्णु का अवतार कहा गया है और वहाँ उनके वामनावतार की भी चर्चा है। इन अवतारो को भी वदानुमोदित सिद्ध करने के लिए—'त्रीणि पदा विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम' जसे वेद म त्रो मे इन विद्वानो ने विष्णु द्वारा तीन पगों से ब्रह्माण्ड की नापने की बात का अस्तित्व स्वीकार किया है। इस सबन्ध म नीचे लिखे म त्र भी ध्यान देने योग्य हैं—

स्तोत्र राधाना पते।—ऋक् १।१३०।२९
गवामप ब्रज कृधि।—वही, १।१०।१७
दासपत्नी अहिगोपा अतिष्ठत।—वही, १।३२।११
त्व नचक्षा वृषभानु पूर्वी कृष्णस्वाग्ने। अरुषो विभाहि॥ अथव० ३।१५।३
तमेतदाधार य कृष्णासु रोहिणीषु।—ऋक् ८।९३।१३
कृष्णा रूपाणि अजुन विमामदे। वही, १०।२१।३

इन मन्त्रो म कृष्ण की लीला से सम्बन्धित सभी नाम आ गये हैं—राधा, गो, व्रज, गाप, अहि कालियनाग वृषभानु रोहिणी, कृष्ण और अजुन।

---

१ अ० व० स० सि० सा०, पृ० ४६२
२ ऋक्, १।१५४।६

पर वास्तविकता यह है कि यह गय दूर की कौड़ी लाने का प्रयत्न है। वेदों के अधिकृत विद्वानों द्वारा इन शब्दों के इन मन्त्रों म कुछ और ही अर्थ किये गये हैं। राधा धन अन्न और नक्षत्र का नाम है। गो किरणें हैं ब्रज का अर्थ किरणों का स्थान द्यौ से है, कृष्ण का अर्थ रात्रि है और अर्जुन का दिन।[1]

वेदों म कृष्ण वेद द्रष्टा ऋषि के नाम के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। अनुक्रमणिका म इसे अंगिरा ऋषि का वंशज कहा है। छान्दोग्य उपनिषद् म भी कृष्ण का उल्लेख है वह घोर आंगिरस ऋषि का शिष्य था और उसकी माता का नाम देवकी था। परवर्ती काल म इस कृष्ण का परवर्ती क्षत्रिय-कुलोत्पन्न कृष्ण से एकीकरण हो गया। *इस एकीकरण की प्रक्रिया दिखाते हुए श्री आर० जी० भण्डारकर ने कहा है* कि क्षत्रिय अपने पुरोहित के गोत्र के प्रयोग से अपनी भिन्नता और विशिष्टता प्रदर्शित करते थे। वासुदेव क्षत्रिय कृष्णायन गोत्र के पुरोहितों के यजमान रहे होंगे। वे धीरे-धीरे कृष्ण कहलाने लगे। एक बार कृष्ण नाम से पुकारे जाने पर वे देवकी-पुत्र भी बन गये। यही कारण है कि महाभारत के सभापर्व म कृष्ण को सबसे ऊँचा स्थान दिये जाने का एक हेतु यह दिया गया है कि वे वेदों के ज्ञाता हैं और ऋत्विज भी हैं।[2]

स्पष्ट है कि महाभारत-काल तक वासुदेव कृष्ण, विष्णु और नारायण की एकता स्थापित हो चुकी थी। वन-पर्व म जनार्दन ने अर्जुन से कहा है तू नर है और मैं नारायण। हम तुम दोनों अभिन्न हैं। इसी पर्व म शिव अर्जुन से कहते हैं कि पिछले जन्म म तुम नर थे और नारायण के साथ तुमने बदरिकाश्रम म सहस्रों वर्षों तक तपस्या की थी।[3] आगे चलकर कहा गया है कि वासुदेव और अर्जुन पिछले जन्म म नर और नारायण थे।[4] पतंजलि ने पाणिनि के सूत्र (४।३।९८) की टीका करते हुए कहा है कि यहाँ सूत्र म जिस वासुदेव का उल्लेख है वह पूज्य है ईश्वर है। स्पष्ट है कि पाणिनि के *समय तक वृष्णिगोत्रोत्पन्न वासुदेव पूज्य समझे जाते थे।*

ऐसे भी विद्वान हैं जो महाभारत के कृष्ण को अवतार न मानकर एक महान् पुरुष और चतुर राजनीतिज्ञ ही मानते हैं। डा० हरवंशलाल का मत है उन्हें अवतार मानने की धारणा महाभारत के बाद के काल की है। उनका कथन है कि वैदिक साहित्य म जिस रूप म कृष्ण का उल्लेख मिलता है, उसम उन्हें न तो अवतार की संज्ञा दे सकते हैं और न देवता की ही। महाभारत म कृष्ण के अवतार सम्बन्धी जितने अंश आते हैं उन्हें अधिकांश विद्वान प्रक्षिप्त मानते हैं परन्तु महाभारत के अनन्तर तो उनका रूप बदल गया उनकी गणना पूर्णावतारों म होने लगी।[5]

१ भारतीय साधना और सूर साहित्य पृष्ठ १६७
२ वैष्णविज्म शैवि० पृष्ठ १६
३ म० भा० अ० ३० श्लोक १ (वनपर्व)
४ वही ४९।१९ उद्योग पर्व
५ सूर और उनका साहित्य पृ० १७६

यदि इन अशों का प्रक्षिप्त न भी माना जाय तो भी बाल गोपाल या गोपाल कृष्ण का आगमन कब हुआ, यह प्रश्न बचा ही रहता है। महाभारत मे गोपाल कृष्ण का कोई उल्लख नही। महाभारत के नारायणीय मत म गोपाल कृष्ण ने राक्षसा का वध कभी किया हो, इस बात का उल्लेख वहाँ नही है। शान्ति पव म भीष्म के मुख से जो कृष्ण की स्तुति करायी गयी है उसम गोपाल कृष्ण की चर्चा नही है। इन सब तर्कों के आधार पर श्री भण्डारकर ने निष्कष रूप म कहा है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ म कृष्ण के बाल्य-काल म गोकुल वास की कथा प्रचलित नही रही हागी। उनके अनुसार कृष्ण आभीर नामक एक घुमक्कड जाति के बाल देवता हैं।

पर भास के नाटका म कृष्ण की बाल-लीलाओ का उल्लख है। भास कालिदास से पूव के हैं और उनका काल ईसवी-पूव ५३ ७१ का माना जाता है। भास के वणन से पता चलता है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ से पूव ही कृष्ण की बाल-लीलाएँ उसी प्रकार अविकल रूप मे विद्यमान थी जिस रूप म भागवत आदि पुराणो मे पा जाती हैं। आभीर जाति विदेशी नही है, व यही के निवासी क्षत्रिय हैं, ऐसा अधिकांश विद्वानो का मत है और इस विषय की सविस्तार चर्चा पहले हो चुकी है। इन परस्पर विरोधी मता के कारण हो किसी सुनिश्चित निणय पर पहुँचा सकना कठिन है। यह पथक रूप से शोध का विषय बन सकता है। यहाँ तो इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि महाभारत और भागवतपुराण के बीच के काल म कृष्ण के बाल रूप की पूजा प्रबल हा उठी थी।

पौराणिक पक्ष

कृष्ण के साथ, और विशेषत उसके पौराणिक रूप के साथ, रास का अत्यधिक घनिष्ठ सबध है। सही बात तो यह है कि रास के बिना उनके पौराणिक पक्ष का पूण स्वरूप सामने नही आता। अत पहल रास के विषय म कुछ विचार कर लेना समीचीन है। इसके कुछ लक्षण और अथ इस प्रकार हैं—रस्यत इति रस , जो आस्वादित हो वह रस है। रस और आनन्द दाना शब्द समानार्थी हैं। रसाना समूह रास , रस समूह का नाम रास है। रस अथवा आनन्द तीन प्रकार का है—(१) लौकिक विषयानन्द, (२) अलौकिक ब्रह्मानन्द (३) काव्यानन्द। लौकिक विषयानन्द और काव्य रस स इतर रस स्वरूप श्रीकृष्ण क ससग की लीलाओ से रस समूह मिले वह रास है और यह रस समूह गोपी-कृष्ण की शरद रात्रि की लीला म अपने पूण रूप मे स्थित बताया गया है।

(२) रास शब्द का ससग रहस शब्द से भी है जो एकान्त आनन्द का सूचक है। श्रीधर गोस्वामी ने भागवत की टीका मे रास का परिचय इस प्रकार दिया है—बहुनतकियुक्ता नत्यविशेषो रास —अर्थात बहुत सा नतकियो सहित विशेष नृत्य का नाम रास है।[1]

---

१ अ० व० स० सि० सा०, पृ० ४८७

(३) श्रीवल्लभाचाय ने सुबोधिनी टीका म इस विषय पर लिखा है कि जिस म बहुत सी नतकियाँ नाच करें उसम रस की अभिव्यक्ति होती है। इसी रसयुक्त नाच का नाम रास है। रास प्रकरण म वे कहते हैं कि रास क्रीडा के मानसिक अनुभव से रस की अभिव्यक्ति होती है देह द्वारा प्राप्त अनुभव से नही।[1]

(४) रास के लक्षण की स्थापना करत हुए कहा जाता है कि सवशक्तिमान परिपूण परमतत्त्व की पराख्या की शक्ति के साथ अनादि सिद्ध रिरिंसा की जा उत्कण्ठा है और उस उत्कठा के साथ जो चिद्विलास है, उसीका रास कहते हैं। इस लीला म अपूव नृत्य गीत-वाद्य आदि का आयोजन तथा विविध भावा का योग रहता है।[2]

इस रासलीला को दो रहस्या म विभाजित किया जाता है—अन्तरग और बहिरग। अन्तरग रहस्य का अभिप्राय आनन्द रस का आस्वादन करना है और बहिरग का अभिप्राय काम को पराजित करना है। इसलिए जब तक काम को पूणरूप से विजय न कर ले, तब तक रासलीला देखने का अधिकारी नहीं होता। कृष्ण भक्तो मे रास का बडा महत्त्व है। भागवत म कहा गया है कि जा व्यक्ति श्रद्धान्वित होकर व्रज बालाओ के साथ की गयी भगवान विष्णु की इस क्रीडा का श्रवण या कीतन करेगा वह पराभक्ति प्राप्त करके शीघ्र ही मानसिक राग से मुक्त हो जायेगा। भक्तजना म इस रास के तीन रूप माने जात हैं—

१ नित्यरास २ अवतरित रास या नमित्तिक रास, ३ अनुकरणात्मक रास।

यह अनुकरणात्मक रास भी दो प्रकार का है—भावात्मक या मानसिक और देहात्मक। गोलोक मे अथवा निज धाम व्रज व दावन म भगवान श्रीकृष्ण अपने आनन्द विग्रह स अपनी आनन्द प्रसारिणी शक्तियो के साथ नित्य रस मग्न रहते हैं। उनकी यह क्रीडा अनादि और अनन्त है। यही भगवान का नित्य रास है।[3] यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस पौराणिक पक्ष म भगवान श्रीकृष्ण आनन्दानुभूति की पूण अभिव्यक्ति हैं और यह रास परम उज्ज्वल रस का एक प्रकार है। यह सत्य है रूपक नही।

कृष्ण के पौराणिक पक्ष का सीधा सा अथ उस रूप से है जिसमे उन्हे साधारण मानव न मान कर ईश्वर के रूप म माना गया है। उनका यह रूप अतिमानव का रूप है। इस म वे शरीरधारी होते हुए भी ऐसे काय करत हैं जो देहधारियो के लिए सम्भव नही। जब वे छोटे ही थे तो बच्चा को मारने वाली पूतना को उन्होने स्तन पान करते समय मार डाला था। यद्यपि वह पापीयसी थी पर भगवान का स्तन्य पिलाने के कारण वह सदगति को प्राप्त हुई। अभी वे शिशु ही थे, मिटटी खाते समय माँ द्वारा

---

१ अ० व० स सि० सा०, प० ४९७ ९८

२ वही प० २९९

३ वही, पृ० ४९८

पकड़ लिये जाने और मुंह खोल कर दिखाने का अनुरोध किये जाने पर उन्होंने माँ को अपने मुँह में ही तीनों भुवनों के दर्शन करा दिये थे। कालिय नाग का विनाश, धेनुक का वध, ब्रजवासियों को निगलने के लिए बढ़ने वाली दावाग्नि का निगल जाना, क्रुद्ध इन्द्र से ब्रज को बचाने के लिए गोवर्धन को अंगुली पर धारण करना, नन्द को वरुण लोक से छुड़ाना, एक ही समय में सब गोपियों के साथ दीख पड़ना, उत्तरा-पुत्र परीक्षित को जीवित करना आदि ऐसे अतिमानवीय कार्य हैं जो अन्य किसी व्यक्ति द्वारा सम्भव नहीं। पुराणों में और तदनन्तर हिन्दी-साहित्य में उनके इसी रूप का वर्णन हुआ है। उनके पौराणिक पक्ष से इसी रूप से तात्पर्य है।

प्रतीकात्मक पक्ष

भगवान श्रीकृष्ण के तीन रूप हैं—१ ऐतिहासिक २ पौराणिक और ३ प्रतीकात्मक या आध्यात्मिक। उनके तीनों ही रूपों के मानने वाले व्यक्ति हमारे देश में विद्यमान हैं। प्रतीकात्मक पक्ष में कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं और गोपियाँ इन्द्रियों की रक्षा करने वाली। डा० मुन्शीराम शर्मा ने इस सारे अर्थ को इस प्रकार व्यक्त किया है—गो का अर्थ है इन्द्रिय अतः गोप या गोपी का अर्थ हुआ—इन्द्रियों की रक्षा करने वाला। कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं, जो वंशी ध्वनि के संगीत-युक्त स्वरों से गोपियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। जैसे इन्द्रियाँ या वृत्तियाँ एकमन, एकप्राण हो कर अन्तरात्मा में मग्न हो जाने की तैयारी करती हैं वैसे ही गोपियाँ वंशीध्वनि से कृष्ण की ओर केवल गति करती हैं। इसके पश्चात रास लीला का नृत्य आता है जो अपनी तरंगों द्वारा गोपियों का कृष्णसामीप्य प्राप्त करा देता है। सामीप्य का अनुभव अपनी शक्ति और अहम्मन्यता का स्फुरण करता है अतः पूर्णमग्नता की दशा नहीं आ पाती। आत्म प्रकाश पर अहंकार का आवरण छा जाता है। पर जैसे ही कृष्ण-रूपी आत्म ज्योति अन्तर्हित होती है आत्ममग्न होने की प्रेरणा तीव्र हो उठती है और अहंकार विलीन हो जाता है। वियोग की अनुभूति लक्ष्य प्राप्ति के हेतु इसी लिए आवश्यक मानी जाती है। अहंकार के विलीन होते ही पार्थक्य के समस्त बन्धन छिन्न भिन्न हो जाते हैं, मनोवृत्तियाँ आत्मा में लीन हो जाती हैं गोपियाँ कृष्ण के साथ महारास रचने लगती हैं—यही है आत्मा का पूर्णानन्द में लीन होना। भारतीय संस्कृति का यही चरम लक्ष्य है।[1]

कृष्ण से सम्बन्धित रास का अर्थ भी प्रतीक पक्ष में आत्मा और परमात्मा का मिलन है। श्री करपात्री जी के मत का उद्धरण करते हुए डा० दीनदयालु गुप्त ने लिखा है कि रास का अर्थ है 'तत्वमसि', तत्—भगवान श्रीकृष्ण, त्वम्—गोपियाँ, इन दोनों का परस्पर संश्लेष होने पर वह काम लीला होगी। यथार्थ में अन्तरंग

---

१ भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृ० २०८

दृष्टि से यह जीव और ब्रह्म का सयोग ही है।[1] एक दूसरे विद्वान श्री बलदेवप्रसाद मिश्र के अनुसार राधा कुण्डलिनी की प्रतीक है और अनेक नाडियाँ ही गोपियाँ हैं। अनहत नाद भगवान की वशी ध्वनि है, अनेक नाडियाँ ही गोपियाँ हैं, कुल कुण्डलिनी ही श्रीराधा हैं और मस्तिष्क का सहस्रदल कमल ही वह सुरम्य वृन्दावन है जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय सम्मिलन होता है तथा जहाँ पहुँचकर ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य करती हैं।[2] भगवान कृष्ण से सम्बन्धित इस रासलीला का यह भी अर्थ किया जाता है कि भगवान की यह अपनी लीला अपने ही लिए है। श्री रामलाल मजूमदार के अनुसार रासलीला का एक आध्यात्मिक अर्थ यह भी किया जाता है कि भगवान की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है। भागवतपुराण में कहा है कि जैसे बालक अपने प्रतिबिम्ब को दर्पण मणि आदि में देख कर क्रीडा करता है वैसे ही भगवान रमापति ने हास्य आलिंगनादि द्वारा व्रज सुन्दरियों के साथ खेल किया। भगवान ने आत्माराम होकर भी अपने अनेक रूप करके प्रत्येक गोपी के साथ पृथक-पृथक रहकर क्रीडा की। इसलिए कुछ लोग इस लीला के अभिनय या अनुकरण के पक्ष में नहीं हैं।[3]

इस प्रतीक पक्ष में गोपी का अर्थ है जीवात्मा और कृष्ण का अर्थ है परम कारण भगवान। इस प्रकार रास में यह मिलन दो शरीरों का नहीं, आत्माओं का था। इसमें प्रवेश का अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को मिलता है जिन्होंने नानात्व भाव का परित्याग कर अपने को सर्वतोभावेन भगवान् को अर्पित कर दिया है। गोपीभाव का अर्थ समर्पण है। यह एक प्रकार का बाह्य अभिनय है। इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार कृष्ण गोपियों का हाथ पकड कर नाचते हैं उसी प्रकार भगवान भक्तों का हाथ अपने हाथ में लेकर उनकी समस्त क्रियाओं का स्वयं सचालन करते हैं। इस प्रतीक पक्ष में भगवान सभी कार्यों के परम केन्द्र हैं। जीवात्मा नाना रेखाएं हैं जो उनसे निकल कर बाहर की ओर जाती हैं और फिर वहाँ से परम केन्द्र की ओर लौट आती हैं। गोपियों का कृष्ण की ओर लौटकर आना इसी का सूचक है। विश्व रूप वृत्त में भगवान श्रीकृष्ण परम केन्द्र हैं प्रकृति इनकी परिधि है और जीवात्मागण नाना रेखाएँ हैं जो केन्द्र से निकल कर प्रकृति की ओर गयी हैं। इन जीवात्माओं का प्रकृति की ओर जाना प्राकृत लीला है। जीवात्माएँ इस प्राकृत लीला में पडकर अपने परमकेन्द्र को भूल गयी हैं। पीछे नाद द्वारा उनकी आत्म विस्मृति दूर होती है और ये जीवात्मा रूपी सरल रेखाएँ परिधि

---

१ अ० व० स० सि० मा० (वल्लभ सम्प्रदाय) पृ० २६७

२ कल्याण रासलीला में आध्यात्मिक तत्त्व नामक लेख, वर्ष ६, अगस्त १६२१

३ वही " "

को त्याग कर अपने केन्द्र के आकषण से आकृष्ट होकर केन्द्र की ओर जाती हैं। इसी नित्य रासलीला का अभिनय ब्रज म किया गया।

योग की दृष्टि से भी रास की व्याख्या की जाती है। इस व्याख्या के अनुसार अनाहत नाद ही भगवान् श्रीकृष्ण की वशीध्वनि है अनेक नाडियाँ ही गोपिकाएँ हैं, राधा का अथ कुण्डलिनी है, वृन्दावन का अथ मस्तिष्क का वह सहस्रदल है जहा आत्मा और परमात्मा का सुखमय मिलन होता है तथा जहाँ पहुँचकर जीवात्मा की सम्पूण शक्तियाँ ईश्वरीय विभूति के साथ सुरम्य रास रसती हुई नृत्य क्रियाएँ करती हैं।

श्रीकृष्ण से सम्बन्धित वेण और वृन्दावन के भी अनेक अथ किये है। वेणु शब्द व इ अणु को मिलाकर बनता है। व का अथ है ब्रह्म का सुख, इ का अथ काम का सुख और अणु का अथ है तुच्छ। जिस सुख के सामने सासारिक तथा आध्यात्मिक सुख अणु अर्थात तुच्छ हो जाते हैं, उसे वेणु कहते हैं। वेणु म सात छेद हैं। छ तो भगवान के ऐश्वय, वीय, यश, श्री और वराग्य के द्योतक हैं एव सातवाँ उपयुक्त छ धर्मों से युक्त अप्राकृत देहधारी स्वय भगवान का बोध कराता है। श्री वल्लभाचाय ने अपनी सुबोधिनी टीका म वेणुगीत का बडे विस्तार के साथ अथ किया है और सारे ही गीत को प्रभु म आसक्ति द्वारा निरोध सिद्ध करने के लिए बताया है।

वृन्दा का अथ है भक्ति और वन का अथ है प्रदेश। वृन्दावन का अथ हुआ भक्ति का प्रदेश। अपने स्वरूप के प्रति गोपियो की आसक्ति कराने के लिए भगवान भी ज्ञान और कम को छोडकर भक्ति के प्रदेश म प्रवेश करते है।

वशी के प्रसग म एक और स्थल के एक अन्य प्रतीकात्मक अथ की ओर सकेत कर देना आवश्यक है और वह प्रसग है वशी की ध्वनि सुनकर गोपिकाओ का अपने घरो से बाहर निकल आना। यहाँ श्रीकृष्ण की मुरली योगमाया है। रास वणन म इसी मुरली की ध्वनि से गोपिका रूपी आत्माओ का आह्वान होता है जिससे समस्त आडम्बरो का विनाश और लौकिक सम्बन्धो का परित्याग कर दिया जाता है। गोपियो की परीक्षा उसम उत्तीण होने पर उनके साथ रास क्रीडा, सोलह सहस्र गोपिकाओ के बीच में श्रीकृष्ण इस प्रकार असख्य गोपिकाओ के बीच म परमात्मा हैं। लौकिक चित्रण के पीछे सूरदास की यही अलौकिक भावना छिपी है।[1]

विष्णु और कृष्ण

विष्णु और कृष्ण म अभिन्नत्व है दोनो एक ही हैं इस बात को सिद्ध करने के लिए बहुत से प्रमाण एकत्र करने की आवश्यकता नहीं। विष्णु और राम के प्रकरण म भी गत अध्याय म कहा जा चुका है कि जो विष्णु है वे ही दाशरथि

१ हि० सा० आ० इ० पृष्ठ ७६३

राम हैं। राम और कृष्ण भी अभिन्न हैं। सभी वैष्णव विष्णु, राम और कृष्ण को एक ही मानते हैं। महाभारत और पुराणों में अनेक स्थानों पर इस बात का स्पष्ट उल्लेख है। दोनों (कृष्ण और विष्णु) श्याम वर्ण हैं, दोनों का वाहन गरुड़ है, शंख चक्र गदा, पद्म आयुध दोनों ही के समान हैं। विष्णु अपने अवतारों की चर्चा करते हुए स्वयं कहते हैं कि मत्स्य कूर्म वराह नृसिंह वामन, परशुराम राम (दाशरथि) कृष्ण और कल्कि ये उन्हीं के रूप हैं।[1] एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि जो विष्णु हैं वे ही दाशरथि राम हैं और वे ही कृष्ण हैं।[2] भगवान के नामों की व्युत्पत्ति दिखाते हुए कहा गया है कि बृहत्व तथा विक्रमशीलता के कारण जो विष्णु कहलाते हैं वे ही भू-वाचक शब्द कृष्ण द्वारा अभिहित होते हैं।[3] कृष्ण जब जन्म लेते हैं उसी समय इन्द्र उनकी सेवा में उपस्थित होकर प्रार्थना करते हैं कि वे शीघ्र ही अपना कार्य समाप्त कर स्वर्ग लौटने की कृपा करें।[4] भौमासुर देवमाता अदिति के कुण्डल छीन ले जाता है इन्द्र कुछ नहीं कर पाते असहाय होकर कृष्ण की शरण में आते हैं।[5] इन्द्र उन्हें साक्षात् विष्णु ही मानते हैं यह पूर्वापर प्रसंग से एकदम स्पष्ट हो जाता है। एक अन्य स्थान पर कृष्ण को ही सृष्टि का निर्माता कहा गया है।[6] स्पष्ट है कि यह भी उन्हें और विष्णु को अभिन्न मानकर ही कहा जा सकता है।

पुराणों में कृष्ण और विष्णु की अभिन्नता के लिए प्रमाण ढूँढने का प्रयास करने की आवश्यकता नहीं। वहाँ तो स्थान-स्थान पर इस बात का उल्लेख है। साहित्य समाज का दर्पण है अतः स्वाभाविक रूप से ही उसमें विष्णु और कृष्ण का अभिन्नत्व स्वीकार किया गया है। माघ कवि में इस बात के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। कृष्ण के महल में नारद मुनि अपने विमान से उतर रहे हैं। यहाँ कवि ने कृष्ण को 'श्रिय पति' कहकर सम्बोधित किया है। इसी प्रसंग में उन्हें दूसरे स्थान पर चक्री नाम से अभिहित किया गया है।[8] कहना न होगा कि श्रीपति और चक्री दोनों ही विशेषण विष्णु के हैं। आगे चलकर कहा गया है कि अच्युत अपने

---

१ म० भा०, पृ० ५३५० (श्री गीताप्रेस-संस्करण)
२ वही, पृ० ६०६८
३ वही, पृ० २२५६
४ वही सभापर्व ३८ वाँ अ० भाग ५
५ वही पृ० ८०८
६ वही, पृ० ६९६८
७ शिशुपालवध, सर्ग १ श्लोक १ (श्रिय पति श्रीमति शासितु जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।)
८ वही सर्ग १ श्लोक ११

स्थान से ऐसे वेग से खड़े हुए जसे पवत मे मेघ उठ खडा होता है। इसी सग मे आगे चलकर कृष्ण को हरि और कन्भद्विट विशेषणो से याद किया गया है। नारदमुनि का कथन है कि ह कृष्ण ! योगी जिनका साक्षात्कार करना चाहत हैं, वे तुम्ही हो, तुम्ही पुरातन पुरुष हो, तुम्ही 'जगत नयकस्यपति' हो, 'पुराणमूर्ति हो और मनुष्य जन्म धारण करके भी ससार के बधना का काटने वाल हो।'[1] आगे चल कर नारदमुनि ने कृष्ण से कहा है कि नसिहरूप धारण करके हिरण्यकशिपु का नाश तुम्ही ने किया था वही हिरण्यकशिपु जब रावण बना तो तुमने रामरूप म उसका नाश किया।[2]

जहा तक मध्यकालीन हिन्दी साहित्य का प्रश्न है, उसम ता सभी स्थानो पर इन दानो के अभिन्नत्व को स्पष्ट रूप स स्वीकार किया गया है। यहाँ तो किसी का इनके दो होने की शका तक नही है। हाँ, कुछ ऐसे स्थल अवश्य हैं कि जहाँ कृष्ण को विष्णु से पृथक मान कर उनकी वशी के माधुय की प्रशसा की गयी है। सूरदास का कथन है कि जब मुरली की ध्वनि वकुण्ठ म पहुँची तो नारायण व दावन की लीला का ध्यान करने लगे और लक्ष्मीजी से बोल कि हे प्रिय ! वह वन्दावन, जहाँ कृष्ण रास विलास करते हैं, हमसे बहुत दूर है। उस धाम को धन्य है वहाँ का सा आनन्द तीना लोका म नही है।[3] परमानन्द विष्णु के निवास स्थान वकुण्ठ को तुच्छ समझ कर व दावन रमण को श्रेष्ठ मानते हैं—

> कहा करौं वकुण्ठहि जाइ।
> जहा नहि नन्द जहाँ नहि गापी, जहाँ नहि ग्वाल वाल नहि गाइ॥
> जहा नही जल जमुना को निमल और नही कदमन की छाह।
> परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी व्रज रज तजि मेरी जाय बलाइ॥

पर इस प्रकार के पदा का वास्तविक अभिप्राय कृष्ण और विष्णु के पृथक्त्व का प्रकट करना न होकर कृष्ण रूप की प्रियता को प्रगट करना है। कितन ही स्थानो पर द्वारका-वासी कृष्ण के स्थान पर व्रजवासी कन्हैया के रूप का जो श्रेष्ठ बताया गया है, उसका भी भाव एक विशेष रूप की ओर झुकाव प्रदर्शित करना है। चित्र अनेक हैं पर व्यक्ति एक ही है। किसी को उसका काई चित्र पसन्द है और किसी को कोई। रामभक्ति शाखा क अध्याय म हम कह आय हैं कि वहा विष्णु और राम को एक स्वीकार करते हुए भी यदि कितने ही स्थला पर राम का श्रेष्ठ कहा गया है तो केवल राम-रूप की ओर अपन झुकाव को दिखाने के लिए। इस प्रकार की उक्तियो का अथ अन्यथा समझना भ्रामक ही होगा।

---

१ शिशुपालवध सग १ श्लोक ३१ ३३, ३४, ३५
२ वही सग १ श्लोक ४७
३ सूर सागर, स्क० १० प० १४७

राधा का समावेश धारणाओं का आधार

सभी वष्णव मता म राधा का अत्यधिक महत्त्व है। वह आराध्या हैं, परात्पर शक्ति हैं भगवान कृष्ण के साथ उसका सम्बन्ध शाश्वत है। भारतीय जीवन और साहित्य, दोना ही को उन्होन अत्यधिक प्रभावित किया है। कोटि-कोटि भक्त मानसो की वह मरालिनी हैं उनकी पूजा और अचना का विषय हैं ललित कलाओ की वह आधार हैं, न जाने कितने शिल्पियो न पत्थरो को तराश तराश कर उनम राधा की प्रतिमाओ को अंकित किया है, न जाने कितन चित्रकारा न दिन रात जाग कर अपनी तूलिका से उनके सौन्दय का चित्रित करने का प्रयास किया है और न जाने कितने गायको और कवियो ने उन्हें आधार बना कर हृदय के समस्त सौदय को उडेल दने की चेष्टा की है। मध्यकालीन साहित्य का वह सभवत सर्वाधिक प्रधान विषय रही हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय म तो उनका स्थान भगवान कृष्ण स भी अधिक है। उनके इस महत्व का स्वीकार करत हुए भी उनके भक्ति-साहित्य के आगमन के विषय म ठीक ठीक रूप से कुछ कह सकना कठिन है। इस विषय म अद्यावधि जो विचार व्यक्त किये गय हैं उनम परस्पर इतना अधिक विरोध है कि उनके आधार पर किसी सवमान्य निष्कष पर पहुँच सकना असभव सा ही है।

श्रद्धालु जन साधारण राधा को अनादि और अनन्त मानत हैं। इस प्रकार के बहुत स विद्वाना न वदो म राधा के अस्तित्व को खोज निकालने की चेष्टा की है। ऋग्वद म कृष्ण और कृष्ण लीला से सम्बन्धित सभी नाम खोज निकाले गए हैं। डा० मुशीराम शर्मा न 'भारतीय साधना और सूर साहित्य' नामक अपन ग्रन्थ म पृष्ठ १६७ पर इस प्रकार क सभी मन्त्र प्रस्तुत कर दिय हैं। एक मन्त्र म ' स्तोत्र राधाना पत (ऋक १।३०।२६) म राधा का नाम भी स्पष्ट रूप म आता है। पर साथ ही डा० शमा न वहा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इन शब्दो के अथ भिन्न हैं और उनसे कृष्ण राधा और ब्रजलीला का सम्बन्ध जोडना अथ का अनथ करना है। यहा राधा व्यक्ति का नाम न होकर धन अन्न और नक्षत्र का नाम है। ऋग्वद का एक अन्य मन्त्र जिसम राधा का नाम आता है इस प्रकार है

> अतारिषुभरता गव्यव समभक्त विप्र सुमतिनदीनाम।
> प्रपिन्वध्वमिषय ती सुराधा आवक्षमाणा पणन्त यातशीमम ॥३।३३।१२

इसके अथ म भी न्यथ की खीचातानी कर बहुत से व्यक्तियो न राधा और कृष्ण का अस्तित्व खोजन का प्रयास किया है। इनके मत म यहा सुराधा का अथ गोपियाँ हैं और शीम का अथ कृष्ण है।[1] पर यह मन्त्र नदी-सूक्त म है और यहाँ इन शब्दो के अथ कुछ और है। इस प्रकार के अर्थो म केवल शब्दसाम्य के आधार पर ही मनमानी करन का प्रयास है। यही कारण है कि विद्वाना न इस प्रकार के

---

१ भारतीय वाङ्मय म श्रीराधा, पृ० २२

प्रयासो को कभी गम्भीरता से नही लिया है। शाध के क्षेत्र म केवल भावुकता से काम नही चलता।

कुछ लोगा ने नक्षत्रो द्वारा राधा की उत्पत्ति मानी है। श्री जगदीशचन्द्र राय विद्यानिधि इस मत के मुख्य प्रतिपादक हैं। उन्होने विशाखा को राधा माना है, कृष्ण सूय हैं जो अपनी किरणा (Firmanents) रूपी गोपिया स घिरे हैं। श्री अशोककुमार मजूमदार ने अनेक तक देकर इस मत को अमान्य ठहराया है।[1]

एक अन्य मत के अनुसार सास्य दशन की प्रकृति ही राधा है। इन लोगा के अनुसार वष्णव मत मे प्राचीन काल से जो शक्तिवाद चला आ रहा था, वही राम भक्ति शाखा मे सीता के रूप म आता है और कृष्ण भक्ति शाखा म राधा के रूप म। डा० शशिभूषण गुप्त ने इसी मत का प्रतिपादन इन शब्दो म किया है—"राधावाद का बीज भारतीय सामान्य शक्तिवाद म है, वही सामान्य शक्तिवाद वष्णव धर्म और दशन से भिन्न भिन्न प्रकार स युक्त होकर भिन्न भिन्न युगा और भिन्न भिन्न देशो म विचित्र परिणति को प्राप्त हुआ है। इसी क्रम परिणति की एक विशेष अभिव्यक्ति राधावाद है। जो थी युद्ध रूपिणी क्रम-परिणति के प्रवाह के अन्दर से उन्ही न आकर रूप परिग्रह किया है परम प्रेमरूपिणी मूर्ति म।"[2] आगे चलकर इसी भाव को उन्होने इस प्रकार पुष्टि की है— 'हमारा विश्वास है कि वष्णव धम और दशन म प्रसार हुआ। यह शक्तिवाद ही परवर्ती काल म पूण विकसित राधावाद म परिणत हुआ।'[3] डा० विजयेन्द्र स्नातक का भी मत कुछ इसी प्रकार का है। उन्होंने अनुमान किया है कि कृष्ण के माधुयभाव की उपासना प्रचलित हो जाने पर उनकी इस अभिव्यक्ति को पूण रूप प्रदान करने के लिए वैष्णव मत म राधा की सष्टि की गयी। उनका कथन उन्ही के शब्दो म इस प्रकार है—"राधा को कृष्ण की वामागभूता कहा जाता है और साथ ही उनकी ह्लादिनी शक्ति भी माना जाता है। एक ओर वह समस्त लीलाओ की सचालिका हैं तो दूसरी ओर कृष्ण की आराध्या भी हैं। इस विलक्षण स्थिति पर विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकालना असगत न होगा कि कृष्ण के विष्णुरूप की माधुयभाव से कल्पना करते समय उसे केवल ऐश्वयमण्डित ही न मानकर माधुयभाव मडित भी माना गया है और इस भाव की परिकल्पना ने राधाभाव को पूण विकास पर पहुँचाया।'[4] पर यह सब कब और कसे हुआ इस पर विद्वान लेखक ने कुछ नहीं कहा।

पुराणो में राधा—पुराणो म सवप्रमुख पुराण श्रीमदभागवत है पर इसम

---

१ ए० भ० ओ० रि इस्टि० पूना अक ३६ (सन १९५५) प० २३१ ३२
२ राधा का क्रमिक विकास प० ३
३ वही, प० ४
४ अ० व० स० सि० सा० प० १८६

कहीं भी स्पष्टरूप स राधा का उल्लख नहीं है। हाँ एक ऐसी अनातनामा गोपी का उल्लख अवश्य है कि जिस पर कृष्ण सर्वाधिक रूप स अनुरक्त है—

अनयाराधिता नून भगवान हरिरीश्वर ।
यन्नो विहाय गोविन्द प्रीतो यामनयद रह ॥ १०।३०।२८

इसम अनयाराधित क दो विग्रह किय जात हैं— अनया आराधित ' तथा 'अनया राधित '। अथ दोनो का वही है प्रसन्न किया गया आराधना किया गया। बहुत स विद्वानो न इस अज्ञातनामा गोपी को ही राधा माना है। उनका स्पष्ट मत है कि यहाँ भागवतकार का भाव राधा स ही है और यहा जानबूझकर उसका नाम का उल्लेख नही किया गया है।[1] पर स्पष्ट बात यह है कि यहाँ राधा का ढूढना क्लिष्ट और दूरारूढ कल्पना क सिवाय कुछ नहीं। भक्ति के इस सवप्रमुख ग्र थ म राधा का स्पष्ट उल्लख न होने क कारण समस्या और भी जटिल हो जाती है। श्री अशोककुमार मजूमदार क अनुसार भी राधा का उल्लख परवर्ती है। उनका कहना है कि भागवत म राधा का नाम है ही नही उसक टीकाकार श्रीधर स्वामी न भी राधा का नाम नहीं लिया है जगन्नाथ दास न उडिया भाषा म भागवत की जो टीका (१५ वी शताब्दी म) की है उसम उसन गोपी विशेष का नाम चन्द्रावती लिखा है राधा नहीं। स्पष्ट है कि उस समय तक राधा का नाम इस रूप म इतना प्रचलित नही था।[2]

पुराण म एक श्लोक म राधा का उल्लख है। वहा वृन्दावन म उसका वही स्थान है जो द्वारका म रुक्मिणी का।

हरिवशपुराण म श्रीकृष्ण की श्रृगारपूर्ण वृन्दावन लीलाओ का वणन अवश्य है पर उसम युगल भाव का वणन नही है। विष्णुपुराण म भी सक्षप म रासलीला का वर्णन है पर वहाँ भी राधा का नाम कहीं नहीं। मत्स्य पुराण (६।१३।३८) क श्लोकाध म राधा का उल्लख है। कहा गया है कि रुक्मिणी द्वारावती म है और राधा है वृन्दावन म। ध्यान रहे कि इस पुराण म विष्णु क कृष्णावतार म व्रज लीला का वणन कहीं भी नहीं है अत यह श्लोक निश्चित रूप स प्रक्षिप्त है। वायुपुराण, वराहपुराण नारदीय पुराण और आदिपुराण म यदि एकाध श्लोक म कहीं राधा का नाम भी मिलता है तो उसक आधार पर कोई विवेचन प्रस्तुत करना उचित नहीं। विद्वानो की धारणा क अनुसार य श्लोक प्रक्षिप्त हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण म राधा का उल्लख ही नहीं सविस्तर चर्चा है। यहा राधा शब्द की व्युत्पत्ति दिखाते हुए उसका माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है। वहा

१ भारतीय वाङ मय म श्रीराधा प० १११

२ ए० भा० आ० रि० इ० पूना ग्रथ ३६ (सन १९५५) प० २३५ ३६

गया है कि 'रा' शब्द के उच्चारण से भक्त को उस मुक्ति की प्राप्ति होती है जो अन्यो को दुलभ है। इनमे 'रा' शब्द दान-वाचक है और 'धा' निर्वाण का द्योतक है—

(क) रा शब्दोच्चारणाद भक्तो याति मुक्ति सुदुलभाम।
धा शब्दोच्चारणाद् दुर्गे धावत्येव हरे पन्म्॥
(ख) रा इत्यादानवचनो धा च निर्वाणवाचक।
ततोऽवाप्नोति मुक्ति च सा च राधा प्रकीर्तिता॥
(ग) राधेत्येव च ससिद्धा राकारो दानवाचक।
स्वय निर्वाणदात्री या सा राधा परिकीर्तिता॥[1]

इस पुराण म राधा की उत्पत्ति का भी विस्तारपूर्वक वणन किया गया है, यदि इसे उत्पत्ति न कहकर दवी का प्राकट्य होना कहा जाय ता अधिक उचित होगा। उत्पत्ति के इस अतिप्राकृतिक ढग के विषय म विवेचन के लिए बहुत गुजाइश नहीं। या तो श्रद्धावश इसे आँख मींचकर स्वीकार कर लिया जाय या तर्क सगत न होने के कारण इसे अविश्वसनीय कहकर छोड दिया जाय। इसके य अतिरजित वर्णन ही इसकी प्रामाणिकता म सन्देह उपस्थित करते हैं। यदि यह वणन प्राचीन होता तो भक्त वैष्णवा द्वारा इसका कही न कही उल्लेख अवश्य होता। ये वणन अर्वाचीन हैं अत शोध के लिए मान्य नही। डा० शशिभूषण गुप्त ने इसके विषय मे लिखा है—"राधा का अवलम्बन करके ब्रह्मववत पुराण म कृष्णलीला बाकायदा भडकीली हो उठी है। लेकिन दुख की बात है कि आजकल प्राय प्रचलित ब्रह्मववत पुराण के बारे म ही हमारा सशय और अविश्वास सबसे अधिक है। बहुतेरे पडितो ने आजकल प्रचलित इस पुराण की प्रामाणिकता के बारे म अविश्वास प्रकट किया है। सदेह का पहला कारण यह है कि मत्स्यपुराण क दो श्लोको मे ब्रह्मववर्त पुराण का जो परिचय है उससे आजकल प्रचलित ब्रह्मववत पुराण के आकार या प्रकार का किसी भी दष्टि से मेल नहीं। दूसरी बात यह है कि सारे ब्रह्मववत पुराण म राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला की भरमार है लेकिन वष्णव गास्वामियो ने इस पुराण की राधालीला का कोई उल्लेख क्यो नही किया? इस पुराण म एक और अभिनवत्व है। इसम बडी धूमधाम से राधा कृष्ण का ब्याह भी कराया गया है। स्वय ब्रह्मा इस ब्याह म कन्या दान-कर्ता हैं। राधा का अवलम्बन करके इस प्रकार के बहुतेरे उपाख्यान और वणन बहुधा ऐसे निम्न स्तर पर उतर आये हैं कि प्राचीन पुराणकारो के लिए भी हमेशा शोभन या स्वाभाविक नही लगता।[2] इसी विषय की विवेचना करते हुए उन्होने अपने विचारो को इन शब्दो म व्यक्त किया है—' इन कारणो से ब्रह्मववत पुराण म राधा उपाख्यान का प्राचुर्य और राधा माहात्म्य-ख्यापन

१ ब्र०व०पु० कृष्णजन्म खण्ड, १७।२२३
२ राधा का क्रमिक विकास पृ० ११२

से सारे अतिशयों के बावजूद ब्रह्मवैवर्तपुराण में वर्णित राधा के तथ्य या तत्त्व, किसी का भी अवलम्बन करने का विशेष उत्साह हमारे अन्दर नहीं दिखायी पड़ता।[1]

पद्मपुराण में भी राधा का सविस्तर वर्णन है। इसके पाताल खण्ड के अनेक अध्यायों में श्रीकृष्ण के रूप लीला धाम तथा राधा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। उत्तरखण्ड में राधाष्टमी व्रत का वर्णन और राधा पूजन का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इस पुराण का यह अंश प्रक्षिप्त है। पद्मपुराण के राधा विषयक एक श्लोक का रूप गोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने उद्धृत किया है। यदि उनके समय में राधा का इतना विशद वर्णन था तो उन्होंने उसकी उपेक्षा क्यों की? फर्कुहर इस पुराण के अधिकांश भाग को १६ वीं शताब्दी के बाद की रचना मानते हैं।

आभीरों की देन—बहुत से विद्वानों का मत है कि राधा आर्य जाति की देवी न होकर आभीर जाति की देवी थी। इनका कहना है कि गोपियों से जब घुमक्कड़ आभीर जाति इस देश में आयी तब उनमें बाल देवता की पूजा होती थी और राधा उनकी प्रेम देवी थी। बाद में जब आर्यों का इस जाति के साथ घनिष्ठ परिचय हुआ तो इस देवी को आर्यों ने अपनी देवी के रूप में अपना लिया। सर आर० जी० भण्डारकर इस मत के मानने वालों में प्रमुख हैं।[2] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत भी डा० भण्डारकर के मत से मिलता जुलता है। अन्तर केवल इतना ही है कि उन्होंने आभीरों को स्पष्ट रूप से विदेशी नहीं कहा है। उनका मत उनके शब्दों में इस प्रकार है—"राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी जिसका सम्बन्ध बाल कृष्ण से रहा होगा। आरम्भ में बाल कृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा इसलिए आर्यग्रन्थों में राधा का उल्लेख नहीं है। पीछे बालकृष्ण की प्रधानता होने पर बालक देवता की सारी बातें आभीरों से ले ली गयी होंगी और इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गयी होगी।[3] यह मत पर्याप्त सीमा तक विवादास्पद है। आभीर इसी देश के निवासी हैं अब यही मत अधिकांश में प्रचलित है। डा० मुंशीराम शर्मा का कथन है कि इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ में आभीरों को बाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। विष्णुपुराण में आभीर वंश का उल्लेख है। वायु पुराण में भी आभीर राजाओं की वंशावली वर्णित है। यह भी लिखा है कि इन राजाओं ने शक और कुशानों के पूर्व १० पीढ़ियों तक राज्य किया था। महाभारत में यदुवंश के साथ आभीर वंश का घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है और लिखा है कि श्रीकृष्ण की एक लाख नारायणी सेना आभीर क्षत्रियों से ही निर्मित थी। वह युद्ध में

---

१ राधा का क्रमिक विकास पृ० ११३

२ वैष्णविज्म, पृ० ८

३ सूर साहित्य (संशोधित संस्करण) पृ० १६७

दुर्योधन की ओर से लड़ी थी।[1] चतुर्थ अध्याय में हम यह सविस्तर दिखा चुके हैं कि आभीर यहीं के निवासी हैं, उनका निवास-स्थान राजपूताना है और उन्हें बाहर से आया हुआ मानना तर्कसंगत नहीं। पर यदि किसी प्रकार डा० भण्डारकार का मत स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी 'आही' से कृष्ण और 'राही' से राधा बनने की यह प्रक्रिया कब समाप्त हुई और भक्ति-साहित्य में उसका प्रवेश कब हुआ, इस प्रश्न का कोई उत्तर हमें नहीं मिलता।

साहित्य में राधा—किसी समय यह समझा जाता था कि जयदेव के पहले उत्तर भारत में राधा शब्द अपरिचित था, पर अब यह धारणा एकदम निर्मूल सिद्ध हो चुकी है। साहित्य में राधा का उल्लेख स्पष्ट रूप में हुआ है और वह भी अनेक स्थलों पर। विद्वान अन्वेषकों ने ऐसे पर्याप्त स्थल ढूंढ निकाले हैं पर उनमें भी कुछ अंशों को प्रक्षिप्त मान लेने से समस्या वही-की-वही रुकी रह जाती है। साहित्य-जगत में राधा का सर्वप्रथम उल्लेख हाल की रचना 'गाहा सत्तसई' (गाथा सप्तशती) में हुआ है। हाल का संस्कृत नाम शालिवाहन था और ये ईसा की प्रथम शताब्दी में प्रतिष्ठानपुर में राज्य करते थे। बाणभट्ट ने अपने 'हर्षचरित' में कई प्राचीन ग्रन्थकारों के साथ शालिवाहन का उल्लेख प्रशंसापूर्ण शब्दों में किया है। बाण का समय सातवीं शताब्दी है उससे पूर्व 'गाथा-सप्तशती' की रचना पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुकी थी। इस सप्तशती में राधा का उल्लेख इस प्रकार है—

मुहमारुएण तं कह्ण गोरअं राहिआए अवणन्तो।
एताण बलवीण अण्णाणवि गोरअं हरसि॥

हे कृष्ण! तुम अपने मुख की हवा से, मुंह से फूंक मार कर राधिका के मुख पर लगी हुई धूलि को हटा रहे थे। इस व्यापार से तुमने अन्य गोपिकाओं के गौरव को कम कर दिया है।

बहुत से विद्वान इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं। पं० गौरीशंकर ओझा के अनुसार यह अंश प्रामाणिक है।

दूसरा उल्लेख पंचतन्त्र में है। यह रचना ५वीं शती की है। एक राजकुमारी से प्रेम करने वाला कृष्ण नामक तन्तुवाय पुत्र लकड़ी के बने हुए गरुड़ यन्त्र पर बैठ कर उस राजकुमारी के अन्तःपुर में पहुँचकर उससे कहता है कि पिछले जन्म में गोपकुल में उत्पन्न जो राधा तुम मेरी भार्या थी, वह अब यहां उत्पन्न हुई हो

राधा नाम मे भार्या गोपकुल प्रसूता प्रथमासीत। सा त्वमत्र अवतीर्णा तेनाहमत्रागत॥

नारायणभट्ट की रचना 'वेणीसंहार' का काल आठवीं शती माना जाता है। उसके मंगलाचरण में जिस राधा का उल्लेख किया गया है वह वही राधा है जिसका वर्णन परवर्ती काल में भी हुआ है

---

१ भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृ० १६८

कालिन्द्या पुलिनपु केलिकुपितामुत्सृज्य रास रस ।
गच्छन्तीमनुगच्छतोऽश्रुकलुषा कंसद्विषो राधिकाम ॥
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्यादभूतरोमोद्गत—
रक्षुण्णाऽनुनय प्रसन्नदयिनादृष्टस्य पुष्णातु व ॥

कालिन्दी के किनारे पर खेल-खेल म राधा क्रुद्ध हो गयी और रास के रस को छोडकर चल पडी। आँसू बहाती हुई राधा जिधर को गयी थी, उधर को ही कृष्ण भी चल पडे। जहाँ-जहाँ राधा के पैर पडे थे वही वहीं कृष्ण पैर रख रहे थे जिससे उन्हें रोमाच हो गया है। अन्तत बहुत मनाने पर राधा खुश हुई और उन्होंने प्रेम भरी दृष्टि से कृष्ण की ओर देखा।

काश्मीरी कवि वल्लभदेव ने जो १० वी शती म विद्यमान थे 'शिशुपाल-वध (सर्ग ४ श्लोक ३५) की टीका म लाचक शब्द का समभात हुए जो श्लोक उद्धृत किया है उसम राधा का स्पष्ट उल्लेख है—

या गोपीजनवल्लभ कुचनटव्याभोगलब्धास्पद
छायावस्त्रविरक्तको बहुगुणश्चामश्चतुहस्तक ।
कृष्ण सोऽपि हृताशयाप्यपहृत सत्य वयाप्यद्य मे
कि राधे मधुसूदनो नहि नहि प्राणप्रियो लाचक ॥

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन अपने ग्रन्थ म प्राचीन काव्यों से अनेक उदाहरण दिये हैं। इनम दो श्लोको म राधा का स्पष्ट उल्लेख है। आनन्दवर्धन काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५५ ८८८ ई०) का सभा-पण्डित था। श्लोक इस प्रकार है—

(क) तषा गोपवधूविलाससुहृदा राधारह साक्षिणा
क्षेम भद्र कलिन्द शलतनयातीरे लतावेश्मनाम ।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठी भवन्ति विगलन्नीलत्विप पल्लवा ॥

(ख) दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मजत—
स्तववत प्रायेणाजघनवसने नाश पतितम ।
कठोर स्त्रीचेतस्तदलमुपचारविरमह
क्रियात कल्याण वो हरिरनुनयेस्वेव मुदित ॥

धनजय द्वारा प्रणीत दशरूपक म श्री राधा के प्रणय कोप का सकेत है—
'कनालीकमिद तवाद्यकथित राधेमुधा ताम्यसि।'

गीतागोविन्द म ता राधा का विशद वणन है ही। स्पष्ट है कि इस काव्य की रचना के काल (१२ वी शती) तक राधा का पर्याप्त मात्रा म साहित्य म उल्लेख हो चुका था।

संस्कृत साहित्य म राधा के इस उल्लेख के बाद भी यह तो प्रश्न बचा ही

रहता है कि भक्ति-साहित्य म राधा का समावेश कहाँ से हुआ ? जहा तक मध्य कालीन हिन्दी साहित्य का प्रश्न है उसे हम पौराणिक देन मान कर काम चला सकत है। पर यह मूल प्रश्न कि पुराण साहित्य म राधा का समावश कहाँ से हुआ, बचा ही रहता है। सब बाता पर विचार करने से यही लगता है कि धार्मिक क्षेत्र म राधा का समावेश लाक साहित्य द्वारा ही हुआ। व्रज के गापाल कृष्ण की गोपियो के साथ प्रेम लीला पहले आभीर जाति मे चरवाहो के गीता के तौर पर बिखरी हुई थी। वह धीरे-धीरे सब स्थानों पर फल गयी। राग माग के अनुसार भजन करन वाले आलवार भक्तो ने कृष्ण की वृन्दावन लीला का जा उल्लेख किया है वह भी सभवत आभीरो से लिया गया है। वहाँ नाम म अन्तर है। हिन्दी म इसी का नाम राधा बन गया। डा० शशिभूषण गुप्त ने इसी मत का प्रतिपादन किया है।[1]

अन्य देवी देवता

वैष्णव धम का दष्टिकोण उदार ही रहा है। सवग्राहिता और समन्वयवादिता उसकी प्रमुख विशपता रही है। राम और कृष्ण, दानो विष्णु के ही रूप हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार रामभक्ति शाखा म राम के साथ अन्य देवी देवताओ को भी मान्यता प्राप्त रही है उसी प्रकार कृष्ण भक्ति शाखा मे भी कृष्ण के साथ साथ अन्य देवी-देवताओ की पूजा का सादर उल्लेख हुआ है। सूरदास की यशोदा राधा और श्याम को सुन्दर जोटी देखकर दानो की कुशलता और स्थायी सम्बन्ध म बँधने की कामना के लिए सविता से प्राथना करती है—

> देखि, महरि मनही जु सिहानी।
> सूर महरि सविता सौ विनवति भली स्याम की जोटी ॥ (सूरसागर ७०२)

राधा ने यशादा द्वारा सूय की पूजा का उल्लेख इन शब्दो म किया है—

> मो तन चिते चिन ढाठातन, कछु सविता सौ गोद पसारी ॥ (सू०सा० ७०८)

सूरसागर स यह भी पता चलता है कि पुत्र प्राप्ति की कामना से शिव पावती की पूजा भी की जाती थी। यशोदा स्वय स्वीकार करती है कि कृष्ण को गोद खिलान का सौभाग्य शिव और गौरी की ही कृपा का फल है—

> पाऊँ कहा खिलावन कौ सुख मैं दुखिया दुख कोखि जरी।
> जा सुत कौ सिव गौरि मनाई, तिय-व्रत नेम अनेक करी ॥
> सूर स्याम पाय पड म, ज्यौं पाव निधि रक परी ॥[2]

गापियो की भी इच्छा नन्द कुमार को पति रूप म प्राप्त करने की है और इसके लिए वे भी शिव पावती की पूजा करती हैं—

---

१ राधा का क्रमिक विकास, पृ० ११५ १६
२ सूर सागर, पृ० १०८०

गौरी पति पूजति ब्रजनारि।
नेम धर्म सौं रहति क्रिया जुत बहुत करहिं मनुहारि।
यहै कहति पति देहु उमापति गिरिधर नन्दकुमार ॥[1]

इस बात का भी उल्लेख है कि गोपियों की मनोकामना महादेव की कृपा से ही पूरी हुई—

सिव संकर हमकौं फल दीन्हौ।
पुहुपपात नाना फल मेवा षटरस अपन कीन्हौ ॥
पाइ परी जुवती सब यह कहि धन्य धन्य त्रिपुरारि।
तुरतहि फल पूरन हम पायौ नन्द सुवन गिरिधारि ॥[2]

रुक्मिणी भी गौरी की विधिवत पूजा करती है और अम्बिका का प्रसाद पाकर ही अम्बिका मन्दिर से बाहर आती है—

कुँवरि पूजि गौरी विनति करी वर देउ जादवराइ ॥
मैं पूजा कीन्ही इहि कारन गौरी सुनि मुसुकाइ।
पाइ पसाद अम्बिका मन्दिर रुक्मिनि बाहर आइ ॥[3]

नन्ददास ने भी अन्य देवी देवताओं का सादर स्मरण किया है। उनकी रुक्मिणी विवाह के पूर्व कुलरीति का पालन करने के लिए अम्बिका-पूजन करने के हेतु जाती है और श्रीकृष्ण को पतिरूप में पाने की कामना की पूर्ति के लिए प्रार्थना करती है तथा मनोवांछित फल प्राप्त करती है—

है प्रसन्न अंबिका कहति सुनि रुक्मिनि सुन्दरि।
पहुँ अब गोविन्दचन्द जिय जनि विसाद करि ॥[4]

कात्यायनी अर्थात् दुर्गादेवी की पूजा का वर्णन भी नन्ददास ने किया है। कृष्ण को पतिरूप में पाने की कामना करनेवाली गोपियाँ हिमऋतु के प्रथम मास में ही कामायनी की पूजा का संकल्प करती हैं। व्रज बालाओं की पूजा से संतुष्ट होकर महामाया उनको सफलमनोरथ होने का वर देती हैं—

बानी वचन देवि रसभारे, पूजे मनोरथ होइ तुम्हारे।
कात्यायनि तैं यौं वर पाइ बहुरि धसीं जमुना जल जाइ ॥[5]

---

१ सूरसागर पृ० ७६६
२ वही पृ० ७६८
३ वही पृ० ४१८१
४ रुक्मिणी मंगल पृ० १५६
५ अष्टछाप का सांस्कृतिक मूल्य, पृ० ५४३

नवम अध्याय

उपसहार

उत्तरमध्यकाल या रीतिकाल मे देव-भावना

उपयुक्त अवसर पाकर भक्ति का जो स्रोत उत्तरी भारत मे तीव्र गति से प्रवाहित हा चला था रीतिकाल के आते ही सहसा उसकी गति अवरुद्ध हा गयी हो, ऐसी बात नही। इस धारा की उत्पत्ति न एक दिन म हुई थी और न किसी एक निश्चित दिन के बाद उसके प्रवाह पर रोक लगायी जा सकती थी। इस प्रकार की सब धाराओ के बीज जन मानस म होते हैं। अनुकूल परिस्थिति आ जाने पर उनका स्वर उभर सा जाता है। प्रवत्ति की अधिकता से साहित्य के काला को विभिन्न नाम अवश्य दिये जाते हैं पर उसका भाव यह कदापि नही होता कि उस प्रवत्ति से भिन्न प्रवत्तिया की रचनाएँ एकदम लुप्त हो जाती हा। उदाहरण के लिए, वीरगाथा काल का अन्त होने पर भी भक्तिकाल मे वीररस की रचनाएँ होती ही रही। भक्ति काल म भक्ति से भिन्न प्रकार की रचनाए भी प्रचुर मात्रा म हाती रही हैं। भारतीय आकाश म भक्ति का आगमन बिजली की चकाचौध के समान काई आकस्मिक घटना नही थी। देश क विभिन्न भागा मे उसके बीज पहले स विद्यमान थे, यह पीछे सविस्तर दिखाया जा चुका है। किसी मानवोत्तर शक्ति म विश्वास देव भावना का मूल है और इस विश्वास का सम्बन्ध हृदय से है। भक्ति काल के समाप्त हो जाने पर पराक्ष सत्ता और उसके अवतारी रूप के प्रति भारतीय जनता का विश्वास उसी प्रकार बना हुआ था। इसीलिए इस उत्तर मध्यकाल म भी देव भावना की सरिता शान्त गति स आगे को बहती दीख पडती है, हा श्रृगार के कोलाहल म उसकी ध्वनि कुछ मन्द अवश्य पड गयी है।

जसा हम पहले कह आये है हिन्दी साहित्य म देव भावना का लगभग वही रूप है जा पौराणिक काल म था। उत्तरमध्यकाल की देव भावना पूव मध्यकाल की देव-भावना से मिलती जुलती है। इस काल म किन्ही नये दवी दवताओ की सष्टि नही हुई। निगुणवाद की जो दा धाराएँ चल रही थी वे अब भी चलती दीख पड रही हैं। अन्तर केवल इतना है कि पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल) क कवि साधक पहले थ और कवि बाद म। उनके लिए कविता साधन भर थी, साध्य अपने देव को रिझाना था।

इसके विपरीत रीतिकाल के कवियों के लिए कविता साध्य थी और देव भावना साधन मात्र। जहाँ वे अन्य विषयों का वर्णन करते थे वहाँ यदा कदा देव-भावना का भी चित्रण कर देते थे। हमारा यह कथन उन्हीं कवियों पर लागू होता है जो दरबारों में रहकर कविता करते थे और अपने आश्रयदाताओं को रिझाना जिनका प्रथम कर्तव्य था। स्वतन्त्र साधक भी अपनी मन तुष्टि और लोक-सुधार के लिए काव्य रचना करते रहे।

उत्तर मध्यकाल में देव भावना दो प्रकार के कवियों में पायी जाती है। पहले प्रकार के वे कवि हैं जो स्वतन्त्र रीति से जीवन-यापन करते थे। प्रभु भजन में लीन रहते थे धन और यश से कोई सरोकार न था। और दूसरे वे कवि हैं जो अपनी जीविका के लिए राजाओं या जागीरदारों के आश्रित थे। पहले प्रकार के कवियों पर तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभाव नहीं के बराबर है। उनकी रचनाएँ प्रायः उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार की भक्ति-काल में थीं। हम पहले इसी वर्ग के रचनाओं में प्राप्त देव भावना का उल्लेख करेंगे। हम यह भी स्पष्ट कर दें कि इस प्रकार के ज्ञात और अज्ञात बहुत से कवि हैं उन सबका उल्लेख यहाँ न तो सम्भव ही है और न वाञ्छनीय ही। इनका वर्ण्य विषय एक-सा ही है अतः थोड़े-से कवियों के उल्लेख से हमारा कार्य पूरा हो जायगा।

दूलनदास (जन्म सं० १७१७ वि०) इनका राम-नाम में अटूट विश्वास है। इनका कहना है कि राम-नाम के बिना समस्त जीवन व्यर्थ है। राम का नाम ज्ञान का प्रकाशक है और मन में प्रतीति उत्पन्न करने वाला है

> दूलन यहि जग जनमि कै हरदम रटना नाम।
> केवल नाम सनेह बिनु जन्म समूह हराम॥
>
> रामनाम दुइ अच्छर, रटै निरन्तर कोइ।
> दूलन दीपक बरि उठै मन परतीति जो होइ॥[1]

दूलनदास की यह इच्छा है कि उनके हृदय में उनके देव की ही धुन लगी रहे नेत्रों से प्रेम के आँसुओं की झड़ी लगी रहे और वे उसके नाम की माला जपते रहे मन उनमें मस्त रहे और विरह में वे निरन्तर जलते रहें—

> साईं तेरे कारन नैना भये बैरागी।
> तेरा सत दरसन चहौं कछु और न माँगी॥
> निसिबासर तेरे नाम की अंतरधुनि जागी।
> फेरत हौं माला मनो अँसुअन झरि लागी॥

---

१ संत-सुधा-सार पृ० ८१

मदमाते राते मनो राधे विरह आगी।
मिलु प्रभु दूलनदास के, करु परम सुभागी ॥[1]

यारी साहब (जन्म स० १७२५ वि०)—इनका देव निगुण और निराकार है, ज्याति स्वरूप है और घट घट म समाया हुआ है। करोडा सूर्यों के समान उसका प्रकाश है और उस ढूढने के लिए घर स बाहर जाने की आवश्यकता नही—

ज्योतिसरूपी आतमा, घट घट रही समाय।
परमतत्त मनभावनो, नैक न इत उत जाय ॥

आठ पहर निरखत रहौं, सम्मुख सदा हजूर।[1]
कह यारी घर ही मिल, काहे जात दूर ॥

इसके अलावा सालह कलाओ से परिपूण भगवान हरि के सर्वात्मना चिन्तन को अपना लक्ष्य मानकर उन्होने बडे सुदर पद कहे हैं। कल्याण (सन्त वाणी अक, पृष्ठ २२३) म इस प्रकार के अनेक पद उद्धृत किये गय हैं।

दरिया साहब (बिहारवाले, जन्म स० १७३१ वि०)—इनकी रचनाएँ भी देव-भावना से ओत प्रोत है। इनके देव भी निराकार हैं वे कभी अवतार नही लेते, लेने की आवश्यकता ही नही होती। यही कारण है कि इन्होंने प्रतिमा पूजने वालो को पसन्द नही किया—

परमातम के पूजते, निमल नाम अधार।
पडित पत्थर पूजते, भटके जम के द्वार ॥[1]

पर फिर भी भावावेश म उन्होने अपने को पत्नी और भगवान का पति मान कर थाल भरकर ले जान और शया बिछाने का वणन किया है—

मैं कुलवती खसम 'पियारी। आँचत तून दीपक बारी ॥
गध सुगध थार भरि ली हा। चदन चर्चित आरति कीन्हा ॥
फनन सेज सुग ध बिछायो। आपन पिया पलँग पोढायो ॥
सतत चरन रनि गई बीती। प्रेम प्रीति तुम ही सौं रीती ॥
कह दरिया ऐसो चित लागा। भइ सुलछनि प्रेम अनुरागा ॥[1]

सहजोबाई (१७४० १८२० तक)—इनकी अपने देव के प्रति पूरी आस्था है। उनका देव साकार है या निराकार, इस चक्कर मे वह नही पडती। वास्तविकता तो यह है कि वह साकार और निराकार, दोनो से ऊपर है, वह अनिवचनीय है अस्ति और नास्ति की सीमा से बाहर है—

---

१ सत-सुधा सार, प० ७६
२ वही प० ६७
३ वही, पृ० ६२

निराकार आकार सब निर्गुन अरु गुनवन्त।
है नाही सूं रहित है सहजो या विधि सन्त ॥[1]

इसका अपना कोई नाम नहीं और फिर भी सब नाम उसी के हैं। गुप्त भी वही है और प्रगट भी वही है—

नाम नहीं औ नाम सब रूप नहीं सब रूप।
सहजो सब कुछ ब्रह्म है, हरि परगट हरि गूप ॥[2]

जैसा कि स्वाभाविक है उनका देव भी भावावेश में ही साकार हो उठा है। उनका विश्वास है कि भक्तों के उद्धार के लिए निराकार भी साकार बन जाता है—

निर्गुन तें तू सगुन भय भक्त उधारनहार।
सहजो की दंडौत है तासूं बारम्बार ॥

धन्य जसोदा नन्द धन धन ब्रजमंडल देस।
आदि निरंजन सहजिया भयो ग्वाल के भेस ॥[4]

दयाबाई (१८५०-से १८३० तक)—यह सहजोबाई की गुरु-बहिन थी। इनका देव मन वाणी और नेत्रों से अगम्य है—

मन बानी दग तू अगम ऐसो तत्व अनूप ॥

उनकी मनोकामना है कि जिस किसी ढंग से हो प्रभु रीझ जाय। उनका विश्वास है कि वे सनाथ तभी होंगी जब प्रभु की दया उन पर हो जाय। उनके नाम में ऐसी शक्ति है कि उससे सारे कलुष इसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार अग्नि से सारा वन। यही कारण है कि वह उनकी ओर ऐसे देखती हैं जैसे चन्द्र चकोर की ओर—

तुम ही सूं देखा लगो जैसे चन्द्र चकोर।
अब कासूं ऐसा करौं मोहन नन्द किसोर ॥[5]

इनका भी यही विश्वास है कि जब तक भगवान की दया की लहर नहीं आती, तब तक उद्धार संभव नहीं। इस भव-जलनिधि को पार करने के लिए भगवान से प्रार्थना करने के सिवाय अन्य कोई मार्ग है ही कौन-सा? यदि भक्त अपने कर्मों के ही भरोसे बैठा रहे तो उसका उद्धार नहीं हो सकता—

---

१ संत सुधा-सार पृ० १८१
२ वही पृ० १८१
३ वही पृ० १८१
४ वही पृ० २०६
५ वही पृ० २०६

जो मेरे करमन लखौ, तो नहिं होत उबार।
दयादास पर दया करि, दीज चूक बिसार॥

गुलाल साहब (जन्म १७५० वि०)—इनके लिए भी सबसे बडी सपत्ति राम ही हैं। उनकी इच्छा है कि मेरा मन अहर्निशि उन राम म ही लगा रहे। जिस प्रकार माँ बच्चे का पालन करती है उसी तरह भगवान भक्त का पालन करते हैं। इनके भी देव निराकार हैं पर भावावश म इन्होंने भी प्रेमी और प्रेयसी का सम्बन्ध जोडा है। यह भी अपने पिय के लिए सेज बिछात हैं और उनकी प्रतीक्षा करत है—

लागति नेह हमारी, पिया मोर।
चुनि-चुनि कलिया सेज बिछावौं, करौं मैं मगलाचार।
एका घरी पिया नही अइल, होइया माहि घिरकार॥
आठो जाम रन दिन जाहौं, नक न हृदय बिसार।
तीन लोक के साहब अपने, फरलहिं मोर लिलार॥
सत्तरूप सदा ही निरखौं, सतन प्रान अधार।
कहै गुलाल पावौं परिपूरन, मौज मौज हमार॥[1]

भीखा साहब (जन्म स० १७७० वि०)—इनके देव दीनो पर दया करने वाले हैं, उनकी कृपा से न जाने कितन अधम भव-सागर से पार हो गए—

ए साइ तुम दीनदयाला। आयहु करत सदा प्रतिपाला।
कतिक अधम तर तुम चरनन। करम तुम्हार कहा कहि जाला॥[2]

वह उस घडी की प्रतीक्षा मे हैं जब भगवान की उन पर कृपा होगी। मोह-निशा म पडे हुए प्राणिया को जगाना उन्ही की शक्ति म है—

अस करिये साहब, दाया!
कृपा कटाच्छ हाइ जेहि प्रभु छूटि जाय सब माया।
सोवत माह निसा निसि वासर, तुम ही माहिं जगाया॥

भीखा केवल एक रूप हरि, ब्यापक त्रिभुवन राया॥[3]

इसी कारण भीखा साहब का परामश है कि सब प्राणिया को मनसा-वाचा कमणा उसी भगवान की शरण म जाना चाहिए—

ब्यापक पूरन ब्रह्म हैं भीखा रहनि अनन्य।
मन क्रम वचन बिचारि क, राम भज सो धन्य॥

---

१ सत-सुध-सार, भाग २ प० १२४
२ वही, प० १४१
३ वही, पृ० १४१

चरणदास (जन्म संवत १७६०) – यह भी किसी मानवोत्तर शक्ति में विश्वास रखते हैं। इनका कहना है कि हे भगवान्! हमारा रोम रोम अपराधी है और हम तुम से क्षमा याचना करते हैं। उनके देव दीन दयाल हैं और उनकी दया के बिना भक्त का कोई काम नहीं चल सकता। वे अपने देव को छोड़ कर अन्य किसी की शरण में जाना पसन्द नहीं करते। पतित उद्धारक अपने देव से उन्हें पूरी-पूरी आशा है—

> राखो जी लाज, गरीब निवाज!
> *तुम बिन हमरे कौन सवारे सब ही बिगरे काज ॥*
> भक्त बछल हरि नाम कहावो, पतितउधारन हार।
> करो मनोरथ पूरो जन को, सीतल दृस्टि निहार ॥
> तुम जहाज मैं काग तिहारो, तुम तजि अनत न जाउँ।
> जो तुम हरि जू मारि निकासो, और ठोर नहिं पाउँ ॥
> चरनदास प्रभु सरन तिहारी, जानत सब संसार।
> मेरी हँसी सो हँसी तुम्हारी, तुमहूँ देवु बिचार ॥[1]

उन्हें अपने देव के बिना संसार अच्छा नहीं लगता, कोई भी वस्तु उन्हें अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती। जब तक प्रिय नहीं मिलता तब तक जीवन बोझ-ही बोझ है उनके विरही हृदय में अग्नि ही अग्नि है—

> पीव बिना तो जीवन जग मे भारो जान।
> पिया मिले तो जीवन नहीं तो छूटे प्रान ॥
> वह बिरहिनि बौरी भई जानत ना कोई भेद।
> अग्नि बरे हियरा जरे भये बिलज छेद ॥[2]

अपने आराध्य के प्रति उनका ऐसा लगाव है कि उसे छोड़कर वे मुक्ति की भी कामना नहीं करते—

> आगे पीछे ही फिरे प्रभु छाडि न जाय।
> चारि मुक्ति बाँधी भव निधि चरनन माहि ॥[3]

तुलसी साहब (जन्म संवत १८१७)—इनकी आस्था भी देव भावना में उसी प्रकार की है। जिस प्रकार पति के बिना शृंगार करने वाली और सेज बिछाने वाली नारी निंद्य है उसी तरह भगवान के बिना जीवन भी व्यर्थ है। उनका प्रिय उनसे दूर है इस बात का उन्हें हार्दिक खेद है। उनके वियोग में उन्हें नींद नहीं आती आँखों में आँसुओं की धारा अविरल रूप से बहती रहती है बिजली चमक चमक कर हृदय

---

१ स० सु० सा० भाग २ पृ० ८४६
२ वही पृ० १७५
३ वही, भाग २ पृ० १२६

की धडकन को और अधिक बढा देती है, धुआँ चाहे बाहर न दीखता हो, पर विरह की अग्नि हृदय म निरतर जलती रहती है। अपने देव के बिना उसका जो जीवन कट रहा है यह उसके पूव जन्म का पाप ही है। एक अय पद म उनका कहना है कि प्रिय परदेश गये हुए हैं, मैं किसके द्वारा उन्हें सदेश भेजू यह मेरी समझ म नहीं आता। उसे ढूंढने के लिए मैं जोगिन बनकर वन-वन फिरने को तैयार हूँ—

> प्यारे पिया परदेसा हो गुइयाँ री।
> सइयाँ दस बिदस बिरानी, कासे कहौं री सदेसा॥
> कौन उपाय करौं मोरी सजनी, करिहौं मैं जोगिन भेसा।
> हिय नहि चन, रन नहि निद्रा विरह बिथा लव लसा॥
> भेजौं भौन कौन बिधि पाती, ग्यानी-गुन उपदसा।
> तुलसी निरखि जात नर देही, जोवन गयो अली ऐसा॥[1]

रीतिबद्ध कवियो की देव भावना

इन रीतिकालीन कवियो को दो भागो म बाँटा गया है १ ऐसे कवि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप मे काव्य शास्त्र सम्बधी लक्षण ग्रथो पर काव्य रचे, जसे केशव, मतिराम भूषण आदि। २ वे कवि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप म लक्षण ग्रथो को दृष्टि पथ म रख कर अपने स्वतत्र काव्य रचे जस बिहारी। जो कवि इन दोनों वर्गों से बाहर हैं उन पर भी रतिकाल की धार श्रृगारिकता का प्रभाव पर्याप्त मात्रा म पडा है। समाज और साहित्य का घनिष्ठ सबध है। रीतिकाल का आरम्भ बादशाह शाहजहाँ के समय स हुआ था। यह काल भौतिक समृद्धि की दृष्टि से भारत के इतिहास म स्वण काल कहा जाता है। बादशाह के अनुकरण पर राजाओ और नवाबो मे भी विलास प्रवृत्ति बढती जा रही थी। ऐहिक चिन्ताओ स मुक्त उच्च वग स्वर्ण, सुरा और सुदरी के सेवन म मस्त था। दरबारो म श्रृगारपरक साहित्य अधिकाधिक प्रिय होता जा रहा था। मुगल-दरबार म फारसी का जिस प्रकार का साहित्य प्रचलित एव समादृत था उसकी देखादेखी हिन्दी म भी श्रृगार रस की कविता का होना स्वाभाविक ही था। गजल की श्रृगारिकता, गुलाबुलबुल शीरीफरहाद और ललामजनू के साहसिक प्रेम के अनुकरण पर जिस साहित्य का निर्माण हुआ, उसम सीता और राधा की गरिमा के लिए अवकाश नही था। स्वाभावत इस साहित्य म मासलता, ऐहिकता और चचलता मुखर हो उठी।

जिस साहित्य की पृष्ठभूमि इस प्रकार की हो उसका स्वरूप अपनी पवित्रता को बनाकर नही रह सकता। इधर भक्ति की जो धारा अपने सम्पूर्ण वेग से जन-मानस को आप्लावित कर चुकी थी, उसकी एकदम उपेक्षा भी इन कवियो के लिए

---

१ स० सु० सा०, पृ० २८५

संभव न थी। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि भक्ति और शृंगार की दो धाराएं आपस में मिल गई। युग धर्मानुसार इसमें शृंगार प्रधान रहा और भक्ति गौण हो गयी। इसका अनिवार्य रूप से यह परिणाम हुआ कि इन कवियों की रचनाओं में श्रीकृष्ण और राधा का वह रूप नहीं रह गया जो सूरदास आदि की कविताओं में दीख पड़ता है। *यहाँ से दोनों रीति-काल के विलासप्रिय नागरिक और कभी-कभी ग्रामीणों तक की श्रेणी में उतर आते हैं।* इसमें न तो भक्तिकाल की वह हार्दिकता है और न वह पौराणिकता ही जो विद्यापति में उपलब्ध होती है।

बिहारी शृंगार रस की मार्मिकता के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं पर देव भावना के दर्शन उनके काव्य में भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। बिहारी सतसई का प्रथम दोहा ही राधा की स्तुति में कहा गया है जो इस प्रकार है—

> मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय।
> जा तन की झाँई परै, स्याम हरित दुति होय ॥[1]

एक अन्य दोहे में इन्होंने कहा है कि सिर पर मुकुट कमर में काछनी हाथ में मुरली और गले में माला धारण करने वाले श्रीकृष्ण सदैव मेरे हृदय में निवास करते रहें—

> मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
> यहि बानिक मो मन बसो सदा बिहारीलाल ॥[2]

उनकी दृष्टि में लोग अपने-अपने मत के प्रचार के लिए व्यर्थ के झगड़ों में पड़े हैं वे वास्तविकता को नहीं पहचानते। पानी कहीं भी बहे अन्तत वह समुद्र में ही पहुँच जाता है। इसी प्रकार कोई किसी भी देवता की सेवा क्यों न करे अन्ततोगत्वा वह सेवा सबके मूल्य श्रीकृष्ण तक पहुँच जाती है—

> अपने अपने मतन की बादि मचावत सोर।
> जैसे तैसे सबिन्ह सबको नन्द किसोर ॥[3]

उनका यह भी कथन है कि भले ही कोई करोड़ों रुपया इकट्ठा करे पर मेरी सम्पत्ति तो विपत्ति विदारक कृष्ण ही हैं—

> कोऊ कोटिक संग्रहौ कोऊ लाख हजार।
> मो सम्पति जदुपति सदा बिपति बिदारनहार ॥[4]

देव भी शृंगार रस के कवि हैं पर उनके काव्य में भी देव भावना पर्याप्त रूप

---

१ बिहारीरत्नाकर दोहा १
२ वही दो० ४१६
३ वही दो० ५८१
४ वही दो० ६१

म मिलती है। इनके आराध्य देव कृष्ण हैं। उनके मस्तक पर मुकुट है, गले मे गुजा के हार हैं, क्पोला पर कुडला की झलक पड रही है, कमर म पील वस्त्र पहने हुए हैं, वे धीमे धीमे मुस्करा रहे हैं। देव कवि उनके इस सौन्दय पर करोडो कामदेवो को न्योछावर करने को तयार हैं—

माथे मनोहर मोर लस, पहिरे हिय म गहिरे गुजहारनि,
कुडल मडत गोल क्पोल, सुधा सम बाल बिलोल निहारनि,
सोहत त्यो कटि पीत पटी मन मोहित नद महापग धारनि।
सुदर नद कुमार के ऊपर वारिए कोटिकुमार कुमारनि॥[1]

एक अय पद मे भी यही भाव इन शब्दो म व्यक्त किया गया है—

पॉयन नूपुर मजु बज कटि किंकिनि मैं धुनि की मधुराई।
सॉवर अग लस पट पीत, हिये हुलस बन माल सुहाई॥
माथे किरीट बडे दग चचल मद हँसी मुख चद जुन्हाई,
जो जग मन्दिर दीपक सुदर श्री ब्रज दूलह देव सहाई॥[2]

कृष्ण ब्रज से चले गय तो क्या हुआ? क्या इतने स रिश्ता टूट जाता है? जिनके नेत्रो से कृष्ण का ही रूप समाया हुआ है जिनके मुख से कृष्ण की ही बातें निकलती हैं, उनसे कृष्ण दूर भी कमे हो सकत हैं? दूरी तो मन की है—

रावरो रूप रह्यो भरि ननन, बननि के रस सों सुति सानो।
गात म देखत गात तुम्हारोई, बात तुम्हारिये बात बखानो॥
ऊधो हहा हरि सों कहियो, तुम हौ न इहा यह हौं नहि मानौं।
या तन तै बिछुरे तो कहा, मनत अनते जु बसो तब जानौं॥[3]

जिसकी किसी से प्रीति लगी हो उस दूसरो से सकडा बातें सुननी पडती हैं। कोई अकुलीन कहता है कोई कुलटा कहता है लोग उसे लोक और परलोक बिगडने का भी भय दिखाते हैं, पर कृष्ण पर जिसका मन चला गया, उसे किसी की भी परवा क्या है?

कोऊ कहो कुलटा, कुलीन अकुलीन कहो,
कोऊ कहो रकनि कलकनि कुनारी हौं।
कसो परलोक, नरलोक बरलोकन मे,
लीन्हो मैं अलोक लोक लोकन त न्यारी हौं।
तन जाहि मन जाहि, दव गुरजन जाहि
जीव क्यों न जाहि टक टरति न टारी हौं।

---

१ देव दशन प० ८७
२ वही प० १११
३ वही, प० १५३

व दावन वारी वनवारी के मुकुट पर,
पीत पट वारी वहि मूरति प वारी हौं ॥[1]

इन सबके साथ साथ उनके यहा शिव की भी स्तुति है। कहा गया है कि शरीर पर भस्म है, सप हैं हाथा म डमरू है अर्धांग मे पावती है गल म मुडो की माला है, हाथी की खाल पहन हैं, सिर पर चन्द्रमा है और गगा है।

भूषण का हृदय वीररस म अधिक रमता था तथापि देव भावना स वे भी खाली नही थे। उन्होने भव-पथ जन्य परिश्रम को दूर करन वाल ब्रह्म तथा पाप तरु भजन विघन गढ गजन, जगत मन रजन गणेशजी की स्तुति की है। गुरु गोविन्द सिंह वीर याद्धा हाने के साथ साथ उच्च काटि क भक्त कवि भी थ। उन्होने विष्णु और ब्रह्म आदि दवो की चर्चा तो की ही है चडी दवी की स्तुति क लिए चडी चरित्र नामक एक काव्य ग्र थ की रचना भी की है। शुम्भ और निशुम्भ का मारन वाली चडी की विविध प्रकार स स्तुति कर उन्होने अन्त म उनस यह वर मांगा है कि दवी! मैं शुभ कर्मो से कभी पीछे न हटू जब कभी शत्रु स लडू तो मर मन म डर न आय और मैं विजयी बनू।

घनान द उस दवी राधा क सामने विनयावनत है जिनकी कृपा के लिए भग वान कृष्ण चकोर की चरह अपलक ताकते हैं। एक अन्य पद म उन्होने कृष्ण के सौन्दय का वणन करत हुए कहा ह कि उन्होने लाल पगडी बाँधी हुई है क धे पर छोटा सा डडा है, अग अग स यौवन टपक रहा है उनके कुटिल अलक मन का उलझान वाले हैं गले म गुजा की माला है नख स शिख तक सुन्दरता ही सुन्दरता छायी हुई है, यमुना के किनारे पर उस नदराय ने काई टाना-सा कर दिया है सभी उस पर मुग्ध हैं।[2] यही कारण है कि वे गोपाल के ही गुण गाना पस द करत है और उनके हृदय से वह मूर्ति टाल नही टलती—

गोपाल तुम्हारई गुन गाऊं।
करहु निरन्तर कृपा कृपानिधि बिनति करौं सिर नाऊं॥
टरत न मोहन मूरति हिय त, देखि देखि सुख पाऊं।
आनंदघन हो बरसौ सरसौ, प्रान पपीहा ज्याऊं॥[3]

उनम कितने ही स्थलो पर दन्य भी पर्याप्त मात्रा म पाया जाता है। वे अपनी कमियो से परिचित हैं और भगवान की कृपा पर उन्हे पूरा पूरा भरोसा है—

आयो सरन बिकार-भरयो।
तुम सरवन हो बहुविधि जु कछु न कियो सु कछु करयो॥

१ देव-दर्शन प० ११६
२ घनान द—विश्वनाथप्रसाद मिश्र प० २३९
३ वही पृ० १६३

सदा दयाल दीन दुख मोचन, यही सुमिरि सबही बिसर्यो ॥
कृपा कद आनद कद हो, पतित पपीहा द्वार परयो ॥

भूल भरे की सुरति करो ।
अपनी गुननिधानता उर धरि, मो अनेक औगुन बिसरो ॥
या असोच कों सोच कीजिये, हा हा हा हरि सुदर ढरो ।
कृपा कद आनन्द कद हो, पतित पपीहा तपनि हरो ॥[1]

पद्माकर भट्ट म भी हमे देव भावना के उसी रूप म दशन होत हैं । उन्होने कहा है कि मैंने पेट की चपेट सही, स्वाथ के लिए परमाथ को विगाड लिया, हे दशरथ के बेटे ! तुम मेरी सुध क्यों नही लते ? एक अन्य पद म दशरथ-तनय राम के सामथ्य का वणन करते हुए उन्होने कहा है कि वे चाह तो दिन को रात और रात को दिन कर सकते हैं । उनमे ऐसा शक्ति है कि उनके चाहने पर चीटी हाथी को पछाड सकती है । वे राई को सुमेरु बना सकते हैं और सुमेरु का राई । एक अन्य पद मे उन्होने राम की पतितपावनता और दीनबन्धुता तथा अपनी अपावनता एव अन्य अवगुणो की चर्चा करते हुए उनसे अनुग्रह की प्राथना की है । उन्हाने यह भी कहा है कि सब प्रपचो को छोडकर राम का भजन करना चाहिए क्योकि अन्त म वे ही काम आयेंगे । इसी प्रकार उन्होंने कितने ही पदो मे ब्रजचन्द कृष्ण से अपने हृदय म बसने की प्राथना की है । कृष्ण के बालरूप का वणन करत हुए उन्होने एक पद मे कहा है कि गोविन्द के अपार सौन्दय को देखकर शकर और ब्रह्मा आनन्द से फूले नही समाते । वे (कृष्ण) दोना हाथा से मा के अचल के छोर को पकडे हुए प्रसन्न-वदन इधर उधर घूम रहे हैं । तीना लोको के ठाकुर कृष्ण भगवान नन्द रानी के सामने खडे ठिनुक रहे हैं । एक अन्य पद म वे कहते हैं कि ओ माखन चोर ! तुम छिपने के लिए दूर क्यो भागे जाते हो ! आओ, मेरे हृदय मे ही छिप जाओ, यहाँ पर्याप्त स्थान है ।

इस प्रकार देव भावना का अनवच्छिन्न प्रवाह एकदम स्पष्ट है । असली बात तो यह है कि देव भावना के उदाहरण ढूढने के लिए किसी विशेष प्रयत्न की आवश्यकता नही, व तो प्राय सभी कविया की रचनाओ म स्पष्ट रूप मे और पर्याप्त मात्रा म उपलब्ध हैं । जो देवी-देवता पूवमध्यकाल मे समादृत थे, वे इस काल म भी समादृत हैं । कविगण उनकी स्तुति अब भी वसे ही सुन्दर विशेषणो से करत हैं । पर जसा हम इस प्रकरण के आरम्भ मे ही कह आय हैं कि इस ऊपरी सादृश्य के रहते भी दोनो म आन्तरिक वषम्य अवश्य है । देव भावना की आरम्भिक धारा एकदम स्वच्छ है, उसम वासना, विलासिता और कामुकता का दशन कहीं नही होत । उपमा के लिए उसे

[1] घनानन्द—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १६३

भवगती भागीरथी की उस गगोत्री की धारा के समान कह सकते हैं जो एकदम स्वच्छ है पर उत्तर मध्यकाल तक आते आते उसमे गन्दे नाले मिल जाते हैं स्थान स्थान पर उसमे सडन है प्रवाह की कमी है और उसकी प्ररणाप्रद शक्ति समाप्त-सी हो चली है। आरम्भ मे हृदय से निकले सच्चे उदगार थे तप्त आत्मा को शान्ति देने वाली शीतल जल धारा थी पर बाद मे वह लकीर का पीटना भर रह गया।

रीतिकालोत्तर देव भावना का रूप

यद्यपि यह ठीक है कि स० १६०० वि० के पश्चात एक नवीन युग का आरम्भ हुआ पर रीतिकाल की धारा एकदम बन्द हो गयी हो, ऐसी बात नही। साहित्यिक काल विभाजन मे किसी निश्चित काल विभाजक रेखा को खीच सकना सभव नहीं। कोई भी विचारधारा सहसा ही लुप्त नही हो जाती। फिर आधुनिक युग के प्रवतक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र समन्वयवादी थे और प्राचीन परम्परा से एकदम सम्बन्ध विच्छेद करना उन्हे अभीष्ट नही था। वास्तविकता तो यह है कि उनका नवीन प्राचीन का ही सवधित रूप है। वे अपने काव्य मे सूर साहित्य से अत्यधिक प्रभावित हैं। क्या भाव और क्या भाषा सभी स्थलो पर सूर की छाप स्पष्ट रूप से दीख पडती है। वैष्णव माग के अनुयायी होने के कारण आपने बाल लीला राधा कृष्ण प्रेम विलास, मान रूप-वणन वशी, दान विरह मिलन और भ्रमरगीत इन सभी विषयो पर उसी भाव के साथ लिखा है जिस भाव के साथ सूर ने लिखा है। राधा जन्म का वणन आपने विशद रूप मे किया है। राधा का जन्म होते ही चारो ओर प्रसन्नता की लहर छा जाती है देवताओ मे एक नवीन उल्लास के भाव पाये जाते हैं नभ मे विमानो की भीड लग जाती है। कृष्ण के अलावा आपने राम की भी प्रशसा की है। आपके राम छवि धाम पूर्णकाम सीता विहारी दनुज-दल सहारी अवध भूषण राम हैं।[1]

बाबा सुमेरसिह जिला आजमगढ मे निजामाबाद (उत्तरप्रदेश) के रहनेवाले थे और भारतेन्दु के समकालीन थे। आपने भी भगवान विष्णु और उनके अवतार राम तथा कृष्ण दोनो की स्तुति की है। आपने सदना कसाई, गणिका शबरी और कुब्जा के उद्धारक भगवान का स्मरण किया है—

> सदना कसाइ कौन सुकृत कमाये नाथ
> मानन के मनके सु फेरे गनिका न कौन ?
> कौन तप साधना मे सबरी ने तुष्ट कियो
> सोचाचार कुबरी ने किये कौन सुभ भौन ?
> त्यो हरि सुमेर नाम जप्यो कौन अजामेल
> गज कौं उबारयो बार बार कवि भारयो तौन।

---

१ भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि पृ० १४३

एते तुम तारे सुनो साहब हमारे,
मेरी बार बिरद विचार कौन गहि मौन।।[1]

चौधरी प्रेमनारायण 'प्रेमघन' भी भारतेन्दु के सहयोगी थे। आपने भी मोर-पख वाले कृष्ण का बडे भावमय ढग से स्मरण किया है—

लहरैं मुख पै घनस्याम से केस, इतै सिर मोर पखा फहरैं,
उत गोल कपोलन पै अतिलोल अमोल लली मुक्ता थहरैं।
एहि भाति सु बद्रीनारायण जु दोऊ दखि रहै जमुना लहरैं,
नित ऐसे सनेह सौं राधिका स्याम हमारे हिय मे सदा विहरैं।।[2]

एक अन्य पद मे इन्होंने ही घन के समान द्युतिवाले कृष्ण और दामिनी सी दमकवाली राधारानी, दोनो का ही सग सग वर्णन किया है।[3] प्रतापनारायण मिश्र ने दुर्गा की स्तुति की है। आपके अनुसार दुर्गा तीनो भुवनों की महारानी है देवताओ द्वारा सुपूजित है समस्त जगत की जननी है। वह एक दुर्गा ही नवीन-नवीन रूप धारण करती है और उसके इस रूप से बडे बडे ज्ञानी मोहित हो जाते हैं। श्री बाल-मुकुन्द गुप्त ने उन सूय-कुल शिरोमणि राम का स्तवन किया है जो पृथ्वी के दूषणो का नाश करने वाले हैं और जो लीला के लिए नववपु धारण कर इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।

श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने न केवल ब्रज भाषा मे कविता ही की है अपितु उन्होने भक्तिकाल और रीतिकाल की परम्पराओ को जीवित भी रखा है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थ उद्धव शतक मे कृष्ण और गोपियो का उसी रूप मे चित्रण किया है जो भक्ति काल मे मान्य था। श्री मैथिलीशरण गुप्त मे भी देव भावना किसी-न किसी सीमा तक उसी रूप मे विद्यमान है। द्वापर के मगलाचरण मे राम और कृष्ण को भगवान मानते हुए वे दोनो की एकता का प्रतिपादन भी अपने अनूठे ढग से करते हैं—

धनुबाण वा वेणु लो श्याम रूप के सग।
मुझ पर चढने से रहा राम दूसरा रग।।

उनके अन्य ग्रथो मे भी यह देव भावना विद्यमान है। अपने ग्रन्थारम्भ मे वे राम को ईश्वर रूप मे ही स्वीकार करते हैं—

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व मे रमे हुए नही, सभी कही हो क्या?

---

१ भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि पृ० ३५८
२ वही पृ० ३६५
३ आधुनिक काव्यधारा पृ० ८४५
४ भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि पृ० ३८८

तब मैं निरीश्वर हू ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम म रमा करे ॥'

उनकी यह देव भावना आगे चल कर मुखरित हो उठी है। उन्होने स्पष्ट रूप से कहा है कि राम के रूप म परमब्रह्म पुरुष का ही अवतार हुआ है और अब पापियो का अन्त एकदम निकट आ गया है—

हो गया निगुण सगुण साकार है
ले लिया अखिलेश न अवतार है।

भक्त-वत्सलता इसी का नाम है
और वह लोकेश लीला धाम है।
पथ दिखाने के लिए ससार को,
दूर करने के लिए भू भार को।

पापियो का जान लो, अब अन्त है
भूमि पर प्रकटा अनादि अनन्त है।

गुप्त जी के श्रद्धालु हृदय म नवीन काल का कोई प्रभाव न हो एसी बात नही। इस प्रभाव को उनकी रचनाओ म आसानी स ढूढा जा सकता है। उन्होने 'पचवटी' मे राम, सीता और लक्ष्मण का चित्रण उदात्त मानवो के रूप म ही किया है। उनके सुखद परिवार की झाकी दिखलान का उद्देश्य आदश मानव के जीवन का ही चित्रण है। एक स्थान पर तो उन्होने स्पष्ट शब्दो म देवत्व की अपक्षा नरत्व को श्रेष्ठतर कहा है—

मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ,
किन्तु पतित को पशु कहना भी कभी नही सह सकता हूँ।[२]

स्पष्ट है कि देव भावना की धारा कुछ उसी रूप म और कुछ परिवर्तित रूप म ज्यो की त्यो चलती रही है। विविध आन्दोलनो ने उस भावना को प्रभावित न किया हो, ऐसी बात नही। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने 'प्रिय प्रवास म कृष्ण को लोकनायक क रूप म चित्रित किया है और राधा को ऐसी सहचरी के रूप म, जो सबके दुख क लिए अपन सुख की बलि दन को तयार है। गोवधन धारण की जो उन्होन नवीन व्याख्या की है उसम भी आधुनिकता का प्रभाव स्पष्ट रूप से झलक रहा है। उनका कहना है कि उस भयकर वर्षा के समय व्रज की रक्षा के लिए कृष्ण जो अहर्निशि सब स्थानो पर घूमते रह इसस यह कहा जान लगा कि मानो उन्होने व्रज को अगुली पर रख लिया है बचा लिया है—

---

१ साकेत का मगलाचरण भाग
२ पचवटी पृ० १२

भ्रमण ही करम सबने उन्हें,
सकल काल लखा सप्रसन्नता।
रजनि भी उनको कटती रही,
सविधि रक्षण म ब्रज-लोक के।
लख अपार प्रसार गिरीन्द्र म,
ब्रजधराधिप के प्रिय पुत्र का।
सकल लोग लगे कहने उसे
रख लिया उँगली पर श्याम ने।

ईश्वर को मानने वाले अन्य कवियो ने भी उसे अधिक व्यापक रूप प्रदान किया है। उनका ईश्वर उन्हें थके मांदे मजदूरो और किसानो के रूप म दीख पडा है। श्री मुकटधर पाण्डय के शब्दो मे यह परिवर्तित स्वर इस प्रकार सुन पडा है—

खोज मे हुआ वृथा हैरान यहाँ ही था तू हे भगवान।
दीन हीन के अश्रुनीर म, पतिता की परिताप-पीर मे॥
सरल स्वभाव कृषक के हल म, श्रम-सीकर से सिंचित धन म।
तेरा मिला प्रमाण।[1]

कहन का भाव यह है कि इस सघषपूण आधुनिक काल मे भी देव भावना का स्वर एकदम दब नही गया है। आधुनिक युग क प्रभाव और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण इस युग के कवियो ने राम और कृष्ण के जीवन की सब घटनाओ को उसी पौराणिक रूप म स्वीकार करत हुए भी उनकी व्याख्या कुछ नवीन ढग से की है। श्री मैथिलीशरण गुप्त और श्री अयाध्यासिंह उपाध्याय मे इस नवीन दृष्टिकोण को आसानी से देखा जा सकता है।

मध्यकालीन हिंदी साहित्य में चित्रित कुछ अन्य प्रमुख देवी-देवता

राम भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा मे हम इन आराध्य देवी-देवताओ के स्वरूप का चित्रण कर आये हैं। वही पर 'अन्य देवी-देवता' शीर्षक के अन्तगत कुछ ऐसे देवो का भी उल्लेख किया गया है जिनका उन शाखाओ मे किसी न किसी ढग से चित्रण हुआ है। यहा हम उन देवो और देवियों के स्वरूप का चित्रण कर रहे हैं जो हिन्दी साहित्य म आराध्य के रूप म स्वीकृत हैं। इस प्रकार के देवो की सख्या बहुत है। जिस देश म बीमारी की भी देविया हा वहाँ सख्या का बढ जाना स्वाभाविक ही है। स्थानाभाव के कारण सभी का चित्रण हमारे लिए सभव नही। हमने यहाँ उन्ही देवो के स्वरूप का उल्लेख किया है जो अत्यधिक लोक प्रसिद्ध रहे हैं और जिनका उल्लेख अधिकाश कवियो की रचनाओ मे मिलता है।

---

१ आधुनिक काव्य धारा, पृ० १५२

इन्द्र

पौराणिक काल तक आते आते इन्द्र अपना पूर्व प्रतिष्ठा खो चुके थे, इसका उल्लेख हम पहले कर आये हैं। यो कहने भर को तो देवताओं के राजा हैं पर सम्भवत कोई भी ऐसी मानवीय दुर्बलता नहीं है कि जिसके वे शिकार न हों। उनमें पर स्त्री गामिता एक ऐसा दोष है कि जिसका उल्लेख हिन्दी साहित्य के बहुत से कवियों ने किया है। कहा गया है कि वे सुरपति गौतम की नारी को देखते ही कामातुर हो गये और अपना विवेक खो बैठे। प्रात काल जब गौतम स्नानार्थ नदी पर जाते हैं तो इन्द्र गौतम का रूप धारण कर अहल्या (गौतम पत्नी) के पास जाते हैं। वे अपनी इस कुचेष्टा में सफल भी नहीं हुए थे कि गौतम नदी से लौट आते हैं, सारी बातें जानकर उन्हें सहस्रभग होने का शाप देते हैं। इस शाप को पाकर इन्द्र बहुत दिनों तक तो कमल की नाल में छिपे रहते हैं फिर सुरगुरु की कृपा से प्रयाग में स्नान कर सहस्र भग' के स्थान पर सहस्रनेत्र का रूप पाते हैं।[१]

गोवर्धन पूजा के प्रसंग में भी इन्द्र की पराजय का उल्लेख मिलता है। किसी समय व्रज में इन्द्र की पूजा होती थी। यशोदा का विश्वास था कि व्रज की समस्त सिद्धि का श्रेय इन्द्र को ही है और पुत्र प्राप्ति भी उसी की कृपा का फल है। वह और नन्द दोनों इस उत्सव को मनाने की तैयारी करते हैं। वर्ष भर में एक बार आने वाले इस दिवस पर वे धूमधाम चाहते हैं पर कृष्ण इन्द्र की पूजा के स्थान पर गोवर्धन की पूजा का आयोजन करते हैं। इन्द्र की ठकुराई मिटाकर गोवर्धन के सिर पर तिलक चढाया जाता है। इन्द्र क्रुद्ध हो उठते हैं। वे सकल्प करते हैं कि वे इस गोवर्धन पर्वत का समूल विनाश कर देंगे और व्रज को पानी में बहा देंगे। फिर क्या था, बादल पूरे वेग से बरसने लगते हैं व्रजवासी डरते हैं। व्रज के उद्धार के लिए कृष्ण गोवर्धन को उठा लेते हैं उसे बायी उंगली पर टिका लेते है और अन्त में इन्द्र अपनी पराजय स्वीकार कर लेते हैं।[२] जो इन्द्र किसी समय देवों में सर्वोत्तम थे, वे ही अब अपनी पराजय स्वीकार कर कृष्ण के चरणों में सिर नवाते हैं।

> सुरपति चरन परयौ गहि धाइ।
> जुग गुन छोड़ सेस गुन जायौ आयौ सरन राखि सुरनाइ।
> तुम बिसरे तुम्हरी ही माया तुम बिनु नाही और सहाइ ॥
> सरन सरन पुनि पुनि कहि कहि मोहि राखि राखि त्रिभुवन के राइ ॥[३]

तुलसी के यहाँ भी इन्द्र का स्थान सम्मान-योग्य नहीं है। उन्होंने यद्यपि उनकी परस्त्री गामिता का वर्णन स्पष्ट रूप से नहीं किया, फिर भी राम द्वारा अहल्या के

---

१ सू० सा० भाग १ (म० स०), प० १६१
२ वही भाग १ प० ५४२ ६६
३ वही भाग १ प० ५६६

उद्धार के प्रसग पर उसकी ओर सकेत अवश्य कर दिया है।[1] राम के राज्याभिषेक के समय सब प्रसन्न हैं पर देवता मन ही मन कुछ और मना रहे हैं। उन्हे य बाजे उसी तरह अच्छे नही लगते जसे चोर को चाँदनी रात अच्छी नही लगती। वे चाहते हैं कि किसी तरह राम वन का जायें और उनका काय सिद्ध हो—

तिन्हहि सोहाइ न अवध बधावा। चोरहि चाँदिनि राति न भावा॥
सारद बोलि विनय सुर करही। बारहिं बार पाय ल परही॥
बिपति हमारि बिलोकि बडि, मातु करिअ सोइ आजु।
रामु जाहिं बन राजु तजि, होइ सकल सुरकाजु॥[2]

स्पष्ट है कि देवताओ का सरस्वती से यह अनुरोध इन्द्र की प्रेरणा पर ही है।

इन्द्र का यह घोर स्वार्थी रूप एक बार फिर सामने आता है। राम और भरत के स्नेह को देखकर इन्द्र फिर सोच म पड जाते हैं। उनके मन म शका होती है कि कही भरत के अनुरोध पर राम अयोध्या न लौट आवें और उनका बना बनाया काम फिर बिगड जाय। इस बार वे सरस्वती की शरण मे न जाकर अपने गुरु बृहस्पति की शरण म जाते हैं। उनकी बात सुन कर बृहस्पति उन्हें (इन्द्र को) महामूख समभने लगते हैं। जो मायापति के साथ माया का प्रयोग करे, उस महामूख न कहा जाय तो क्या कहा जाय? बृहस्पति जसे-तसे अपने इस मूख शिष्य को समभाते हैं तब कही जाकर उसे कुछ समभ मे आता है।[3] इसी प्रसग मे आगे चलकर तुलसी ने देवताओ को स्वार्थी और मैल मन वाला कहा है। इन्द्र भी कुचाल करते हैं और सोच मे पडते हैं—

सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमन्त्र कुठाटु।
रचि प्रपच माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाटु॥
करि कुचालि सोचत सुर राजू। भरत हाथ सबु काजु अकाजू॥[4]

लका युद्ध समाप्त होने पर इन्द्र राम के पास आते हैं जसे कोई विनयावनत सामन्त आता है। वे आकर राम से कुछ करने के लिए इन शब्दो म आज्ञा मागते हैं—

जब करि कृपा बिलोक मोहि आयसु देहु कृपाल।[5]

अन्य कवियो की रचनाओ म भी इन्द्र का उल्लेख है पर आराध्य देव के रूप

१ रा० च० मा०, पृ० २१९ २० (गीता प्रेस)
२ वही पृ० ३२२
३ वही पृ० ५७७ ७८
४ वही पृ० ६५३
५ वही पृ० १००२

म नहीं। यह उन्नत प्रसगवश ही कहा है कहां किसी म उपमा न क लिए और कहा किसी अन्य उद्देश्य स। पर फिर भी इसस इतना तो पता लग ही जाता है कि उनका पुराना पौराणिक रूप लुप्त नहीं हो गया है। भूषण न भी कहा है कि जिस प्रकार पवतो पर इन्द्र का दावा है उसी प्रकार सारी बादशाही पर शिवराज का दावा है—

दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर।[1]

एक अन्य स्थान पर शिवाजी क मन की पवित्रता की उपमा इन्द्र लोक के ऐरावत गज से दी गयी है—

एरावत गज सो ता इन्द्र लोक सुनिए।

गणेश

गणेश इस काल क प्रमुख देवताओ म स एक हैं। किसी शुभ काय क आरम्भ म उनकी पूजा आवश्यक मानी जाती है। भूषण का विश्वास है कि गणश पाप तरु के भजन करनेवाले और विघ्नो क गढ क नाशक और जगत क मन का रजन करने वाले हैं—

पाप तरु भजन विघन गढगजन
जगत मन रजन द्विरद मुख गाइय ।।[2]

मतिराम का भी विचार है कि गजमुख गणश साधु जनों को सुख देन वाल हैं दानी हैं, उदार हैं और सबक द्वारा सव्य हैं—

सुखद साधुजन का सदा गज मुख दानि उदार।
सवनीय सब जगत को जग मा बाप कुमार ।।[3]

कवि दास द्वारा की गयी गणश की यह स्तुति दशनीय है—

एक दन्त द्व मातु त्रिचख चो बाहु पच कर,
षट आनानुज वधु सव्य सप्तार्चि भलधर।
अष्टसिद्धि नवनिद्धि दानि दश दिसि जस विस्तर
रुद्र गियारह सुभट द्वादशादित्य आजवर ।।

वीर कवि ने सुदामा चरित्र नामक अपन ग्रन्थ म गणश का सकटहरण विघ्न-नाशन, सतो के सुखदाता जगत् क मगल-कर्ता और अशरण को शरण देनवाल कहा है—

---

१ शिवा-बावनी, पद ३३
२ शिवराजभूषण पद १ (मगलाचरण)
३ मतिराम की विचारधार पृ० १५३
४ रीतिकाव्य सग्रह पृ० २२१

सुमुख एकरद कपिल ईश गज करण दानिपति
लम्बादर अस विकट विघ्न नाशन गणाधिपति,
धूम्रकेतु गणनाथ गौरिसुत भाल चद्रवर
वारण बदन प्रसिद्ध करण, सिद्धिदायक सकटहरण
कहे 'वीर' जगत मगनकरण वक्र तुड कलिमल हरण,
द्वार सतसतनि सुखद सुज ज अशरण शरण ॥[१]

छत्र कवि विजयमुक्तावली नामक ग्रथ म विघ्नहरण गणपति से सहायक होने की प्राथना करते हैं—

विघन हरण तुम हो सदा, गणपति होउ सहाइ ।
विनती कर जोरे करौं, दीज ग्रथ बनाइ ॥[२]

शक्ति

सन्त-मत और वष्णव मत पर तात्रिक प्रभाव की चर्चा करते हुए हम चतुथ अध्याय म शक्ति और शक्तिमान के अभेद की चर्चा कर चुके हैं । हम यह भी कह आये हैं कि वष्णव काव्य मे सीता और राधा आद्य शक्ति रूप म गृहीत हुई हैं और इस प्रकार शक्ति के स्वतत्र सत्ता के रूप म वणना की कमी का आ जाना एकदम स्वाभाविक ही था । फिर भी कितने ही कवियो ने शक्ति की आराधना म बहुत सुदर पद कहे हैं । भूषण मधु कटभ को छलनेवाली, महिषासुर का विमदन करने वाली, चड और मुड जसे राक्षसो की विनाशिका, शुभ निशुभ का हनन करनेवाली चडी या शक्तिदेवी की आराधना इन शब्दो म करते हैं—

ज जयति आदि सकति ज कालि कर्पादिनि,
ज मधु कटभदलनि देवि जै जै महिष विमर्दिनि ।
जै चमुड ज चड मुड भडासुर खडिनि,
ज सुखद ज रक्त बीज बिडाल बिहडिनि ।
ज ज निसुभ सुभदलनि, भनि भूषन ज ज भननि,
सरजा समत्थ सिवराज कहँ, देहि विज ज जग जननि ॥[३]

मनिराम अपने लपट और लुब्ध मन को इधर उधर से रोक कर भवानी की आराधना म लगने को कहते हैं—

पियुष पयोधि महँ मननि सो बद्ध भूमि,
रोघ सौं रुचिर रुचि रोचक सो खनन मे ।

---

१ सुदामा चरित्र १
२ विजय-ग्रथावली, पद १
३ शिवराज भूपण, पद २

> कामनत विपिन बन्दव उपवन गोरी,
> सुरभि पवन शान्त मृदु गो गवा म।
> निरामनि मदन विराज जगन्नन गना
> गावधाट मतिराम सदक गवा म।
> लपट सुबुध मत अन म भवत गदी,
> सरि भूरि भावना भवानी क भवा म॥[1]

गुरु गोविन्दसिंह-कृत 'चंडी-स्तुति' तो हिन्दी साहित्य म प्रसिद्ध ही है। उन्होंने विजय-यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय देवी से ही विजय की याचना की है। उन का एक ही पद पर्याप्त होगा

> आदि अपार अलख अनन्त अकाल अभेद अलख अनासा
> कं शिवसक्ति दए स्रुति चार रजोतम सत तिहूँ पुर वासा।
> द्यौस निसा ससि सूर के दीप सु सृष्टि रची पच तत्त प्रकासा
> बैर बढ़ाइ लराइ सुरासुर आपहि देखत बैठि तमासा॥

गंगा

ऋग्वेद के नदी-सूक्त म इसका नाम केवल एक बार आया है अन्य वेदों म इसका नाम नहीं। शतपथ ब्राह्मण म दुष्यन्त के पुत्र भरत की विजय के सम्बन्ध म इसका उल्लेख है। कात्यायन श्रौतसूत्र म पवित्रमन मन्त्रों के सम्बन्ध म गवा-गमन निरूपण प्रकरण म इसका उल्लेख है।[2] एक गृह्यसूत्र म सामन्त प्रकरण म जो मन्त्र पढ़ा जाता है उसम इसकी चर्चा है। पुराणों म इसकी पावनता की स्थान स्थान पर चर्चा है। वहाँ बताया गया है कि उसे स्वर्ग से लाने के लिए भगीरथ कठोर तप करते हैं उनकी प्रार्थना पर शिवजी इसे अपने सिर पर धारण करते हैं इसके जल का शरीर की राख के साथ स्पर्श होने ही सगर के पुत्र जीवित हो उठते हैं और उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[3]

इसी पुराण म गंगा की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जब राजा बलि की यज्ञशाला म साक्षात यज्ञमूर्ति भगवान विष्णु ने त्रिलोकी को नापने के लिए अपना पैर उठाया तब उनके बायें पैर के अंगूठे के नख से ब्रह्माण्ड कटाह का ऊपर का भाग फट गया। उस छिद्र म से होकर जो ब्रह्माण्ड से बाहर जल की धारा आयी वह उस चरण-कमल को धोने से उसम लगी केसर के मिलने से लाल हो गई। इसी से उसका पहला नाम भागवत पदी है। पहले यह धारा स्वर्ग के सिरो भाग म स्थित

---

१ मतिराम की विचारधारा पृ० १५३
२ कात्यायन, अ० १३, क० ८ सूत्र २६
३ भागवत, ६।६।१ १२

हैं ध्रुवलोक म उतरी जिसे विष्णु प" भी कहते हैं । वहाँ स आकाश मे होती हुई मेरु के शिखर पर ब्रह्मपुरी म गिरती है ।[1]

सूरदास का कहना है कि ब्रह्म के तप के फलस्वरूप गगा का पथ्वी पर आग मन सतो को सुख दने के लिए हुआ है—

> परम पवित्र मुक्ति की दाता, भागीरथहि भव्य वन्देत ।
> सूरजदास विधाता के तप प्रगट भई सतन सुख दन ।।[2]

जो किसी प्रकार भी मुक्त नहीं हो सके उन्हे मुक्त करना ही इनका उद्देश्य है—

> जा हित प्रगट करी करुनामय, भगतिन की गति देनी ।[3]

तुलसीदास ने भी इसी पूज्य भाव के साथ इसकी स्तुति की है । उनके अनुसार यह मुनियों के समूह रूपी चकोरो के लिए चन्द्रिका रूप है । मनुष्य नाग और देवता इसकी वन्दना करते हैं । यह जह्नु की पुत्री है और विष्णु के चरण-कमल से उत्पन्न हुई है । शिवजी के मस्तक की शोभा बढ़ाने वाली है और स्वग, पथ्वीलोक तथा पाताल, इन तीनो लोका मे बहने वाली है । इसका अगाध निमल जल शीतल तो है ही, तीनो पापो को हरने वाला भी है, भजन भव भार है ।[4] अगले पद म उनका कहना है कि जो यक्ष गन्धव, मुनि, किन्नर, नाग, दैत्य और मनुष्य अपनी पत्नियो सहित इसम स्नान करते हैं वे अनन्त पुण्य के भागी बनते हैं । यह स्वग की सीढी है और ज्ञान विज्ञान प्रदान करने वाली है ।[5] कवि का यह भी कहना है कि घोर कलियुग म गगा ही भवसागर से पार करानेवाली है । यदि यह गगा न होती तो घोर कलियुग न जाने क्या क्या अनथ करता ?

> तो बिनु जगदब गग, कलि जुग का करित ?
> घोर भव अपार सिंधु तुलसी किमि तरित ।[6]

रसखान का कहना है कि जो लाभ वद्य की औषधि खाने और सयम से नही होता, वही लाभ केवल गगा के जल पान स हो जाता है । शिव की जो भी महिमा है वह गगा के कारण ही है—

> बैद की औषधि खाइ कछू न कर बहु सजम री सुनि मोसें ।
> तो जल पानि कियौ रसखानि, सजीवन जानि लियौ सुख तो सें ।।

---

१ भागवत, ५।१७।१ ४
२ सूरसागर भाग १ पद, ४५६ पृ० १६० (म०ग०)
३ वही पृ० १८६
४ विनयपत्रिका पद १७
५ वही, पद १८
६ वही, पद १६

ए री सुधामयी भागीरथी गब पथ्य कुपथ्य बनें तोहि पामें।
आक धतूरो चबात फिरै विष खात फिरै, शिव ताहि भरामें॥[1]

सेनापति के हृदय में गंगा के प्रति अपार श्रद्धा है। उनकी दृष्टि में सुर-सरि का नीर जिह्वा को पवित्रता के लिए अवगाह का काम करता है और देह को पवित्र करता है—

सह स्नेह करि के पुनीति करि सह देह,
जीभ अवगह दह सुरसरि नीर को।[2]

उनका कहना है कि कलिकाल में बढ़ते हुए पाप को रोकने का एकमात्र उपाय गंगा की शरण में जाना है। यदि शिवजी कालकूट-जैसे भयंकर विष को पचा गए तो यह गंगा का ही प्रताप है। इसी कारण कवि चाहता है कि जब भी हो कि उसमें गंगा के चरण कभी न छूटें वह उन्हीं में पड़ा रहे—

यह कलिकाल बढ़्यो दुरित कराल, देखि,
आइ दुचिताई सुचिताइ सब लूटहीं।
हम तट हीन, जाइ तरैं कत दीन तामी
दूसरी नदी न देखि फिर चहू छूटहीं।
सेनापति शिव सिर-मगिनी तरंगिनी तू
ताहि अचवत पचवत कालकूट हीं।
तजि के अपाई नीर बसै सुसपाई गंगा,
कीजे सो उपाइ तेरे पाइ ज्यों न छूटहीं॥[3]

गंगा की महिमा अपरम्पार है। उसके दो-एक कण भी तन भर से पापों के समूह नष्ट हो जाते हैं और आक भर भी लेने से यमराज के लोक पर विजय मिल जाती है—

पाप नसैं पापन के दोक जल-कन चाखैं,
आक भरि पियैं लोक जीत जमराज के।[4]

पद्माकर कवि ने तो गंगा की स्तुति में अपना पूरा हृदय ही खोल कर रख दिया है। उनकी दृष्टि में गंगा चारों फलों को देने वाली है। उनका कहना है कि कर्म का मूल शरीर है— शरीर का मूल जीवन और आनन्द है। आनन्द का मूल राजा की कृपा है राजा की मूल प्रजा है, प्रजा का अन्न अन्न का मेघ और मेघ का

१ रसखान सुधा पृ० ८०
२ क० र० पद १८, तरंग ५
३ क० र०, पद ५१ तरंग ५
४ वही, पद ५४ तरंग ५

मूल गगा है।[1] गगा की महिमा ही कुछ ऐसी है कि उससे बडे-बडे पातकियो के पाप धुल जाते हैं। गगा के कारण नरक मे पापियो का आना बन्द हो गया है। कोई काम न रहने से यमराज खाली बठे हैं और वे चित्रगुप्त को नरक बन्द कर देने का आदेश देते हैं। अब उन्हें किसी पापी का हिसाब किताब रहने की जरूरत नही --

देखु यह देव नदी कीन्हे सब दव, या तें
दूतन बुलाइ कै बिदा कै बेगी पान दै।
फारि डारु फरद न राखु रोजनामा कहूँ,
खाता खति जान द, बही को बहि जान द।[2]

उनका विश्वास है कि जा एक बार इसकी धारा मे स्नान कर लेता है उसके सारे पाप स्वत ही दूर हो जात हैं। जो अपने मुख से एक बार भी गगा का नाम ले लेता है उसके मुख मे अमृत का वास हो जाता है। जहाँ-जहाँ गगा की धूल पड जाती है वहाँ पापो का नाश हो जाता है, वे धूल मे मिल जाते हैं—

जहाँ जहाँ मया तेरी धूरि उडि जाति गगा,
तहाँ-तहाँ पापन की धूरि उडि जात है।[3]

गगा ने असख्य पापिया को पार उतार दिया है। जितने पापियो को गगा ने पार उतारा है, उतने पापिया का किसी ने भी नही उतारा—

काहू ने न तारे तिन्हें गगा तुम तारे, और
जते तुम तारे तेते नभ म न तारे हैं।

कवि गदाधर का विश्वास है कि पथ्वा पर गगा के आगमन का उद्देश्य विश्व की मुक्ति है—

श्री गगा जगतारन को आई।
पापी दुष्ट अजामिल गणिका पतित परम गति पाई।[4]

यमुना

तत्तिरीय आरण्यक म उन लोगो को विशेष महत्त्व दिया गया है जो गगा और यमुना के बीच म रहते है। इसम यमुना म पावनता की भावना स्पष्ट रूप से विद्यमान है। पुराणा म इस नदी का पवित्र माना गया है।[5] इसकी उत्पत्ति हिमालय की गोद

१ पदमाकर पराग —पद ४ पृ० २ (स० दुर्गाप्रसाद गुप्त एम० ए०), गया प्रसाद एण्ड सस आगरा (४ थ सस्करण)
२ प० प०, २ पद ६, (पदमपराग)
३ वही पद ६ पृ० ४
४ म० का० सा० अव०, पृ० ६१५
५ भागवत, ५।१६।१८

से हुई है। इस महानगी भी यहा है। वयस्वत मनु न सतान के लिए इसी के किनारे तपस्या की थी भरत न अश्वमेध यज्ञ भी इसी के किनारे किया था। वह मधुवन, भी जहाँ कृष्ण बलराम तथा अन्य सखाओं के साथ गाय चराया करते थे, वृन्दावन के निकट इसी के किनारे पर है। कात्यायनी-व्रत के समय गोपियाँ (गोप-बालाएँ) इसी में स्नान करती थीं। अक्रूर जब कृष्ण और बलराम को लिवा लाने के लिए आये थे, तब उन्होंने यहीं स्नान किया था और स्नान करते समय उन्होंने शेष भगवान् के दर्शन किये थे। श्राद्ध के लिए यह पवित्र मानी जाती है। प्रयाग का प्रसिद्ध तीर्थ इसी के तट पर स्थित है।[1]

इसका जैसा वर्णन पुराणों में है लगभग वैसा ही मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य में भी है। सभी कवियों ने इसके प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है। इसे भक्तों की उद्धारिका कहा गया है। नन्ददास का कहना है कि निज धाम को छोड़ कर यमुना का इस भूतल पर आना भक्तों पर कृपा के लिए है—

> भक्त पर करी कृपा श्री जमुना जू ऐसी।
> छाँड़ि निज धाम विश्राम भूतल कियो प्रगट लीला दिखाई हो तैसी।
> परम परमारथ करत है सबन को देति अद्भुत रूप आप जैसी॥

एक अन्य पद में कहा गया है कि यमुनाजी का वर्णन कौन कर सकता है? वह ब्रज चन्द कृष्ण के मन को आनन्द देने वाली है। इसके अवतार का हेतु भक्तों पर कृपा करना है—

> कौन पै जात जमुना जी बरणी।
> सब दिन को मन मोहन हरत सो प्रिय को मन ए जो हरणी।
> इन बिन एक छण रह न जीवन धन ब्रज चन्द मन आनँद करणी॥
> श्री विठल गिरिधरण सहित आप भक्त के हेत अवतार धरणी॥[2]

तुलसीदास का कहना है कि यमुना ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों पुण्य रूपी याज्ञिक कलियुग रूपी राजा का निरादर करते हुए उसे बाहर निकालने लगे हैं। वर्षा ऋतु में जैसे-जैसे ज्यों-ज्यों कृष्णवर्ण होता गया त्यों-त्यों यमदूतों का मुख भी काला होता गया। उनका कहना है कि यमुना के बढ़ने ही पुण्य रूपी मेघ ने संसार के पाप रूपी जवास को जलाकर भस्म कर डाला—

> जमुना ज्यों-ज्यों लागी बाढ़न।
> त्यों त्यों सुकृत सुभट कलि भूपति, निदरि लगे बहु काढ़न॥

---

1. पुराण वण्डकम पृ० १६ १७
2. नन्ददास ग्रंथावली पद १८ (ना० प्र० स० काशी) पृ० २२८
3. राग-कल्पद्रुम जि० २ पद ३३, पृ० १०६

ज्यो-ज्यो जल मलीन त्यो त्यो जमगन मुख मलीन लहैं आढन ।
तुलसी दास जग अघ जवास ज्यो अनघमेघ लगे डाढन ॥[1]

घनानन्द का विचार है कि यमुना का यश इतना अधिक है कि उसका वणन नही हो सकता । उसका जल करुणा से परिपूण है । उसके दशन और स्पश से पूण पद की प्राप्ति होती है । जो यमुना को देख लेता है उसे फिर यम को देखने का कष्ट नहीं उठाना पडता, उसकी मुक्ति हो जाती है—

जमुना महिमा बेद बखान । सप्त सिन्धु मेदिनि जग जान ।
जमुना जल करुना रस रनी । दरस परस पूरन पद दनी ॥
जमुना देखि न देख जम को । भानकुवरि मेटति दुखतम को ।
जमुना जलहि सहज जू पिय । भव दव ताप न व्यापति हिय ॥[2]

उनके अनुसार यमुना मगलकारिणी है, विविध फदो को दूर करने वाली है, तम और ताप को दूर करने वाली है । किं बहुना वह जग जननी है, और जग स पार उतारने वाली है—

ज जमुना मगल कारिनी ।
जमानुजा तमतापहारिनी, विविध फद निखारिनी ।

देखी कहीं सुनी आगे हू जग जननी जग तारिनी ।
देख बन वहुत क्या भावै, महिमा अमित अपारिनी ।
आनद रस रस रासि-रसीली, नीरसता-अघ हारिनी ॥[3]

सरस्वती

नदी के रूप म ऋग्वेद तथा अ य सहिताओ मे इसका उल्लेख है । श्रौतसूत्रों—कात्यायन, लाटायन, आश्वलायन, सांख्यायन—म इसके तट पर दी जाने वाली बलि का बहुत महत्त्व बताया गया है । तत्तिरीय सहिता पचविंश ब्राह्मण, कौशीतकी ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण मे भी इसका उल्लेख है ।[4] पुराणा म विश्वरूपा, ब्रह्मा की मानस पुत्री और विद्या की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे इसका चित्रण किया गया है ।[5] परवर्ती हिन्दी साहित्य मे भी इसे समस्त कलाओं तथा विद्या की अधिष्ठात्री देवी के रूप म चित्रित किया गया है ।

१ विनय पत्रिका, पद २१
२ घन आनन्द पद ३१ ८ पृ० १८३
३ घन आनन्द पद ४७० पृ० ४३६
४ वदिक इण्डक्स भाग २, पृ० ४३४
५ पुराण इण्डक्स, भाग ३ पृ० ५५३

तुलसीदास ने इसका चित्रण इसी रूप में किया है। भरत को राम भक्ति से आपूरित और राम का भरत के स्नेह के वश में देखकर देवता स्वार्थवश सोच में पड़ जाते हैं। वे चाहते हैं कि किसी प्रकार कुछ प्रपंच रचा जाय और इस उद्देश्य से वे विद्या की अधिष्ठात्री शारदा (सरस्वती) का स्मरण करते हैं और उसकी स्तुति करते हुए उससे प्रार्थना करते हैं कि किसी प्रकार वे भरतजी की बुद्धि का फेर दें—

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देवि देव सरनागत पाही॥
फेरि भरत मति करि निज माया। पालु बिबुध कुल करि छल छाया॥[1]

रहीम का कहना है कि सरस्वती देवी की वन्दना करने से कोई दोष नहीं लगता। वे इसीलिए ग्रन्थारम्भ में उसकी वन्दना करते हैं—

बन्दौं देवि सरदवा पद कर जोरि,
बरनत काव्य बरववा, लगइ न खोरि।[2]

वीर कवि के अनुसार सरस्वती जगत की माता तो है ही मोद और बुद्धि की देनेवाली भी है—

सो जगमाता कहि है बुद्धि अरु मोद कर।
मटी स्वई पर पीर दानव सकल सहार कर॥

लसत ललित आभावली उपजावत आनन्द।
सुन्दर लसत सरोज से चरण वदि जग चन्द॥
तहाँ तहाँ मारावरी जहँ पढ़ि गाय संत।
बुधिदायक तव होहु जो, जहाँ नहि बुधिवंत॥[3]

मान कवि ने अनेक पदों में सरस्वती की स्तुति की है और उन पदों की टेक है—अदभुत अनूप मराल भासनि जयति जय जगतारनी।[4]

हिंदी साहित्य की देव भावना की सामान्य विशेषताएँ

प्रतिमा-पूजन—पौराणिक काल के समान प्रतिमा पूजन इस काल में भी खूब प्रचलित था। उसमें कुछ वृद्धि ही हुई थी कमी नहीं। अधिकांश कवियों को देव का साकार रूप ही मान्य था। निराकार और निर्गुण में उनकी वृत्ति ही नहीं रमती थी। प्रतिमा को स्नान कराना पुष्प चन्दन और अक्षत आदि द्वारा उसकी अर्चा करना, शृंगार के विविध उपकरणों में उसे सजाना सुलाना जगाना भोग लगाना और चरणों

१ रा० च० मा० अयो० का० पृ० ६८२ (गीताप्रेस)
२ रही० का० स० पृ० १२८ (रीति काव्य संग्रह)
३ सुदामा चरित्र पद ३ ४
४ राजविलास, छन्द ११ से २१

मत लेना, इन बातो की ओर भक्तो का ध्यान रहता है। इस काल मे राम और कृष्ण को लेकर जितनी शाखाएँ प्रचलित हुइ उन सब मे बाह्य विधान की प्रतिष्ठा अधिक रही। छापा और तिलक तक के विविध भेदो के आधार पर पृथक् मतो की स्थापना हुई। इन सब बातो का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि बाह्य विधान ही सब कुछ रह गये। अब भक्त ने घट घट म व्यापक भगवान का अपने ही अन्दर दशन बन्द कर दिया था। अब उनके भगवान् मन्दिरो तक सीमित रह गये हैं।

भक्ति का महत्व—इस काल मे भक्ति की प्रबलता के सामन ज्ञान का पक्ष तो निबल पड ही गया था, अपितु भक्ति ही जीवन के लक्ष्य रूप म स्वीकृत हो चुकी थी। किसी समय भक्ति साधन थी, पर अब वह साध्य बन गई थी। इनके जीवन का लक्ष्य न मुक्ति है और न भुक्ति। तुलसीदास के शब्दो म भक्त तो केवल भक्ति माँगता है—

सगुनोपासक मोच्छ न लेही। तिन्ह कहँ राम भगति निज देही॥

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहौं निर्वान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदान न आन॥

यही स्थिति कृष्ण भक्त कवियो की भी है। उन्हें भी भक्ति के सामने सब-कुछ हेय प्रतीत होता है—

भजनानन्द अली हमे प्यारो। ब्रह्मानन्द सुख कौन बिचारो॥

'जीवन का लक्ष्य नामक शीषक के अन्तगत हमने राम भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा के अध्यायो म इस विषयक बहुत से उदाहरण दिये हैं।

प्रपत्ति की भावना—किसी न किसी रूप म यह भावना सभी कवियो मे पायी जाती है। कबीर ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि राम की नगरी म अभय ही अभय है। यदि कोई राखनहारा है तो वह राम ही है—

मेरे राम की अभै पद नगरी कहै कबीर जुलाहा।

कहत कबीर सुनहु रे लोई, हरि बिन राखनहार न कोई।

तुलसी म प्रपत्ति के शतश उदाहरण आसानी से ढूँढे जा सकते हैं। उनके लिए भगवान् ही शरण्य हैं। जो कुछ वे कर सकते हैं वह यज्ञ तप और व्रत किसी से भी से भी सभव नहीं।

जहाँ तक सूर और अन्य पुष्टिमार्गीय कवियो की देव भावना का प्रश्न है उनके यहाँ तो प्रपत्ति का महत्त्व सब विदित है। अष्टम अध्याय म इस विषय के पर्याप्त उदाहरण दिये जा चुके हैं।

माधुयभाव की प्रचुरता—यद्यपि इस काल म आत्म निवेदन म कवियो ने

अपनी दीनता हीनता और अन्य अवगुणों का स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है पर कुल मिलाकर माधुर्यभाव की प्रधानता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वल्लभाचार्य के अनुयायियों में आरम्भ में यद्यपि बाल भाव की पूजा का विधान था, सख्य भाव का चित्रण भी वहाँ विद्यमान है पर धीरे धीरे अनेक कारणों से माधुर्यभाव या कान्तासक्ति भाव की प्रबलता हो गयी। राम भक्ति शाखा में रसिक भाव से पूजा करने वालों की संख्या किसी भी तरह नगण्य नहीं रही। राधा को सर्वस्व मानकर चलनेवालों में तो इस भाव का होना स्वाभाविक ही है। किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रति निराग्रही बिहारी जैसे कवि ने मंगलाचरण में राधा से ही भव बाधा हरण की प्रार्थना की है। ईश्वर को निर्गुण मान कर चलने वाले कबीर और जायसी में भी जो इतनी पीर है उसका कारण भी यही है।

निवृत्ति की भावना—इस समय के सभी कवियों ने संसार को अनित्य कहा है। उनकी दृष्टि में यह संसार माया जाल है। इस माया-जाल के प्रतीक हैं धन और नारी और इन कवियों ने इन दोनों की ही कुत्सा का उद्घाटन किया है। नारी की जो इतनी अधिक निन्दा की गयी है उसे सर्पिणी से भी अधिक विषकारिणी कहा गया है, उसका कारण जन मानस में वैराग्य भावना की सृष्टि करना है।

पौराणिक काल से तुलना—इस देव भावना का पौराणिक काल से इतना अधिक साम्य है कि उसमें अन्तर कर सकना कठिन है। सभी कवियों पर यह पौराणिक प्रभाव एकदम स्पष्ट है। निर्गुण कवियों ने भी भगवान के उन नामों का उल्लेख किया है जिनके साथ पौराणिक कथाओं का सम्बन्ध है। ऊपर हमने जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है वे सब भी पौराणिक काल की ही विशेषताएं हैं।

वेदमार्ग—वेदों का निषेध—आर्यों में वेदों का बड़ा महत्त्व है। श्रद्धालु जनों के लिए यह ज्ञान अपौरुषेय है अतः इसका स्वतः प्रामाण्य है। इस ज्ञान को परमेश्वर ने चार ऋषियों के अन्तःकरण में प्रकट किया था और आज भी वह अपने उसी दिव्य रूप में आयजन का पथ प्रदर्शक माना जाता है। पर इस युग में स्थान स्थान पर उसका खण्डन है। कबीर स्वानुभूति में विश्वास रखते थे पुस्तकीय ज्ञान में फँसना उन्हें पसन्द नहीं था। वे जिस परम्परा में पोषित हुए थे उसमें वेद प्रामाण्य की अस्वीकृति आश्चर्य का विषय नहीं। पर सूरदास और उनके समकालीन वैष्णवों ने भी वेद मार्ग का खण्डन किया है। उनकी दृष्टि में गोपियाँ केवल इसीलिए श्रेष्ठ हैं कि वे वेद मार्ग और आर्य पथ को छोड़कर कृष्ण प्रेम में मत्त हो गई। तुलसी ने यद्यपि वेदों का खण्डन नहीं किया तथापि उनके काव्य पर उसका प्रभाव कम ही है।

नाम में अन्तर—राम और कृष्ण विष्णु के ही रूप हैं। वे अलग-अलग न होकर एक ही हैं यह पीछे दिखाया जा चुका है। यह भी स्पष्ट है कि राम और कृष्ण को लेकर चलनेवाले सभी मत अपने को वैष्णव कहते हैं। ये वैष्णव अपने मत का उद्गम वेदों से मानते हैं। वेदों में विष्णु के नाम का उल्लेख भी है चाहे वह सूर्य का ही वाचक है। पर हिन्दी साहित्य में विष्णु के नाम का उल्लेख बहुत कम है। रामानुजा

चाय ने नारायण नाम से विष्णु की पूजा का प्रचलन किया था सही, पर वह नाम साधुओं तक ही सीमित रह गया। इस समय जो नाम प्रचलित हुए, वे राम और कृष्ण के ही हैं। तुलसी ने तो राम नाम की महत्ता इन शब्दों मे व्यक्त की है—

जदपि प्रभु के नाम अनेका। स्रुति कह अधिक एक ते एका॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥

सूर म यद्यपि कृष्ण के उन नामो का भी कही कही उल्लेख है जो पहले विष्णु के वाचक थे पर फिर भी कवि न उनका प्रयोग कृष्ण के सम्बन्ध के कारण ही किया है इसम सन्देह नही। सूर और उनके सहयोगियो की चित्तवृत्ति जिस रूप म रमी है वह गोकुलवासी माखन चोर कन्हैया का ही रूप है। उन्हे जो नाम पसन्द है वह कृष्ण का ही है।

वदिक काल से तुलना—पौराणिक काल के प्रकरण मे हम वदिक काल और पौराणिक काल म जो अन्तर दिखा आये हैं लगभग वही अन्तर काल म भी है। जहाँ तक साम्य का प्रश्न है हम उसे आसानी से ढूढ सकते हैं। इस काल की भावानुभूति और वदिक काल की अनुभूति म अन्तर नहीं के बराबर है। जो भावोदगार वदिक ऋषियो के कठ से निकले थे व ही इस काल मे भी उपलब्ध होते हैं। आत्मनिवेदन, विनय दैन्य, भगवान की उदारता, शक्तिशालिता, शरणागत वत्सलता आदि जो भाव वहाँ व्यक्त किये गये हैं वे ही इस काल म भी व्यक्त हुए हैं। साधना का मार्ग वही है अत भावात्मक एकता भी बनी हुई है।

वषम्य—पर इतना होते हुए भी इसे वदिक काल की अनुकृति मात्र नही कहा जा सकता। इस दीर्घ काल म परिवर्तन का होना स्वाभाविक ही था। निराकार से साकार और प्रतिमा की अर्चना कर्म के स्थान पर प्रपत्ति की भावना प्रवृत्ति के स्थान पर निवृत्ति की प्रधानता ये सब बातें इस काल काल की देव भावना का वदिक काल की देव भावना से पृथक करती हैं। माधुर्य भाव या कान्तासक्ति को सवस्व मानना भी इस काल की ही विशेषता है। इसका अन्त स्वरूप तो वही है पर बाह्य स्वरूप एकदम भिन्न है।

मध्यकालीन हिंदी साहित्य की देव-भावना की देन

चतुर्थ अध्याय म हमने भारतीय देव भावना की कुछ प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख किया है। इन विशेषताओ के साथ हिन्दी की देव भावना ने जन-जीवन को जो कुछ दिया है उसी का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

प्रेम की प्रधानता—किसी मानवेतर परोक्ष अथवा अपरोक्ष सत्ता या सत्ताओं में विश्वास देव भावना का मूल कारण है। उसके मूल म आरम्भ मे भय और विस्मय की भावना रही थी यह ठीक है पर धीरे धीरे उस सत्ता के प्रति अनुराग की भावना अधिकाधिक बढती गयी। मानव ने उस सत्ता के साथ विविध सम्बन्धो की स्थापना का

जो यत्न किया उसके पीछे तादात्म्य भाव की अभिलाषा का ही हाथ है। कहना न होगा कि तादात्म्य का मूल भी अनुराग ही है। यही कारण है कि ज्यों-ज्यों भावना का ले कर ज्यों-ज्यों भक्ति की धारा प्रवाहित होती गयी उसमें प्रेम को अधिकाधिक प्रश्रय मिलता गया। 'परानुरक्तिरीश्वरे' कहकर जो भक्ति का लक्षण किया गया है उसमें भी प्रेम को ही सब कुछ माना गया है। कालान्तर में ज्ञान भावना और भक्ति का सम्बन्ध अधिकाधिक घनिष्ट हो जाने पर दोनों के बीच का भेद मिट सा गया। दोनों समानार्थक-से हो गये। मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य इस तत्त्व से इतना ओतप्रोत है कि इसके लिए उदाहरणों को ढूंढने की आवश्यकता नहीं। भक्तिकाल की निर्गुण और सगुण दोनों ही धाराओं में जितने कवि हुए हैं उन सभी ने समान रूप से प्रेम की अनिवार्यता पर बल दिया है। अपने आराध्य देवों के प्रति इन कवियों की अनन्यता पर पीछे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

अहिंसा

प्रेम को जीवन का मूल मान लेने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि इस साहित्य में कहीं भी हिंसा को प्रश्रय नहीं मिला। घट घट में उस ईश्वर का दर्शन वाले कवि हिंसा के प्रयोग का समर्थन कर ही नहीं सकते थे। 'बकरी की खपरी मली न मांखन बैठ गाउँ' तथा 'माखन बाँभन ना मिले बकरा मिले बलाय' कहने वाले कबीर का भाव भी यही था कि हिंसा करनेवाला मानव चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, हेय है। दिन भर रोजा रखकर रात को गाय को मारने वाले मुसलमान को जो उन्होंने बुरी तरह फटकारा है उसके पीछे भी हिंसा के प्रति उनका तीव्र क्रोधानल जल रहा है।

जायसी भी इसी मार्ग के पथिक हैं। उन्होंने जो सिद्धों की महत्ता का वर्णन किया है वह उन सिद्धों का नहीं जो चमत्कार प्रदर्शन में विश्वास करते थे अपितु उनके सिद्ध एक प्रकार से अहिंसा के पुजारी वे व्यक्ति हैं जो प्राण देकर भी हिंसा की भावना को मन में नहीं आने देते। उनके अनुसार सिद्ध निर्भय होकर रात्रि में भ्रमण करते हैं। उनकी दृष्टि जिधर उठ जाती है उधर ही चल देते हैं। प्राणों का कुछ भी भय नहीं रहता। खड्ग देखकर वे ग्रीवा झुका देते हैं। सिद्ध वहाँ पहुँचते हैं जहाँ प्राणों का वध होता है। सिद्धों के अतिरिक्त अन्य ऐसा कौन है जिसने मृत्यु के पक्षों को धारण किया हो।[1]

तुलसी ने अहिंसा को अधिक व्यापक अर्थ में लिया है। किसी को मानसिक कष्ट पहुँचाना भी हिंसा ही है। काज और अकाज के बिना दूसरों की निन्दा करने वाले दुर्जनों को प्रणाम करके (व्यंग्यात्मक ढंग से) उन्होंने अहिंसा का समर्थन किया है। तुलसी ने राम के शक्तिशाली रूप के वर्णन में जिस आत्मीयता का परिचय दिया

---

[1] पद्मावत दोहा खण्ड २४०

है वह भी हिंसा के दमन के लिए ही। अकारण ही ऋषियों को कष्ट देनेवाले राक्षसो का वध अहिंसा ही है।

जसा ततीय अध्याय म कहा जा चुका है वैष्णव धम मे अहिंसा को धम के अग के रूप म स्वीकार किया गया है। हिन्दी के मध्यकाल तक वैष्णवा की यह अहिंसा की भावना धम का अविभाज्य अग बन चुकी थी। जनो और बौद्धो के अहिंसा प्रचार का भी समाज पर व्यापक प्रभाव पडा था। परिणामस्वरूप इस काल के अधिकाश साधक और कवि अहिंसा के समर्थक हो गये थे।

सत-सगति सगति का जीवन मे बडा महत्त्व है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है, इसके लिए किन्ही शास्त्रीय प्रमाणो की आवश्यकता नहीं। अपने चारो ओर के वातावरण से बच सकना सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं। हम जसा सुनते हैं, औरो को जसा करत हुए देखत हैं, उससे प्रभावित होते ही हैं। यही कारण है कि इन सभी कवियो ने समान रूप से सत सगति पर बल दिया है। कबीर के अनुसार विनाशशील शरीर को उपयोगी बनान के लिए दो ही माग हैं—सत सगति और हरि भजन —

कबीर इहु तनु जाइगा, कवने मारगि लाइ।
क सगति करि साध की, क हरि के गुन गाइ॥

हरि भजन करना तो सब चाहते हैं पर कर नही पाते। उधर ध्यान लग पाए तब ही तो कुछ किया जाय। ससार के आकषण और ससारी जीव बराबर उधर से ध्यान खीचते हैं। भगवान् के माग पर तो तभी चला जा सकता है जब हम उधर जाने वाला का साथ करें। इसीलिए तो कबीर का कहना है कि घडी एकाध घडी जो भी सज्जनो की सगति म बितायी जा सके, वही फलवती है—

एक घडी आधी घडी, आधी हू त आध।
भगतन सेती गोस्टे, जो कीने सो लाभ॥

सूरदास का कथन है कि जिस दिन कोई सत घर म अतिथि बनकर आ जाता है उस दिन सत के दशन से करोडो तीर्थों म स्नान करने का फल उपलब्ध हो जाता है। सतो की विशेषता यह है कि वे भगवान् के चरणो म प्रेम उत्पन्न कराते हैं। वे भगवान के यश का गान करते हैं, उससे वातावरण शुद्ध होता है और अन्यो को भी उससे इसी माग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। यही कारण है कि सूरदास ने हरि विमुख (दुष्ट, असज्जन) व्यक्तियो का सग छोड देने का परामश दिया है। उनके अनुसार जिस प्रकार भुजग से विष परित्याग की आशा व्यथ है, कौए से शुद्धि की आशा निरथक है, उसी तरह हरि विमुख से किसी अच्छे काम की आशा व्यथ ही है।

तुलसीदास क अनुसार सत-सगति मुद और मगल का मूल है और सब सिद्धिया का साधन है। सत् सगति गगा की वह धारा है जो औरो को भी शुद्ध करके अपने मे मिलाने की शक्ति रखती है। किं बहुना, सत और भगवान् दानो समान हैं, इनम

कोई अ तर नही । सामारिक व्यक्तियों का समभान हुए तुलसी कहते हैं कि सुत, दारा और लक्ष्मी तो पापी के भी घर हो जाती हैं पर सत-समागम और हरि-कथा, ये दो दुलभ बातें विरला को ही मिलती हैं। इसीलिए उन्होंने कहा है कि यदि स्वग और अपवग को तराजू के एक पलडे पर रखा जाय और सत सग को दूसरे पलडे पर, तो सत् सग का ही पलडा भारी रहेगा —

तात स्वग अपवग सुख धरिय तुला इक अग ।
तुल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत सग ॥

अधिक क्या कहा जाय जिसे हरि तक पहुँचना है उसके लिए सतसग के अलावा अन्य कोई माग नही—

बिनु सत सग न हरि-कथा, तेहि बिनु मोह न भाग ।
मोह गये बिनु राम पद होइ न दृढ अनुराग ॥

जायसी के यहाँ भी सत सगति का ऐसा ही महत्त्व है । उनके अनुसार सतसग का अथ है उच्च बनना उच्च पुरुषो के पास बठना—

सदा ऊच सेइ प बारु । ऊच सो कीज बवहारु ।
ऊँच चढ़े चऊँ खड सूभा । ऊच पास चऊँ बुधि बूभा ।
ऊच सग सग नित कीज । ऊँच काज जीव बलि दीज ॥

मध्यम मार्ग या सहज माग

हमने अभी जिस वराग्य भावना की चर्चा की है उसका अथ यह कदापि नही कि ये ससार से विरक्ति उत्पन्न कराकर वनो म भटकने वाले साधुओ की श्रेणी पदा कर रहे थे । इनमे भी अधिकाश व्यक्ति जीवन भर किसी न किसी व्यवसाय म लगे रहे अपनी जीविका के लिए दूसरो पर बोझ नही बने । इस ससार म रहकर राम भजन करते हुए जीवन-यापन करना ही इनका लक्ष्य था । न इन्होंने कही शरीर को सुखाने का उपदेश दिया न वन म जाकर रहने की बात कही अपितु सारे कर्मों को कृष्णापण करते हुए कम करते रहने का ही परामश दिया । असल म घर और वन म रहते हुए स्वाभाविक ढग से जीवन यापन ही इनका मतव्य है। कबीर ने तो सहज शब्द का प्रयोग किया ही है, पर जिन्होंने नही भी किया, उनका भी भाव इससे भिन्न नही ।

गुरु भक्ति

उपनिषदो म गुरु को साक्षात परमेश्वर कहा गया है यह हम पीछे कह आये हैं । गुरु के प्रति श्रद्धा की यह भावना कभी कम नही हुई । कबीर तार्किक थे अध श्रद्धालु नही पर उनकी उक्तियो म गुरु का महत्त्व भगवान के महत्त्व के बराबर है। यदि गुरु और गोविन्द, दोनो एक स्थान पर खडे हो तो पहले किसके चरणो म सिर

भुलाया जाय, कबीर इस असमजस म पड़ जाते हैं। दोनो ही समान रूप से मान्य हैं। किसका स्थान प्रथम हो और किसका दूसरा, यह चुनाव कठिन है पर यह असमजस थोडी ही दर रहता है, कबीर गुरु का चुन लेते हैं क्योंकि ईश्वर दर्शन कराने वाले गुरु ही हैं। एक अन्य दोहे म अपने इस भाव को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यदि हरि रूठ जाय तो गुरु सम्हाल लेते हैं, पर अगर गुरु ही रूठ जाय तो कौन सा ठिकाना है ?

हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहि ठौ र।

जायसी की दृष्टि म भी भवसागर से पार करानेवाला प्राणी गुरु ही है। ईश्वर घट घट म व्यापक भले ही हो पर उसे पाना क्या आसान है ? जो एकदम सूक्ष्म है उसे बतानेवाला उसकी पहचान करानेवाला गुरु ही है।

एक अन्य स्थान पर भी कहा गया है कि योगी सिद्ध तभी हो सकता है जब गोरख (गुरु) से भेंट हो—

बिन गुरु पन्थ न पाइयै, भूले होइ जो भेंट।
जोगी सिद्ध हइ तब जब गोरख सो भेंट॥

सूरदास भी इसी भाव से गुरु के सामने श्रद्धावनत होते हैं। सूर सारावली म उन्होंने अपने ६७ वर्ष होने का गुरु की कृपा का ही फल बताया है—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।

कवि हरि लीला का वर्णन करने का उत्सुक है पर वाणी म इतनी सामर्थ्य कहाँ है ? उनका कहना है कि यह दु साध्य कार्य गुरु की कृपा द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नही—

हरि लीनी अवतार कहत सारद नहि पाव।
सद्गुरु कृपा प्रसाद कछुक तात कहि आव॥

तुलसीदास ने तो गुरु को शकर का ही रूप माना है—

वन्दे बोधमय नित्य गुरु शकररूपिणम।

उनके अनुसार गुरु साधारण मानव नही, वे तो नर रूप म साक्षात हरि है—

बन्दौं गुरु पद कज कृपासिन्धु नर रूप हरि॥

मानवतावादी दृष्टिकोण

इस काल के कवियो ने मानवमात्र को बराबर समझने का यत्न किया है। जहाँ तक निर्गुण धारा के कवियो का प्रश्न है उन्होंने जातिपाँति का खण्डन ऐसे आज पूर्ण और निर्भीक शब्दों म किया है कि कितने ही आलोचको को उन पर विदेशी प्रभाव होने तक की आशका हो गयी है। रही बात सगुण धारा के कवियो की, उन्होंने

यद्यपि वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध तुलसी ने बहुत कुछ नहीं कहा पर भक्ति के क्षेत्र में इन्होंने जाति पाँति के बन्धन को कभी नहीं माना। तुलसी के राम भील, किरात और शबरी को आत्मीय समझते हैं उनसे गले मिलते हैं हिन्दू और मुसलमान का भेद भी इनके उदार दृष्टिकोण से कम हो गया था। धार्मिक सहिष्णुता बराबर बढ़ रही थी, राम और रहीम का अन्तर कम हो रहा था और इन में सभी कवियों का सहयोग समान रूप से मिल रहा था।

देव भावना में ऊपर जिन तत्वों पर जोर दिया गया है वे सभी सत-साहित्य के लिए शुभ हैं। साहित्य की अन्तरात्मा उसके द्वारा अभिव्यक्त होने वाले भाव ही हैं। अपनी सरसता को बनाये हुए जो साहित्य जीवन के उदात्त भावों की अभिव्यक्ति प्रदान करता है, चिरन्तन एवं शाश्वत मानवीय मान्यताओं को प्रस्तुत करता है तथा जीवन के लिए सन्देश देता है वही सत-साहित्य के उच्च पद का अधिकारी बनता है। भक्तिकाल के साहित्य में ये सभी विशेषताएं विद्यमान हैं। इन्हीं कारणों से उस हिन्दी साहित्य को स्वर्ण-काल कहा जाता है। इस साहित्य ने आत्मिक वेदना से कराहती हुई भारतीय जनता को शान्ति प्रदान की थी अपने अमृतमय स्पर्श से उसकी सारी पीड़ा को हर लिया था नैराश्य-जनित अन्धकार को दूर कर आशा का संचार किया था और अवसाद को दूर कर उल्लास की नवीन लहर प्रवाहित की थी।

क्या देव भावना साहित्य में अपकर्ष भी ला सकती है ?

प्रत्येक चित्र के दो पहलू होते हैं एक वह जो उसी समय दिखायी दे जाता है और दूसरा वह जो कालान्तर में दिखायी देता है। जो वस्तु या भाव आज शुभ दिखायी देता है कालान्तर में वह अशुभ भी हो सकता है। जो आज अमृत है वही कल विष भी हो सकता है। यही बात देव भावना के विषय में लागू हो सकती है। जो देव भावना या भक्ति किसी समय जीवन की प्रेरणा थी, वही विधि-वशात उसकी प्रगति में बाधक बन गयी। भक्ति का अत्यधिक महत्त्व ही धीरे धीरे उसका शत्रु बन गया।

भक्ति के महत्त्व को सिद्ध करने के लिए योग मार्ग और तप आदि को अशक्त रूप में चित्रित किया गया। कहा गया है कि यह दारुण कलियुग है इसी से सदाचार योग मार्ग और तप आदि सभी लुप्त हो गए हैं। लोग शठता और दुष्कर्म में लग कर अघासुर बन रहे हैं। सत पुरुष म्लान हैं और दुष्ट सुखी हो रहे हैं। यह पृथ्वी अब देखने योग्य नहीं रह गई है। ज्ञान और वैराग्य को कोई भी नहीं पूछता, अब इनका बुढ़ापा नहीं टूटा।"[1]

भागवत् पुराण के दूसरे अध्याय में भक्ति का माहात्म्य बताते हुए कहा गया

---

१ भागवत-माहात्म्य २१४

है कि सतयुग त्रेता और द्वापर म जिस मोक्ष की प्राप्ति यन, तप, दान और धम करने से होती थी वही मोक्ष कलियुग मे केवल भक्ति से मिल जाता है।

सत्यादित्रियुगे बोधवराग्यौ मुक्तिसाधकौ।
कलौ तु केवला भक्तिब्रह्म सायुज्यकारिणी ॥[1]

न तपोभिन वेदश्च न ज्ञानेनापि कमणा।
हरिर्हि साध्यत भक्त्या प्रमाण तत्र गोपिका ॥[2]

उसी म आगे चल कर कहा गया है कि भक्ति के दो पुत्र ज्ञान और वराग्य कलियुग म सोये पडे हैं। दूसरे शब्दो म अथ यह है कि कलियुग म ज्ञान और वैराग्य दोनो का अस्तित्व समाप्त हो गया है। कलियुग ऊसर भूमि है और इसम ये दोना सुदर पौधे पनप नही सकत। तीसरे अध्याय म भागवतपुराण के माहात्म्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जब तक ससारी लोग इस कथा का श्रवण नही करते तब तक उनके अनेक जन्मो के पापो का नाश नही होता जो मनुष्य प्रतिदिन एक या आधा ही श्लोक पढता है उसकी मुक्ति हो जाती है। ये सब बातें भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करन के लिए कही गयी थी, पर अनावश्यक दूर तक घसीटी जाने के बाद माग की रुकावट बन गयीं।

अपने कथन को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए अतिशयोक्ति का प्रयोग करना साहित्य की सुदीघ परम्परा है और एक निश्चित सीमा तक इसका उपयोग सभी को मान्य है। पर धीरे धीरे इन उक्तियो का अथ यह लगाया जान लगा कि धम गौण है और भागवत पाठ मुख्य है। यह विश्वास भी धीरे धीरे घर करता गया कि सतयुग आदि म मनुष्य जन्मत श्रेष्ठ थे और अब जन्मत निकृष्ट है। इन सब का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि ज्ञान और वराग्य जन सामान्य की पहुँच से बाहर की वस्तु बन गय। धीरे-धीरे आत्म विश्वास की कमी होती गयी। कलियुग को सारे पापो को घर मान लिया गया। मनुष्य के ऊपर उठने या अपनी परिस्थितियो पर काबू पाने के प्रयास को छोटी सी नाव द्वारा समुद्र लाँघने या वामन द्वारा आकाश छूने के प्रयास के समान हास्यास्पद समझा गया। परिस्थितियो स सघष करते-करते जो मानव अपनी विजय-यात्रा कर यहाँ तक आ चुका था, वह अपने को परिस्थितियो का दास समझ बठा। स्वामी से वह धीरे धीरे ऐसा विनयावनत दासानुदास हुआ कि उसके सभी हौसले पस्त हो गए उसके अस्त्र-शस्त्र कुठित हो गए वह नियति-नटी के हाथ की कठपुतली बन गया। गणेशजी का पूजक ऐसा गोबर-गणेश बन गया कि अब उससे कुछ करते धरते न बनता था।

---

१ भागवत भागवतमाहात्म्य

२ वही, २।१८

ईश्वर म परा अनुरक्ति का नाम भक्ति है यह हम पहल कह आय हैं। किसी परम सत्ता की स्वीकृति और उसम प्रगाढ विश्वास अपन आप म बुरी वस्तु नही। यह जीवन पथ पर चलने वाले का सबल बन सकती ह निराशा क क्षणा म सहारा दे सकती है और जीवन की भारी स भारी उलझनो का सुलझान म सहायक हो सकती हैं। भारतीय मनीषिया न इस इसी रूप म ग्रहण किया है। उनस सासारिक लिप्साएँ दबी रहती हैं लौकिक भाग पर त्याग का अकुश बना रहता है। अपन स अधिक बलवती सत्ता का मानन स मानव औद्धत्य स बचा रहता है। पर अपन पुरुषाथ को एकदम नगण्य समझन लगना किसी भी तरह श्रेयस्कर नहा कहा जा सकता है। यह जीवन से भागना है पलायनवाद है। भारतीय जीवन म ईश्वर पर अटूट विश्वास रखत हुए भी कमवाद का महत्त्व कभी कम नही हुआ। ईश्वर से भी फल हम हमारे कर्मो के अनुसार ही मिलता है। ईश्वर काइ स्वच्छाचारी या निरकुश शासक नही जो रात का दिन और दिन को रात करन की शक्ति रखता हो। उसक सवशक्ति मान होने का अथ केवल इतना ही है कि उस किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नही। सवशक्तिमान का अथ स्वच्छाचारी कदापि नही। यह जगत कुछ निश्चित नियमो स परिचालित है। इन्ही नियमो का नाम ऋत कहा गया है। पौराणिक काल की भक्ति म इस कमवाद का एक प्रकार स प्रत्याख्यान ही है। भक्त प्रवर सूर दास ने— करी सब राम क हाई जा अपनो पुरुषारथ मानत, अति झूठा है साई' जा कहा था वह बहुत स आलसिया के लिए गुरुमत्र ही बन गया। एक दूसरे भक्त कवि मलूकदास का— अजगर कर न चाकरी पछी कर न काम। दास मलूका कह गय सब के दाता राम यह कथन कम स बचन क लिए कितना ही का सहारा बन गया।

भक्ति की महिमा बढाने क लिए श्रीमद्भागवत म अजामिल की जा कथा कही गयी है उस बहुत दूर तक खीचा जान लगा। वहा कहा गया है कि यद्यपि इसन कोटिश पाप किय हैं पर अन्तिम समय म इसन नारायण (जा उसके छाट पुत्र का नाम भी था) का जा नाम लिया है उसस उसक सार पापा का नाश हो गया है -

> अय हि कृतनिर्वेशा जन्म काटयहसामपि।
> यद व्याजहार विवशा नाम स्वस्त्यन हरे ॥
> एतनव ह्यघा नाऽस्य कृत स्यादघनिष्कृतम।
> यदा नारायणायति जगाद चतुरक्षरम ॥[1]

विष्णु की महत्ता का बढती दख कर शव चुपचाप कस बठत ? वष्णव भक्ता न जिस प्रकार अजामिल की कहानी गढी थी उसी प्रकार शव मत के भक्ता न एक डाकू की कहानी बना डाली। मरन पर जब यम क सामन उस डाकू की पेशी हुई ता यम उस सजा न द सक। सभी बुर कामा म या लूटत समय वह प्रहर—"आहर कहता था। इन दानो ही म शिव का नाम आने स उस सभी पापा से छुटकारा मिल

१ भागवत, ६।२।७ ८

गया। दूसरी कहानी कुबेर की है। कहा जाता है कि वह पहले जन्म म डाकू था, शिव मन्दिर को लूटते समय उसकी बत्ती बुझ गई। लूटने की सुविधा के लिए उसने उसे दस बार जलाया। शिवजी उसकी इस भक्ति से प्रसन्न हुए और उसे कुबेर का पद दे दिया। इस प्रकार की कहानिया का सीधा सा अर्थ यह हुआ कि जीवन भर अनर्थ करते रहन के बाद भी अन्तिम समय मे भूल से भगवान् का नाम लेने वाले व्यक्ति स्वग या वकुण्ठ पहुँचने की आशा करने लगे। इस प्रकार की धारणा ने समाज का महान अनर्थ किया। विष्णु का तिलक एक बार यदि सिर चढ़ गया तो वकुण्ठ का दरवाजा खुल गया तुलसी की माला यदि गल म आ गई तो गोलाक मे सीट रिजव हो गई। श्री हजारी-प्रसाद के शब्दा म योग न गहस्थ को जरूरत से ज्यादा सशयालु बना दिया था भक्ति ने पूरा आशावादी, एक ने मुक्ति को महगा सौदा बना दिया, दूसरे ने बहुत सस्ता।'

जसा हमने इस प्रकरण के आरम्भ मे कहा है भक्ति का अधिक महत्त्व ही इसका शत्रु बन गया। भक्ति के माहात्म्य का वणन करत हुए श्रीमदभागवत (५। ११।१७) मे कहा गया है कि अपने धम का परित्याग कर भी भगवान का भजन करने वाला व्यक्ति श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ कम करने वाला व्यक्ति भी यदि भजन नही करता तो उससे क्या लाभ ? इसी पुराण म आगे चल कर भगवान के मुख से कहलाया गया है कि योग-साधन ज्ञान विज्ञान, धर्मानुष्ठान आदि इतने शक्तिशाली नही, जितनी भक्ति।[1] मेरी भक्ति से रहित व्यक्ति का धम और तपस्या-युक्त विद्या भी पवित्र नही कर पाती।

यह भी कहा गया है कि चोर, शराबी, ब्राह्मण की हत्या करन वाला, गुरु की पत्नी के साथ समागम करन वाला पत्नी, राजा पिता और गौ का घातक तथा अन्य सब प्रकार के पातकी विष्णु का नाम भर लेन से निष्कृति पा जाते हैं—

स्तेन सुरापो मित्रध्रुग ब्रह्महा गुरुतल्पग।
स्त्रीराजपितगोहन्ता य च पातकिनोऽपरे॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम।
नाम व्याहरण विष्णोयतस्तद विषया मति॥[2]

प्रपत्ति के सिद्धान्त का समझाते हुए स्थान स्थान पर कहा गया है कि जिस प्रकार बन्दरी अपने बच्चे को पेट से चिपकाकर इधर उधर ले जाती है या बिल्ली जिस प्रकार अपने बच्चो को अपने मुह म दबाकर उस सुरक्षित स्थान पर ले जाती है उसी प्रकार भगवान भक्ता की सुरक्षा का ध्यान स्वय रखत हैं। भक्त को स्वय कुछ करने की आवश्यकता नही, उसे लिए तो अपने को सर्वात्मना भगवान के भरोसे पर छोड देना ही काफी है। जसा कि स्वाभाविक था, जनसाधारण जागतिक द्वन्द्व और कतव्य

१ भागवत ११।१४।१६ २२
२ वही ६।२।६ १०

गन समय स हटकर भगवान् क सामने हाथ जोड़ कर बठे रहने म ही कल्याण समझने लगे। जीवन पुष्पों की शय्या ही नहीं कांटों का ताज भी है, इसमें सब-कुछ मीठा ही नहीं कड़वा भी है य इस तथ्य को भूल गए। परिणाम यह हुआ ये भक्त कवि भी लोक स पराङ्मुख हो बठे। यही कारण है कि रागानुगा भक्ति म विश्वास रखने वाले भक्तजन भगवान की घुंघरुओं की झनकार से तो रिझाते रहे, पर शस्त्रों की झनकार एकदम भूल गए। समाज के प्रति भी उनका कोई कर्तव्य है, इस बात का उन्हें स्मरण ही नहीं रहा। राज्यों म अनेक परिवर्तन हुए जन-साधारण अत्याचार क जुए क बोझ से सिसकता रहा धर्म मन्दिर भ्रष्ट किये गए, मूर्तियाँ तोड़ी गई मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदों का निर्माण हुआ, पर ये धर्मभीरु भक्त कवि न तो तलवार लेकर शत्रु पर स्वयं टूट पड़े और न ऐसा करने के लिए उन्होंने जनता को ही उत्साहित किया। शत्रुओं को सताए देश को रौंदती रही, परन्तु उनके कानों पर जूँ तक न रेंगी। देश की इस दुर्दशा की कोई स्पष्ट गूंज हमें इनके साहित्य म नहीं मिलती।

रही बात साहित्य पर प्रभाव की उस दृष्टि से भी भक्ति भावना साहित्य के अपकर्ष का कारण बनी। भक्ति मार्ग म वधी भक्ति की अपेक्षा रागानुगा भक्ति की प्रधानता अधिक रही है। तुलसीदास के महान व्यक्तित्व के कारण राम भक्ति शाखा म वधी भक्ति का प्रचार अवश्य है पर उसमें भी रागानुगा भक्तिपरक रचनाएँ पर्याप्त मात्रा म उपलब्ध हो जाती हैं। रागानुगा भक्ति म भगवान का भजन पति और पत्नी या प्रेमी और प्रेयसी क रूप म होता है। आरम्भ म यह माधुर्य रस की अभिव्यक्ति के प्रतीक रूप म गृहीत हुआ था। आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता दिखाना कवि का लक्ष्य था। पर भक्ति-काव्य के उत्तरकाल म राधा और कृष्ण आत्मा और परमात्मा के पर्यायवाची न रहकर सामान्य नायिकाओं और नायकों के पर्यायवाची रह गये। राधा और कृष्ण के नाम पर सामान्य नागरिकों के शृंगार का चित्रण खुलकर होने लगा। विरह-सेज पर तड़पती हुई प्रत्येक नारी राधा बन बैठी और प्रत्येक पुरुष कृष्ण। पदमाकर और घनानन्द आदि ने राधा और कृष्ण को इसी रूप म लिया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी का भी मत ऐसा ही है। उनका कथन है कि उत्तर मध्यकाल के राधा और कृष्ण उस काल के विलासप्रिय नागरिकों अथवा कभी कभी ग्रामीणों तक की श्रेणी म उतर आते हैं। नीचे देव का पद देखिये जिसमें कृष्ण का नाम हटा दिये जाने पर एक साधारण नायक के वर्णन से कुछ अधिक नहीं बनता—

रीझि रीझि रहसि रहसि हसि हसि उठ
साँसें भरि आँसू भरि कहत दई दई।
चौंकि चौंकि चकि चकि उचकि उचकि देव,
जाकि-जाकि बकि बकि परत दई-दई।

दुहुन के रूप गुन दोऊ बरनत फिरै,
घर न घिरात रीति नेह की नई नई।
मोहि-मोहि मोहन कौ मन भयो राधामय,
राधा मन मोहि-मोहि मोहन मई भई ॥

इसी प्रकार एक पद घनानन्द का भी देखिये—

अतर हौं किधौं अन्त रहौ,
दृग फारि फिरौं कि अभागिनी भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं,
अब कसी करौं हिय का बिधि धीरौं।
जो धन आनँद ऐसी रुची तो,
कहा बस है अह प्रानिन पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि, हाय तुम्हे,
धरनी मैं धसौं कि अकासहि चीरौं ॥

असली बात यह है कि भक्ति का नाम लेकर ये कवि सब कुछ लिखने लगे थे। किसी प्रकार के दमन, गोपन, सकोच और झिझक की जरूरत उन्हे नही थी, और तो और नायक कृष्ण द्वारा नायिका की छाती के दलन तक का वणन करने मे इन लोगो को सकोच नही हुआ। यह भक्ति नही थी यह तो परदे की आड थी या अपने को सान्त्वना देने का तरीका था। डा० नगेन्द्र न रीतिकालीन भक्ति को एक मनोवैज्ञानिक आवश्यकता कहा है। उनके ही शब्दा म, इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरणभूमि के रूप म इनकी रक्षा करती थी। तभी तो ये लोग किसी-न किसी तरह उसका आँचल पकडे हुए थे। रीतिकाल का कोई भी कवि भक्ति से हीन नही। हो भी नही सकता, क्योकि उनके लिए भक्ति मनोवैज्ञानिक आवश्यकता थी। भौतिक रस की उपासना करते हुए भी उनके विलास जजर मन मे इतना नतिक बल नही था कि भक्ति रस म अनास्था प्रकट करते। इस लिए रीतिकाल के सामाजिक जीवन और काव्य म भक्ति का आभास अनिवायत विद्यमान है।" नायक-नायिका के लिए बराबर हरि और राधिका शब्दो का प्रयोग किया गया है।

बिहारी के काव्य मे भी इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि विपरीत रति तक म साधारण नायक और नायिकाओ के लिए राधा और कृष्ण का प्रयोग किया जाने लगा था। देखिये—

राधा हरि, हरि राधिका, बनि आये सकेत।
दपति रति विपरीत सुख, सहज सुरतहूँ लेत ॥

एक ओर दाहे म हरि और हर रूप की चर्चा किस प्रकार म हुई है, यह भी देखिय—

प्रान प्रिया हिय मैं बस नग रंग। ससि भाल।
भनो लिलायो आइ यह, हरिहर रूप रसाल॥

यही बात मतिराम की है। उन्होंने भी शृंगार के वर्णन में नायक और नायिका के लिए कृष्ण और राधा के नामों का निःसंकोच रूप से प्रयोग किया है। कवि ग्वाल ने भी इसी पथ का अनुसरण किया है। तथ्य तो यह है कि शायद ही कोई कवि इस का अपवाद हो। शृंगार जनित अपच को पचाने के लिए किसी पाचक गोली का होना आवश्यक था। राधा और कृष्ण का नाम लेने से शृंगार की नग्नता पर पर्दा पड़ जाता है। इन सभी कवियों के हाथ में पड़कर प्रेम विलासिता का चिह्न बन चुका था और काम कामुकता का। इस साहित्य ने तत्कालीन समाज को स्त्रैण और निर्वीर्य बनाने का कार्य किया ऊर्जस्विनी शक्ति का ह्रास हो जाने से समाज जिस अधोगति को पहुँच गया था उसके चिह्न समाज में आज भी विद्यमान हैं। साहित्य में भी एकरूपता आ जाने के कारण नीरसता आ गयी। जो वैविध्य साहित्य का प्राण है, वह इस काल में कहीं नहीं बचा। इस साहित्य में प्रवाह नहीं सड़ांध है।

सहायक पुस्तको की सूची

१ ऋग्वेद

२ यजुर्वेद

३ सामवेद

४ अथर्ववेद

५ जमिनीय ब्राहण

६ गोपथ ब्राह्मण

७ तत्तिरीय ब्राह्मण

८ शतपथ ब्राह्मण

९ ऐतरेय ब्राह्मण

१० गोभिल गृह्यसूत्र — स० चिन्तामणि भट्टाचाय, प्र० मैट्रोपालिटन प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, कलकत्ता, सन १९३६

११ कात्यायन श्रौतसूत्र — अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी

१२ आश्वलायन गह्य सूत्र — जीवान द भट्टाचाय (टीकाकार) प्र० सरस्वती यन्त्र कलकत्ता, १८९३

१३ पारस्कर गह्यसूत्र

१४ हिरण्यकेशी गह्यसूत्र

१५ बोधायन गह्यसूत्र — स० आर० शर्मा शास्त्री, ओरियटल लायब्रेरी प्रकाशन, मसूर यूनिवर्सिटी

१६ ईशोपनिषद् — प्र० विद्याविहार, बलवीर एवेन्यू, देहरादून

१७ केनोपनिषद् — ,,

१८ कठोपनिषद् — ,

१९ प्रश्नोपनिषद् — ,

२० मुण्डकोपनिषद — ,,

२१ तत्तिरीयोपनिषद् — ,

२२ ऐतरेयोपनिषद् — प्र० विद्याविहार, बलबीर एवेन्यु, देहरादून।
२३ छान्दोग्योपनिषद् — ,,
२४ बृहदारण्यकोपनिषद — ,,
२५ माण्डूक्योपनिषद — ,,
२६ श्वेताश्वतरोपनिषद
२७ निरुक्त (यास्क कृत) — ,,
२८ बृहद्देवता (शौनक-कृत) — स० रामकुमार राय प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
२९ ब्रह्म पुराण
३० पद्म पुराण
३१ विष्णु पुराण
३२ वायु पुराण
३३ भागवत पुराण
३४ नारद पुराण
३५ मार्कण्डेय पुराण
३६ अग्नि पुराण
३७ ब्रह्मवैवर्त पुराण
३८ भविष्य पुराण
३९ लिंग पुराण
४० वराह पुराण
४१ वामन पुराण
४२ स्कन्द पुराण
४३ कूर्म पुराण
४४ मत्स्य पुराण
४५ गरुड़ पुराण
४६ ब्रह्माण्ड पुराण
४७ वाल्मीकीय रामायण — पंडित पुस्तकालय, काशी
४८ महाभारत — गीता प्रेस गोरखपुर
४९ अध्यात्मरामायण — ,,
५० दुर्गासप्तशती
५१ रघुवंश
५२ उत्तररामचरित
५३ शिशुपालवध

५४ हनुमन्नाटक
५५ कौटिलीय अर्थशास्त्र

हिन्दी-पुस्तकें

१	अखरावट	मलिक मुहम्मद जायसी
२	अपभ्रंश साहित्य	डा० हरिवंश कोछड़
३	अनुराग-बाँसुरी	स० चन्द्रबली पांडे
४	अयोध्या का इतिहास	श्री सीताराम
५	अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय और सिद्धांत	डा० दीनदयालु गुप्त
६	अष्टछाप का सांस्कृतिक मूल्य	डा० मायारानी टण्डन
७	आर्यों का आदिदेश	डा० सम्पूर्णानन्द
८	आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्ण लाल
९	आधुनिक हिन्दी साहित्य	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
१०	आधुनिक काव्यधारा	डा० केसरीनारायण शुक्ल
११	आचार्य केशवदास	श्री हीरालाल दीक्षित
१२	आर्य-संस्कृति के मूल तत्त्व	श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
१३	औरंगजेब (हिन्दी संस्करण)	सर यदुनाथ सरकार
१४	आधुनिक काव्य धारा	राहुल सांकृत्यायन
१५	इस्लाम के सूफी साधक	रेनाल्ट ए निकल्सन
१६	उत्तरी भारत की संत परम्परा	श्री परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार प्रयाग
१७	उद्धव शतक	श्री जगन्नाथदास रत्नाकर
१८	उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास	डा० नलिनाक्ष दत्त
१९	ऋग्वैदिक आर्य	श्री राहुल सांकृत्यायन
२०	कबीर	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२१	कबीर : एक विवेचन	डा० सरनामसिंह
२२	कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
२३	कबीर की विचारधारा	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
२४	कबीर ग्रन्थावली	डा० श्यामसुन्दर दास
२५	कवितावली	गोस्वामी तुलसीदास
२६	कवित्त रत्नाकर	सेनापति
२७	गणेश	डा० सम्पूर्णानन्द
२८	गुरुग्रन्थसाहब (देवनागरी लिपि)	शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी

२२ ऐतरेयोपनिषद् — प्र० विद्याविहार, बलवीर एवेन्यु, देहरादून।
२३ छान्दोग्योपनिषद — ,
२४ बृहदारण्यकोपनिषद
२५ माण्डूक्योपनिषद
२६ श्वेताश्वतरोपनिषद — ,
२७ निरुक्त (यास्क-कृत)
२८ बृहद्देवता (शौनक-कृत) — स० रामकुमार राय प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
२९ ब्रह्म पुराण
३० पद्म पुराण
३१ विष्णु पुराण
३२ वायु पुराण
३३ भागवत पुराण
३४ नारद पुराण
३५ मार्कण्डेय पुराण
३६ अग्नि पुराण
३७ ब्रह्मवैवर्त पुराण
३८ भविष्य पुराण
३९ लिंग पुराण
४० वराह पुराण
४१ वामन पुराण
४२ स्कन्द पुराण
४३ कूर्म पुराण
४४ मत्स्य पुराण
४५ गरुड पुराण
४६ ब्रह्माण्ड पुराण
४७ वाल्मीकीय रामायण — पंडित पुस्तकालय काशी
४८ महाभारत — गीता प्रेस गोरखपुर
४९ अध्यात्मरामायण — ,
५० दुर्गासप्तशती
१ रघुवंश
५२ उत्तररामचरित
५३ शिशुपालवध

५४ हनुमन्नाटक
५५ कौटिलीय अर्थशास्त्र

हिन्दी-पुस्तकें

१	अखरावट	मलिक मुहम्मद जायसी
२	अपभ्रंश-साहित्य	डा० हरिवंश कोछड़
३	अनुराग बाँसुरी	सं० चन्द्रबली पाँडे
४	अयोध्या का इतिहास	श्री सीताराम
५	अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय और सिद्धांत	डा० दीनदयालु गुप्त
६	अष्टछाप का सांस्कृतिक मूल्य	डा० मायारानी टण्डन
७	आर्यों का आदिदेश	डा० सम्पूर्णानन्द
८	आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास	डा० श्रीकृष्ण लाल
९	आधुनिक हिन्दी साहित्य	डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
१०	आधुनिक काव्यधारा	डा० केसरीनारायण शुक्ल
११	आचार्य केशवदास	श्री हीरालाल दीक्षित
१२	आर्य-संस्कृति के मूल तत्त्व	श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
१३	औरंगजेब (हिन्दी संस्करण)	सर यदुनाथ सरकार
१४	आधुनिक काव्य धारा	राहुल सांकृत्यायन
१५	इस्लाम के सूफी साधक	रेनाल्ड ए निकलसन
१६	उत्तरी भारत की संत परम्परा	श्री परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार प्रयाग
१७	उद्धव शतक	श्री जगन्नाथदास रत्नाकर
१८	उत्तरप्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास	डा० नलिनाक्ष दत्त
१९	ऋग्वैदिक आर्य	श्री राहुल सांकृत्यायन
२०	कबीर	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२१	कबीर : एक विवेचन	डा० सरनामसिंह
२२	कबीर का रहस्यवाद	डा० रामकुमार वर्मा
२३	कबीर की विचारधारा	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
२४	कबीर ग्रंथवाली	डा० श्यामसुन्दर दास
२५	कवितावली	गोस्वामी तुलसीदास
२६	कवित्त रत्नाकर	सेनापति
२७	गणेश	डा० सम्पूर्णानन्द
२८	गुरुग्रंथसाहब (देवनागरी लिपि)	शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी

२९	गोरख बानी	सं० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
३०	घनानन्द	सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
३१	चण्डी चरित्र	गुरु गोविन्दसिंह ना०प्र०स०, काशी
३२	चित्रावली (उसमान-कृत)	
३३	जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और उनका काव्य	डा० सरला शुक्ल
३४	तुलसीदास	डा० माताप्रसाद गुप्त
३५	तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य	नगेन्द्रनाथ उपाध्याय
३६	तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि	डा० गोपीनाथ कविराज
३७	तसव्वुफ और सूफीमत	श्री चन्द्रबली पाण्डेय
३८	दोहावली	गोस्वामी तुलसीदास
३९	देव दर्शन	सं० हरदयालसिंह
४०	धर्म और समाज	डा० राधाकृष्णन
४१	धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ	
४२	नन्ददास ग्रन्थावली	सं० श्री ब्रजरत्नदास
४३	नानक वाणी	सं० जयराम मिश्र
४४	नाथ सम्प्रदाय	आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४५	निर्गुण काव्य दर्शन	श्री सिद्धिनाथ तिवारी
४६	पतंजलिकालीन भारतवर्ष	डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री
४७	पद्मावत	मलिक मुहम्मद जायसी
४८	पाणिनिकालीन भारतवर्ष	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
४९	पृथ्वीराज रासो	प्र० साहित्य संस्थान जयपुर
५०	प्राचीन परम्परा और भारतीय इतिहास	श्री रांगेय राघव
५१	प्रिय प्रवास	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
५२	बिहारी रत्नाकर	सं० जगन्नाथदास रत्नाकर
५३	बौद्ध दर्शन	श्री राहुल सांकृत्यायन
५४	बौद्ध धर्म दर्शन	आचार्य नरेन्द्र देव
५५	बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन	श्री भरतसिंह उपाध्याय
५६	बौद्ध दर्शन मीमांसा	श्री बलदेव उपाध्याय
५७	भक्ति का विकास	डा० मुंशीराम शर्मा
५८	भागवत सम्प्रदाय	श्री बलदेव उपाध्याय
५९	भारतीय दर्शन	
६०	भारतीय दर्शन	डा० उमेश मिश्र
६१	भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा	श्री बलदेव उपाध्याय

६२	भारतीय संस्कृति का विकास (वदिक धारा)	डा० मगलदेव शास्त्री
६३	भारतीय साधना और सूर-साहित्य	डा० मुशीराम शर्मा
६४	भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि	स० श्री किशोरीलाल गुप्त
६५	भूषण-ग्रन्थावली	स० राजनारायण शर्मा
६६	भारत का सांस्कृतिक इतिहास	आ० हरिदत्त वेदालकार
६७	मतिराम कवि और आचार्य	डा० महेन्द्र कुमार
६८	मधुमालती (मझनकवि कृत)	स० डा० माताप्रसाद गुप्त
६९	मध्यदेश	डा० धीरेन्द्र वर्मा
७०	मध्यकालीन धर्म साधना	आ० हजारीप्रसाद द्विवदी
७१	मध्यकालीन श्रृंगारिक प्रवृत्तियाँ	श्री परशुराम चतुर्वेदी
७२	मध्ययुगीन प्रेमाख्यान	डा० श्यामनारायण पाण्डेय
७३	मध्यकालीन साहित्य मे अवतारवाद	डा० कपिलदेव पाण्डेय
७४	मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन	डा० सत्येन्द्र
७५	महाकवि सूरदास	श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
७६	मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति
७७	रहीम कवितावली	प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
७८	राजस्थान का इतिहास	कर्नल टाड
७९	राधा का क्रमिक विकास	डा० शशिभूषण गुप्त
८०	राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक
८१	राम-कथा	फादर कामिल बुल्के
८२	रामचन्द्रिका (केशवदास)	स० भगवानदीन
८३	रामचरितमानस	गोस्वामी तुलसीदास
८४	राम भक्ति म मधुर भावना	श्री भुवनेश्वरप्रसाद
८५	राम भक्ति मे रसिक भावना	डा० भगवतीसिंह
८६	रामभक्ति शाखा	रामनिरंजन पाण्डेय
८७	रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ	स० आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
८८	रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव
८९	रास पचाध्यायी	कवि नन्ददास-कृत
९०	रास और रासान्वयी काव्य	डा० दशरथ शर्मा

२९	गोरख-बानी	सं० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
३०	घनानन्द	सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
३१	चण्डी चरित्र	गुरु गोविन्दसिंह ना०प्र०स०, काशी
३२	चित्रावली (उसमान-कृत)	
३३	जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफी कवि और उनका काव्य	डा० सरला शुक्ल
३४	तुलसीदास	डा० माताप्रसाद गुप्त
३५	तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य	नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
३६	तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि	डा० गोपीनाथ कविराज
३७	तसव्वुफ और सूफीमत	श्री चन्द्रबली पाण्डेय
३८	दोहावली	गोस्वामी तुलसीदास
३९	दर-स्थान	सं० हरप्यारेसिंह
४०	धर्म और समाज	डा० राधाकृष्णन
४१	धर्मेन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ	
४२	नन्ददास ग्रन्थावली	सं० श्री ब्रजरत्नदास
४३	नानक वाणी	सं० जयराम मिश्र
४४	नाथ सम्प्रदाय	आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
४५	निर्गुण काव्य-दर्शन	श्री सिद्धिनाथ तिवारी
४६	पतंजलिकालीन भारतवर्ष	डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री
४७	पद्मावत	मलिक मुहम्मद जायसी
४८	पाणिनिकालीन भारतवर्ष	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल
४९	पृथ्वीराज रासो	प्र० साहित्य संस्थान जयपुर
५०	प्राचीन परम्परा और भारतीय इतिहास	श्री रांगेय राघव
५१	प्रिय प्रवास	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
५२	बिहारी रत्नाकर	सं० जगन्नाथदास रत्नाकर
५३	बौद्ध दर्शन	श्री राहुल सांकृत्यायन
५४	बौद्ध धर्म दर्शन	आचार्य नरेन्द्र देव
५५	बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन	श्री भरतसिंह उपाध्याय
५६	बौद्ध दर्शन मीमांसा	श्री बलदेव उपाध्याय
५७	भक्ति का विकास	डा० मुंशीराम शर्मा
५८	भागवत सम्प्रदाय	श्री बलदेव उपाध्याय
५९	भारतीय दर्शन	
६०	भारतीय दर्शन	डा० उमेश मिश्र
६१	भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा	श्री बलदेव उपाध्याय

६२	भारतीय सस्कृति का विकास (वदिक धारा)	डा० मगलदेव शास्त्री
६३	भारतीय साधना और सूर-साहित्य	डा० मुशीराम शर्मा
६४	भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि	स० श्री किशोरीलाल गुप्त
६५	भूषण-ग्रन्थावली	स० राजनारायण शर्मा
६६	भारत का सास्कृतिक इतिहास	आ० हरिदत्त वेदालकार
६७	मतिराम कवि और आचार्य	डा० महेन्द्र कुमार
६८	मधुमालती (मभनकवि-कृत)	स० डा० माताप्रसाद गुप्त
६९	मध्यदेश	डा० धीरेन्द्र वर्मा
७०	मध्यकालीन धम साधना	आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
७१	मध्यकालीन शृगारिक प्रवृत्तियाँ	श्री परशुराम चतुर्वेदी
७२	मध्ययुगीन प्रेमाख्यान	डा० श्यामनारायण पाण्डेय
७३	मध्यकालीन साहित्य म अवतारवाद	डा० कपिलदेव पाण्डेय
७४	मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्त्विक अध्ययन	डा० सत्येन्द्र
७५	महाकवि सूरदास	श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
७६	मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति
७७	रहीम कवितावली	प्र० नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ
७८	राजस्थान का इतिहास	कनल टाड
७९	राधा का क्रमिक विकास	डा० शशिभूषण गुप्त
८०	राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य	डा० विजयेन्द्र स्नातक
८१	राम-कथा	फादर कामिल बुल्के
८२	रामचन्द्रिका (केशवदास)	स० भगवानदीन
८३	रामचरितमानस	गोस्वामी तुलसीदास
८४	राम भक्ति मे मधुर भावना	श्री भुवनेश्वरप्रसाद
८५	राम भक्ति मे रसिक भावना	डा० भगवतीसिंह
८६	रामभक्ति शाखा	रामनिरजन पाण्डेय
८७	रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ	स० आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
८८	रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव	डा० बदरीनारायण श्रीवास्तव
८९	रास पचाध्यायी	कवि नन्ददास-कृत
९०	रास और रासान्वयी काव्य	डा० दशरथ शर्मा

९१	रीतिकालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन	श्री राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
९२	रीतिकाव्य की भूमिका	डा० नगेन्द्र
९३	रीति-काव्य संग्रह	डा० जगदीश गुप्त
९४	विनय पत्रिका	गोस्वामी तुलसीदास
९५	विश्व धर्म-दर्शन	श्री साँवलियाबिहारीलाल शर्मा
९६	वैष्णव धर्म	श्री परशुराम चतुर्वेदी
९७	वैदिक देवशास्त्र	डा० सूर्यकान्त
९८	वैदिक सम्पत्ति	श्री रघुनन्दन शर्मा
९९	वैदिक साहित्य और संस्कृति	श्री बलदेव उपाध्याय
१००	सन्त-सुधा-सार	श्री वियोगी हरि
१०१	सन्तमत का सरभंग सम्प्रदाय	डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
१०२	सन्त कवि दरिया	सं० डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी
१०३	सर्व-दर्शन संग्रह	अनु० उमाशंकर शर्मा
१०४	साकेत	श्री मैथिलीशरण गुप्त
१०५	सिद्ध-साहित्य	डा० धर्मवीर भारती
१०६	सुजान रसखान	सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
१०७	सुन्दर दर्शन	सं० डा० त्रिलोकीनारायण
१०८	सूर और उनका साहित्य	डा० हरवंशलाल शर्मा
१०९	सूरसागर, भाग १	सं० श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
११०	सूफीमत साधना और साहित्य	श्री रामपूजन तिवारी
१११	सूरसागर भाग २	सं० श्री नन्ददुलारे वाजपेयी
११२	हरिवंशपुराण	श्रीमती विद्यापाणि
११३	हिन्दी साहित्य का आदिकाल	आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
११४	हिन्दी साहित्य की भूमिका	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
११५	हिन्दी-साहित्य का इतिहास	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
११६	हिन्दी काव्य धारा	राहुल सांकृत्यायन
११७	हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
११८	हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास (आदिकाल, रीतिकाल)	ना० प्र० सभा, काशी
११९	हिन्दी-साहित्य	आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१२०	हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य	डा० कमल कुलश्रेष्ठ
१२१	हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि	डा० गोविन्द त्रिगुणायत

१२२ हिंदुस्तान की पुरानी सभ्यता — डा० बेनीप्रसाद
१२३ हिंदुत्व — रामदास गौड
१२४ हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास — डा० रामकुमार वर्मा
१२५ हिंदू देव-कथाओं के भौतिक अर्थ — श्री त्रिवेणीप्रसाद
१२६ हिन्दू सभ्यता (हिन्दी संस्करण) — डा० राधाकुमुद मुकर्जी
१२७ हिंदी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि — डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
१२८ हिन्दी-कविता की पृष्ठभूमि — डा० रामरतन भटनागर
१२९ हिंदू देव-परिवार का विकास — डा० सम्पूर्णानन्द
१३० हिन्दी साहित्य — स० डा० धीरेन्द्र वर्मा
१३१ हिंदी साहित्य मे भ्रमरगीत की परम्परा — सरला शुक्ल एम० ए०

अंग्रेजी पुस्तकें

132 Ancient India and Indian Civilization — Paul Manson Qureel
133 Ancient India — R C Mazumdar
134 An introduction to Tantric Budhism — S D Dasgupta
135 An Historican's approach to the Religion — Arnold Toynbea
136 Aspects of early Vaishnuism — G Gonda
137 Basis of Islamic culture — Syed Abdul Latif
138 Brahmnical Gods in Burma — Nikil Ranjan Roy M A
139 Cassar and christ — Will Durant
140 Development of Religion in South India — K A Nilkanth Shastri
141 Epic Myths and Legends of India — P Thompson
142 Epic—Mythology — E Vashbun Nopkins
143 Hinduism — A C Boquet
144 Hinduism and Budhism Part I & II — Sir Charles Eliat
145 History of Indian Literature — Winternitz
146 History of India — Rama Shankar Tripathi
147 Indian Mythology Vol VI (Indian & Iranian) — A B Keith
148 Indian inheritance — K M Munshi

149	Influance of Islam on Indian culture	Dr Tarachand
150	Man and Deity	A C Bonquet, D D
151	Man God and Music	Ivar Lissner
152	Mohammedanism—An Historical survey	H.A R Gribb
153	Our Heritage	Humayun Kabir
154	Our Orient Heritage	Will Duront
155	Outlines of Islamic culture	A M A Shushtery
156	Pre-Budhist India	Rati Lal Mehta
157	Secience and Religion	Herold K Schilling
158	Sacrifices in Regveda	K R Poddar
159	Shakti and Shaktas (2nd Edition)	Sir John Woodroff
160	Studies in the Philosophy of Religion	A Seth Pringle pattiso
161	Social and Religious life in Grihya Sutras	V M Apte
162	Totem and Taboo	Sigmund freud
163	The Religion and Philosophy of Vedas and Upnishadas	A B Keith D Litt
164	The Religion of the Veda	Bloomfield
165	The Gurjar Pratihars	Dr Baij Nath Puri
166	The Cambridge History of India (The Indian Civilization)	Sir Martimo wheeter
167	The Philosophy of Religion	George Galloway, D Phil
168	The History of Civilization	Will Durant
169	Origin and growth of the Religion	Max Muller
170	The Cultureal Heritage of India	
171	The Religious quest of India	
172	The Religion of the Rigveda	H D Griswold
173	The Development of Hindu inography	Jitendra Nath Banarjee
174	The Religion of Rigveda	H D Griswold
175	The Chinese Their History and culture	Keneth Scott Latoureth

176	The Out lines of History	H G Wells
177	The life of greece	Will Durant
178	The Masks of God, Vol I) Primitive Mythology	Joseph Campbell
179	The Masks of God, Vol II (Oriental Mythology)	Joseph Campbell
180	The South Indian Gods and Goddeses	H Krishna Shastri
181	The Concept of Deity	E O James, D Litt, D D, Ph D
182	The Living Past	Ivar Lis ner
183	The Silene Past	"
184	The Brahmanas of the Vedas (Second Edition)	K S Macdonald
185	The Horse Sacrifiecs in Taittiriya Brahmna	Paul Imile Dumo
186	The Puran Index, Vol II & III	V R Ramchandra
187	The Vedic Age	R C Mazoomdar
188	Vaishnavism, Shaivism and other minor religious Sects	R G Bhandarkar
189	What is Jainism	C R Jain
190	The Premitive Culture of India	Colonel T C Hodson
191	Encyclopaedia of Religion and Ethics	

कोष-ग्रन्थ

192	Encyclopaedia of Britainica	
193	The Concise Oxford Dictionary	
१९४	अमर कोष	
१९५	बहृत हिन्दी कोष	ज्ञानमण्डल लिमिटेड, काशी

पत्र और पत्रिकाएँ

196 Journal of Royal Asiatic Society, London

197 Journal of Royal Asiatic Society, Calcutta

198 Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Poona
199 The Indian Antiquary Education Society Bombay London
200 Vishveshwaran and Indological Journal, Vedic Research Institute, Sadhu Ashram, Hoshiarpur (Punjab)

१ साहित्य सन्देश (मासिक)	आगरा
२ आजकल (मासिक)	दिल्ली
३ साप्ताहिक हिन्दुस्तान	दिल्ली
४ कल्पना (मासिक)	हैदराबाद (दक्षिण)
५ कल्याण (मासिक)	गोरखपुर